

GL H 891.432
OJH



124246
LBSNAA

श्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

— 124246

अवाप्ति संख्या

Accession No.

14861

वर्ग संख्या

Class No.

GLH

891.432

पुस्तक संख्या

Book No.

OJH

ओझा

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण
[१९६० तक प्रकाशित नाट्यसाहित्य का विवेचन]

भूमिका-लेखक
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखक
डा० दशरथ ओझा
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिवद्
दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में प्रकाशित

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



उन आदि एवं अख्यात नाट्यकारों
को, जिनकी कृतियां हिन्दी-नाट्य-
प्रासाद की आधारशिलाएं बनकर
सदा आंखों से ओझल पड़ी रहें।

—वशरथ ओझा

मूल्य
१५.०० रुपये

भूमिका

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे मित्र डॉ० दशरथ ओझा की यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' प्रकाशित हो रही है। पुस्तक मूल रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए निबन्ध-रूप में प्रस्तुत की गई थी। विश्वविद्यालय ने संतुष्ट होकर उन्हें यह उपाधि प्रदान की। अब यह वृहत्तर पाठक-समाज के सामने आ रही है।

ओझाजी संस्कृत और हिन्दी के गम्भीर विद्वान हैं। केवल विद्वान ही नहीं, रच-नात्मक रस-साहित्य के निर्माता भी हैं। उन्होंने कई उत्तम नाटक लिखे हैं। वे दीर्घकाल से हिन्दी और संस्कृत साहित्य का अध्यापन करते रहे हैं। उनके अध्यापन और अनुभव, दोनों ही व्यापक हैं। परन्तु इन सबके ऊपर है ओझाजी का शील और सौजन्य। विद्या और शील के मणिकांचन योग ने उनके व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा दी है। उनके दुर्बल शरीर में—जो कल्पों और उपवासों से प्रतिवर्ष कुछ और क्षीण हो जाया करता है—विचित्र कार्यकरी क्षमता है। सबकी सहायता करने को प्रस्तुत, सबके लिए सदा कुछ न कुछ करने को बद्ध-परिकर !

प्रस्तुत पुस्तक में ओझाजी ने हिन्दी नाटकों की दीर्घकालीन परम्परा और उनकी विशाल पृष्ठभूमि का अध्ययन किया है। यद्यपि हिन्दी में नये ढंग के बहुत नाटक हाल में लिखे जाने लगे हैं, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दी नाटकों की परम्परा नई शुरू हुई है। हिन्दी के लोकनाट्य की परम्परा बहुत पुरानी है। संस्कृत-साहित्य से हम उसके अंश-मात्र से परिचित हो सकते हैं परन्तु पूरी लोक-परम्परा का ज्ञान हमें उस साहित्य के द्वारा नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत के साहित्यकार लोक-परम्परा के बहुत-से रूपकों और उपरूपकों का भी आकलन अपने ग्रंथों में कर लेते थे—कई रूपक-भेदों के तो उदाहरण भी संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलते क्योंकि मूलतः वे लोक-प्रचलित मनोरंजन-मात्र थे—परन्तु फिर भी उससे पूरी लोक-परम्परा का ज्ञान नहीं होता, केवल इस प्रकार की विशाल परम्परा का आभास-मात्र मिल जाता है। ओझाजी ने परिश्रम के साथ उन संकेतों को ढूँढ़ा है और प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्ववर्ती और बंगला, गुजराती आदि पार्श्ववर्ती साहित्यों में पाए जानेवाले संकेतों के आधार पर प्राचीन नाटकीय परम्परा के छिन्न सूत्रों को खोज निकालने का प्रयास किया है। रासलीला के उद्भव और विकास का उन्होंने नवीन रूप में अध्ययन किया और महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर

पहुँचे हैं। हिन्दी नाटकों के विकास के अध्ययन के लिए जिस प्रकार पुराने साहित्य के इंगित सहायक हैं, उसी प्रकार लोक-परम्परा के अनेक मनोरंजक नाट्यरूप भी सहायक हैं। ओझाजी ने सावधानी से दोनों परम्पराओं के सम्भावित प्रभावों के अध्ययन का प्रयास किया है। बिल्कुल आरम्भिक हिन्दी-नाट्य-परम्परा के सम्बन्ध में ओझाजी का कहना है कि :

“तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कण्ठ-काल से चली आनेवाली स्वांग की नाट्य-परम्परा थी, जिसके नाटक डोम और डोमनियों द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिए अथवा जिण-सेवक किया करते थे। पहली परम्परा समाज में उतनी सभादृत न थी, जितनी दूसरी। यह दूसरी परम्परा ही मध्यमवर्ग और धार्मिक जनता का मनोरंजन तथा रुचि का परिमार्जन कर रही थी। बहुरूपियों द्वारा नाटकों का अभिनय मन्दिरों के बाहर होता था, किंतु जैन-मन्दिरों में अभिनयकर्ता जैन धर्म के सेवक हुआ करते थे। प्रमाण के लिए ‘जम्बूस्वामी चरित’ का उद्धरण देखिए—

“चंचरिय बांधि विरहउ सरसु, गाहज्जइ संतिउ तारू जसु,
नच्चिज्जइ जिणाजय सेवकहि, किउ रासउ अम्बादेव यहि।

“इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि अम्बादेवी रास का अभिनय जिन सेवकों के नृत्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस काल के लगभग चार सौ रास-ग्रंथ उपलब्ध हो चुके हैं, जिनके परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनका कथानक होता था—

“(१) धार्मिक, (२) ऐतिहासिक, (३) पौराणिक, (४) आध्यात्मिक, (५) नैतिक, (६) लौकिक प्रेम-सम्बन्धी।

“उपर्युक्त विभाग कथानक की दृष्टि से किया गया है। वस्तु-विभाग की दृष्टि से निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

“(१) एकांकी, (२) दो अधिकार के नाटक, (३) दो से अधिक खंडों के नाटक, (४) मुख्यतः पाठ्यरास।

“इन ग्रंथों में जो पद्धति सर्वत्र समान रूप से पाई जाती है, वह है संगीत की। सभी रास विविध छन्दों में राग-रागिनियों के निर्देश के साथ मंगलाचरण और प्रशस्ति-समन्वित हैं। आश्चर्य तो यह है कि यही पद्धति बंगाल में प्रचलित यात्रा-नाटकों में, महाराष्ट्र में अभिनीत दशावतारी नाटकों में तथा गुजरात में प्राप्त भवाई नाटकों में भी विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का जनमत उस काल में गद्य की अपेक्षा संगीतमय काव्य के पक्ष में अधिक था। यद्यपि किसी-किसी रास में रंगमंच-निर्देश गद्य में मिलता है किन्तु ऐसे स्थल नगण्य हैं।”

हिन्द-नाट्यकारों में ओझाजी ने विशेष रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसादजी का अध्ययन किया है। सहृदय पाठक देखेंगे कि इस क्षेत्र में ओझाजी की दृष्टि में भी स्वकीयता है और नई सूचनाएं भी उन्होंने दी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बारे में अपनी

आलोचना का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं :

“भारतेन्दुजी के एक-एक नाटक का हम विस्तृत विवेचन कर आए हैं। उस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सके हैं कि भारतेन्दुजी ने परम्परागत भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्य-कला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई, उसीको स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा—न तो अंग्रेजी नाटकों का अनुधानुकरण किया और न बंगला नाटकों की भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की; साथ ही साथ प्राचीन नाट्यशास्त्र के गहन आवर्त में अपनी नाट्य-नौका भी न फंसने दी। तात्पर्य यह कि नाटक के गति-रोध करनेवाले सभी बन्धनों से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। नाटक की सामग्री भी उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों—शृंगार, शौर्य, करुणा आदि से ग्रहण की। इस विषय में उन्होंने अपनी दृष्टि इतनी व्यापक रखी कि जिससे संस्कृत, प्राकृत, बंगला, अंग्रेजी सभी प्रकार के नाटक-रस से रस खींचा जा सके।”

इस प्रकार काफी व्यापक दृष्टि लेकर उन्होंने हिन्दी-नाटकों का अध्ययन किया है और बहुत ही महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। ये निष्कर्ष निस्सन्देह विद्वानों के परीक्षण और मनन की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु इतना कहने में कोई संकोच नहीं कि प्रथम बार इतनी विशाल पटभूमि पर रखकर हिन्दी के नाटक देखे और जाँचे गए हैं। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी-नाटकों के अध्ययन को बहुत बल मिलेगा और यह हिन्दी-संसार के विद्यार्थियों द्वारा आदर-मान प्राप्त करेगी।

काशी

५-७-४५

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्राक्कथन

इस प्रबन्ध में उस व्यापक भाषा को हिन्दी संज्ञा दी गई है, जिसके अन्तर्गत राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली एवं प्राचीन गुजराती को सम्मिलित किया जाता है।

उत्तर भारत के इतने बड़े भूभाग में, गताब्दियों तक जो प्रभूत नाट्य-साहित्य विरचित हुआ, उसका संग्रह करना दुष्कर कार्य था। विविध साधनों में जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसके आधार पर हिंदी नाटकों का उद्भव और विकास दिखाने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में हम जिस परिणाम पर पहुंच सके हैं, उसका सारांश उपसंहार में दे दिया गया है। इस स्थान पर केवल उस पद्धति का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसके अनुसरण के सहारे निष्कर्ष निकाला गया है।

हिंदी के आदि नाटकों का विवेचन दो दृष्टिकोणों में किया गया है—धार्मिक और लौकिक। यात्रा-नाटक, रामलीला, रासलीला एवं जैनरास-साहित्य धार्मिक नाटक हैं और स्वांग, भवाई आदि लौकिक। यद्यपि कभी-कभी धार्मिक नाटकों में ऐहिकता के तत्त्व आ जाते हैं और लौकिक नाटकों में परमार्थ के, किन्तु जिसमें कथानक धार्मिक हो उसे ही धार्मिक नाटक मानना चाहिए। इन दोनों पद्धतियों के उपलब्ध साहित्य के सहारे नाटकों के मूल स्रोत के शोध का प्रयास किया गया है।

पं० हरप्रसाद शास्त्री और डा० बागची ने नेपाली और तिब्बती लिपि में विरचित भारतीय साहित्य का जब से अनुसंधान किया है, तभी से विद्वानों का ध्यान हिंदी-नाट्य-क्रमिक साहित्य की प्राचीनता की ओर आकर्षित हुआ है। इस प्रबन्ध में उन हिंदी नाटकों के भी विकास पर प्रकाश डाला गया है जो नेपाल में प्राप्त हुए हैं। ग्रामाम और उत्कल में प्राचीन नाटक उपलब्ध हुए हैं, उनकी नाट्य-शैली की परीक्षा करते हुए हिंदी नाटकों का उद्भव और विकास दिखाया गया है।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य अब क्रमशः प्रकाश में आता जा रहा है। नाटक-सम्बन्धी जो प्राचीन सामग्री अपभ्रंश भाषा में प्राप्य है, उसके आधार पर हिंदी नाटकों का उद्भव-काल निकालने का प्रयास किया गया है। अपभ्रंश के कनिष्ठ रासक एवं रास-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी रचना-शैली में ब्रज और राजस्थानी के रासग्रन्थों की तुलना करने पर हम जिस निर्णय पर पहुंचे हैं, उसका उल्लेख स्थान-स्थान पर किया गया है। यदि हमारा निर्णय विद्वानों को मान्य हुआ तो हिंदी नाटकों का उद्भवकाल सत्रहवीं शताब्दी नहीं, तेरहवीं शताब्दी माना जाएगा। इस प्रबन्ध में उन चार

शताब्दियों के नाट्य-साहित्य का क्रमिक विकास दिखाने की चेष्टा की गई है।

किसी भी भाषा के आदि नाट्य-साहित्य में नाटक के सम्पूर्ण तत्त्व उपलब्ध नहीं होते। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशों में भी आरम्भ में कई धार्मिक नाटक (Mystic Drama) लिखे गए, जिनमें नाटकीय तत्त्व बीज-मात्र थे और भविष्य में विकसित हुए। उस धार्मिक साहित्य को नाटक संज्ञा देने का एकमात्र कारण यह है कि वे जनता के सम्मुख ईसा के जीवन की विविध घटनाओं को प्रदर्शित करते थे। ठीक इसी प्रकार हमारे देश में जैनरास, रामलीला, रामलीला के द्वारा भगवान महावीर, राम और कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएं एक क्रम में जनता के सम्मुख प्रदर्शित की जाती थीं। विद्वान लेखकों की दृष्टि उन लीला और रामग्रंथों में व्यापक होती थी; वे इस बात का प्रयत्न करते थे कि उनके ग्रंथ दो उद्देश्यों की पूर्ति करें। श्रव्य काव्य के रूप में उनका गायन भी हो और पवित्र पर्वों के अवसर पर उत्सव के उपलक्ष्य में एक बड़े जन-समुदाय के सामने—ग्रन्थग्न्य अभिनय-सामग्री के साथ—उनका प्रदर्शन भी किया जा सके। उस समय आदि हिन्दी का गद्य-साहित्य अविकसित था, किन्तु पद्य भाग गद्य की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ हो चुका था। अतः स्वाभाविक था कि रास नाटकों का प्रणयन कविता के माध्यम से हो। सम्पूर्ण काव्य राग-रागिनियों के निर्देश के साथ विरचित होते थे। गद्य में संवाद का अभाव होने के कारण आज रामद्वय केवल श्रव्य काव्य प्रतीत होते हैं। उन्हें नाटक कहने में संकोच होता है। किन्तु विविध प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया गया कि अनेक रासग्रन्थ श्रव्य के साथ दृश्य भी होते थे और उनका अभिनय विशाल जन-समुदाय के सम्मुख मंदिरों एवं ग्रन्थ पवित्र स्थानों पर होता था। कनिषय लीला-ग्रन्थों में कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन अनेक लीलाओं में प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक लीला स्वतंत्र भी है और पूरे ग्रंथ का आंगिक रूप भी। इन लीला-ग्रंथों और मिस्टिक प्लेज (Mystic plays) में किसी सीमा तक साम्य पाया जाता है। जिस प्रकार मिस्टिक प्लेज वाइबल की कहानियों और ईसा के सम्पूर्ण जीवन को बीस, तीस या चालीस नाटकों में प्रदर्शित करते थे, उसी प्रकार लीला-ग्रंथों में भी श्रीमद्भागवत की कथा और कृष्ण-जीवन की प्रमुख घटनाएं अनेक छोटे-छोटे लीला-नाटकों में प्रदर्शित की जाती थीं। कभी-कभी तो नाटकों की संख्या के आधार पर ग्रंथ का नामकरण होता; जैसे—वयालीस दृश्यलीला, चौबीस लीला इत्यादि। ऐसे लीला-ग्रंथों में ब्रजवासीदास का 'लीला चौहत्तर' नामक ग्रंथ प्रमुख है। इन लीला-ग्रंथों को नाटक की श्रेणी में परिगणित करने का प्रमाण यह है कि इनका प्रदर्शन शताब्दियों से रंगमंच पर होता आ रहा है। अभिनेयता के कारण ये नाटक आज तक धार्मिक जनता को विमुग्ध बनाते चले आ रहे हैं।

पश्चिम के विद्वानों का तो यह मत है कि यूरोप के प्रायः सभी उन्नत देशों में प्रारम्भिक नाटक मिस्टिक प्लेज (Mystic plays) के रूप में आविर्भूत हुए। अनेक देशों में इन मिस्टिक प्लेज में नाम और रूप दोनों में साम्य पाया जाता है। अल्लार्डिस निकल (Allardyce-Nicall) ने वर्ल्ड ड्रामा (World Drama) नामक ग्रंथ में इसका प्रमाण

इस प्रकार दिया है—

“The plays thus produced essayed to tell the entire Biblical story from the Creation of the World to the Last Judgment. In many countries they took shape in fundamentally similar forms. The Italian *sacre rappresentazioni* were akin to the French *mysteres*, the *mysteres* to the German *Passionsspiele*, and those to the English ‘miracle plays’ and to the Cornish *quar* plays. Taking days to perform, the cycles consisted of thirty, forty, fifty, and even more separate dramas, each telling some salient portion of the Bible’s account of events human and super-natural.”

यात्रा-नाटक, रासलीला एवं रामलीला के नाटकों के कथानक धर्म-ग्रंथों के आधार पर चिरविश्रुत होते, अतः नाटककार घटनाओं के आरोह-अवरोह की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देकर मंडन-शिल्प को ही महत्त्व देते। मंडनशिल्प में उस काल संगीत का सबसे अधिक महत्त्व था। संवाद का माध्यम संगीत होता, सम्भाषण नहीं। गीतावलियों में एकसूत्रता उत्पन्न करने के लिए सूत्रधार आद्योपांत रंगमंच पर विद्यमान रहता। वह संस्कृत नाटकों की पद्धति पर प्रस्तावना के उपरांत प्रस्थान नहीं करता। पात्रों के आगमन और निष्क्रमण का निर्देश लिखित नहीं, मौखिक होता था। निर्देश की यह परम्परा रंगमंच से परिचित परिवार में वंशानुगत होती और कुल-सम्पदा मानी जाती। यही कारण है कि प्राचीन रास-लीला या अन्य नाटकों में रंगमंच के संकेतों का प्रायः अभाव-सा है।

धार्मिक नाटकों का सृजन अवध और ब्रज के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य भागों में भी होता रहा। कहीं तो इसे राजाश्रय प्राप्त था और कहीं राजाश्रय के अभाव में यह वैष्णव भक्तों की प्रतिभा के बल पर पल्लवित हुआ। राजस्थान में रास-नाटकों के आश्रयदाता प्रायः जैनमन्दिर होते। सामान्य जनता के सम्मुख उपदेशप्रद घटनाओं का प्रदर्शन इनका उद्देश्य था। अतः जैनरास-ग्रंथों का सबसे अधिक विकास इस भूभाग राजस्थान में हो पाया।

इस प्रबन्ध में विविध प्रमाणों के द्वारा रास को अभिनेय सिद्ध किया गया है और इसी आधार पर हिन्दी नाटकों का आदिकाल तेरहवीं शताब्दी माना गया है।

कीर्तनियां नाटक

हमारे देश के पूर्वी भाग में धार्मिक नाटक राजाश्रय में विकसित होते रहे। ‘मिथिला में कर्णाट वंश के ह्वास के उपरांत विद्यापति के आश्रयदाता ओइनवार वंश के राजकुल ने देशी भाषा के रंगमंच के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी।’ दरभंगा-नरेश ने वैष्णव रंगमंचों को प्रोत्साहन दिया, अतः उनके राज्यकाल में नाट्यकला विकसित होने

लगी। दरभंगा में राजाश्रय प्राप्त होने से १६ प्रसिद्ध नाट्यकारों ने वैष्णव नाट्य-साहित्य का सृजन किया। इनकी कृतियों में रामदास झा का 'आनन्द विजय' १७०५ वि०, देवानन्द का 'उषाहरण', उमापति उपाध्याय का 'पारिजातहरण' १७५७ वि०, रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणी हरण', नन्दपति का 'श्रीकृष्ण केलि माला', श्रीकांत गायक का 'श्रीकृष्ण-जन्म-रहस्य' प्रसिद्ध नाटक हैं। नेपाल में प्राप्त नाटकों के साथ साथ उपर्युक्त नाटकों के विवेचन के द्वारा मैथिली नाटकों का उद्भव और विकास दिखाया जा सकता है।

अंकिया नाटक

आसाम में शंकरदेव के अतिरिक्त माधवदेव का 'अर्जुन-भंजन', गोपालदेव का 'जन्मयात्रा', रामचरण ठाकुर का 'कंस-वध' अंकिया नाटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अंकिया नाटकों का उत्कर्ष कामरूप के राजा नर नारायण के राज्य में विशेष रूप से हुआ। इन प्रमाणों के आधार पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध की जा सकती है कि रंगमंच के अभाव के कारण हिन्दी में नाटक थे ही नहीं।

भारतेन्दुजी ने अपने ग्रंथ 'नाटक' में हिन्दी का सर्वप्रथम वास्तविक नाटक अपने पिता गोपालदास-लिखित 'नहुष' को घोषित किया। उन्होंने महाराज विश्वनार्थसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को भी नाटक की उपाधि नहीं दी। उनका मत है कि "भाषा कवि-कुल-मुकुट-माणिक्य देव कवि का 'देव-माया-प्रपंच नाटक' और श्री महाराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्रीमहाराज विश्वनार्थसिंह रीवां का आनन्द रघुनन्दन नाटक नाटक-रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपादन इनमें नहीं है और ये छन्द-प्रधान ग्रंथ हैं।"

भारतेन्दुजी के इस मत से सहमत विद्वानों का वर्ग इन्हें काव्य सम्बोधित करता है और नाटक की संज्ञा उन दृश्य काव्यों को देना चाहता है, जिनमें पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण आदि नाटकीय विधानों का ध्यान रखा गया हो। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी का नाटक-साहित्य भी नाट्य-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाता है। इस प्रबन्ध में समयसार, रामायण महानाटक, देवमाया प्रपंच, हनुमन्नाटक, समासार, कृष्णाभरण एवं आनन्द रघुनन्दन आदि को नाटक सिद्ध किया गया है, और आधुनिक नाटकों से उनकी भिन्नता का कारण उस काल की जन-रुचि को प्रमाणित किया गया है। तथ्य तो यह है कि नाट्य साहित्य का मंडनशिल्प जन-रुचि पर अवलम्बित है और जन-रुचि के उपकरण बदलते रहते हैं, अतः नाटक की शैली में भी परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। वैष्णव धर्म के प्रचारकाल में गेय पदों की ओर जनता आकर्षित थी। अतः नाटकों में भी संगीत की प्रभावता रही। आज हमारे कान नाटक में वर्तमान समस्याओं का विवेचन तर्कपूर्ण शैली में गद्य-माध्यम से सुनने के प्रमत्ता हैं, किन्तु पंद्रहवीं शताब्दी के समीप नाटक का माध्यम था गेय पद। सूत्रधार उन गेय पदों की एकसूत्रता स्थापित करता।

नाटकों में रंगमंच-निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस कारण उस काल का सम्पूर्ण नाटक-साहित्य काव्य-रूप में दिखाई पड़ता है। संस्कृत की नाट्य-पद्धति पर विश्वनारयणसिंह ने नाटक को सर्वप्रथम एक नई दिशा में मोड़ दिया। उन्हें इस कार्य में पूरी सफलता मिली। उस पद्धति का अनुसरण चिरकाल तक होता रहा। इसलिए उनके 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक का विस्तार से विवेचन किया गया है, और उससे पूर्व विरचित नाट्य-साहित्य से उसका अन्तर स्पष्ट किया गया है।

इस प्रबन्ध में उन्हीं नाटकों को स्थान दिया गया है जो अपने मंडन-शिल्प अथवा वस्तु-विधान के द्वारा प्रचलित नाट्यधारा को एक नई दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं। नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी नाट्य-धारा को नवीन गति देने में कोई नाटक असमर्थ है तो उसका उल्लेख-मात्र ही किया गया है, किन्तु यदि कोई सामान्य नाटक नाट्यधारा को मोड़ने अथवा उसे वेगवती बनाने में सहायक सिद्ध होता है तो उसका सम्यक् विवेचन आवश्यक समझा गया है। इस दृष्टि से विवेचन करने पर कई उच्च कोटि के नाटक भी स्वल्प स्थान प्राप्त कर सके हैं। इसका कारण उनमें नाटकतत्त्व का अभाव नहीं अपितु दृष्टिकोण का परिवर्तन है।

भारतेन्दु-युग के नाट्य-साहित्य की तुलना उत्तर भारत के तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों की कृतियों से की गई है। इस प्रकार की आलोचना से उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं का विचार-साम्य दिखाने का प्रयास किया गया है। भारतेन्दु ने विभिन्न नाट्य-शैलियों का प्रयोग किया और उनका समन्वित रूप जनता के सामने रखकर अव्यावसायिक रंगमंच का सूत्रपात किया।

'प्रसाद' के नाटकों का विस्तृत विवेचन करते हुए नाट्यकार के जीवन की परिस्थितियों का उनकी कृतियों में संबन्ध दिखाने का प्रयास किया गया है। 'प्रसाद' की अभिनव नाट्यकला की प्रतिक्रिया और उसके परिणामस्वरूप समस्या-नाटकों के प्रचार पर प्रकाश डाला गया है।

प्रसादोत्तर काल में नाटकों की प्रवृत्तियाँ दो रूपों में दिखाई गई हैं—एक रूप देश-विभाजन से पूर्व का है और दूसरा विभाजन के उपरान्त। इस युग के कतिपय नाट्य-कारों की अनेक कृतियों का विवेचन किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज नाटक में विविध पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है। आधुनिकतम प्रयोग है रेडियो-नाटक और दृश्य कहानियाँ। रेडियो-नाटक पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। दृश्य कहानियों का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि नाटक कहानी के रूप में पढ़ा जा सके। जिस प्रकार आदियुग में नाटक-रचयिता काव्य-रचना के साथ-साथ उसके अभिनय को भी दृष्टि के सामने रखता था, उसी प्रकार आज ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं जो कहानी के रूप में भी पढ़े जा सकें और सुविधानुसार रंगमंच पर प्रदर्शित भी किए जाएं। यशपाल के नाटक इसी प्रकार के हैं।

इस प्रबन्ध में पांच सोपान हैं। प्रत्येक सोपान अथवा उत्थान एक युग विशेष की

नाट्य-प्रवृत्ति, मंडन-शिल्प एवं वस्तु-विन्यास का परिचायक है। इस प्रबन्ध में साहित्यिक एवं लोक-नाटक दोनों पर विचार किया गया है। चेष्टा करने पर भी नृत्य-नाटकों (Dance Drama) के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न हो सकी। अतः नाटक का एक अंग अछूता रह गया। हमारे देश के नृत्य-नाटकों में नाटक का प्राचीनतम रूप प्रायः ज्यों का त्यों सुरक्षित है। प्रमाण के लिए मनिपुर-नृत्य-नाट्य लीजिए। इसमें इन्द्रध्वजारोहण का सम्पूर्ण कथानक आज भी विद्यमान है। इस नृत्य-नाटक में कुंज, वसन्त, महा और नित्य नामक चार प्रकार के रास आज भी विद्यमान हैं। भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित नृत्य-नाटकों का भली प्रकार अनुसन्धान होने पर नाटक के उद्भव और विकास पर और अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। यह विषय विद्वानों के शोध का है।

हिन्दी नाटक के उद्भव और विकास की समीचीन समीक्षा के लिए हिन्दीतर भाषाओं के प्रारम्भिक नाटकों का विवेचन आवश्यक था। इस कार्य में हमें कई महानुभावों से पर्याप्त सामग्री मिली। प्राकृत और अपभ्रंश के नाट्यसाहित्य पर काशी के कवि-राज गोपीनाथजी तथा पं० सत्याशुमोहन मुखोपाध्याय से जो सहायता मिली, उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। चौदहवीं शताब्दी में संस्कृत नाटकों में हिन्दी गीतों को स्थान मिलने लगा था—इसका प्रमाण बरुआ साहब की कृपा से प्राप्त नाटक साहित्य में मिला। नेपाल का नाट्य-साहित्य डा० आर० के० दास गुप्ता की कृपा से प्राप्त हो सका, अतः हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

राजस्थानी का राम-साहित्य डा० दशरथ शर्मा और श्री अग्रचन्द नाहटा की कृपा से प्राप्त हुआ। इन दोनों विद्वानों ने रास को दृश्य काव्य माना है। इन दोनों विद्वानों की सहायता से ही एक नई स्थापना सम्भव हो सकी है। अतः हम इनके परम अनुगृहीत हैं।

म० म० बामनजी पोद्दार, एवं गुजरात-वर्नाक्यूलर सोसाइटी के डा० के० का० शास्त्री, एवं डा० भयाणी से हमें बड़ी सहायता मिली। अतः हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। हस्तलिखित नामों की खोज करते हुए हमें निम्बार्क, वल्लभ, मध्व एवं चैतन्य आदि सम्प्रदायों के महात्माओं एवं विद्वानों से सहायता मिली है। अतएव उन्हें धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रणनावस्था में भी इस प्रबन्ध की भूमिका लिखकर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए हम उनके अत्यन्त उपकृत हैं। परीक्षकों के मुभाव के अनुसार मूल प्रबन्ध में यत्र-तत्र परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर दिया है। इस प्रकार पुस्तक थोसिम से कुछ अधिक विस्तृत हो गई है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री के चरणों में बैठकर यह प्रबन्ध लिखा गया था। म० म० जी ने थोसिम का एक-एक शब्द मुना और जहां-जहां हमें भ्रम हुआ, उन्होंने हमारा पथ-प्रदर्शन किया। उनमें अनुसन्धान की विलक्षण सूक्ष्मता। संकटकाल में उनकी प्रतिभा की ज्योति उदीप्त हो उठती थी। उन्होंने इस कार्य में हमारी जो सहायता की, उसे हम आजीवन स्मरण रखेंगे। दिल्ली-विश्वविद्यालय की

अनुसंधान परिषद् के तत्त्वावधान में यह प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है, अतः परिषद् के अधिकारियों को धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। कई वर्षों के सतत परिश्रम के उपरान्त यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ। पुस्तकाकार में इसे विद्वानों के सम्मुख रखते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है क्योंकि “क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।”

जन्माष्टमी, २०११ वि०

—दशरथ श्रीभा

प्रस्तावना (द्वितीय संस्करण)

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होते देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है। इतने अल्पकाल में प्रथम संस्करण की समाप्ति इस तथ्य को प्रमाणित कर रही है कि समाज को ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी। उत्तरप्रदेश की सरकार ने इसपर पुरस्कार देकर और प्रमुख विश्वविद्यालयों ने पाठ्यक्रम में स्थान देकर पुस्तक की उपादेयता को स्वीकार किया है। हिन्दी के प्रायः सभी उच्च कोटि के आलोचकों और पत्र-पत्रिकाओं ने इसके यथोचित मूल्यांकन से मुझे प्रोत्साहित किया है। एतदर्थ मैं उन सभी निद्वानों का आभारी हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय निकालकर इसकी आलोचना की।

इस स्थान पर उन दो विवादास्पद विषयों को स्पष्ट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिसकी ओर पत्र-पत्रिकाओं में संकेत किया गया है। प्रथम आशंका यह उठाई गई है कि रास, स्वांग, यात्रा-नाटकों को नाटक क्यों माना जाए। दूसरी आपत्ति यह है कि साहित्यिक नाटकों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं अतएव नाटक के विकास-क्रम में इन्हें स्थान क्यों दिया जाए। हमारा नम्र निवेदन यह है कि लोक-नाट्य-परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण ही दोनों प्रश्न उठते हैं।

हमारी आज की नाट्य-सम्बन्धी धारणाएं शेक्सपीयर, इब्सन, मेटर्लिक, शाआदि पश्चिमीय नाट्यकारों की रचनाओं के आधार पर बनी हैं। पश्चिम के नाटकों में चरित्र-चित्रण, घटना-वैचित्र्य और क्रिया-व्यापार की विशेषता अनिवार्य मानी जाती है, किन्तु हमारे देश में काव्य रसास्वादन के लिए संगीत और नृत्य आवश्यक अंग माने जाते हैं। भरत मुनि कहते हैं—

मृदुललित पदाद्यं, गूढ शब्दार्थ हीनं,
जनपद-मुख बोध्यं युक्तिमन्तृत्य-योज्यं,
बहुकृत रसमार्गं सन्धि-सन्धान युक्तं,
भवति जगति योष्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।

हमारे जन-नाटक संगीत और नृत्य पर आधारित होते हैं। उनमें नाना रसों का समावेश होता है। पदावली संगीत के अनुरूप और सरल होती है। सन्धियों का सम्यक् नियोजन उनमें भले ही न हो किन्तु कथावस्तु वास्तविक जीवन से संगृहीत होने के कारण हृद्य एवं यथार्थ होती है।

आज के इतिहास-लेखक और नाट्यकार लोक-नाट्य-परम्परा से अपरिचित होते

जा रहे हैं किन्तु संस्कृतज्ञ कविगण समय-समय पर जन-नाट्यशैली से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। कौन नहीं जानता कि काव्यमीमांसाकार और बालरामायण नाटक के रचयिता राजशेखर ने जनभाषा (प्राकृत) में एक नई शैली का नाटक 'कर्पूरमंजरी' सट्टक विरचित किया। यह नाटक लोक-नाट्य-शैली पर नृत्य और संगीत के माध्यम से अभिनीत होता था।

संस्कृत के उपरूपकों में अधिकांश का विकास जन-सामान्य में प्रचलित नृत्य-नाटकों के आधार पर हुआ, जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता किन्तु भावप्रकाश, नाट्यदर्पण, साहित्य-दर्पण आदि परवर्ती काव्यशास्त्रों में सम्यक् विवेचन उपलब्ध है। हमारे काव्यशास्त्रियों की दृष्टि इतनी व्यापक होती थी कि वे जन-भाषा के प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सुरुचिपूर्ण रचनाओं को अपनी परिधि के अन्तर्गत सब समेट लेते थे।

रास, यात्रा, स्वांग, आदि लोक-नाटकों के साथ भारतेन्दु-युग तक के नाट्यकार अपना सम्पर्क स्थापित करते रहे। भारतेन्दुजी के नाटकों पर रास-यात्रा आदि जन-नाटकों का प्रभाव विस्तार के साथ इस पुस्तक में सिद्ध किया गया है। आधुनिक हिन्दी नाटकों का जन्मदाता जिस परम्परा से प्रभावित हो, उसका उल्लेख करना इस ग्रंथ में आवश्यक समझा गया है।

संयोग की बात है कि ग्रंथ के द्वितीय संस्करण का मुद्रण ऐसे समय हुआ, जब नई दिल्ली में संस्कृत, असमी, बंगला, उड़िया, हिंदी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू उर्दू, कन्नड़ आदि भाषाओं के प्रमुख नाट्यकारों का सम्मेलन हो रहा था। भारत के दूरस्थ भागों से आए हुए सभी विद्वानों ने अपने नाट्यसाहित्य के विकास में लोक-नाट्य-परम्परा के प्रभाव का उल्लेख किया। यह सुनकर विस्मय होता है कि सभी स्थानों पर जनता नृत्य-नाटक एवं गीतिनाट्य के द्वारा शताब्दियों से मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करती चली आ रही है। सर्वत्र धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों का प्राधान्य मिलता है। इससे प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से आज तक लोक-नाट्य की जो परम्परा जीवित बची है, वह देश की सांस्कृतिक एकता का निर्माण करने में सहायक हो सकती है।

डा० राघवन का मत है कि भारतीयों ने नृत्य-नाट्य की इस परम्परा को एशिया के पूर्वी भागों में प्रसारित किया था। यदि उनका अनुसंधान किया जाए तो हमारी सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करने में ये नाट्यकार सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

“Today, when we are free to move about and plan and reconstruct our culture and arts, one cannot think of a more urgent need than an Academy like this organising an informed and equipped team for exploring the dance-drama traditions of South-East Asia which form the most popular and powerful ties which bind these countries to India.”

Sangeet Natak Akademi
(Drama Seminar)
March, 1956

ज्यों-ज्यों मध्ययुगीन नाटक अधिकाधिक प्रकाश में आते जा रहे हैं, त्यों-त्यों यह धारणा उत्तरोत्तर दृढ़ बनती जा रही है कि श्रव्य काव्यों के सदृश हमारे दृश्य काव्य भी वैष्णव धर्म से पूर्णतया प्रभावित थे। आसाम के स्वामी शंकरदेव के नाटकों के अध्ययन से अब इस तथ्य में शैश-मात्र भी सन्देह नहीं रहा कि मध्ययुगीन नाट्यकारों के सम्मुख नाटक और रंगमंच का जो चित्र निमित्त हुआ, उसमें संस्कृत नाटक पद्धति एवं जननाट्य-शैली दोनों रंगों का मिश्रण था। शंकरदेव प्रतिभाशाली नाट्यकार के अतिरिक्त कुशल अभिनेता भी थे। उन्नीस वर्ष की अवस्था में १५२५ वि० में उन्होंने 'चिह्न-यात्रा' नामक नाटक लिखकर स्वयं रंगमंच पर मित्रों के साथ अभिनय किया। रंगमंच पर वैकुण्ठ का दृश्य उन्होंने स्वतः चित्रित किया। उन्होंने ही 'नामघर' की स्थापना से स्थान-स्थान पर नाटकों के अभिनय की व्यवस्था की। शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव ने अनेक नाटकों का सृजन और प्रदर्शन किया। इनके नाटकों में गीत और नृत्य की प्रधानता होती हुई भी यत्र-तत्र परिभाजित गद्य में वार्तालाप मिलता है। इन नाटकों का विशेष विवरण इस संस्करण में समाविष्ट किया जा रहा है।

मध्ययुग में कतिपय दरबारी एवं स्वतंत्र कवियों ने भी काव्यमय धार्मिक नाटकों की रचना की। संस्कृत के विशाल नाटकों के समान ये नाटक भी कई दिनों में अभिनीत होते रहे होंगे। गीत-नाटकों के समान इनका अभिनय भी नृत्य एवं संगीत के माध्यम से होता रहा होगा। धर्मप्रेमी जनता पुण्य-लाभ के लोभ से इन बृहद् नाटकों को देखने के लिए बड़े धैर्य के साथ रात-रात-भर जागरण करती रही। खुले मैदान में रंगमंच के अल्प साधनों के द्वारा इनका अभिनय होता रहा। इस संस्करण में इस युग के नाटकों पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

गत दस वर्षों के प्रकाशित नाटकों के आधार पर नाटक की नई प्रवृत्तियों की ओर संकेत मिलता है। इस संस्करण में पद्यरूपकों की विस्तृत विवेचना द्वारा नाटक की एक नवीन शैली और नूतन प्रवृत्ति के अनुसन्धान का प्रयास किया गया है। आधुनिककाल में हिन्दी के कतिपय प्रतिभाशाली कवियों का ध्यान पद्यरूपक की ओर आकर्षित हुआ है। रेडियो पर संगीत के महात्म्य से काव्यरूपक सफल बनते जा रहे हैं। यद्यपि हिन्दी में ऐसे काव्यरूपकों की संख्या अल्प है तथापि एक नवीन प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनाने के कारण इनका विशेष महत्त्व स्थापित हो गया है। मैं पाठकों का ध्यान इस अति आधुनिक प्रवृत्ति की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

'संगीत नाटक अकादमी' के तत्वाधान में होनेवाले नाटक सेमीनार में भाग लेने के लिए हिन्दीतर भाषाओं के भी अनेक नाट्यकार आए। उनके लेखों को पढ़ने और उनके विचार-विनिमय करने से यह स्पष्ट हो गया कि प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं का नाट्य-साहित्य विचार एवं तंत्र की दृष्टि उसी प्रकार विकसित हुआ है, जिस प्रकार हिन्दी का नाट्य-साहित्य। पद्यरूपक की नवीन धारा रेडियो के कारण सर्वत्र प्रबल बनती जा रही है।

आध्यात्मिक विषयों की ओर नाट्यकारों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। राष्ट्र-प्रेम का नवनिर्माण, समाजवाद के अनुकूल साहित्य-सृजन, विश्वबन्धुत्व की नवीन स्थापना के प्रश्न आधुनिक नाट्यकारों के हृदय का मंथन कर रहे हैं। नवीन नाट्यसाहित्य को अभिनेय बनाने के लिए नूतन रंगमंच की स्थापनाएं होने जा रही हैं। आज रंगमंच को समाज-कल्याण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। देश के सर्वसोमुखी विकास में नाट्य-साहित्य की सहायता आवश्यक समझी जा रही है। देश की सांस्कृतिक और राजनैतिक एकता को स्थायी बनाने में नाटक सदा योग देते आए हैं। इस परम्परा को ध्यान में रखकर इस संस्करण का यत्नत्र परिवर्द्धन किया गया है।

ग्रन्थ को उपयोगी एवं अद्यतन बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया गया है। यदि नाट्यप्रेमी पाठकों और उच्च शिक्षा-प्रेमी छात्रों को इससे कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

सम्बत् २०१३ वि०

—दशरथ श्रोभा

तृतीय संस्करण

मुझे गत वर्ष के अन्त में यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण समाप्त हो गया है और पाठकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं की ओर से सैकड़ों प्रतियों के आर्डर आए हुए हैं। पुस्तक को द्वितीय संस्करण के तद्वत् रूप में मुद्रित करना मुझे वांछनीय नहीं था। अतः पाठकों को कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, इसके लिए क्षमा चाहता हूं।

विगत दशाब्द में हिन्दी नाट्य-साहित्य की विकास-गति को देखकर आश्चर्य होता है। परन्तु इस विकास की विस्मयकारिणी गति का कारण भी स्वाभाविक है। किसी भी देश के पारतन्त्र्य काल में उसका श्रव्य-काव्य भले ही विकसित हो पर दृश्य-काव्य की सम्पन्नता संदिग्ध ही रहती है। नाट्य-साहित्य की समृद्धि देश की समृद्धि पर निर्भर रहती है; क्योंकि नाट्य-साहित्य-सृजन की प्रेरणा रंगमंच से ही प्राप्त होती है। स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे देश के प्रत्येक राज्य में अनेक रंगमंच निर्मित हुए। धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक उत्सवों के अवसर पर खेलने के लिए अच्छे नाटकों की मांग बढ़ी। अवसर-वैविध्य के कारण नाट्य-प्रकार में भी विविधता आई। इस कारण विभिन्न शैलियों में अनेक नाटक विरचित हुए।

आज हमारा देश, हमारी भाषा, हमारा साहित्य विश्व के प्रायः सभी उन्नतिशील देशों, भाषाओं और साहित्यों के सम्पर्क में आ चुका है। हिन्दी का नाट्यकार भारतीय एवं अन्तराष्ट्रीय सभी प्रकार के नाट्य-साहित्य से परिचय प्राप्त करने को लालायित है। हिन्दी भाषी क्षेत्र के प्रमुख नगरों में हिन्दीतर भाषाओं के नाटक अनूदित अथवा मूल रूप में अभिनीत हो रहे हैं। विशेषकर 'ग्रैंड इण्डिया रेडियो' के रंगमंच पर उच्च कोटि के

बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तमिल, तैलगु, मलयालम आदि के साहित्यिक एवं लोक-नाट्य प्रतिवर्ष प्रदर्शित होते रहते हैं। अमेरिकन एवं रूसी नाटकों का अभिनय देखने का अवसर हिन्दी-जनता को प्राप्त हो रहा है। प्रत्येक राज्य में लोक-नाटकों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य में लोक-नाट्यों का प्रतिवर्ष अभिनय कराती है और अभिनेताओं तथा नाट्यकारों को पुरस्कार वितरण करती है। अतएव नाट्य-साहित्य को विकसित होने का पूरा अवसर मिल रहा है।

‘भाल इण्डिया रेडियो’ के विभिन्न केन्द्रों से प्रत्येक सप्ताह उत्तमोत्तम नाटक प्रसारित किए जा रहे हैं। नाट्यकार और अभिनेता विभिन्न शैलियों का प्रयोग कर रहे हैं। विभिन्न नाट्य-मंडलियां पुरस्कर्ताओं की प्रेरणा एवं स्वान्तःसुखाय अभिनय कला का उत्तरोत्तर विकास कर रही हैं। इन कारणों से समस्या-नाटक, सामाजिक नाटक, गीति-नाट्य, नृत्य-नाट्य, काव्य-नाटक, ऋतु-नाट्य एवं प्रतीक-नाटकों का सर्जन हो रहा है। प्रत्येक शैली पर दर्जनों नाटक प्रतिवर्ष विरचित हो रहे हैं। अनूदित नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। वर्षा की मेघ जल-राशि के समान नाट्य-साहित्य की धारा यद्यपि भाज मटमेली दिखाई दे रही है, किन्तु कालान्तर में कूड़ा-कचरा एवं कीचड़ का निवारण हो जाने पर स्वच्छ जलधारा का रूप अवश्य ही आकर्षक दिखाई पड़ेगा। खान से निकलनेवाला स्वर्ण प्रस्तर-खण्डों के साथ मिला होने के कारण अपनी ज्योति को छिपाए रहता है। किन्तु यन्त्र की छलनी में छानकर जब स्वर्ण भलग कर लिया जाता है तो वह स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। इसी प्रकार कालगति की छलनी में छन जाने पर भाज के विपुल नाट्य-साहित्य से जो स्वर्ण के समान देदीप्यमान नाटक बच जाएंगे, वे ही हमारी स्थायी नाट्य-सम्पत्ति होंगे।

विगत दश वर्षों में विरचित प्रायः उन सभी नाटकों के परीक्षण का प्रयास किया गया है जिनमें नाट्यकला की स्वर्ण रेखा का कोई भी कण चमकता हुआ दिखाई पड़ा है। सम्भव है कि कतिपय नाटक अप्राप्य होने के कारण आँखों से ओझल रह गए हों। ज्ञात होने पर आगामी संस्करण में उनका भी परिचय देने का विचार कर रहा हूँ। इस छोटे-से ग्रन्थ में न्यूनाधिक आठ सौ वर्षों के नाट्य-साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया है। इस दशाब्दी में हिन्दी-साहित्य के एक-एक युग के नाट्य-साहित्य पर शोध-कार्य हुआ है। इस प्रकार विपुल लुप्त सामग्री ग्रन्थकार के गत से निकाली जा रही है। उनका अति संक्षिप्त परिचय ही सम्भव हो सका है। उन्हीं नाटकों को इनमें स्थान दिया जा सका है जिन्होंने किसी प्रवृत्ति या शैली विशेष को पल्लवित करने में योगदान दिया है। इस कारण ऐसे अनेक स्पृहणीय नाटक भी स्थान पाने से वंचित रह गए हैं जिनमें कई विशेषताएं पाई जा सकती हैं।

प्राचीनकाल के अनेक ऐसे नाटक विस्तारपूर्वक विवेच्य समझे गए हैं जिनमें भाज की दृष्टि से आन्तरिक क्षमता का अभाव मालूम होता है। किन्तु ऐतिहासिक मूल्य होने के कारण उन्हें इस ग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया गया है; कतिपय खण्डित नाटक भी

संग्राह्य एवं विवेच्य समझे गए हैं ; क्योंकि प्राचीन ग्रंथग्रंथ प्रतिमाएं भी संग्रहालय में स्थान पाने की अधिकारिणी होती हैं। 'गोरक्षविजय' नाटक की इसी कारण विस्तार के साथ विवेचना की गई है। शोध करने पर हमें शताधिक ऐसे नाटक प्राप्त हुए जिनमें संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी को भी स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में हमारा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

प्राधुनिक नाटकों का मूल्यांकन सबसे बड़ी समस्या है। जिन नाटकों ने रंग-मञ्चीय विशेषताओं अथवा आन्तरिक गुणों के कारण हमारा ध्यान आकर्षित किया है, उनका विशेष परिचय देने का लोभ हम संवरण न कर सके। विगत दशाब्दी में गीति-नाट्य, समस्या-नाटक और प्रतीक-नाटकों को जनप्रियता प्राप्त हुई है। इनमें भी सबसे अधिक आकर्षण गीतिनाट्यों में पाया जाता है। गीतिनाट्य साहित्य, संगीत एवं नृत्य से समन्वित होने के कारण सहज ही जनप्रिय बन रहे हैं। अतः हमने कला की दृष्टि से अति सामान्य गीतिनाट्यों का भी इसमें विस्तार के साथ उल्लेख किया है। मेरा अपना मत है कि आज की सबसे बेगवती धारा गीतिनाट्यों की है। इनमें साहित्यिकता के साथ रंगमंचीयता और जीवन का एक नया संदेश मिलता है जो नवयुग की मान्यताओं एवं धारणाओं की ओर निर्देश करता है।

एकांकी नाटकों के विकास-क्रम के साथ हम पूर्ण न्याय नहीं कर पाए हैं। इसका कारण उनकी उपेक्षा नहीं अपितु स्थानाभाव है। एकांकी नाटक प्रायः समस्या-प्रधान होते हैं। अतः उनको भी समस्या-नाटकों में समाहित किया जा सकता है। यदि अवसर मिला तो इस विषय पर स्वतन्त्र रीति से विचार किया जाएगा। प्रतीक-नाटकों की अपनी एक विशेष कला है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मैटरलिक इस कला में सिद्धहस्त हैं। इन नाट्यकारों का प्रभाव हमारे नाट्य-साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है। इस संस्करण में हमने प्रतीक-नाटकों का कुछ विस्तार के साथ विवेचन किया है। यह विषय इतना विस्तृत है कि इसपर एक स्वतन्त्र पुस्तक अपेक्षित है। आशा है कि कोई शोधार्थी इस क्षेत्र में कार्य करने को प्रस्तुत हो जाएगा।

विगत दशाब्दी में नाटक-सम्बन्धी जो अनेक शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत हुए हैं, उनका संक्षिप्त परिचय परिशिष्ट भाग में दिया जा रहा है। शोधार्थियों को उनसे सहायता मिल सकती है।

अन्त में हम पाठकों और विशेषकर छात्रों और अध्यापकों को धन्यवाद देते हैं जो समय-समय पर इस ग्रन्थ की उपादेयता की प्रशंसा करते हुए हमें प्रोत्साहित करते रहे हैं। आशा है कि नवीन संस्करण उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिक सहायक सिद्ध होगा।

२, रामकिशोर रोड, दिल्ली }
ज्येष्ठ पूर्णिमा
संवत् २०१८ वि०

—दशरथ शोभा

विषय-सूची

भूमिका (डा० हज्जारीप्रसाद द्विवेदी)

प्राक्कथन

प्रस्तावना (द्वितीय एवं तृतीय संस्करण)

पहला अध्याय

कला और उसका उपयोग	...	२७
नाट्यशास्त्र में नाटक	...	३३
अरिस्टाटल के मत से नाटक	...	३३
नाट्यशास्त्र में नाटक की विशेषता	...	३५
नाट्यशास्त्र में नाटक का प्रयोग	...	३७
कालिदास के मत से नाटक का महत्त्व	...	३८
शारदातनय के मत से नाटक का महत्त्व	...	३९
प्राचीनकाल में अभिनय और अभिनयशाला	...	४०
वैदिक काल और नाटक का अभिनय	...	४२
रामायण और नाटक	...	४३
महाभारत में नाटक	...	४४
कौटिल्य का अर्थशास्त्र और नाटक	...	४५
अभिनय और समाज	...	४६
उत्सव और प्रेक्षागृह	...	४७

दूसरा अध्याय

लोक-नाटक	...	४८
स्वांग की परम्परा	...	४९
यात्रा-नाटक की उत्पत्ति और विकास	...	५२
यात्रा-नाटक का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर	...	५४
यात्रा-नाटक का प्रभाव देशी भाषाओं पर	...	५५
उन्नीसवीं शताब्दी के यात्रा-नाटक	...	५६

तीसरा अध्याय

हिन्दी-मैथिली-नाटक की उत्पत्ति	...	५७
संस्कृत नाटकों में हिन्दी को स्थान	...	६१
उड़िया के नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम हिन्दी का प्रयोग	...	६५
असमी नाटकों में सर्वप्रथम हिन्दी	...	६६

चौथा अध्याय

राजस्थानी में नाटक की उत्पत्ति	...	६६
‘रास’ शब्द की व्युत्पत्ति	...	७१
लक्षणग्रन्थों में रासक; नाट्यरासक, रास	...	७३
संस्कृत साहित्य में रासक	...	७६

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी के आदि साहित्यिक नाटक	...	८०
पश्चिमी राजस्थानी में रास नाटक की परम्परा	...	८३
राजस्थानी रास नाटकों की परम्परा और उनका विकास	...	८४
कृष्ण रास और जैन रास	...	८१
स्याम सगाई लीला का कथानक	...	८३
ध्रुवदास	...	८७
आधुनिक लीला-नाटकों की रचना	...	११२
रासलीला का प्रभाव रामभक्तों पर	...	११३
रास की स्थिरता क्यों ?	...	११३
हिन्दी नाटकों में संस्कृत और रास-शैली	...	११७
रास-शैली की विशेषताएं	...	११८

छठा अध्याय

वैष्णव आन्दोलन का प्रभाव	...	१२१
रामायण सह्यनाटक	...	१२२
हनुमन्नाटक	...	१२२
समयसार नाटक	...	१२३
चंडी-चरित्र	...	१२४
प्रबोधचन्द्रोदय	...	१२५
शकुन्तला नाटक	...	१३०

विषय-सूची	२१
समासार नाटक	... १३०
कहनाभरण	... १३१

सातवां अध्याय

संस्कृत-शैली के प्रथम हिन्दी नाट्यकार	... १३६
बंगाल में अंग्रेजी नाट्यशाला का निर्माण	... १४०
गद्य का प्रयोग	... १४१
समन्वय-साधना	... १४१
नाटक की रचना-शैली	... १४३
नाटक का गुप्तभाव	... १४५
विश्वनाथ का प्रभाव हिन्दी-नाटकों पर	... १४६

आठवां अध्याय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	... १५०
विद्यासुन्दर	... १५३
बंगला में विद्यासुन्दर	... १५३
पाक्षण्ड-विहम्बन	... १५८
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	... १६१
प्रेमयोगिनी	... १६१
सत्य हरिश्चन्द्र	... १६२
कर्पूरमंजरी	... १६५
विषस्य विषमीषधम्	... १६७
चन्द्रावली	... १६६
मुद्राराक्षस	... १७२
कुलंभ बन्धु	... १७४
भारत-सुदर्शना	... १७५
अंधेरनगरी	... १८१
नीलदेवी	... १८३

नवां अध्याय

भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाट्यकार	... १८०
पं० प्रतापनारायण मिश्र	... १८२
राधाकृष्णदास	... १८३
बालकृष्ण भट्ट	... १८४

राधाचरण गोस्वामी	...	१६६
भारतेन्दु-युग के अन्य नाटक और उनकी नाट्य प्रवृत्ति	...	१६८
भारतेन्दु-युग के अनूदित नाटक	...	२०४
प्रहसन	...	२०८

दसवां अध्याय

आधुनिककाल : जयशंकर प्रसाद	...	२१३
नीलदेवी और राज्यश्री	...	२१८
विशाख	...	२१९
अज्ञातशत्रु	...	२२५
जनमेजय का नागयज्ञ	...	२३१
कामना	...	२३८
स्कन्दगुप्त	...	२४२
‘चन्द्रगुप्त’	...	२४७
‘प्रसाद’ और द्विजेन्द्रलाल राय	...	२४९
स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त की तुलना	...	२५१
ध्रुवस्वामिनी	...	२५२
‘प्रसाद’ और कन्हैयालाल मुन्शी	...	२५४
‘प्रसाद’ के नाटकों में कथावस्तु	...	२५७
वस्तु-विन्यास में भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला	...	२५८
चरित्र-चित्रण	...	२५९
नृत्य-गीत	...	२७२

ग्यारहवां अध्याय

व्यवसायी रंगमंचीय नाटक	...	२८९
------------------------	-----	-----

बारहवां अध्याय

आधुनिककाल के अन्य नाटककार	...	२९५
गीतिनाट्य	...	२९५
सांस्कृतिक नाटक	...	३०१
एकांकी नाटक	...	३२१
संस्कृत साहित्य में एकांकी	...	३२२
व्यायोग	...	३२४
बीबी	...	३२५
उपरूपकों में एकांकी	...	३२५

विषय-सूची	२३
‘प्रसाद’ से पूर्व हिन्दी एकांकी की परम्परा	३२७
रास-नाटक और आधुनिक एकांकी	३२८
स्वोक्ति की भारतीय परम्परा (एकपात्री नाटक)	३३३
रेडियो नाटक	३३३
ऐतिहासिक नाटकों के दो वर्ग	३४१
अनूदित सांस्कृतिक नाटक	३४३
समस्या नाटकों का उदय	३४४

उपसंहार

प्रथम उत्थान	३५८
द्वितीय उत्थान	३६१
तृतीय उत्थान	३८०
चतुर्थ उत्थान	३८०
पंचम उत्थान	३८०
नवीन प्रवृत्ति	३८१
समस्या-नाटक	३८२
काव्यरूपक	४०६
नवीन प्रतीक-नाटक	४३०
प्रतीक-नाट्य-शैली का क्रमिक विकास	४३४
आधुनिक ऐतिहासिक नाटक	४३८
हिन्दी नाटक का भविष्य	४४२

परिशिष्ट

परिशिष्ट १—उपदेश रसायन रास और सभासार नाटक	४४४
” २—काशीनाथ-कृत विद्याविलाप नाटक	४४६
” ३—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (हिन्दी)	४५३
” ४—वर्तमान रास मंडलियां	४५४
” ५—स्वांग-सम्बन्धी आधुनिक नाटक	४५५
” ६—रास की अभिनेयता के प्रमाण	४५७
” ७—अवशिष्ट नाटक	४५६
” ८—नवीन शोध प्रबन्ध	४६०
अनुक्रमिका	४६३

हिन्दी नाटक

उद्भव और विकास

पहला अध्याय

कला और उसका उपयोग

सौंदर्य और उत्कर्ष कला का चरम ध्येय है। इसीसे मानव-संस्कृति का मूल-धार कला ही है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य जनों के कला-सम्बन्धी विचारों में बहुत अन्तर है। भारतीय मनीषियों ने कला को मनोरंजन और शिक्षा तक ही सीमित रखा, किन्तु पाश्चात्य पण्डितों ने कला को जीवन के अध्यात्म से सम्बन्धित किया। पहले मैं यहां पाश्चात्य दृष्टिकोण निवेदन करता हूं।

पाश्चात्य संस्कृति का मूलधार ग्रीक सभ्यता है। महर्षों वर्ष प्राचीन इजिप्ट और बैबिलोनिया के साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रीक सभ्यता का उदय हुआ था। मानव-इतिहास में ग्रीक जनों ने ही सार्वभौम राजा की पूजा बन्द करके मानव-समाज को ऊंचा उठाया। मध्यम श्रेणी के सामान्य जन को ही समाज का नियंत्रणकर्ता बनाया। इससे वह समाज उत्कर्षोन्मुख हो उठा। कला वहां सर्वजन के उत्कर्ष की आधारभूत बन गई, इसीसे उसमें मानसिकता अनिवार्य मानी गई तथा इसी आधार पर कला का मापदण्ड स्थिर किया गया।

काव्य को उन्होंने श्रेष्ठतम कला माना और उसका स्तर बहुत ऊंचा रखा। पाश्चात्य कला का प्राचीनतम मानसिकतामय रूप हम होमर के काव्यों में पाते हैं। यह रचना केवल रचयिता की काव्य-प्रतिभा की ही द्योतक नहीं है, उसमें उसके युग के रुचि-संस्कार भी निहित हैं। होमर का अभिव्यंजना-वैभव ऐसा है कि उसमें भाव और आलोचना की समर्थ प्रतिष्ठा हुई है। जिस रीति से भी उसकी आत्मा ने भाव-मोहित करके गाने के लिए उसे प्रेरित किया, उसने उसी रीति से मनुष्य के मन को मोहित कर डाला।

होमर का काल ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी है। होमर के महाकाव्यों के बाद ग्रीस में नाटकों का विकास ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक होता रहा। इस काल के अधिकतर नाटक हास्यरस-प्रधान ही थे। इनमें जीवन की सभी आधार वस्तुओं को हास्य का आलम्बन बनाया गया था। ग्रीस के अग्रणी अपने समाज के सम्बन्ध में पुरातन-प्रिय थे। इसीसे नाटकों में सभी नवीन आदर्शों का उपहास किया गया है। इस काल के नाटकों में से कुछ नाटक एगरेस्टोफेनीज के प्राप्त हैं। इनमें एक नाटक 'फाक्स'

है, जिसमें ग्रीस के तत्कालीन दो नाटककारों का विवाद है। इस विवाद में कला-शैली की तीव्र आलोचना है। एक का पक्ष है कि महान कथावस्तु और महान शैली ही साहित्यकला का मूलाधार है। वह विषय और शैली की असाधारणता को महत्त्व देता है, परन्तु दूसरा प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति उपहास करता हुआ कहता है कि नाटकों में उन्हीं बातों का चित्रण होना चाहिए, जिनका सीधा सम्बन्ध नित्यप्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है। सच पूछा जाए तो यह कला से सम्बन्धित एक अत्यंत मौलिक प्रश्न है।

इस प्रश्न को ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में प्लेटो और अरस्तू ने दार्शनिक रूप दिया। प्लेटो आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द के बीच का अन्तर अनुभव नहीं कर पाया। इसीसे आगे चलकर पाश्चात्यों ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की और उसका अन्तर्भाव पंचकलाओं में किया गया। कला के लिए मातृसंस्कृति अनिवार्य मान ली गई और इसी आधार पर कलाओं का श्रेणी-विभाजन किया गया। काव्यकला को श्रेष्ठतम मानकर उसका स्तर अत्यन्त ऊंचा रखा गया। प्लेटो और उसके बाद अरस्तू ने अन्य शास्त्रों और विद्याओं के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी दार्शनिक भावना से ग्रहण किया। प्लेटो ने काव्य के नैतिक प्रभाव की व्याख्या की और काव्यानुभूति को ऐन्द्रिय मानते हुए उसे समाज के लिए दूषित कहा, मृत्यु को काव्य की कसौटी बनाया तथा तत्कालीन नाटकों एवं काव्य को सत्य का छायाभास कहकर उसके प्रति अवज्ञा प्रकट की। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के काव्यालोचन पर व्यापक दृष्टि डाली और छायाभास ही को काव्य का मूल रूप कहा। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोयटिक्स' में दुःखान्त नाटकों द्वारा आनन्द की उपलब्धि तथा काव्यांगों पर विस्तृत व्याख्या की और अलंकारशास्त्र की रचना की। उसके बाद अनेक अलंकार-शास्त्र बने, जिनमें भाषा और वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने और उन्हें अलंकृत करने की अनेक रीतियों का अनुसन्धान हुआ। प्लोटिनस ने भी प्लेटो के आक्षेपों की प्रत्यालोचना करते हुए कला का एक रूप निर्धारित किया।

ग्रीकों के बाद रोमन और फ्रांसीसियों ने काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन किया।

भारतीय दृष्टि में कला और काव्य को पृथक् माना गया। काव्य से कला को हीन समझा गया। कला की सृष्टि में शिक्षा, और अभिप्राय में मनोरंजन की मुख्यता मानी गई। काव्य की आत्मा दिव्य प्रेरणा मानी गई। इससे भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि कला के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न हो गई। भारतीय दृष्टि से कला का सम्बन्ध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरंजन के साथ था। इसीसे कला हीन जनों के हाथ में चलती चली गई। उधर काव्य-दर्शन के अन्तर्गत काव्यांगों, प्रयोजन, हेतु, रस, विभाव, अनुभाव, रसस्थिति आदि सूक्ष्म शास्त्रीय तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक आचार्यों ने दार्शनिक सहायता ली और रस-भोक्ता के मन का विश्लेषण किया। परि-

गाम यह हुआ कि भारतीय काव्यांग में वस्तु, पात्र, शैली, गुण, दोष, शब्दशक्ति तथा अलंकारों और छन्दों के संकड़ों भेद बढ़ते चले गए और काव्य एक पृथक् शास्त्र बन गया। उसमें आनन्द का स्थान चमत्कार ने ले लिया। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। किसी-किसी आचार्य ने चमत्कार को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत में मुन्दर वस्तु को देखकर मन में जो विस्मय की भावना का उद्रेक होता है, वही आनन्द का उत्पादक है। पाश्चात्यों ने भी आनन्द की अनुभूति में विस्मय की अनिवार्यता स्वीकार की है। इसीके अनुरेक से काव्य में अद्भुत रस का पृथक् प्रादुर्भाव ही हो गया।

प्लेटो का कथन है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है। यह एक दार्शनिक सत्य है। कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति ज्ञान की अनुकृति है। अतः कला अनुकृति की अनुकृति है। उर्माण कला सत्य नहीं है, मिथ्या है। इसी न्याय को दार्शनिक प्लोटीनस ने कला को सौन्दर्य का तादात्म्य बनाने हुए इसे आध्यात्मिक अनुभूति कहा है। पीछे हीगेल आदि आदर्शवादियों ने उसीको एक वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया है, परन्तु उत्तरकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने कला के दो पृथक् रूप निर्धारित कर दिए हैं, एक आध्यात्मिक और दूसरा ऐन्द्रिय। १८वीं शताब्दी में एडीसन ने एक नया सिद्धान्त स्थिर किया और काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द बताते हुए उसे दोनों से पृथक् मिट्ट किया। सौन्दर्य-बोध ही कला का प्राण है। यदि मनुष्य को पूर्णरूप से विकास करना है तो उसे जीवन में सौन्दर्य को आत्मसात् करना होगा पर इसके लिए साधना की आवश्यकता है। साधना का उद्देश्य आत्मा का विकास ही है। किसान जब अपने खेत का घास-फूस उखाड़, हल चला, कुदाल से भूमि को खोदता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह भूमि पर निष्ठुर अत्याचार कर रहा है परन्तु फल और रस का विकास तो इसी तरह होता है। इसे ही साधना कहते हैं। नियम और संयम उसके मूलाधार हैं। रस ही के लिए नीरसता का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यदि ये नियम और संयम ही मनुष्य के हृदय को सभी जगह घेरकर बैठ जाएं, नियम ही को प्राप्ति समझ लिया जाए, तब तो सौन्दर्य-बोध के लिए स्थान अवशिष्ट रहता ही नहीं। नियम या मन-संयम के लोभ में कठोरता का दबाव इतना बढ़ जाता है कि स्वभाव में सौन्दर्य-बोध सर्वथा तिरोहित हो जाता है। यह सत्य है कि सब तरह की बुनियाद सख्त होती है, यदि सख्त न हो तो सहारा नहीं दे सकती। ज्ञान की बुनियाद भी सख्त है, आनन्द का आधार भी सख्त है। ज्ञान की यह सख्त बुनियाद ही संयम है। इसमें विचार है, बल है और दृढ़ता है। सौन्दर्य का पूर्ण भोग करने के लिए संयम की बहुत आवश्यकता है। यदि हमारी प्रवृत्ति संयमरहित हो तो भोग-सामग्री हम अपने अंग में लपेट सकते हैं, उससे तृप्त नहीं हो सकते।

सौंदर्य की सृष्टि संयत होकर ही रची जा सकती है। दीपक जलाने के समय

सावधान रहना पड़ता है कि कहीं कपड़ों में आग न लग जाए। यह सौंदर्य-शुद्धा हमारी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर लोकोत्तर संवेदन है, जिसके फल में मोहक रूप है, जिसकी मनभावनी गन्ध है, और जिसका अमृत-सा स्वाद है। अनिवार्य प्रयोजन होने पर मनुष्य जो उद्योग करता है, उसमें मनुष्य की एक अवमान्यता तो है ही, परन्तु सौंदर्य तो प्रयोजन से परे है; वह हमारे उल्लास का द्योतक है। इसीसे सौंदर्य हमारी तृष्णा की तृप्ति के साथ एक उच्च ध्येय को व्यक्त करता है। इसीसे तो किसी युग का असंयत जंगली मनुष्य उन्नत होकर सम्य हो गया। अपने संसार को उसने सौंदर्य से जग-मगा दिया। आज मनुष्य भूख लगने पर जहां-जैसे मिले, खाने नहीं बैठ जाता—वह स्वच्छता, सुरुचि, शोभा और संयम से खाता है। बच्चे को यदि बेसत्री से खाते देखता है तो डांटकर कहता है, “यों पशु की तरह नहीं खाया करते।” इस प्रकार सौंदर्य ने हमें संयम का पाठ पढ़ाया है। जगत् के साथ हमारा जहां प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है, वहां आनन्द के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का है। आवश्यकता के उपभोग में हमारा दैन्य है, दासता है, पर आनन्द के सम्बन्ध में हमारी सुरुचि है, प्रभुत्व है। इस प्रकार कला के द्वारा हम सौन्दर्य और आनन्द के संसार में अपने जीवन को ले जाते हैं—जीवन का यही उत्कर्ष है।

संयम करना सीखने के लिए मनुष्य ने धर्म-नीति का सहारा अति प्राचीन काल से लिया है, पर कला के सच्चे आदर्श ने मनुष्य को धर्म-नीति से पृथक् केवल मुख-भोग के लिए संयत होना सिखाया। इसी सीख ने हमारी पीढ़ियों को उत्तरोत्तर सम्य किया है। कला का सच्चा पारखी समझता है कि सौंदर्य का भोग भोगलिप्सा को वश में करने ही से हो सकता है। इसीसे कलाकार को साधक कहा गया है। उसकी कला-साधना आध्यात्मिक साधना से कहीं ऊंची है।

सच्चा कलाकार तपस्वी होता है। चित्त की साधना और संयम के बिना कोई कलाकार नहीं बन सकता। कलाकार निर्माता है। निर्माण के लिए संयम की आवश्यकता है। असंयम से नाश होता है। सौंदर्यबोध की क्षमता भी चित्त के असंयम के साथ नहीं ठहर सकती। विश्वामित्र ने विधाता से विद्रोह करके नई सृष्टि का एक बार निर्माण किया था, पर उस जगत् का विधाता के बनाए जगत् से मेल नहीं हो सका, इसलिए चराचर के लिए वह गम्य न हुआ, अतएव अन्त में वह नष्ट हो गया। हम सब जब क्रुद्ध हो उठते हैं, तब विधाता से ही विद्रोह करते हैं। हमारा क्रोध, लोभ अपने चारों ओर कुछ ऐसे विकारों का समूह जुटा लेता है, जिससे हमें छोटे-बड़े की परख ही नहीं रहती और हमारा ज्ञान नष्ट हो जाता है।

सौंदर्य को हम केवल आंखों से नहीं देख सकते, उसके लिए मानसिक दृष्टि की भी आवश्यकता है। मन की अनेक तरंगें हैं। केवल बुद्धि और विचार ही से काम नहीं चल सकता; उनके साथ हार्दिक भावों को भी जोड़ना चाहिए। धर्मबुद्धि का भी बल लगाना चाहिए। ऐसा करने से आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाती है, और कलाकार दिव्य-

द्रष्टा हो जाता है। यहीं सौंदर्य के साथ मंगल का मेल होता है। मंगलमय वस्तु सदा हमारा भला करती है। अथवा कहना चाहिए, जो वस्तु सदा हमारा भला करे, वही मंगलमय है। वास्तव में मंगलमय वस्तु का रूप ही यह है कि वह हमारी आवश्यकता भी पूरी करे, और देखने में भी सुन्दर हो। सौंदर्य प्रयोजन से परे है, इसलिए हम उसे ऐश्वर्य कहते हैं। मंगल अपने इसी ऐश्वर्य के बल पर क्षति और क्लेश की परवाह नहीं करता। फूल जब अपनी वर्णगन्ध की प्रगल्भता को फल की मधुरता में परिणत करता है, तब उस परिणति में ही सौंदर्य और मंगल का मेल होता है। इस सौंदर्य और मंगल के मेल-मिलाप को जो देख सकते हैं, वे कभी भी भोग-विनाश के साथ सौंदर्य को मिलाकर नहीं रख सकते।

मंगल की भांति सत्य का भी सौंदर्य से मेल होना चाहिए। जब सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं तब चरम सौंदर्य का दर्शन होता है। मंगलमय सौंदर्य और सत्य की प्रस्रष्टा भूमि पर ही समस्त कलाएं—साहित्य, संगीत और ललित कलाएं—विकसित हुई हैं। काव्य में, चित्र में, शिल्प में सत्य ही तो प्रखर बनाकर दिखाया जाता है। सर्वसाधारण की आंखें जिसे देख नहीं सकती थीं, कवि उसे हमारी दृष्टि के सामने लाकर हमारे सत्य के राज्य की—आनन्द के राज्य की—सीमा को अपरिसीम कर देता है। अनगिनत, तुच्छ और अनाहत वस्तुओं को सत्य के आंचल में सजाकर कला की सुन्दरता से चिह्नित करता है। उसीको लक्ष्य करके उपनिषद् में कहा है, “आनन्द-रूपममृतं यद्विभाति।” कलाकार इस सत्य को देख लेता है कि उसके पैरों की धूल से लेकर गगन-मण्डल तक सब कुछ सत्य है—सब कुछ सुन्दर है। सत्य के अव्यक्त रूप को व्यक्त करना कला की सच्ची अभिव्यक्ति है।

साहित्य और कला

काव्य को कला के अन्तर्गत मानने की हमारी धारणा बहुत प्राचीन नहीं है। पश्चिम में प्लेटो ने अति पुरातन काल से काव्य को कला स्वीकार किया, किन्तु हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य या साहित्य को कला (उपविद्या) से उच्चतर स्थान दिया। कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है किन्तु काव्य का ध्येय इससे कहीं उदात्त है। काव्य का पारमार्थिक प्रयोजन यदि लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति है तो इसका व्यावहारिक प्रयोजन है, “रसमग्न हृदय से लोकजीवन का साक्षात्कार।” मम्मट ने ‘शिवेतरक्षति’ अर्थात् अमंगल-निवारण नामक एक और प्रयोजन का अनुमान किया है।^१

काव्य की इन विशेषताओं के कारण साहित्य को पंचमी विद्या की उपाधि दी गई और इस विद्या को चारों विद्याओं आन्वीक्षिकी (तर्कविद्या), त्रयी (वेदविद्या),

१. काव्यं यथासेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सधः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततपोपदेशयुजे ॥

वात्ता (कृषि-वाणिज्य-व्यापार), दण्डनीति (राजनीति) का (निप्यन्द) सारभूत' अंश स्वीकार किया गया। साहित्यविद्या के विविध अंगों में नाटक को सर्वप्रथम श्रेष्ठ स्थान देते हुए वामन^१ ने कहा कि सन्दर्भ अर्थात् प्रबन्धकाव्यों में दशरूपक की महत्ता का विशेष कारण है। क्योंकि वे चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त (प्रयोगात्मक ज्ञान करानेवाले) होते हैं। कथा, आख्यायिका, महाकाव्य आदि के पठन-पाठन से तभी रसास्वादा सम्भव होता है, जब उनमें नाटकत्व का आभास मिलता है। जब पाठक के सम्मुख कथा, आख्यायिका या महाकाव्य के पात्र नाटक के सजीव पात्रों के सहृदय अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं, तभी पूर्ण काव्यरस की उपलब्धि सम्भव होती है।^१

अभिनवगुप्त ने इस प्रसंग पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आचार्य का मत है कि अनुभाव, विभाव और संचारी भावों का समप्राधान्य केवल अभिनेय काव्यों द्वारा सम्भव होता है।^१ नाटक के अभिनय के समय रंगमंच के वातावरण, पात्रों के वाचिक, आंगिक एवं आहार्य अभिनय एवं क्रियाव्यापार से अहृदय सामाजिक भी सहृदय के सहृदय अलौकिक रसास्वादन कर पाता है। काव्य रसास्वादन में सबसे अधिक बाधक है 'निज सुखादि विवश भाव।' इस विघ्न का आतोद्य (वाद्य-विशेष), गान, मुमज्जित रंगमंच, विदग्ध गणिकादि के द्वारा प्राप्त उपरंजन से निवारण होने पर अहृदय व्यक्ति भी सहृदय के समान काव्यास्वादन करता है।^१

अतः अभिनय के विविध साधनों से सम्पन्न, नृत्य-संगीत से संयुक्त नाटक यदि प्रबन्धकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी माने गए तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या? अभिनवगुप्त का तो मत है कि उत्तम नाटक रंगमंच की भी अपेक्षा नहीं रखता और सहृदय को अपने आन्तरिक गुणों के बल से स्वाध्याय के समय उसी प्रकार का रसास्वादन करा सकता है, जिस प्रकार रंगमंच पर अभिनय के समय सामाजिकों को आह्लादित करने में समर्थ होता है।

१. पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।

सा हि चतसृणामपि विधानां निप्यन्दः।—राजशेखर

२. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषमाकल्यात्। ततोऽन्यभेदकल्पितः ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां कल्पितः—कल्पनमिति। दशरूपकस्य हि इदं सर्वं विलसितं, यदुत कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।—का० अ० सू० १, ३ (३०-३२)

३. तेन ये काव्याभ्यास प्रावतनपुदयादिहेतुबलाद्भिः (इति) सहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मालनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रातिव्युत्पत्तिकृत् अनपेक्षित नाट्यमपि।—अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० २८८

४. किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः। स च प्रबन्ध एव भवति, वस्तुतस्तु दशरूपक एव। (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां समप्राधान्यम्।)

५. निजसुखादिविवर्शाभूतरच कथं वस्त्वन्तरे संविद् विश्रामयेदिति तद्रूप प्रयूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थ-निष्ठः साधारण्यमहिम्ना सत्त्वभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोद्यगानविचित्रमण्डप-विदग्धगणिकादिभिः उपरंजनसाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयैर्मल्यप्राप्या सहृदयक्रियते।

—अभिनव भारती, गायकवाङ्, प्रथम संस्करण, पृ० २८२-२८३

हमारे देश में नाटक की उत्पत्ति और उसके अभिनय आदि के विषय में सबसे प्राचीन ग्रंथ नाट्यशास्त्र माना जाता है। अब देखना यह है कि भरतमुनि ने नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में अपना क्या मत प्रकट किया है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक क्या है

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्वयं ब्रह्मा नाटक की परिभाषा देने हुए कहते हैं कि यह पंचम वेद (नाट्य वेद) सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है।^१ इस सूत्र को अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रह्मा समझा रहे हैं कि "नाट्य में कहीं धर्म है तो कहीं खेल; कहीं अर्थ-ज्ञान है तो कहीं शान्ति; कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध; कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का।"^२ तात्पर्य यह है कि इस वेद में धर्मात्मा और जानियों की ही चर्चा नहीं, प्रत्युत इसमें कामियों के काम और अशिशुओं के सुधार की भी व्यवस्था होती है, दुर्विनीतों के निग्रह, स्त्रीबों की धृष्टता और दूरवीरों के उत्साह भी वर्णित होते हैं। इसी प्रकार मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनियों के विलास, दुःखियों के धीरज, व्यवसायियों के धन-प्राप्ति के उपाय, आनन्दजनों के धर्म आदि का विवेचन होता है। अर्थात् जब लोगों की क्रियाओं का अनुकरण अनेक भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण होकर किया जाए तो वह नाटक कहलाता है।^३

अरिस्टाटल के मत से नाटक

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से मिलती-जुलती नाट्य की परिभाषा यूनान के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने की है। उनका कथन है, "ट्रेजेडी उस व्यापार-विशेष का अनुकरण है, जिसमें गम्भीरता और पूर्णता हो, जिसकी भाषा प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सुसज्जित हो, और जिसमें अनेक विभाषाएँ भी पाई जाती हों,

१. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकाशनेनम्।

— नाट्यशास्त्र १, १०७

२. क्वचिद्धर्मः क्वचित्काला क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रुमः।

क्वचिदास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिदधः ॥१०८॥

३. धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपमेविनाम्।

निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया ॥

क्लेशानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शरमानिनाम्।

प्रवृत्तानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥

इश्वराणां विनामश्च स्थैर्यं दुःखार्तिनस्य च।

अशेषजाविनामयो धृतिर्कादृशचेतसाम् ॥

नानाभावोपमसम्बन्धं नानावस्थान्तरात्मकम्।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥—नाट्यशास्त्र, अध्याय १, १०९, ११३

जिसकी शैली वर्णनात्मक न होकर हृदयात्मक हो, जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों का उचित परिष्कार कर सके।”

नाटक की परिधि

भरतमुनि और भरस्तू दोनों के विचारानुसार नाट्यकला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होता है। इसमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी श्रेणी के व्यक्तियों के कर्म को संश्रय मिलता है। यही ब्रह्मा ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है^१ और भरस्तू ने भी इसीपर बल दिया है।

जब सभी प्रकार के मनुष्यों के कर्मों का अनुकरण नाटक में विहित है, तो उसमें सभी ज्ञान, सभी शिल्प, सभी विद्या, सभी कला, सभी शास्त्र निवास करते हैं।^२ ब्रह्मा ने इस रहस्य का उद्घाटन कर ही दिया है। नाटक की परिधि सप्तद्वीप तक ही सीमित नहीं, वह देव और अमुरलोक को भी स्पर्श करती है। इसके अन्तर्गत बड़े से बड़े सम्राट, उच्च से उच्च ब्रह्मर्षि आ जाते हैं।^३

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला की प्रशंसा करते हुए ब्रह्मा के हृदय की सन्तुष्टि होती ही नहीं। नाटकों की रचना करने पर उन्हें जैसे इससे ममता-सी हो गई है। इसमें सभी विद्याओं और सभी कलाओं को समाविष्ट कर वे कुछ विद्याओं का नामोल्लेख भी करने लग जाते हैं।

ब्रह्मा स्वयं कहते हैं कि वेदविद्या, इतिहास, कथा आदि समग्र साधनों का

१. A tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language with pleasurable accessories, each kind brought in separately in the parts of the work ; in a dramatic not in a narrative form ; with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions.

—From Aristotle ‘On the Art of Poetry’, Page 35. Publisher, Oxford. at-the-Clarendon Press, yr, 1947.

२. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥—भरतनाट्यशास्त्र
३. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते ॥
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
४. सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भवविधायि ।
येनानुकरणं नाट्यमेतत्तन्मया कृतम् ॥
देवानामसुराणां च राक्षसस्य कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विद्वेयं नाट्यं वृत्तान्तदशकम् ॥

एकत्रीकरण करके सब लोगों का एकसाथ मनोरंजन करनेवाला नाटक होता है ।^१ इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ विनोद का भी सम्मिश्रण होता है ।^२

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक की विशेषता

यह तो स्पष्ट है ही कि नाटक दृश्यकाव्य है, और दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य की अपेक्षा कई विशेषताएँ हैं । काव्य को केवल श्रवण कर सकते हैं, किन्तु नाट्य को श्रवण करने से तो आनन्द प्राप्त होता ही है, उसे आँखों से देख भी सकते हैं । यही इसकी विशेषता है । इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक कथा नाट्यशास्त्र में मिलती है ।

एक दिन नाट्याचार्य भरत अपने पुत्रोत्सहित अनध्याय का आनन्द मना रहे थे । उसी समय आत्रेय आदि प्रमुख तपस्वी और प्रमुख मुनिगण भरतमुनि के समीप उपस्थित हुए और पूछने लगे, “ब्रह्मन्, आपने नाट्यवेद का संपादन क्यों और किसके लिए किया है ? उसके कितने अंग हैं ? प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? आप इन सब बातों को हमें समझाइए ।”

तपस्वियों और मुनियों की जिज्ञासा-शान्ति के लिए भरतमुनि बोले, “हे तपस्वियो, आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें । स्वयम्भुव मनुवाला सत्ययुग व्यतीत होने पर वैवस्वत मनु का त्रेतायुग आया । उस समय संसार में ऐसी दुर्व्यवस्था फैली कि जन-समुद्र य काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोधादि में लिप्त होकर किसी प्रकार सुख-दुःख में जीवन व्यतीत करने लगा । लोकपानों से रक्षित इस जम्बूद्वीप पर दुर्व्यवस्था देखकर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महोरगों ने आक्रमण करके अधिकार जमा लिया । अब तो इन्द्रादि देवता घबराए । इन्द्र का सहायक जम्बूद्वीप शत्रुओं के अधिकार में चला गया, यह तो देवताओं के लिए अनिष्टकारी घटना हो गई । इन्द्र देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मा के पास पहुँचे । उन्हें सारी घटना सुनाई गई । देवताओं ने निवेदन किया कि हे पितामह, जम्बूद्वीपवासी यदि इसी प्रकार काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोधादि दुर्गणों में व्याप्त रहे तो दानवों की शक्ति बढ़ती जाएगी और आपकी सृष्टि में हाहाकार मच जाएगा । आप कोई ऐसी युक्ति निकालें, जिससे सब वर्गों के लोग किसी उत्सव में भाग लेकर सानन्द अपना जीवन सुन्दर बना सकें ।”

१. वेदविषे तिहासानामास्यानंपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतदभविष्यति ॥
२. श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशोधकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतदभविष्यति ॥
३. पूर्वं कृतयुगे विप्राः वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोवैवर्षतस्य च ॥
आयुधमप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते ।
ईर्ष्याक्रोधाभिसंमूढे लोके सुखितदुःखिते ॥

“शूद्रजाति वेदविधि-विहित यज्ञ-कर्मकाण्ड में भाग न लेने के कारण पृथक् रहकर अपना जीवन सुखमय बनाने का कोई साधन नहीं पाती, अतएव ऐसी युक्ति निकालिए, जिससे सभी वर्ण के लोग एकत्र होकर उत्सव देख सकें। आप कृपा करके ऐसे खेल की रचना कीजिए, जिसको सुनकर भी आनन्द प्राप्त किया जा सके, और जिसे देखा भी जा सके। ‘क्रिडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।’”

ब्रह्मा ने ‘एवमस्तु’ कहकर देवताओं को विदा किया। सबके विदा होने पर पितामह ने योग-स्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया। उन्हें ध्यानावस्था में ऐसे ‘वेद’ की रचना का आभास मिला, जिससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति हो सकेगी, जिसमें उपदेश भरा होगा, जिसमें इतिहास होगा। वह नाट्यवेद सभी शास्त्रों के तत्त्वों से भरा होगा, उसीमें सभी शिल्प प्रदर्शित होंगे।

इस कथानक में जो तत्त्व निहित हैं, वह इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यह प्राचीन कथानक उस काल का द्योतक है, जबकि भारतीय समाज चतुर्वर्णों में विभक्त था। यज्ञादि विधि-विधान केवल आर्य लोगों में ही प्रचलित थे और अनार्य जातियाँ इन समारोहों के लाभ में वंचित रखी जाती थीं। यज्ञादि निषेध होने के कारण इन जातियों पर वेदादि विद्या का प्रभाव डालने का कोई उपाय न था। ऐसी दशा में भारतीय समाज धर्मबन्धन के कारण दो बृहत् सांस्कृतिक विभागों में बंटा हुआ था—एक आर्य, दूसरा अनार्य। ऐसे समय राष्ट्रीय नेताओं के सामने यह प्रश्न

देवदानवगन्धर्वयज्ञरक्षामहारगेः ।
जम्बूद्वीपे सम्राट्कान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते ॥
महेंद्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रुडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्रव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥
एवमस्तिवति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्वविन् ॥
धर्म्यमर्थं यशस्यं च सोपदेशं समग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदशकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थमभ्यन्तं सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं मेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदान्तुरमरम् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गमभवम् ॥
जग्राह पाट्यम् वेदात्सामभ्यो गीतमिव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रमानाथवेणादापि ॥
वेदापवेदः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥

अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा कि ऐसी परिस्थिति में कौन-सा ऐसा उपाय हो सकता है, जिसके द्वारा भारत की समस्त जनता, आर्य तथा अनार्य, एक ही मंच पर मनोरंजन तथा उन्नयन के लिए एकत्र की जा सके। इस समस्या को सुलझाने में यदि धर्म असफल रहा तो कला ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। कला में दृश्यकाव्य अथवा नाटक ही इस कार्य-भार को संभालने में समर्थ हुआ। जन-नाटक तो स्वाभाविक रूप से जन-समुदाय में विद्यमान था ही, केवल इतना ही अभीष्ट था कि जन-नाटकों का वह अभिनव संस्कृत रूप उपस्थित किया जाए, जिसमें समस्त वर्गों, एवं सभी जातियों का मनोरंजन तथा उन्नयन हो। जन-नाटक का एक प्रकार से यह साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक यज्ञ का नाटक-रूपी नवीन संस्करण प्रादुर्भूत हुआ। आर्यों और अनार्यों का नाटक द्वारा इस प्रकार सम्मिलन हुआ और देश में सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई। हम अब विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतवर्ष की विभिन्न जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न कराने का श्रेय नाटक-शास्त्र के उम महान् आचार्य को ही मिलना चाहिए, जिसको हम भरतमुनि के नाम से पुकारते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम भारत की सांस्कृतिक एकता का स्वप्न देखा। देखा चाहे किसी ओर ने भी हो, किन्तु उन्होंने ही सांस्कृतिक एकता का वह सहज उपाय बूढ़ निकाला, जो और किसीको दिखाई न देता था। यह बात ठीक ही है कि पुत्र के सत्कार्यों का श्रेय पिता ही को प्राप्त होना चाहिए; इस भागीय परम्परा के अनुसार भरतनाट्यशास्त्र में वर्णित इस प्रकरण में ब्रह्मा का सर्वप्रथम स्थान रहा है।

इस प्रकरण में मिथ होता है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में नाट्यकला का प्रमुख स्थान रहा है। स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति के एकीकरण का श्रेय भारतीय नाटक ही को प्राप्त है।

भरतनाट्यशास्त्र में नाटक का प्रयोग

उपर्युक्त कथानक के अनुसार नाटक के निर्माण होने पर अभिनय का प्रश्न खड़ा। जब इन्द्र ने ब्रह्मा से अभिनय हेतु अपनी असमर्थता प्रकट की तो भरतमुनि को कार्यभार सौंपा गया। भरतमुनि के यहां पुरुष-पात्र पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे, किन्तु स्त्री-पात्रों का अभाव था। ब्रह्मा ने अमराओं की रचना करके इस अभाव की पूर्ति कर दी। पृथ्वीतल पर प्रथम अभिनय की तैयारी पूर्ण हुई। स्वर्ग से नारदादि संगीतज्ञ इस उत्सव में सम्मिलित हुए। 'अमुरपराजय' नामक नाटक रंगमंच पर खेला जाने लगा। अमुरों को इसकी सूचना मिली। स्वभावतः उन्होंने नाटक-अभिनय का विरोध किया। एक उपद्रव खड़ा हो गया। रंग में भंग होते देख इन्द्र ने अपने ध्वज के नीचे अपने वर्गवालों को आमंत्रित किया। युद्ध की तैयारी होने लगी। साथ ही साथ बुद्धिमानों ने यह भी निश्चय किया कि रंगमंच के लिए एक भवन अर्थात् रंगशाला निर्माण की

जाए, ताकि असुरगण सरलता से आक्रमण न कर सकें। तभी से 'खुले मैदान' को छोड़कर रंगशाला में अभिनय होने लगा। दूसरी बार 'अमृतमंथन' का खेल हुआ।

'अमृतमंथन' नाटक देखकर ब्रह्मा इतने प्रसन्न हुए कि नटों को स्वतः शिव के पास ले गए। शिव की उपस्थिति में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम खेला गया। नटराज शिव त्रिपुरदाह नामक खेल देखकर नटों की प्रशंसा करने लगे। नटों को होनहार पाकर शिव ने उन्हें अपना नृत्य सिखाया। इस प्रकार भरतमुनि ने नाटक का अभिनय कर दिखाया। इस कथानक से हमारे उल्लिखित मत की और भी पुष्टि हो जाती है। जब भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले तथा विभिन्न संस्कृतियों के अनुयायी आर्य तथा अनार्य, शिष्ट तथा अशिष्ट, एक ही मैदान में, एक ही समारोह के अन्तर्गत समान रूप से सम्मिलित हुए होंगे, तो कोई न कोई विवाद अथवा आतंक पैदा हुआ होगा। जिस प्रकार वैदिक यज्ञों को विध्वंस करने के लिए असुर पहुंच जाते थे, उसी प्रकार आर्य तथा अनार्य सम्मिलन के धन नाटक रूपी यज्ञ को विध्वंस करने के लिए देशद्रोही तथा आततायी पहुंचते रहे होंगे। नाटक के प्रेक्षण के लिए न केवल नर, प्रत्युत नारियां तथा बच्चे भी उपस्थित रहते होंगे। उनकी रक्षा तथा कला-सौंदर्य की अभिवृद्धि करने के लिए रंगमंच-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। अतः स्वभावतः भरतमुनि के काल में नाटक के अभिनय के लिए रंगमंच का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि भरतमुनि के समय में नाटक के निम्नलिखित विविध अवयव निर्धारित हो चुके थे : १. नट २. नटी (स्त्री-पात्र का अभिनय स्त्री द्वारा ही किया जाना है) ३. नृत्य-वाद्य ४. संगीत ५. संवाद ६. कथावस्तु ७. रंगमंच।

कालिदास के मत से नाटक का महत्त्व

भरतमुनि के मतानुसार नाटक का जो प्रयोजन हम पूर्व वर्णन कर आए हैं, कालिदास के मत से हमें उसकी पुष्टि भी मिल जाती है।

शताब्दियों के अनुभव के पश्चात् नाट्यशास्त्र जब कालिदास के काल में पहुंचा, तो भी इसका गुण तद्वत् बना रहा। यह कहना कदाचिन् अधिक उपयुक्त होगा कि कालिदास के समय में नाट्यकला की महत्ता और अधिक बढ़ गई। नाटक केवल साधारण व्यक्तियों को ही आनंद नहीं पहुंचाता रहा, प्रत्युत देवताओं की आंखों को प्रिय लगनेवाले एक यज्ञ का भी काम करता रहा। नाटक ही एक ऐसा उत्सव था, जिसमें भिन्न-भिन्न रुचिवाले प्रत्येक व्यक्ति को एक-सा आनंद मिलने लगा। 'मालविकाग्नि-

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भवविध्यम् ।।

अर्थ 'यशस्वभाषुयं' 'नृद्विविद्धं नम्' ।

लोकोपदेशजनं नाट्यमेतद्भवविध्यम् ।।

मित्र' में नाट्याचार्य गणुदास के मुख से' इसे कालिदास ने स्पष्ट करा दिया है।

शारदातनय के मत से नाटक का महत्त्व

कई शताब्दियां और व्यतीत हुईं। तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शारदातनय ने भावप्रकाश में इस सिद्धान्त का निरूपण विस्तारपूर्वक करते हुए लिखा है कि जन-समुदाय की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, और इन्हीं भिन्न-भिन्न स्वभावों के आधार पर नाट्य की रचना की जाती है। यही कारण है कि लोग अपने-अपने शिल्प, शृंगार, व्यवसाय, कर्म और वचन के अनुसार विरचित नाटक को प्रिय समझते हैं।^१

भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए शारदातनय लिखते हैं कि कामी, चतुर, सेठ, वैरागी, शूर, ज्ञानी, वयोवृद्ध, रस-भाव के विवेचक, बालक, मूर्ख, अबला सभी मनोनुकूल नाटक से आनन्द प्राप्त करते हैं। इसीको और स्पष्ट करने के लिए शारदातनय उसका कारण बता रहे हैं, "तरुण जन काम की बातों में, विदग्ध व्यक्ति नीति-सम्बन्धी बातों में, सेठगण धन-सम्पत्ति में, वैरागी मोक्ष की बातों में, शूर-वीर जन बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, वयोवृद्ध जन धर्माख्यानों में, बुद्धिमान लोग सभी सत्त्वभावों में मन्तुष्ट होते हैं। कहां तक कहें, बालक, मूर्ख तथा स्त्रियां भी हंसी की वार्ता श्रवण कर और नटों का वेद्य देखकर ही मनोरंजन करती हैं।"

नारदमुनि के महा भगवान महावीर और बुद्ध भी नाटक देखकर प्रमत्त हुए,

१. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाजयं
रुद्रेणेदमुमाकृतं व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥—मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक
२. नानाशीलाः प्रकृतयः शोले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
यशस्वरशितं नेपथ्यं कर्म वा निष्ठितं वचः ॥
तत्तन्नाट्येन साध्यं यत्स्वकमवश्ये स्थितम् ।
कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठैर्जनैश्च विरागिभिः ॥
शैबानिवयोवृद्धैरसभावविवेचकैः ।
बालमूर्खबलाभिश्च सैव यन्नाट्यमुच्यते ॥
तत्तदर्थेषु नेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम् ।
तुष्यन्त तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ॥
अर्थैर्वधपराश्रितैर् मोक्षार्थविरागिणः ।
शरा बीभत्सरीतिषु निपुद्धेष्वाह्वेषु च ॥
धर्माख्यातदुरागेषु वृद्धास्तु यन्ति नित्यशः ।
सत्त्वभाषेषु सधेषु बुधास्तु यन्ति सर्वदा ॥
बाला मूर्खोत्तियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सशः ।
वरतुष्टौ तुष्टिमायायि शोके शोकमुपैति च ॥—भावप्रकाशानग, पृष्ठ २२७-२२८

थे। जैनियों का 'शत्रुपसेणीय सुत' नामक एक धार्मिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महावीर की कथा दी गई है। एक कथा के अनुसार भगवान महावीर भ्रमण करते-करते आमलकप्पा नगरी में पहुँचे और अम्बसाल वन में अशोक वृक्ष की शीतल छाया में एक शिला पर आसीन हुए। तत्काल ही सूर्याभदेव स्वर्ग से अवतीर्ण होकर सम्मुख उपस्थित हुए। भगवान महावीर का अभिनन्दन करने के लिए अनेक प्रकार के बाँछों और संगीत के साथ सूर्याभदेव ने अभिनयात्मक नाटक भी दिखाया। अभिनय कला में सूर्याभदेव इतने प्रवीण थे कि उन्होंने श्री महावीर को अपने अभिनय से प्रसन्न कर दिया।

प्राचीन काल में अभिनय और अभिनयशाला

बंबिक युग में नाटक : कहा जाता है कि मानव-समाज में मूलतः नाट्यकला की उत्पत्ति उसी दिन हुई, जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में अपनेको किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना की।^१ उस दिन से आज तक यह कला निरन्तर विकसित होती जा रही है। पौराणिक और पाश्चात्य विद्वान इस विषय पर वर्षों से गवेषणा करते चले आ रहे हैं कि नाटक की उत्पत्ति किस देश और किस काल में सर्वप्रथम हुई। ऋग्वेद, जो संसार के प्राचीनतम ग्रन्थों में परिगणित होता है, इस समस्या पर प्रकाश डालता है। ऋग्वेदकाल में नृत्यकला का इतना प्रचार हो चुका था कि उषा का वर्णन करते हुए ऋषिगण उसकी उपमा एक नर्तकी से देते रहे। इसके अतिरिक्त नाटक के मुख्य अवयव संवाद का उल्लेख भी पुरुरवा-उर्वशी,^२ यम-यमी,^३ इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि,^४ सरमा-पाणिस,^५ के कथोपकथन में उपलब्ध होता है। सोमपान^६ के अवसर पर तो एक लघु अभिनय का भी प्रसंग कात्यायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है।

सोमयाग नामक यज्ञक्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम बेचनेवाले वनवासियों के साथ यजमान सोमविक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।^७

सोम-विक्रेयी—"सोमराजा बेचोगे?"

1. Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being, that he is someone else.—The Development of Dramatic Art, 1928. By Donald Clive Stuart, Prof. of Dramatic Art, Princeton University, page 1

२. पुरुरवा-उर्वशी-संवाद, ऋग्वेद, १०-६५

३. यम-यमी-संवाद, ऋग्वेद, १०-१०

४. इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद, ऋग्वेद, १०-८६

५. सरमा-पाणिस-संवाद, ऋग्वेद, १०-१०८

६. कात्यायन-श्रौतसूत्र, ७-८-२५

७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध

“बिकेगा ।”

“तो लिया जाएगा ।”

“ले लो ।”

“गौ की एक कला से उसे लूंगा ।”

“सोमराजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं ।”

“गौ भी कम महिमावाली नहीं है । इसमें मट्टा, दुध, घी सब हैं ।”

“अच्छा भाठवां भाग ले लो ।”

“नहीं, सोमराजा अधिक मूल्यवान हैं ।”

“तो चौथाई लो ।”

“नहीं, और मूल्य चाहिए ।”

“अच्छा, आधी ले लो ।”

“अधिक मूल्य चाहिए ।”

“अच्छा, पूरी गौ ले लो भाई !”

“सोमराजा बिक गए । परन्तु और क्या दोगे ? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो ।”

“स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़ेवाली गौ, जो चाहो सब दिया जाएगा ।”

(यह मानो मूल्य से अधिक चाहनेवाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता है ।)

परन्तु जब सोम-विक्रेता अपना सोम बेचने को प्रस्तुत हो जाता, तब स्वर्ण दिखाकर उसके हृदय में तृष्णा उत्पन्न करके उसे निराश किया जाता । इस अभिनय का प्रदर्शन किञ्चित् काल तक चलता रहा । “संमेत इति सोमविक्रियिणं हिरण्येनाभिकम्पयति ।” “हिरण्यं दत्त्वा स्वीकुर्वंतस्तं निराशं कुर्यात्”, का उद्धरण सूत्र की टीका में मिलता है । इस प्रकार सोम-क्रयकर्ता सोम-विक्रेता को छकाकर स्वर्ण यजमान को सौंप देता और सोम का मूल्य उन्हें एक बकरी दी जाती । अनुमानतः उसे स्वर्ण भी दे ही दिया जाता । तदुपरान्त विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता । सोम का स्पर्श हो जाने पर यजमान जप करने लगता । ऐसा प्रतीत होता कि सोम के भगड़े से उसका कोई अभिप्राय ही न हो । सहसा परिवर्तन होता, “हिरण्यं सहसाऽऽच्छिष्य पृषता वरत्राकाडेनाहन्ति वा”, सोम-विक्रेता से स्वर्ण छीनकर उसपर कोड़े से प्रहार किया जाता और वह भाग जाता । तत्पश्चात् सोमराजा को गाड़ी में बिठाकर उसकी परिक्रमा कराई जाती । तदुपरान्त इन्द्र का आह्वान किया जाता, जो सोमरस के रसिक, आनन्द तथा उल्लास के रूप माने जाते थे ।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर प्रो० मैक्समूलर ने अनुमान लगाया है कि भारतीय नाट्य के आदिमोत वेदों में उपलब्ध कर्मकांड के मंत्र हैं । उनकी धारणा है कि यज्ञों

के अवसर पर इन्द्र और मरुत् का प्रतिनिधित्व करनेवाले दो पक्ष, जो परस्पर संवाद करते थे, वही कथोपकथन भारतीय नाटक का प्रारम्भिक रूप था। प्रो० सेलडेन लेवी ने प्रो० मैक्समूलर के मत का अनुमोदन करते हुए कहा है कि वैदिक काल में भारत में नृत्य और संगीत कला पूर्ण रूप से उन्नत हो चुकी थी। ओल्डेनबर्ग का कथन और भी महत्वपूर्ण है। उनका अनुमान है कि वैदिक संवाद इंडो-यूरोपियन काल के विवरण के सूचक हैं और मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक थे। पद्यभाग भावप्रदर्शन का साधन होने से सावधानी से विरचित और सुरक्षित रहे, किन्तु गद्यांश पद्यभागों को केवल शृंखलाबद्ध करने के हेतु प्रयुक्त होते थे, अतएव अनिश्चित और प्ररक्षित बने रहे, अतः संहिताकाल में विलुप्त हो गए।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर डा० मैक्समूलर का कथन है कि इसे स्वीकार करने में किसीको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं और तत्कालीन धार्मिक संगीत और नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।

वैदिक काल और नाटक का अभिनय

वैदिक काल में नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में विद्वानों के विविध मत पाए जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उस काल में व्यवसाय रूप से नाटक करनेवाली शैलूष जाती विद्यमान थी। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय में शैलूष जाति का अस्तित्व प्राप्त होता है।

“नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठाय
भीमलं नर्माय रेभं हसायकारिमानन्दाय स्त्रीपक्षं प्रमदे
कुमारीपुत्रं मेधाय रथकारं धैर्याय तक्षाराम् ॥”

इसका अर्थ है कि नृत्त (ताल-लय के साथ नाचने) के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष (नट) को, धर्म-व्यवस्था के लिए सभाचतुर को, सबको विधिवत् बिठाने के लिए भीमकाय युवकों को, विनोद के लिए विनोदशीलों को, शृंगार-सम्बन्धी रचना के लिए कलाकारों को, समय बिताने के लिए कुमारपुत्र को, चातुर्यपूर्ण कार्यों के निमित्त

१. Max Muller's version of the Rig Veda, Vol. 1, p. 173
२. 'Le Theatre Indian' Bibliothique de l' Ecole des-Haits Etudes. Fascicule 83, 1890, pp. 307-308
३. H. Oldenberg in ZDMG, XXXII. p. 54 f; XXXIX. p. 52.
४. History of Sanskrit Literature, Volume I. 1947, by S. N. Das Gupta and S.K. De, p. 44
५. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्यां व्यैलवाः ।—अथर्ववेद, १२ कां० सू० १ मं. ४१
६. यजुर्वेद संहिता, ३०वां अध्याय, छठा मंत्र

रथकारों को और धीरजगंयुवत कार्य के लिए बढई को नियुक्त करना चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि यज्ञ के समय नृत्य और गीत के लिए सूत्र और शैल्य (नट) की नियुक्ति की जाती थी। नृत्य और गीत मिलकर नाटकाभिनय का पूर्वरूप निर्मित करते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि शुक्ल यजुर्वेद के रचनाकाल में नाटकों का कोई न कोई प्रारम्भिक रूप अवश्य प्रचलित था।

किन्तु कतिपय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं। डा० दासगुप्त का कहना है कि

“अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वैदिक काल में नाटक के मौलिक तत्त्व विद्यमान थे, तथापि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस काल में लोग नाटक के प्रारम्भिक रूप से भी अभिज्ञ थे। न तो नाटक के पात्रों का वर्णन मिलता और न ही नाटक-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का कहीं उल्लेख है। सम्भव है कि नाटकीय धार्मिक उत्सवों से उस नाट्यकला का सम्बन्ध रहा हो, जो अभी गर्भस्थ-शिशु सट्टा प्रकट नहीं हुई थी।”

रामायण और नाटक

श्री वाल्मीकि राम के राज्याभिषेक का वर्णन करते समय लिखते हैं कि उस समय विभिन्न प्रकार के उत्सव हो रहे थे।

“नटों, नर्तकों और गाने हुए गायकों के वर्ण-सुखद वचनों को जनता सुन रही थी।”

इस प्रसंग से स्पष्ट लक्षित होता है कि रामायणकाल में अयोध्या में नाटक-मंडलियां विद्यमान थीं और नाटक के अभिनय अवश्य ही होते रहे। कुश और लव ने राम को सीताव्यथा की जो कथा सुनाई, उसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह मत है कि वास्तव में वे कुशीलव (नट) ही थे।

१. It seems, therefore, that even if the elements of the drama were present in the Vedic times, there is no proof that the drama, in however rudimentary form, was actually known. The actor is not mentioned nor does any dramatic terminology occur. There may have been some connection between the dramatic religious ceremonies and the drama in embryo.—History of Sanskrit Literature by Dr. S. N. Das Gupta and Dr. S. K. De, University of Calcutta, 1947, p. 46-47
२. नटनर्तकस्त्वानां गायकानां च गायताम्।

यतः कर्णमुखावाचः सुभाष जनता ततः ॥—वाल्मीकि रामायण

महाभारत में नाटक

महाभारत में दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है :

१. रामायण नाटक, २. कौबेर-रम्भाभिसार नाटक ।

इन नाटकों के अभिनय का विलक्षण इतिहास है । कौबेर-रम्भाभिसार में तो किस-किस व्यक्ति ने पात्र का रूप धारण किया, इसका भी विवरण मिलता है । हरिवंशपर्व' में प्रद्युम्न-विवाह का प्रकरण आता है । उसमें कथा है कि वज्रनाभ राक्षस ने घोर तप किया । ब्रह्मा तप से प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उन्होंने वरदान मांगने को कहा । वज्रनाभ ने मांगा कि मुझे कोई भी देवता मार न सके और वज्रपुर नामक नगर पर मेरा ही अधिकार हो । ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर प्रस्थान किया ।

ब्रह्मा से वरदान पाकर वज्रनाभ इन्द्र के पास गया और उसको मारने के लिए ललकारा । इन्द्र ने कृष्ण से सहायता मांगी । उस समय वसुदेव का अश्वमेध यज्ञ हो रहा था । उस यज्ञ में भद्र नामक नट ने अपने नाट्य से महर्षियों को प्रसन्न करके आकाश में चलने तथा मनोनुकूल रूप बदलने का वरदान पाया ।

कई धार्तराष्ट्रों (हंसी) को वज्रनाभ के नगर में इसलिए भेजा गया कि वे वज्रनाभ की कन्या प्रभावती को प्रद्युम्न पर मोहित कराकर विवाह के लिए प्रेरणा करें । शुचिमुखी नामक हंसी ने प्रभावती को प्रद्युम्न के ऊपर ऐसा मुग्ध कर दिया कि वह दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी । हंसी ने वज्रनाभ से भद्रनट का ऐसा वर्णन किया कि वह उसको लाने के लिए व्यग्र हो उठा ।

इधर श्रीकृष्ण ने भद्रनट के साथ कई यादवों को नट के रूप में वज्रनाभ की नगरी में भेज दिया । उस नटमंडली में प्रद्युम्न तो नायक बन गए, गद परिवारिष्वक बने और साम्ब नामक यादव विदूषक बना । कई यादव नटी बनकर साथ-साथ गए । जब नटमंडली वज्रपुर के उपनगर सुपुर में पहुंची तो उनका स्वागत किया गया और उन नटी-नटों ने रामायण का नाटक रंगमंच पर अभिनीत किया । कुशल नटों का रम्य अभिनय देखकर दानव मुग्ध हो गए ।

अब क्या था । वज्रनाभ को सूचना मिली । उसने नटमंडली को अपने नगर में आमंत्रित किया । नाटक का अभिनय होने लगा । घन, सुधिर, मुरज और तंत्री के वाद्य के मध्य 'गंगावतरण' की कथा का अभिनय देव-गान्धार राग में होने लगा । तदुपरान्त कौबेर-रम्भाभिसार नाटक होने लगा । शूर ने रावण का पार्ट किया, साम्ब ने विदूषक का और मनोवती ने रम्भा का रूप धारण किया । यह अभिनय इतना सफल हुआ कि दैत्यों ने द्रव्य लुटाए और उनकी स्त्रियों ने अपने आभूषण उतार-उतारकर कुशल नटों को प्रदान कर दिए । इसी बीच वज्रनाभ का वध हुआ और प्रद्युम्न का विवाह प्रभावती के साथ कर दिया गया ।

पाणिनी' के सूत्र में हमें दो आचार्यों के नाम भी प्राप्त हुए हैं : १. शिलाली और २. कुशाश्व । इन दोनों आचार्यों की कृतियां अतीत के गर्भ में अभी निहित हैं । यदि इनके ग्रन्थ उपलब्ध हों तो सम्भव था कि नाट्यशास्त्र और नाट्यकला के सम्बन्ध में कितनी नई बातें और कितने नये विचार उपलब्ध हो जाते ।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र और नाटक

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविका कमानेवाले, कुशीलव (नृत्य के साथ गानेवाले), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखानेवाले), सौभिक (ऐंद्रजालिक), चारण आदि विद्यमान थे । इतना ही नहीं, प्रत्येक मंडली का राजकर (Entertainment Tax) भी निश्चित था । यदि नटों की कोई मंडली बाहर से खेल दिखाने के लिए आती थी तो प्रत्येक खेल का पांच पण राजा को कर के रूप में देना पड़ता था ।^१

कौटिल्यकाल में राज्य की ओर से इन नटों की शिक्षा-व्यवस्था भी की जाती थी । जितनी भी ललितकलाएं थीं उनको राज्य की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त था । अर्थ-शास्त्र बताता है कि गणिका, दासी तथा अभिनय करनेवाली नटियों को गाना-बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी, वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना, दूसरे की मनोवृत्ति को समझना, गन्ध-निर्माण करना, माला गूंथना, पैर आदि भंग दबाना, शरीर का शृंगार करना तथा चौसठ कलाएं सिखाने के लिए योग्य आचार्यों का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिए ।^२

बौद्धकाल में नाट्यकला का प्रचार भारतव्यापी होना विनयपिटक के द्वारा प्रमाणित होता है । विनयपिटक के चुल्लवग्ग में यह कथा मिलती है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार कीटागिरि की रंगशाला में अभिनय देखने गए । नाटक की समाप्ति पर वे दोनों संघाटी फैलाकर नाचनेवाली नर्तकी के साथ मधुर आलाप करते रहे । इसकी सूचना जब विहार के महास्थविर के पास पहुंची तो उन्होंने उन दोनों भिक्षुओं को विहार से निर्वासित कर दिया ।^३

पतञ्जलि के महाभाष्य में हमें दो साहित्यिक नाटकों का विवरण मिलता है ।

१. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिद्युनटसूत्रयोः ॥ पाणिनि, ४।१।११०

कर्मन्दकुशाश्वदीनि । पाणिनि, ४।१।१११

२. एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां स्त्र्यान्यवहारिणां स्त्रियो गूढा जीवाश्च व्याख्याताः । तेषां त्र्येकागन्तुकिं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात् ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र, अथ्यक्ष प्रचार अधिकरण, २७वां अध्याय

३. गीतवाद्यपाठयश्चतनाटयाक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तबानगन्धमात्यसंयूहन-सम्पादन-सम्बाहन- वैशिक-कला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजांविनीश्च आद्याता राजमण्डलादाजीवं कुर्यात् ।

—कौटिल्य अर्थशास्त्र ४१वां अध्याय

४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकरप्रसाद, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६१

कंसवध और बालिवध, दोनों धार्मिक नाटकों का उल्लेख पतञ्जलि श्रुति ने किया है। कंसवध के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि कंस के साथ कृष्ण-युद्ध की घटना को नट अपनी आकृति रंगकर प्रदर्शित करते थे। डा० कीथ इससे यह परिणाम निकालते हैं कि पतञ्जलि के समय नट केवल नर्तक नहीं रह गए थे; वे संजीतज्ञ थे, और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटक की घटनाओं को प्रदर्शित करते थे। विविध प्रमाणों के आधार पर डा० कीथ का कहना है :

“इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि संस्कृत नाट्य ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से प्राचीन नहीं, तो उससे अधिक अर्वाचीन भी नहीं और इनकी प्रेरणा महाकाव्यों के गायन तथा कृष्ण-जीवन की उन नाटकीय घटनाओं से प्राप्त हुई, जिनमें बालक कृष्ण अपने शत्रुओं से संघर्ष करके विजय प्राप्त करता है।”

अभिनय और समाज

शुक्लयजुर्वेद, रामायण, महाभारत, बौद्ध-जैन कथाओं तथा कौटिल्य-अर्थशास्त्र में अभिनय की प्राचीनता प्रमाणित हो गई। अब देखना यह है कि नाटकों के अभिनय के प्रसंग और अवसर कब-कब आते थे। विशेष अवसरों के अतिरिक्त कुछ निश्चित तर्ज भी थे, जिस समय नाटकों का अभिनय अनिवार्य रूप से हुआ करता था। कामसूत्र में वात्स्यायन ने इसका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि मरुस्वती-भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था। इस उत्सव को समाज कहा जाता था।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि केवल सरस्वती के मन्दिर में ही ऐसे उत्सव हुआ करते होंगे, सो बात नहीं है, अन्यान्य देवताओं के मन्दिर में भी यथानियम हुआ करते थे।^१ खास-खास मन्दिरों में भी धार्मिक उत्सवों के अवसर पर नाच-गान की व्यवस्था रहा करती थी। शादी, व्याह, पुत्रजन्म या अन्य आनन्दव्यंजक अवसरों पर नागरिक रंगशाला और नाचघर बनवा लेते थे।^२

१. Sanskrit Drama.

“The balance of probability, therefore, is that Sanskrit dramas came into being shortly after, if not before, the middle of the second century B.C. and the it was evoked by the combination of epic recitations with the dramatic movement of the Krishna legend, in which a Young God strives against and overcomes enemies.”

—By Dr. Keith, p. 45. Oxford-at-the Clarendon Press.

२. पञ्चम मासस्य वा प्रख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः ।— कामसूत्र, नागरकवृत्तप्रकरण ॥१५॥

३. प्राचीन भारत का कलाबिलास, पृ० ८७

४. प्राचीन भारत का कलाबिलास, पृ० ७५

अभिनय की लोकप्रियता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा कि साधारण लोग भी पारिवारिक उत्सवों के समय नाटकों की व्यवस्था कर लिया करते थे।

उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन काल में रंगशालाओं के दो वर्ग थे : १. स्थायी रंगशाला, २. अस्थायी रंगशाला। राजभवन के भीतर तो स्थायी रंगशालाएं बनती थीं, परन्तु राजाओं की विजय यात्राओं के पड़ावों पर अस्थायी रंगशालाएं निमित्त होती थीं। ये रंगशालाएं विस्तार की दृष्टि से तीन प्रकार की होती थीं : सबसे बड़ी रंगशाला वर्गाकार १०६ हाथ लम्बी होती थी और मध्यम श्रेणी की वर्गाकार ६४ हाथ लम्बी। तीसरे प्रकार की रंगशाला त्रिभुजाकार होती थी, जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। ५० हजारप्रसाद लिखते हैं कि मध्यम श्रेणी की रंगशाला ही अधिक प्रचलित थी।'

रंगभूमि

रंगशालाओं के दो भाग होते थे। एक भाग अभिनयकर्ता नटों के लिए नियत होता था, और दूसरे में दर्शक बैठा करते थे। जहां अभिनय होता था उसे रंगभूमि या केवल रंग कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या पर्दा होता था। पर्दे के पीछे का भाग नेपथ्य कहलाता था। यहीं अभिनेता प्रसाधन करते थे। यहीं से रंगभूमि में उतरा करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान (नेपथ्य) रंगभूमि से कुछ ऊंचा होता था, क्योंकि संस्कृत नाटकों में 'रंगावतार' शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है रंगभूमि में उतरना।

दूसरा अध्याय

लोकनाटक

किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल ही लेती है। इन साधनों में नाटक का स्थान उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिस प्रकार पठित समाज में 'काव्येषु नाटकम्' का। पठित समाज के सदृश अपठित तथा अर्द्धपठित समाज में भी प्रतिभाशाली व्यक्ति होते रहते हैं, जो अपने समुदाय के अनुरूप जनकाव्य और जननाटक का सृजन करते रहते हैं। उनकी रचना द्वारा लक्ष-लक्ष ग्रामीण जनता दृश्य तथा श्रव्य काव्य का रसास्वादन करती है। यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जननाटक की रचना होने का मुख्य कारण बताते हुए डा० कीथ कहते हैं, "संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्रायः असम्भव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा के समझने में समर्थ था और उसी उच्चपदस्थ अल्पसंख्यक पठित समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत नाटक केवल एक वर्ग-विशेष की कलाभिरुचि और हास्य-विनोद का विषय रहा है। सामान्य जनसमुदाय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।"

उपर्युक्त निष्कर्ष चाहे सर्वथा विवादरहित न हो, किन्तु इसे कोई भी अस्वीकार न करेगा कि केवल साहित्यिक नाटक जनता के दैनिक जीवन में मनोविनोद के सर्वोच्च साधन किसी युग में भी न बन पाए होंगे। अतएव सामान्यतः अपठित तथा अर्द्धपठित जनसमुदाय में उनके जीवन के अनुरूप हास्य-विनोदमय नाटक का सृजन होता चला आया है। जैसा कि हम पूर्व ही कह आए हैं, इसकी प्रेरणा स्वभावतः जनसमुदाय में विद्यमान रहती रही है, और यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्यिक और जननाटक एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालते रहे होंगे, और इनका परस्पर आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा होगा। उदाहरण के लिए जननाटक का हंसोड़ पात्र संस्कृत नाटक में विदूषक के रूप में आ गया। इसी प्रकार रंगमंचादि साहित्यिक कलाओं का प्रवेश जननाटक में होने लगा है। अतः यह निःसन्देह रूप से मानना चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक-प्रणयन से पूर्व कोई न कोई नाटक-

परम्परा प्रत्येक भाषा-भाषी प्रान्त में विद्यमान अवश्य रही है, जो संभवतः साहित्यिक नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण न होते हुए भी, ज्येष्ठ भगिनी के नाते उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी। जननाटक और साहित्यिक नाटक का यह परस्पर सम्बन्ध हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी रहा है। अंग्रेजी के नाटक जब शैशव में थे तो उनपर जननाटक प्रभाव डालते रहे।^१

हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जननाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा एवं कीर्तनियां नाटक; बिहार में विदेशिया; अवधी, पूर्वी हिन्दी, ब्रज तथा खड़ी बोली में रास, नौटंकी, स्वांग, भांड; राजस्थानी में रास, भूमर, डोलामारू; गुजराती में भवाई; महाराष्ट्री में लड़िते और तमाशा; आंध्र की भाषा तमिल में भगवतमेल आदि नाटक विद्यमान थे। जननाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्य भाग प्रायः उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं था, और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे। संगीतमय वातावरण के निर्माण का लक्ष्य होने के कारण, उनमें नाटक के अन्य तत्त्व (चरित्र-चित्रण, संघर्ष, क्रिया-व्यापार आदि) अनपेक्ष माने जाते थे।

कहा जाता है कि हिन्दी के साहित्यिक नाटक पर लीलानाटक और स्वांग नाटक का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। ये दोनों शैलियां साहित्यिक नाटक पर प्रभाव डालती और स्वयं प्रभावित होती चली आ रही हैं। इनका भी अब प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। अतएव हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण रास और स्वांग आदि की परम्परा के अनुसंधान के बिना अपूर्ण ही माना जाएगा।

स्वांग की परम्परा

जननाटक की प्रस्तुत शैलियों में स्वांग नाटक एक विशेष स्थान रखते हैं। स्वांग नाटक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ-साथ ही जनता के सामने आ गए होंगे। हिन्दी साहित्य में स्वांग से प्राचीनतर नाटक का उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सिद्ध कण्ठपा विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने डोमिनी के आह्वान-गीत में स्वांग का उल्लेख इस प्रकार किया है :

नगर बाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया ॥

ब्राह्मो डोंबि ! तोए सम करिब य सांग निघिरण कणह कपाली जोइ लाग ॥

एक सो पदमा चौषट्टि पाखुड़ि तेहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी ॥

बहु उद्धरण वज्रयानियों की योगतंत्र-साधना से सम्बन्ध रखता है। इस साधना में डोमिनी आदि का अबाध सेवन एक आवश्यक अंग माना जाता है। डोमिनी के साथ स्वांग करने का आह्वान उस काल की स्वांग-शैली को प्रमाणित करता है। डोमिनियों

१. The Cambridge History of English Literature, Vol. 5, p. 23
University Press, 1910

के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह डोमनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है। इस नाटक में डोमनियाँ ही पुरुष-वेश में पुरुष-पात्र का अभिनय करती हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि डोम जाति का व्यवसाय ही स्वांग करना है। इसी प्रकार भांड जाति का व्यवसाय काश्मीर आदि प्रदेशों में उसी प्रकार नाटक करना है, जिग प्रकार उत्तर भारत में रूप भरना नट का व्यवसाय है। जननाटक का यह भांड ही संस्कृत में 'भाग' रूप से आता है।

जायसी ने भी स्वांग का उल्लेख किया है। अलाउद्दीन ने बिलोड़ भेजने के लिए जोगिन का सफल स्वांग करनेवाली एक बेदया को राजमहल में आमन्त्रित किया और उसे दूती बनाकर बिलोड़ भेजा। बादशाह-दूतीखण्ड में इसका उल्लेख इस प्रकार है :

पातुरि एक हुति जोगि सबौंगी। साह अखोर हुत घोहि माँगी ॥

जोगिनि भेग त्रियोगिन कीन्हा। सींगी सबद मूख तत लीन्हा ॥

पदमिनि पहुँ पठई करि जोगिनि। बेगि आनु करि बिरह बियोगिनि ॥

इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि जायसी के समय स्वांग करनेवाले केवल पुरुष ही नहीं प्रयुक्त स्त्रियाँ भी हुआ करती थी। संभवतः बेदयाएँ इस कला में निपुण मानी जाती थीं।

जायसी के पूर्व कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशा का इतना अधिक प्रचार हो रहा था कि साधु-महात्माओं के आदेश अवज्ञा के कानों से सुने जाते थे। कबीरदास मित्राग्नेयी श्रोताओं को सम्बोधित करके कहते हैं :

कथा होय तहँ खाना सोबै, बक्ता मूड पचाया रे।

होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नीद सताया रे ॥^१

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स्वांग और तमाशा उस समय भी अत्यन्त आकर्षक रूप में होते थे। स्वांग जनता के मनोबिनास का प्रधान साधन बना था, तभी तो कबीर ने इसका उल्लेख किया।

सत्रहवीं शताब्दी में बिरचित बरकत उल्लाह साहब के प्रेम-प्रकाश नामक ग्रन्थ में रूप भरने का प्रयोग पाया जाता है। इस सम्बन्ध में बहुलपिया शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। भारतीय जनजग में रूप भरने की कला का प्रचार इसके द्वारा भी सिद्ध होता है।

यह स्वांग-परम्परा गताब्दियों से मौखिक चली आ रही थी। लेखक स्वंग का प्रमाण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है। पं० रामगरीश बीबे स्वांग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि अम्बाराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण सहारनपुर

१. जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र गुप्त, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संस्कृत २००६ वि०, पृ० २७१, बादशाह-दूती खंड, दाहा १

२. कबीर ग्रन्थावली, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, नवीं संस्करण, स० २००६ वि०, पृ० २१६

में निवास करते थे। सर्वप्रथम आधुनिक शैली में उन्होंने स्वांग के गानों की रचना की और सन् १८१६ के आसपास इनका अभिनय हुआ।^१ प्रिंसिपल मानसिंह को उड़ीसा में विरचित चौदहवीं शताब्दी का लक्ष्मीपुराण स्वांग मिला है, जिसकी कथावस्तु अत्यन्त रोचक है। परिशिष्ट में उसका एक अंश दिया जा रहा है।^२

उपलब्ध स्वांग-साहित्य हायरस और रोहनक की दो जैलियों में लिखे जाने के कारण दो रूपों में मिलता है। देहान में यह बातें अति प्रचलित हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में दीपचन्द नामी स्वांगी प्रसिद्ध व्यक्ति था। उसमें काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ अभिनय-कला-सम्बन्धी गुण भी थे। उगते अस्सीन और श्रृंगारी स्वांगों का बहिष्कार करके वीररसपूर्ण स्वांगों की रचना की और जनता में वीरता के प्रति उत्साह पैदा किया। उसकी शिष्य-परम्परा रोहनक में अभी तक चली आ रही है।^३ उसके नाटक पौराणिक, राजनीतिक तथा सामाजिक हैं। हायरस का स्वाद स्थान-स्थान पर मिल जाता है।

आजकल जन-समाज में स्वांग के यही रूप प्रचलित हैं।^४ आधुनिक स्वांग व नाटकों में गद्य का प्रवेश स्पष्ट रूप से साहित्यिक नाटकों का प्रभाव है।

स्वांग के अतिरिक्त ग्रामीण जनता होली के समय भांड नामक नाटक द्वारा मनोविनोद करती है। कुछ विद्वानों का मत है कि भांड संस्कृत 'भाग' का ही रूपान्तर है। इसमें भी कभी-कभी एक ही पात्र 'कि बबीषि' की तरह 'क्या कहा' कहता हुआ अभिनय करता है। इसका विषय प्रायः प्रेम होता है और हास्यरस की प्रधानता होती है, किन्तु जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, हमें इस मत को मानने में संकोच है। 'कि बबीषि' की शैली संस्कृत के और किसी नाटक में आछापान्त उपलब्ध नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक नाटकों में यह शैली जननाटकों में अपनाई है।

ग्रामीण स्त्रियाँ भी धान रोपते समय नृत्य-गान-संयुक्त अभिनय करती हैं। पर्वतीय प्रान्तों में बसन्त पंचमी के अवसर पर लड़कियाँ 'भूमेलो' नामक गीत गाती हुई अभिनय करती हैं। उनके अभिनय को देखने के लिए पर्वतीय जनता सड़कों की संख्या में एकत्र होती है और मनोविनोद की इस नाट्य-शैली से रसास्वदन करती है।^५

जननाटकों के सम्बन्ध में प्रियर्सन साहब ने खोज की और उन्होंने कुमारों से एक पुराना व्यंग्य-नाटक (Satire) जनरल आफ रायल एजियाटिक सोसायटी से

१. इंडियन एजिटिविटी, जनवरी १९१०

२. उड़िया नाटक संग्रहालय अकादमी, पृ. ६

३. दीपचन्द का शिष्य हरदेवा, हरदेवा का शिष्य राजे नाथ, राजे नाथ का शिष्य कान्हेल, कान्हेल का शिष्य भांगेराम

४. स्वांग-नाटकों के निम्नलिखित मेरे आजकल प्रचलित हैं : १. नौदंका, २. निहाल वे, ३. हीर-रांभा ४. नवलाद

५. जनरल आफ रायल एजियाटिक सोसायटी, जुलाई १९०१

प्रकाशित किया। व्यंग्यनाट्य का नाम है 'कृष्णपांडे कौ कलियुग', रचनाकाल १८१५ ई० है। इस व्यंग्यनाटक से तत्कालीन मजिस्ट्रेट मि० ट्रेल इतने प्रभावित थे कि प्रायः कृष्णपांडे से इसको सुनते रहते थे।

उपर्युक्त गवेषणा से यह मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध होता है कि हिन्दी नाटक चिर-कालीन तथा मौलिक नहीं हैं, प्रत्युत संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित अथवा प्रभावित हैं।

हिन्दी नाटक की परम्परा का मूलस्रोत ये जननाटक ही हैं, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान हैं। क्रमशः इन जननाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया। इस चिरन्तन प्रवाह में काल तथा देश के संयोग से संस्कृत आदि भाषाओं के स्रोत भी आ मिले। इस सम्मिलन से यह प्रभाव अधिकाधिक रम्य तथा गतिशील होता रहा है। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी नाटक मौलिक हैं, अन्य भाषाओं से अग्रहत नहीं।

यात्रा-नाटक की उत्पत्ति और विकास

यात्रा-नाटक का अभिनय : अति प्राचीनकाल से नाटक की एक शैली यात्रा-नाटक नाम से चली आ रही है। ये यात्रा-नाटक प्रायः खुले मैदान में अभिनीत होते हैं। कहीं एक सभा-मंडप निर्मित कर कम्बल, दरी अथवा चटाई बिछा दी जाती है, जिसपर दर्शकगण बैठ जाते हैं। सभा के मध्य में एक रंगभूमि बनाकर एक ओर पर्दा लटकाकर उसके पीछे प्रसाधन के निमित्त साजगृह मान लिया जाता है। साजगृह से रंगभूमि तक आने का संकीर्ण मार्ग होता है। लकड़ी की कुर्सियाँ पर रेशमी या सूती वस्त्र डालकर सिंहासन बना लिया जाता है। यही सिंहासन नाटक में पात्र रूप से भाग लेनेवाले राजा, महाराजा अथवा धार्मिक देवताओं का आसन होता है।

अभिनय के मध्य में आवश्यकतानुसार किसी कर्मचारी द्वारा कोई वस्तु रख दी जाती है, अथवा हटा ली जाती है। किसी पात्र का सवारी पर आना अथवा जाना पात्रों द्वारा सूचित कर दिया जाता है। अभिनय के मध्य में भी दृश्य-परिवर्तन की सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। अवांछनीय पात्र वहीं पर विद्यमान रहते हैं किन्तु सामाजिक को यह मान लेना होता है कि वे उपस्थित नहीं हैं। एक ही व्यक्ति पुरुष और स्त्री दोनों का पाठ करता है और पुरुष-पात्र के वेश के परिवर्तन में कभी-कभी अपनी मूँछ का अंश उतार नहीं पाता, तो भी वह स्त्री-पात्र मान लिया जाता है।

संगीत का प्राधान्य

ढोल और करताल की ध्वनि नाटकारम्भ से आध घण्टा पूर्व ही सुनाई पड़ने लगती है। फिर नाटक की भूमिका बताई जाती है। प्रधानतः नृत्य, गीति और वाद्य के द्वारा ही नाटक खेला जाता है। वार्तालाप, रोना, हंसना आदि सम्पूर्ण क्रिया-कलाप गेय पदों द्वारा प्रदर्शित होता है।

यात्रा-मंडलियां यात्रा-नाटकों का अभिनय उपर्युक्त पद्धति से चिरकाल से करती चली आ रही हैं। हम जननाटकों के प्रसंग में देख आए हैं कि यही पद्धति उनके अभिनय की भी रही है। अतएव इन्हें भी जननाटक कहने में कोई आपत्ति नहीं। अब स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि इन्हें यात्रा-नाटक क्यों कहा जाता है ?

यात्रा की उत्पत्ति

यात्रा का अर्थ है जुलूस (Religious Procession)। इन यात्रा-नाटकों का सम्बन्ध भी जुलूस से रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में देवोपासकगण अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय किसी न किसी प्रकार का अभिनय करते जाते रहे होंगे और उस अभिनय-विशेष का नामकरण 'यात्रा' किया गया हो। यह स्वाभाविक ही है कि उस जुलूस में नृत्य और संगीत को स्थान दिया गया हो। इस प्रकार देवोपासना के समय जुलूस से सम्बन्ध रखनेवाले नृत्य, संगीत और नाट्य-सम्मिलित अभिनय की पद्धति यात्रा नाम से प्रचलित हुई।

यात्रा-नाटक के उत्पत्ति-काल के विषय में विविध मत हैं। कोई इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में बताते हैं और कोई उसके उपरांत, किन्तु यात्रा-नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक काल से भी पूर्व विद्यमान रहा होगा। देव-प्रतिमा के जुलूस के साथ इसका सम्बन्ध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव-इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा, जब संसार की विभिन्न जातियां प्रारम्भ में अपने उपास्य देव की प्रतिमाएं जुलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय किया करती थीं। हमें मेसोपोटामिया के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व वहां की सुमेर जाति में इसी प्रकार देव-प्रतिमा के जुलूस के साथ नाटक प्रचलित था।

अतएव इसी सिद्धान्त को मान लेने में क्या आपत्ति हो सकती है कि भारत के मूलनिवासी अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय जिस नृत्यगीत तथा नाट्य का अभिनय किया करते थे, वही कालान्तर में यात्रा नाम से पुकारा जाने लगा होगा। हमारे इस मत की पुष्टि Mr. E. P. Harwitz के इस कथन से होती है :

“यहां तक कि वैदिक युग भी यात्रा से परिचित था। यात्रा आर्यों की अति प्राचीन प्रसिद्ध पंचतुक सम्पत्ति है। ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति संगीतमय जुलूस में हुआ करती थी। सामवेद के कई मन्त्र आदिम यात्रा-नृत्यों के असंस्कृत विनोद की सीमा तक पहुंच जाते हैं।”

१. Even the Vedic age knew Jatras, memorable heirloom of Aryan antiquity. The gods of the Rig Veda were hymned in Choral Processions. Some of the Samveda hymns reached the rude mirth of the primitive Jatra dances. —The Indian Theatre, p. 178

अश्लिष्ट उद्धरण में विचारणीय ग्रंथ है, "The rude mirth of the primitive Jatra dances" यात्रा के समय जो नृत्य हुआ करते थे, वे वैदिक काल के सुसंस्कृत आर्यों के नृत्य नहीं, प्रत्युत यहाँ के मूलवासियों के असंस्कृत नृत्य थे। सम्भव है कि मूलनिवासियों की यह नाट्यशैली वैदिक काल के आर्यों ने अपना ली हो और उसके गानों के स्थान पर वेदमन्त्रों के गान संयुक्त करके इसे संस्कृत नाम 'यात्रा' प्रदान कर दिया हो। किन्तु इस नामकरण का यह अर्थ समझना भ्रमपूर्ण होगा कि यात्रा-नाटक का आरम्भ वैदिक काल में हुआ।

यात्रा-नाटक का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर

डा० कीथ के निम्नलिखित उद्धरण से भी यही प्रमाणित होता है कि वैदिक-काल के यज्ञ-सम्बन्धी संवादों से भारतीय नाटक का विकास नहीं हुआ प्रत्युत यात्रा नामक जननाटकों के प्रभाव से प्रभावित आर्य विद्वान्-मण्डली ने संस्कृत नाटकों की एक नई शैली निकाली। इस काल में भी मौलिक जननाटक-शैली अबाध गति से अपने स्वाभाविक पथ पर चलती ही रही, जिससे आगे चलकर देशी भाषाओं के नाटक निकले।^१

इन उद्धरणों से यात्रा की चिरप्राचीनता में किसी प्रकार सन्देह नहीं रह जाता। यात्रा-नाटक हमारे देश के आदि धार्मिक नाटक थे, जिनपर समय-समय पर अनेक देवी-देवताओं के महान क्रिया-कलापों का प्रभाव पड़ता गया। इस प्रकार देश-कालानुसार 'शक्ति-यात्रा', 'शिव-यात्रा', 'राम-यात्रा', 'कृष्ण-यात्रा' आदि अनेक यात्राएं प्रसिद्धि प्राप्त करती रहीं। इन्हीं विविध यात्रा-नाटकों का प्रभाव संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के विद्वानों पर पड़ता रहा। इन्हींकी शैली पर संस्कृत में 'गीतगोविन्द' की रचना हुई, जिसका अभिनय गीतनाट्यों के रूप में शताब्दियों से होता चला आ रहा है। चैतन्य के समय यात्रा-नाटकों में कृष्ण-शैली का इतना प्रभाव बढ़ गया कि यात्रा-नाटक बर्षों तक 'कालिय-वसन-यात्रा' नाम से ही पुकारे जाते रहे। यात्रा का यह कालिय-वसन नाम चार सौ बर्षों तक प्रसिद्ध रहा।^२

१. The dramas of ritual, therefore, are in a sense somewhat out of the main line of development of the drama, and the popular side has survived through ages in a rough way in the Jatras, well known in Bengal, while the refined and sacerdotalised Vedic drama passed away without a direct descendant.

—The Sanskrit Drama by Dr. Keith, p. 16

२. 'Shakti Yatra'—"It is said that there were Yatras before the birth of Shri Chaitanya, but those yatras were about them as concerned with Shakti. At that time there were no Krishna Yatras."

—Somaprakash by D. N. Vidya Bhushan

३. The Bangadarshan (Phalgun No. 1289)

यात्रा-नाटक का प्रभाव देशी भाषाओं पर

यात्रा-नाटक का प्रभाव देशी भाषाओं पर

जननाटक की यह विशेषता रही है कि वह अपनी मौलिकता की रक्षा हुमा भाषा और पद्धति में जनहृद के अनुसार परिवर्तन करता चला आ रहा है ।^१ कारण है कि नाटक की यह पद्धति शताब्दियों से सफरतापूर्वक अभिनय का कार्य कर आ रही है । ये यात्रा-मण्डलियां बाद्य, संगीत तथा कथावस्तु में भी समयानुसार वर्तन करती रही हैं । गल गतावली में बिद्यासुन्दर-यात्रा-मण्डली ने बिद्यासुन्दर नाम काव्य के आधार पर बिद्या-सुन्दर नाटक लेखना प्रारम्भ किया । यात्रा-नाटकों में एक विशेष घटना थी । राधाकृष्ण के धार्मिक प्रेम के स्थान पर बिद्यासुन्दर का भौतिक प्रेम यात्रा-नाटकों के लिए नितान्त नई बात थी । कहा जाता है कि भारमेन्दु बिद्या-सुन्दर का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने पुरी-यात्रा में लौटकर सर्व-प्रथम हिन्दी में यही नाटक चिरचित किया ।

जिस प्रकार यात्रा-नाटक ने भारमेन्दु प्रभावित हुए, उसी प्रकार भारत के दूरस्थ देशों के यात्री इन नाटकों में अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे । यह निदान स्विकार कर लेने पर यह कहना ही पड़ेगा कि जनभाषा की नाटक-सृष्टि में यात्रा-नाटक-पद्धति चिरकाल से प्रभाव डालती चली आ रही है । बंगला नाटक के उत्थानकर्ता श्री गिरीशचन्द्र घोष ने तो यात्रा-मण्डली की गहायना से बंगला नाटकों का सृजन और अभिनय किया ।

यात्रा नाटकों के अतिरिक्त गिरीशचन्द्र घोष के अन्य नाटकों में जो 'जरा' का प्रयोग हास्यरस के रूप में किया गया है यह यात्रा-नाटकों से अपहृत है । घोष ने विविध नाटकों में नृत्य का उपयोग किया है । साधारणतः जानन्दोत्पत्ति के लिए नृत्य का प्रयोग तो संस्कृत-नाटकों में भी मिलता है, किन्तु प्रह्लाद-चरित्र जैसा गम्भीर नाटक में नृत्य-प्रयोग यात्रा-शैली का सूचक है । 'आयू हुमैन' और 'जना' नामक नाटक में Farical Episode हास्य की घटना यात्रा-नाटक से ही अपहृत प्रतीत होती हैं । इससे प्रमाणित होता है कि अपने युग के सर्वश्रेष्ठ बंगला नाट्यकार गिरीशचन्द्र घोष यात्रा-नाटकों से कितने प्रभावित थे । घोष महोदय ने रामायण के आधार पर पद्य-नाटक लिखे । इसी प्रकार 'दशरथ', 'ध्रुवचरित्र', 'नलदमयन्ती' नामक नाटक भी

१. The Bengali Drama (The Age of Girish Chandra Ghosh by P. Guha Thakurta Ghosh), p. 100

२. Ibid. p. 137

३. The Bengali Drama (The Age of Girish Chandra Ghosh, Art and Practice), p. 187

४. Girish Chandra Ghosh has to be recognised not merely as a name in the dramatic history of Bengal, but the presiding genius of a distinct period.
—Ibid, p. 141, and reference

। अन्धबोध हैं। 'हीरारफूल' तथा 'परसिया-प्रसून' भी गीतिनाट्य हैं। इन की रचना से यात्रा-नाटक का प्रभाव स्पष्टतया प्रमाणित होता है, अन्धबा १६४१-१६५५ वि० के मध्य पद्यबद्ध नाटक लिखने का प्रयोजन क्या था ?

उन्नीसवीं शताब्दी के यात्रा-नाटक

हम पूर्व कह आए हैं कि यात्रा-नाटक का प्रभाव कविवर जयदेव पर इतना कि उन्होंने गीतगोविंद की रचना ही यात्रा-नाटकों की शैली पर की। यह निश्चित माना मिल चुका है कि जयदेव पर्याप्त समय तक पुरी-मन्दिर में रहते रहे। यह सर्व-मान्य है कि गीतगोविंद का प्रभाव सारे उत्तरभारत के नाटक-साहित्य पर पड़ा और गीतिनाट्य-रचना को प्रोत्साहन मिला। चैतन्य के पूर्व गीतगोविन्द का प्रचार पूर्ण रूप से हो चुका था। चैतन्य के आविर्भाव से नाट्य-साहित्य को नवीन शक्ति मिली और यात्रा-नाटकों में कृष्णलीला को प्रमुख स्थान मिला। कृष्णलीला का कथानक लेकर यात्रा-नाटक निर्मित होते रहे, तदुपरान्त विद्यासुन्दर-यात्रा, शेखर-यात्रा, पुराण-यात्रा की रचना अभिनय के लिए होती रही और यह क्रम अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में यात्रा-नाटकों पर रंगमंच के नाटकों का विशेष प्रभाव पड़ा। कई नाट्यकारों ने साहित्यिक और यात्रा दोनों प्रकार के नाटकों का निर्माण किया। रामनारायण की 'रत्नावली', कालीप्रसन्नसिंह का 'सावित्री-सत्यवान', मधुसूदन की 'पद्मावती' का अभिनय नाटक की शैली पर गीतिनाट्य के रूप में होता रहा। रत्नावली का अभिनय तो राजा बाबू के निवासस्थान पर बड़ी ही सफलता के साथ हुआ था।

पद्मावती नाटक की प्रशंसा उस समय सबसे अधिक हुई। नल-दमयन्ती की रचना बाबू कालिदास सान्याल ने यात्रा-नाटकों की शैली पर की। ये दोनों नाटक उत्तरी भारत के जननाटकों में भली भाँति प्रचलित हैं। हिन्दी भाषा-भाषी जनता में भी स्वांग नाटकों के रूप में इनका अत्यधिक प्रचार है। इससे प्रमाणित होता है कि जननाटकों की धारा उत्तर भारत के सुदूर भागों तक एक ही भावना को लिए प्रवाहित होती चली आ रही है।^१

हमारे देश के विभिन्न भागों में विविध प्रकार के लोकनाट्यों की परम्परा आज भी विद्यमान है। गुजरात का भवाई, महाराष्ट्र का लड़िते, तमाशा, पंजाब का गिद्धा, आसाम का भावना, बंगाल का पंचाली, दक्षिण के नृत्य-नाटक पुनः विकासोन्मुख बन रहे हैं। इन लोक-नाटकों के विषय में अधिक जानकारी के लिए मेरी पुस्तक 'भारत की लोकनाट्य-परम्परा' देखिए।

१. द इंडियन स्ट्रेज, खंड २, पृ० १२

२. हिन्दी पेट्रिआट, नम्बर २०, १९६५

३. पद्मावती, नलदमयन्ती, स्वांग दीपक

तीसरा अध्याय

हिन्दी-मैथिली नाटक की उत्पत्ति

हिन्दी नाटक का परिवार अति विस्तृत है। अभी तक ब्रजभाषा के नाटक-साहित्य के आधार पर हिन्दी नाटक की उत्पत्ति विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी मानी जाती थी, किन्तु जब से नेपाल में जाकर पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कई नये नाटकों का अनुसन्धान किया है, भारतीय भाषाओं के नाटक-इतिहास में एक उथल-पुथल मच गई है।

इतिहास-लेखकों की भी यही धारणा थी कि हिन्दी नाटक-साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी से उत्तरोत्तर वृद्धि करता चला आ रहा है। इसके पूर्व मिलनेवाले नाटकों को नाटक की परिधि से बाहर इस कारण रखा जाता है, क्योंकि वे काव्यमय हैं और बहुतों में तो पात्र भी नहीं हैं, केवल आद्योपान्त कविता ही है। दूसरी बात यह है कि कुछ नाटकों पर संस्कृत का इतना प्रभाव है कि उन्हें हिन्दी का नाटक कहना ही नहीं चाहिए। डा० कीच लिखते हैं :

“संस्कृत नाटकों का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि केवल इस उन्नीसवीं सदी में ही देशीय भाषा हिन्दी के रूप में प्रकट हुई, और सामान्यतः नाटक तो अभी-अभी ही देशीय भाषा में बाब प्रकट करने के योग्य प्रतीत हुआ है।”

डा० कीच के अतिरिक्त भारतीय विद्वानों का भी यही मत था कि हिन्दी में अभिनेय नाटकों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ है। डा० श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं, “यों कहने को चाहे हिन्दी में नेवाज कवि-कृत शकुन्तला, हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक, और ब्रजबासीलाल-कृत प्रबोध-चन्द्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले बने हुए कुछ नाटक वर्तमान हों, पर वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही

१. So powerful has been the strength of Sanskrit Drama that it is only in the nineteenth century that Vernacular has exhibited itself in Hindi, and in general it is only very recently that the drama has seemed proper for Vernacular expression.

—The History of Sanskrit Drama. p. 243

काव्य हैं। हां, प्रभावती और आनन्द-रघुनन्दन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं, जो किसी प्रकार नाट्य की सीमा में आ सकते हैं।”

डा० कीथ और डा० श्यामसुन्दरदास की तरह अन्य इतिहास-लेखकों ने भी हिन्दी-साहित्य को उन्नीसवीं शताब्दी का प्रयास माना है। बहुत दिनों तक उपर्युक्त मत मान्य था किन्तु हरप्रसाद शास्त्री और डा० बागची के प्रयास से नेपाल में प्राप्त नाटकों का परिचय जब से मिला है, विद्वानों की राय बदल गई है। एक इतिहास-लेखक का कहना है कि १६०० ई० तक देशी भाषा मैथिली (हिन्दी की एक शाखा) में नाटक-कला भली प्रकार विकसित हो चुकी थी।^१ डा० जयकान्त मिश्र लिखते हैं :

“नेपाल में मैथिली क्रमशः इतनी अभिवृद्धि को प्राप्त होती गई कि १६०० ई० तक मैथिली में नाटक पूर्णरूप से आ गए थे।”^२ नेपाल में मैथिली नाटकों का संक्षिप्त परिचय देकर उपर्युक्त मत की पुष्टि आवश्यक है।

प्राचीन काल में नाट्यकला राजभवन के आश्रय से पल्लवित होती रही। मुसलमानों के आक्रमण से देशी राजा विपत्ति में फँस गए और जिन भवनों के आश्रय में नाट्यकला की लता को फैलना था, वे ही धराशायी बनते जा रहे थे। सन् १५६६ में बख्तियार खिलजी ने नवद्वीप को जीत लिया। बिहार में भी मुसलमानों के आक्रमण से हाहाकार मचा। इस विपत्तिकाल में जिस राजा का जहाँ बश चला, वहीं रक्षा पाने के लिए दौड़ पड़ा। तेरहवीं शताब्दी में खिल्जी-राज्य इतना विस्तृत हो गया, उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो गई कि मिथिलेश महाराजा हरिसिंहदेव को अपना राज्य छोड़कर नेपाल में आश्रय लेना पड़ा। नेपाल की राज्यशक्ति हाथ में आने से राजकाज भी मैथिली में होने लगा। मिथिला देश उस समय भी विद्वानों का केन्द्र था ही। उद्भट पण्डित मिथिला से आमन्त्रित हुए और इस प्रकार नेपाल भी विद्या और विद्वानों का केन्द्र बनने लगा।

राजाश्रय पाकर कवियों और नाट्यकारों की प्रतिभा भी फलवती हुई और अभिनय के लिए नाटकों की रचना होने लगी। सोलहवीं शताब्दी आते-आते मैथिली में नाट्यकला इतनी विकसित हो गई कि इसमें अभिनय के योग्य नाटक विरचित होने लगे। नेपाल से प्राप्त नाटकों में ‘विद्याबिलाप’ नामक नाटक की एक हस्त-लिखित प्रति मिली है, इसमें उसी विद्यासुन्दर की कथा है, जिससे प्रभावित होकर भारतेन्दुजी ने विद्यासुन्दर^३ नामक नाटक लिखा था।

१. रूपक रहस्य, डा० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ ३८

२. A History of Maithili Literature, p. 255, by Dr. Jayakanta Mishra. Tribhukti Publications, 1949

३. Hence we have a consistent account of the growing use of Maithili's Vernacular in the dramas in Nepal. By 1600, wholly Vernacular plays came to be written.

४. भारतेन्दु प्रभावली

यह नाटक 'भटगांव' स्थान पर महाराज विश्वमल्ल के राज्य में खेला गया था। कहा जाता है कि यही मैथिली का सर्वप्रथम नाटक है।^१ इस नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार कहता है :

“श्रीमन् श्रीभक्तपत्तन नगरी सकल गुरिण जन शोभित तार महिमा शुन..... श्री श्री विश्वमल्ल नृपति...श्री श्री जयविश्वमल्ल देवस्य सभा के महिमा शुन.....श्री भक्तपत्तन नगरे विद्याविलाप नाटक प्रवर्त्त हैलो, ता देखि निमित्त आक्षे जावो।”^२

उपर्युक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि मैथिली नाटकों में गद्य का एक निश्चित रूप-सा आ गया था।

महाराजा हरिसिंह के उत्तराधिकारी त्रिभुवनमल्ल ने सं० १६२६ से सं० १६४२ (१५७२ ई० से १५८५ ई०) तक राज्य किया। उनके राज्य-काल में रामचंद्र और बीरनारायण दो प्रसिद्ध कवि और नाट्यकार हुए। उनके राज्यकाल में विरचित एक नाटक की हस्तलिखित खण्डित प्रति मिली है। इसमें एक विरह का पद बहुत ही आकर्षक है। डा० बागची ने अपनी पुस्तक में उसको इस प्रकार उद्धृत किया है :

सघन बरसिए मेहा।

सुमरि सुबन्धु महा॥

जीव छटपट नींद न आवाए।

विरह दगध देहा॥^३

मन पंक्षि हया जावो।

जाहागिया पाबिबो॥

हाथे धरिया पाये परिया।

गला तुलिया लयिवा॥

चन्दन चोरि न भावे।

कुसुम सेज न सुहावे॥

अंग मोरि मेरि आंगन थाकि।

मन चौदिक धावे॥^४

त्रिभुवनमल्ल के उत्तराधिकारी जगज्योतिर्मल्ल स्वयं अच्छे नाट्यकार थे। उन्होंने 'मुदित कुबलयस्व' नामक एक प्रसिद्ध नाटक लिखा। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण यह है कि इसमें मल्लवंश-सम्बन्धी विवरण सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसके

१. We learn of the First Maithili Drama during the reign of Vishva-malla (C. 15433) called Vidya Vilap.—A History of Maithili Literature by Dr. Jayakant, p. 262

२. Dr. A.C. Bagchi's Book—Nepal Bhasa Natak, p. 172

३. Ibid.

४. डा० बागची, आप. सिट. पृष्ठ १७३

व्यतिरिक्त उन्होंने और दो नाटक लिखे । १. हरगौरी विवाह २. कुंजबिहारी नाटक । इस कुंजबिहारी नाटक में राधाकृष्ण और गोपियों की सीसा का वर्णन है । सूत्रधार नाटक प्रारम्भ करते हुए कहता है :

कुंजबिहार हरि छाज रे ।

गोपां सबै हरसित भाज रे ॥

तदुपरांत राधा और कृष्ण रंगमंच पर यह गाना गाते हैं :

जाहि बह जमना तीर क्षीतल सुरहि समीर ।

नव दले तरतरे सोह, मधुकर ध्वनि सब मोह ॥

ताहि बिदिरावन बाँझ, हमर हृदय गुणै बाँझ ।

ताहा गए करिए बिलास, जाना पहु पुरावै भास ॥

नृप जगज्ज्योति-मल्लबासी, मोर गति एके भवानी ॥

इसके पश्चात् श्रुतु का वर्णन आता है और गोपियों का परस्पर संवाद मिलता है ।

इसके उपरान्त जगज्ज्योतिर्मल्ल के पौत्र जगत्प्रकाशमल्ल प्रति सफल नाट्यकार हुए । उन्होंने निम्नलिखित नाटक लिखे, जो नेपाल दरबार-मुस्तकालय में उपलब्ध हैं ।

१. उषाहरण, २. नलीय नाटकम् (संवत् १६७०), ३. पारिजात हरण, ४. प्रभावती हरण^१, ५. मलयगन्विनी (१६६३), ६. मदनचरित ।

इसके उपरांत सुमीतजितमित्रमल्ल ने संवत् १७३१ से १७४४ तक राज्य किया । उन्होंने छाठ प्रसिद्ध नाटक लिखे । १. कालीयमथनोपाख्यान^२, २. मवालसाहरण, ३. जैमिनीयभरत नाटकम्, ४. गोपीचन्द्र नाटकम्, ५. उषाहरण, ६. नवदुर्गनाटकम्, ७. भाषानाटकम्, ८. भारतनाटकम् ।

उपर्युक्त सभी नाटक में अर्धनारीश्वर भगवान शिव की वन्दना प्रारम्भ में की गई है ।

इन नाटकों से हिन्दी-मैथिली के गीतों का स्वरूप कुछ-कुछ दिखाई पड़ता है । गद्य का रूप समझने के लिए ललितपुर (पाटन) के राजा महाराजा सिद्धिनरसिंहदेव की कलाप्रियता पर विचार करना चाहिए । महाराजा नरसिंहदेवजी के प्रोत्साहन से चंडकौशिक के आचार पर हरिश्चन्द्रनृत्यम् (सं० १७००) में दामोदर कवि ने प्रस्तुत किया । Mr. Augustus Conrady ने उक्त नाटक की भाषा का परीक्षण करके यह

१. प्रभावती नाटक के प्रारम्भ में नान्दी इस प्रकार है :

“प्रभवहि सुमिरमो गुण गयेरा, देव अमकर हरहु कलेश ।”

अन्त में भरत वाक्य इस प्रकार है :

“कपटप्रकारा मृत्ति कर विनती,

अन्त होत तोर बदे मती ।”

२. ‘कालीयमथनोपाख्यान’ में तीन अंक हैं ।

परिणाम निकासी है कि वर्तमान नेपाली भाषा से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसकी भाषा बहु मैथिली है जो कभी बंगाली की ओर झुक जाती है और कभी हिन्दी की ओर ।^१ भाषा के सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण यह सिद्ध करता है कि नाटकों में उस समय गद्य को कितना स्थान मिलता जा रहा था ।

रोहतास^१ :

ह हे ऋषीश्वर, हमार वचन अवधान हो ।

पितार आजा बिनु केहे जलपान करियो ।

मरण हैवै कौन दुख

ऋषिभा :

.....सुन विधाता हमार के बद अकाजय

देर छयि ई बालकक शरीर जैसे सुवर्ण अग्नि समो दाहक पैर, तैसे तन्हिका शरीर बाह मेर तथापि सत्य भंग किंचित नहि मेरा, तकरा एहन दुख देखि कहू भोकरा क बद दया है गैर, कतेक दुर्देव सुख का किरण निवारण करब ।

प्राचीन मैथिली भाषा पूर्वी हिन्दी का एक रूप है । विद्यापति की पदावली को हमारे हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है । आचार्य शुक्लजी इसे हिन्दी का ही एक रूप मानते थे । प्राचीन मैथिली-नाटकों के संक्षिप्त परिचय से इतना तो स्पष्ट हो गया कि हिन्दी-नाटकों की परम्परा उससे कहीं पुरानी है, जितनी अभी तक मानी जाती थी ।

संस्कृत नाटकों में हिन्दी को स्थान

नाटकों का स्थान : हमारे देश में १०वीं शताब्दी तक संस्कृत नाटकों का एक उद्यान निरन्तर हरा-भरा सहसाता रहा और प्रतिवर्ष उसमें कतिपय नई वृक्षावलियां लगती रहीं । आरम्भ १०वीं शताब्दी के बाद यह मनोहर उद्यान शुष्क होने लगा । प्रकृति सदा नवीनता चाहती है । प्राचीनता के सौंदर्य को निरन्तर देखते-देखते ऊबे हुए नेत्र नवीनता की रमणीयता के लिए लालायित रहते हैं । संस्कृत के उद्यान में एक तो नवीन वृक्षावली लगाई ही कम जाती थी और जो वृक्ष उग भी जाते थे, वे सुरक्षित होने के पूर्व ही शुष्क हो जाते थे । अर्थात् उनकी प्रसिद्धि-कुसुमकली निकलने भी न पाती थी, तब तक मुरझा जाते थे । कहना चाहिए कि उस समय संस्कृत नाट्य-उद्यान में एक

१. The story of the plot is essentially the same as that of 'Chand Kaushika'.....It is Maithili sometimes mixed with Bengali and sometimes with Hindi—but with modern Nepali it has nothing to do.—Augustus Conrady 1891

Note : M.S. in possession of Narendra Nath Das, Vill. Sakhwar P. O. Marigachhi, District, Darbhanga

१. A History of Maithili Literature Vol. 1, p. 282

संक्रामक रोग लग गया था, जिसे अनुकरण नाम से पुकारा जा सकता है। शताब्दियों तक कोई भी असाधारण प्रतिभासम्पन्न नाटककार रूपी माली पैदा न हुआ जो रोग की ओषधि का आविष्कार करके उपचार करता और अनुवंश रोगग्रस्त भूमि को उर्वरा और नवोत्पादित शक्तिसंयुक्त बनाता।

उसी समय देश में एक और व्याधि फैली जो बाहर से आई। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होने से राजा-महाराजा विक्षुब्ध हो गए थे। अपने धर्म, अपनी जाति और अपनी संस्कृति को मिटते देख उन लोगों का हृदय व्याकुल हो रहा था, जिसके सहारे नाट्यकला पनपती है। कुछ लोगों का तो कथन है कि यदि मुसलमानों का आक्रमण न भी हुआ होता, तो भी संस्कृत नाटकों का उद्यान पुनः पल्लवित न होता, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार भाषा के प्रचार और प्रसार में परिवर्तन होना अनिवार्य है। संस्कृत बोलचाल की भाषा न रहने से जनता के दिलों से क्रमशः दूर होती चली जा रही थी। राजशेखर के समय तक इसके एकाधिपत्य राज्य का बंटवारा हो चुका था। प्राकृत अपभ्रंश के नाटककार राजदरबारों में सम्मान के अधिकारी बनते जा रहे थे।

संस्कृत के उद्यान की शोभा देखकर प्राकृत ने भी एक नया उद्यान उसी ढांचे पर सजाने की चेष्टा की। अभी तक संस्कृत नाटकों में प्राकृत को निम्नस्थान प्राप्त था। कुलीन और विद्वान पात्र संस्कृत बोलते थे, किन्तु केवल नीच पात्रों को प्राकृत बोलने की आज्ञा थी।

किन्तु प्राकृत कवियों ने सट्टक नाम देकर एक नई पद्धति निकाली। उन्होंने प्रत्येक पात्र को प्राकृत बोलने की अनुमति दी और नाटक से संस्कृत को पूर्णतया निकाल फेंका। कहना चाहिए कि संस्कृत न समझनेवाली जनता की सुविधा के लिए जनसाधारण की रुचि का ध्यान रखकर ये सट्टक लिखे गए। रम्भामंजरी नामक सट्टक के लेखक नयचन्द्र ने अपने नाटक में दो नई बातें कीं। पहली तो यह कि संस्कृत बोलनेवाले पात्रों के मुख से प्राकृत की कविता कहलाई है। दूसरी बात यह कि नाटक के नायक जैनचन्द्रजी की प्रशंसा भाटों ने तीन भाषाओं, संस्कृत, प्राकृत और मराठी में की है। महाराष्ट्री का प्रवेश संस्कृत और प्राकृत के नाटकों में करना एक नई घटना थी। महाराष्ट्री का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

जरि पेखिला मस्तकावरी केश कलापु।

तरि परिस्त्रलिला भयूरांचे पिच्छ प्रतापु॥

अभी तक छः सट्टकों के नाम मिले हैं, वे हैं :

१. कर्पूर मंजरी—राजशेखर, २. रम्भामंजरी—नयचन्द्र, ३. चन्द्रलेखा—रुद्रसेन, ४. विलासवती—मार्कण्डे, ५. शृंगारमंजरी—विश्वेश्वर, ६. आनन्दसुन्दरी—धनश्याम।

इन सट्टकों के सम्बन्ध में विशेष विवरण आगे दिया जाएगा।

जरि नयन विषयु केला वेणीदंडु ।
तरि साक्षाज्जाला भ्रमर श्रेणी दंडु ॥
जरि हृगोचरी आला विसाल भालु ।
तरि भ्रद्वंचंद्रमंडलु भइला उर्णायुजालु ॥
भ्रू जुगलु जाणु द्वंधीकृत कंदर्प चापु ।
नयननिज्जितु जाला पंजनु निः प्रतापु ॥
मुखमंडलु जाणु शशांकदेवताचे मंडलु ॥
सर्वांगसुन्दरतामूर्तिमंतु कामु ।
कल्पद्रुम जैसे सर्वलोक आशा विश्रामु ॥'

प्राकृत के अतिरिक्त एक और भाषा अपभ्रंश नाम से प्रचलित हो गई थी। यह वह भाषा थी, जिसमें प्राकृत शब्दों का उच्चारण बदल चुका था और जनसाधारण की भाषा अपभ्रंश बनती जा रही थी।^१ पंडित हजारीप्रसादजी के कथानुसार “अपभ्रंश में प्राकृत का एक खास प्रकार का स्वरवैचित्र्य प्रचलित हो उठा। स्वभावतः ही उस स्वरवैचित्र्य के पीछे अनेक स्थान की प्राकृत भाषाएं रही होंगी।”

उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अपभ्रंश भाषा साहित्य के योग्य हो गई और उसमें विविध ग्रन्थ बनने लगे। राजशेखर (११वीं शताब्दी) के समय तक इस भाषा के कवियों को राजसभा में सम्मान मिलने लगा। काव्यमीमांसा के अनुसार पूर्वदिशा में प्राकृत के कवियों को और पश्चिम की ओर अपभ्रंश के कविगणों को स्थान दिया जाता था। अपभ्रंश-कवियों के साथ बैठनेवाले चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लुहार आदि का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि अपभ्रंश कविता जनसाधारण अर्थात् अनपढ़ या अल्पपठितों की भाषा थी, जिसमें साहित्य बनने लगा था।

इस अपभ्रंश अर्थात् लोकभाषा में नाटक बनते थे या नहीं, इसपर बहुत दिनों तक विवाद चलता रहा। कुछ दिनों पूर्व मुनि जिनविजयजी ने ‘पुरातन प्रबन्ध-संग्रह’ का अनुवाद किया और उसमें एक ऐसी कथा का उल्लेख किया, जिससे सिद्ध होता है कि हंसी-विनोद और किसीका मजाक उड़ाने के लिए अपभ्रंश के ही नाटक सबसे अधिक उपयुक्त माने जाते थे। प्रमाण के लिए राजा भोज की कथा लीजिए।

एक बार राजा भोज ने सिद्धरस बनानेवाले योगियों को आमंत्रित किया। उन योगियों की आज्ञा से समस्त आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई। योगियों ने अनेक

१. रम्भासंजरी सट्टक (नयचन्द्र) संवत् १५३५ के आसपास

२. चंद्रलेखा, पृ० ३१, डा० ५० पं० ५० उपाध्याय पं० ५० डी० लिट्, भारतीय विद्याभवन।

(ख) हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५

३. काव्य मीमांसा

बेष्टाएं कीं किन्तु 'सिद्धरस' सिद्ध न हुआ। अब राजा ने अपभ्रंश के नाट्यकारों को आमंत्रित किया और योगियों का मन्त्रांक उढ़ाने के लिए देशभाषा में नाटक लिखाया। नाटक का अभिनय होने लगा। अभिनय के मध्य में एक स्थल पर पात्र आपस में बातें कर रहे थे।

कालिका नट्टा नट्टा कस्स कस्स नागस्स वा बंगस्स वा।

नहि नहि धम्मंत फुक्कंत अम्ह कंत सीसस्स कालिम ॥

यह सुनकर राजा शोज हंसी के मारे लोटपोट होने लगे तो एक सिद्धरस योगी ने राजा को सम्बोधित करके कहा :

अत्थि कहंत किपिन दीसइ।

नत्थि कहउ त सुहगुरु रुसइ ॥

जो जाणह सो कहहु न कीमइ।

अज्जाणां तु वियारइ ईसई' ॥

उपर्युक्त उद्धरण इस बात को तो अवश्य ही प्रमाणित करता है कि अपभ्रंश में नाटक बनते थे और उनका अभिनय राज्याश्रय में भी होने लगा था। वे नाटक क्या हुए? मिल सकते हैं या नहीं, यदि नहीं मिलते तो कारण क्या है? ये प्रश्न स्वभावतः उठते। अतः इनका विशद विवेचन रास-प्रकरण में किया जाएगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत का नाटक-साहित्य मुख्यतः तीन भाषाओं में प्रस्तुत किया जा रहा था और प्रत्येक भाषा में एक परम्परा बन गई थी। अब विचारणीय विषय यह है कि हिन्दी के साहित्यिक नाटकों ने किस परम्परा को अपनाया और क्यों?

विगत अर्द्ध शताब्दी में देशी भाषाओं के साहित्य की अच्छी तरह खानबीन की गई है। डा० त्रिवेदी ने बिहार के मैथिली-साहित्य की खोज करते हुए असमी, बंगाली, उड़िया और पूर्वी हिन्दी में उपलब्ध ग्रन्थों का भी मनन किया। विद्यापति के साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि विद्यापति ही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने देशी भाषा को नाटकों में स्थान दिया। अर्थात् विद्यापति ने नाटकों का संवाद-भाग तो संस्कृत ही रखा किन्तु यत्र-तत्र देशी भाषा के गाने उसमें सम्मिलित कर दिए।

विद्यापति अपने युग के सबसे बड़े साहित्यिक थे। संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृत के अतिरिक्त देशी भाषा पर उनका प्रभुसत्ता अधिकार था। उन्होंने प्रत्येक भाषा में रचना की। उस हिन्दी के प्रति उनका विशेष आकर्षण प्रतीत होता है, जिसे बंगाली, असमी और उड़िया अपनी भाषा कहकर अपनाने को मालायित हैं। वस्तुतः विद्यापति साहित्यिक अग्रदूत थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा के चतुष्पथ पर खड़ा

होकर वह दूरदर्शी कवि भारत के साहित्यिक भविष्य को निहार रहा था। प्रत्येक पद्य का अनुसरण कर उसने दूर-दूर तक का दृश्य देखा, विचार किया और अपना अनुभव प्रकट किया। उस भविष्यद्रष्टा ने देख लिया कि संस्कृत जनसाधारण के दैनिक जीवन के काम की नहीं बन सकती, वह घर की पूजनीया वृद्धा माता के सहश सम्मान की अधिकारिणी है। प्राकृत को कसौटी पर कसने पर परिणाम अच्छा निकलने की सम्भावना न हुई। नाटकों के क्षेत्र में प्राकृत को सर्वोपरि स्थान सर्वप्रथम कविवर कालिदास ने दिया। 'विक्रमोर्वशी' नाटक के चतुर्थ अंक का अधिकांश भाग प्राकृत में ही लिखा गया। कालिदास के दिखाए इस पथ पर चलने का साहस विरलों ने ही किया। कई सट्टक बनकर रह गए और प्रगति रुक गई। अपभ्रंश में गम्भीर नाटक लिखने की क्षमता नहीं प्रतीत हुई, अतएव प्रहसन के अतिरिक्त और साहित्य बनाने की तत्परता उसमें भी नहीं रही।

अब रही देशी भाषा। उन्हें इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हुआ। देशी भाषा का गद्य-पद्य भाग विकसित हो रहा था, किन्तु अभी तक किसीको सूझा न था कि देशी भाषा को नाटकों में भी स्थान दिया जाए। विद्यापति ने सर्वप्रथम अपने संस्कृत नाटकों में हिन्दी को स्थान दिया। प्राचीन परम्परा में परिवर्तन करने का साहस विरलों को ही होता है। उनका यह सराहनीय साहस देखकर पूर्वी भारत में कई नाट्यकारों ने अपने-अपने प्रांतों में इस पद्धति को अपनाया।

उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्रदेव ने १५०७ से आसपास परशुराम नामक एक नाटक लिखा।

उड़िया के नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम हिन्दी का प्रयोग

मुसलमानों के आक्रमणकाल में भी उड़ीसा बहुत दिनों तक सुरक्षित रहा। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में महाराज कपिलेन्द्रदेव' वहां के शासक थे। उनकी वीरता के सम्मुख बहमनी और विजयनगर भी नतमस्तक हुए थे। उस घूरवीर योद्धा' ने जगन्नाथ की रथयात्रा की दर्शनाभिलाषी जनता में वीरता-संचार तथा योद्धाओं के प्रोत्साहनार्थ 'परशुराम-विजय' नामक एक नाटक लिखा। इस नाटक का संक्षिप्त कथानक यह है कि परशुराम जब महादेव से उनका परशु लेने के लिए तपस्या कर रहे थे तो सहस्रबाहु ने उनके पिता जमदग्नि का वध कर दिया। परशुराम ने सीटने पर सहस्रबाहु को मारने का संकल्प किया। सहस्रबाहु की पत्नी चन्द्रबधना ने दुःस्वप्न देखा। वही स्वप्न कविता के रूप में वह अपने पति को खिल-मना हो सुना रही है।

१. कपिलेन्द्र का राज्यकाल १४३५ से १४६६ ई० तक

२. नीलकण्ठर नाकस्य महोत्सव समासः।

अकाम्पाभिन्वेनाद्य विनोदय कुशीलव ॥—परशुराम विजय नाटक

चन्द्रबदना!... अमररामेण मीयते
 केवल मुनि कुमार परशुदक्षिणकर
 वामेण सोहे धनुशर ना
 कोपेण भोलइ वीरता तु से मो बधिलु तात
 आज तोरे छेदिवइ माथ ना ।
 गुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधेना ॥१॥
 ए तोर चन्द्र वदन मेघे कि टांकिला जहन
 ताहा देखि बिकल मो मन ना
 आवर देखइ अरीष्ट राज्ये तो रुधिर वृष्टि
 पुर बेढि रोदन्ति शृगाल ना
 गुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधेना ॥२॥

अर्थ—हे आर्य मुनि। एक मुनिकुमार दाहिने हाथ में परशु और वामहस्त में धनुषबाण लेकर कुतित होकर बोल रहा है, “अरे वीर, तूने मेरे पिता का वध कर दिया है, मैं तेरा मस्तक काट डालंगा। हे राजा ! मुनि, आपके राज्य में किसने ब्रह्म-हत्या की है ॥१॥

आपका यह चन्द्रमुख ऐसा मलीन हो गया है, मानो बादलों ने ढक लिया है। उसे देखकर मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। मैं चारों ओर अशकुन देख रही हूँ, पृथ्वी पर रक्त की वृष्टि हो रही है, और नगर के चारों ओर गीदड़ बोल रहे हैं। हे राजा, मुनि, मुझे बताइए कि आपके राज्य में किसने ब्रह्म-हत्या की है ॥२॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट भलकता है कि संस्कृत नाटकों में देशी भाषा के ज्ञान का सर्वप्रथम प्रवेश करानेवाले विद्यापति की शैली उड़ीसा में भी फैल रही थी।

असमी नाटकों में सर्वप्रथम हिन्दी

१५वीं शताब्दी के मध्य में आसाम ने एक प्रतिभाशाली कवि शंकरदेव को उत्पन्न किया। शंकरदेव ने बाल्यकाल में तत्कालीन अद्वितीय विद्वान् अध्यापक महेन्द्र कन्दलि से संस्कृत विद्या का अध्ययन किया। पिता और पत्नी की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने अपने गुरु के साथ बारह वर्ष तक तीर्थों में भ्रमण किया। उस समय सभी तीर्थों में वैष्णवधर्म का झंडा फहरा रहा था। मैथिल-कोकिल विद्यापति की कोमलकांत पदावली कीर्तन के रूप में गाई जा रही थी। शंकरदेव ने जगन्नाथ, मिथिला, काशी, अयोध्या, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन आदि उत्तर भारत के तीर्थों के अतिरिक्त दक्षिणभारत के प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की। सर्वत्र वैष्णव धर्माचार्य धर्म-प्रचार में संलग्न दिखाई पड़े।

१. परशुराम विजय... गजपतिना श्री कपिलेन्द्रदेवेन विरचितोऽयं व्यायोगः ।

२. द प्राची... क्वार्टली आर्गेन आफ द प्राची समिति २, १६३२

तीर्थाटन से लौटने पर शंकरदेव ने आसाम में वैष्णव-धर्म-प्रचार के लिए विविध यत्न किए। उन्होंने कई काव्य और सात प्रसिद्ध नाटक लिखे। इन नाटकों में रासयात्रा नामक एक नाटक है, जिसपर ब्रज के रास और जगन्नाथ की यात्रा का प्रभाव अवश्यभावी है। इन नाटकों की नामावलि है : कालिय-दमन, रामविजय, रुक्मिणीहरण, केलिगोपाल, पत्नीप्रसाद, पारिजातहरण, रासयात्रा।^१

इनके नाटकों में गद्यशैली परिमार्जित प्रतीत होती है। केवल गान ही नहीं सम्पूर्ण नाटक मैथिली में है, जिसमें असमी का पुट पाया जाता है। उदाहरणार्थ कालियदमन नाटक का प्रारम्भ देखिए :

सूत्र—तदन्तर नागबधू सबक परम सन्ताप देखिए। श्रीकृष्णक कृपा उपजल। नागनारी सबक सम्बोधित बोलिल। आए कालिक भार्या नागिनी सब, सन्ताप छोरह। इहि बोलि डेग दिया नाभि सर्पक भणाहन्ते अन्तर हुआ रहल।

पयार

जय जय जगत महेश्वर। ब्रह्माशंकर याहे किकर ॥
जय भक्तक भयहारी। नमो हरिचरण तोहारि ॥
तब पारे (पारेगू) अतये साधि। भजि पापी अपराधी'
हरिक विहार जगत आधार

निगम कुमार,

मुनिते मुनिते भव पाइ उतार ॥१६॥

विषय विलास ओहि यमपाश

तेयू तथि आस

करु हरि नामे मुहड़ विश्वास ॥१७॥

हरि गुन नाम अति अनुपाम

लेहु अविराम

कह शंकर सब बोलहु राम राम ॥१८॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी नाटकों की एक शाखा आसाम में फैल रही थी, वे नाटक अभिनय के योग्य होते थे और संस्कृत भाषा के प्रभाव से वे मुक्त हो गए थे।

नाटकों की एक धारा ब्रजभूमि और राजस्थानी में अन्य शैली पर बन रही थी। वृन्दावन में चैतन्य के जाने के पश्चात् नव जागृति आ चुकी थी। रूप गोस्वामी जैसा भक्त विद्वान् मथुरा में बस चुका था। भक्ति के नाटक ऐसे ढंग से अभिनीत

१. असमिया साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ ३३-३६, लेखक प्रो० बिरंजिकुमार बरुआ,

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, गोहाटी, आसाम, १९४१ वि.

२. कालियदमन नाटक, पृ० १५, १६

३. पत्नी प्रसाद नाटक

होते थे, जिन्हें प्रत्येक भाषाभाषी सरलता से समझते, जिनमें अभिनय और नृत्य के द्वारा राधाकृष्ण का प्रेम रास के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा था। वह शैली भारत की निराली है। इसमें श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर नाटक का अभिनय इतना पवित्र तथा पूज्य माना गया कि प्रत्येक हिन्दू उसे देखना धार्मिक कृत्य समझने लगा। यह पद्धति आज भी राज में विद्यमान है। आज भी प्रतिदिन बुन्दावन के किसी न किसी मन्दिर में रासलीला होती है।

इसी प्रकार रामलीला भी हिन्दी नाटकों का एक दूसरा रूप है। 'यात्रा' में भी अभिनय की विशेषताएँ हैं।

इन सबके अतिरिक्त ग्रामीण जनता में नाटकों की जो परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है, वह भी उल्लेखनीय है। आज भी पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में स्वांग^१ को देखने के लिए सहस्रों किसान और मजदूर एकत्र हो जाते हैं। कहा जाता है कि गेहूँ की राशि को खलिहान में भरकर छोड़कर गांव के नवयुवक रास देखने के लिए घाठ-घाठ, दस-दस कोस पैदल जाते हैं। इन नाटकों में नृत्य और संगीत की प्रधानता रहती है। इनकी विशेषता यह है कि इनमें राजनीतिक, सामाजिक, पौराणिक, सभी प्रकार के नाटक बड़ी सफलता से खेले जाते हैं। आजकल विधानसभा के निर्वाचन के उम्मीदवार ग्रामीण जनता का मत स्वपक्ष में करने के लिए अपने अनुकूल स्वांगों का प्रदर्शन कर रहे हैं।

आसाम में शङ्करदेव, माधवदेव, गोपालभूता, एवं रामचरण ठाकुर के न्यूनाधिक दो दर्जन उच्च कोटि के नाटक प्राप्त होते हैं। सन् १६०० ई० से पूर्व ऐसा समृद्ध नाट्य-साहित्य नेपाल के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इस सम्बन्ध में कई शोधार्थी पी-एच० डी० की उपाधि के लिए विविध विश्वविद्यालयों में कार्य कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में अब तक उपलब्ध नाट्य-साहित्य के आधार पर जो नाट्य-समीक्षा प्रस्तुत की गई है उसका विस्तृत विवरण 'भाषा नाटक' नामक हमारे ग्रन्थ के प्रथम भाग में देखा जा सकता है। यह ग्रन्थ क० मु० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में नेपाल, आसाम एवं मिथिला में विरचित हिन्दी नाटकों का सार और उनकी विशेषताओं पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

१. इसका विवेचन अगले अध्याय में देखिए।

चौथा अध्याय राजस्थानी में नाटक की उत्पत्ति

कवक सूरिकृत एक हस्तलिखित पुस्तक 'उपकेशगच्छ पट्टावली' के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि हल्लीसक, रासक और प्रेक्षणक का प्रचार जनता में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में पर्याप्त रूप से हो गया था। कवक सूरि के गुरु का देहावसान राजस्थान में हुआ। उनके निर्वाण के समय स्थान-स्थान पर होनेवाले उत्सवों का वर्णन इस प्रकार मिलता है^१ :

स्त्रीणां हल्लीसकैः स्थाने स्थाने लकुड रासकैः
प्रेक्षणैकजीयमानैः वादित्रैश्च पुरस्सरैः
सूरिविमानसंस्थोसौ प्रत्यक्ष इव निर्जरः
स्वर्गलोकमात्तुकामो निस्ससार पुराततः ॥^२

इस प्रकार हल्लीसक, रासक, प्रेक्षणक के द्वारा उत्सव मनाने का वृत्तान्त हमें उपलब्ध होता है।

राजस्थानी भाषा में कन्हड़ दे प्रबन्ध नामक ग्रन्थ से प्रेक्षणक का वृत्तान्त मिलता है :

गढ़ ऊपरि नित होइ पेखणा सुनई वेणु मृदंग ।

नितु उच्छ्व नितु पात्रज नाचइ नित नव नवा रंग ॥^३

यह वर्णन समियाने के गढ़ का है, जिसे अलाउद्दीन ने चतुर्दिक से घेर लिया है। उस दुर्ग का अधिपति सातल चौहान अलाउद्दीन की उपेक्षा करता है और

चढ़ि त्रिकल राइ सातल बएसइ चिहुंपख चामर डारइ

कटक मांहि सिंहासन बैठ । पादशाह निहारइ ॥^४

उपर्युक्त उद्धरणों को प्रमाणित करनेवाले रासक ग्रन्थ सैकड़ों की संख्या में

१. डा० दशरथ शर्मा एम० ए०, डी० लिट० के संग्रहालय से प्राप्त

२. उपकेशगच्छ पट्टावली रचना, संवत् १२७७ वि०, पृ० ६६ क, ख

३. कन्हड़ दे प्रबन्ध, खंड २, पृ० ११६

४. कन्हड़ दे प्रबन्ध खंड २, पृ० ६१

राजस्थानी भाषा में विद्यमान हैं।^१ विक्रम की बारहवीं शताब्दी में विरचित खरतर-गच्छ पट्टावली नामक हस्तलिखित पुस्तक में लगुड़ रास और ताल रास का उल्लेख मिलता है। जैनाचार्य जिनबल्लभ सूरि ने खरतरगच्छ मंदिरों में उपर्युक्त दोनों रासों का अभिनय वर्णित बताया है। जैनाचार्य सं० ११६७ में विद्यमान थे। आपने दस सहस्र जैन श्रावक नये बनाए थे। चित्तौड़ के महावीर चैत्य में आपको देवभद्र सूरि ने आचार्य पद प्रदान किया था।

अपभ्रंश काव्यत्रयी में इस मत की पुष्टि इस प्रकार की गई है, “स्त्रियों का तो प्रश्न ही क्या, पुरुषों को भी देवालियों में लगुड़ रास की अनुमति न थी। इसके अनेक कारण थे। रास करने की चेष्टाएं अधिकतर विटों की-सी होतीं, कभी-कभी प्रमादवश सिर में चोट लग जाती, पाठ भी दुष्ट होता।”

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि बारहवीं शताब्दी में रास, प्रेक्षणक तथा हल्लीसक का सर्वत्र प्रचार हो गया था। जैनाचार्यों द्वारा रचित रास-ग्रन्थों की विस्तृत सूची ४०० है जो परिशिष्ट में दी जा रही है। ये रास, गीतिनाट्य तेरहवीं शताब्दी में विरचित होने लगे थे। इनकी भाषा अपभ्रंश तथा गुर्जर या राजस्थानी-मिश्रित है। प्राचीन गुजराती और प्राचीन राजस्थानी वास्तव में एक ही भाषा है। इससे सिद्ध होता है कि किस प्रकार संस्कृत और मैथिली-मिश्रित नाटक नेपाल में रचे जा रहे थे, अपभ्रंश और राजस्थानी के संयोग से गीतिनाट्यों की रचना राजस्थान में हो रही थी। स्वभाषतः प्रश्न यह उठता है कि तेरहवीं शताब्दी में ब्रज, मैथिली, अवधी आदि भाषाओं में रास की रचना क्यों नहीं हुई ?^२ राजस्थानी में ही रास रचना का क्या कारण था ? इन रास-रचयिताओं की नामावली देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः जैनाचार्य ही इस कार्य में संलग्न थे। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि जैनाचार्य प्रारम्भ से ही जैनधर्म-प्रचार के लिए जनभाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं। भगवान् बुद्ध के अनुयायियों ने पाली को प्रचार और विचार का माध्यम बनाया और जैनाचार्यों ने मध्यम प्राकृत तथा अपभ्रंश में अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। गीति-नाट्य हर्ष के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि सम्राट् को बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की घटना का प्रचार इसी पद्धति द्वारा करना पड़ा। जैनाचार्यों ने धर्म-प्रचार की इस साधन-शक्ति को पहचाना और अपने मत को जनता तक पहुंचाने के लिए रास-नाटकों की रचना प्रारम्भ की। यह सर्वविदित ही है कि जैनधर्मविलम्बी जनता की बासभूमि अधिकतर राजस्थान रही है। अतः राजस्थानी भाषा का प्रयोग उन्हें अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि राजस्थानी में रासों की

१. रास की सूची परिशिष्ट में देखिए।

२. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० १२ और ४७

३. प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती दोनों वास्तव में एक ही भाषा हैं। नरोत्तमदास स्वामी ने; लेख के आधार पर (राजस्थानी का अध्ययन), राजस्थानी पत्रिका, भाग २ पृ० ६०

रचना हुई और ब्रज, अवधी तथा मैथिली में इसका नितान्त अभाव रहा। दूसरा कारण यह है कि जैनी भाइयों में धर्मग्रन्थ-संग्रह की प्रवृत्ति आदिकाल से चली आ रही है। पुस्तकों का लिखना, उनका संग्रह पुण्य कार्य समझा जाता है। यही कारण है कि आज भी जैन-भण्डारों में अप्राप्य पुस्तकों का संग्रहालय उपलब्ध है। कालोपचित धर्मग्रन्थों की सम्पत्ति जितनी जैन ग्रन्थ-भण्डारों में विद्यमान है उतनी बृहत् पुस्तकालयों के अतिरिक्त कहां मिलेगी ? अतएव यदि अन्य भाषाओं में गीति-नाट्य (रास) विरचित भी हुए हों तो वे आज अनुपलब्ध हैं।

रास-ग्रन्थों से यह भी प्रमाणित होता है कि कालान्तर में इसकी दो धाराएं चल पड़ीं। शृंगार-प्रधान रास की एक परम्परा अर्जुन रास-ग्रन्थों में चलती रही और धर्मतत्त्व-प्रधान रासों की परम्परा जैनाचार्य विरचित रासों में। जैनाचार्य नृत्य और संगीत से पराङ्मुख होने के कारण अपने रासों को इनसे सर्वथा वंचित रखते गए। परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में ये रास केवल श्रव्य रह गए। इनकी अभिनेयता घटती गई, किन्तु अर्जुन रास नृत्य-संगीत के आधार पर उत्तरोत्तर उन्नत होते गए। सोलहवीं शताब्दी में बल्लभाचार्य तथा हितहरिवंश महात्माओं ने उसे पुनः नवशक्ति से संयुक्त किया और रासरसिक कृष्ण को इसका नेता मानकर धर्म के साथ नृत्य-संगीत पुनर्मिलन कराया। इसका विशेष विवरण अगले अध्याय में दिया जाएगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अपभ्रंश के हाथ से हाथ मिलाकर चलने के कारण राजस्थानी के गीतिनाट्य सबसे प्राचीन रूप में हमें प्राप्त होते हैं और इस सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रदान करते हैं कि हिन्दी नाटकों की परम्परा तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

‘रास’ शब्द की व्युत्पत्ति

रास के नामकरण के कारण पर विविध विद्वानों ने विविध विधियों से विचार किया है। एक मत यह है कि ‘रास’ शब्द रस का बहुवचन है। ‘रसानां समूहो रासः’ तथा ‘रसो वै सः’ सिद्धांत के अनुसार रस नाम ब्रह्म का है। महारास में एक ही कृष्ण अनेक कृष्ण के रूप में दिखाई देते हैं। यह शंका उठाने पर कि ब्रह्म तो एक ही है, उन विद्वानों का कहना है कि भागवत के अनुसार ‘तासां मध्यद्वयोर्द्वयोरिति’ प्रत्येक दो गोपियों के मध्य एक ब्रह्म (कृष्ण) दिखाई पड़ते हैं, अतएव इस नृत्य-नाटक का नाम रास पड़ा। दूसरा मत यह है कि ‘रसोत्पद्यते यस्मात् स रासः’ जिससे रस उत्पन्न हो वह रास है। रास में नृत्य-संगीत के द्वारा रस की वर्षा की जाती है। अतएव इसे रास कहते हैं। तीसरा मत है कि,

स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृतहस्तैः क्रमस्थितैः ।

मंडले क्रियते नृत्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः ॥^१

१. विशेष विवेचन के लिए हमारे ग्रंथ ‘रास एवं रासान्वयी काव्य’ को देखिए।

२. रास सर्व्व

विश्वमें स्त्रियाँ और पुरुष हाथ बाँधकर मंडल के रूप में नृत्य करें वह रास कहलाता है। इस नृत्य में इसी प्रकार कृष्ण गोपियों के साथ मंडलाकार नर्तन करते हैं, अतएव इसे भी रास कहते हैं। चौथा मत है कि केवल नृत्य तथा गान ही पूर्ण अर्थ में रास नहीं कहला सकते। पंचम मत इन सबसे नितान्त भिन्न है। इस मत को माननेवाले रास की उत्पत्ति रस धातु से मानते हैं। वे लोग रस का अर्थ चित्ताना बताकर इसका सम्बन्ध प्राचीन पशुपालक-नृत्य से जोड़ते हैं। प्रारम्भ में यह नृत्य संगीत-कलाओं से रहित था। उस समय नृत्य के मध्य-मध्य में कभी-कभी जोर से चिल्ला उठते थे।^१ इस कारण उसका नाम रास रखा गया था। कालान्तर में नृत्य तथा संगीतकला के विकसित होने पर इसमें परिवर्तन होता गया और इसका रूप कलापूर्ण बन गया।^२

छठा मत यह है कि रासलीला वास्तव में राशिलीला का प्रतीकात्मक रूप (Allegorical) है। इस मत के अनुवर्ती पुराणों से ही इसका प्रमाण देते हैं। एक स्थान पर शरदूर्णिमा के समय अन्तरिक्ष में शोभायमान नक्षत्र सहित पूर्वाचन्द्र का वर्णन इस प्रकार है :

अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोद्गणः शशी ।

यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ।

आश्लिष्य समशीतोष्णप्रसूनवनारुतम् ।

जनास्तापं जहूर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यदुपति श्रीकृष्ण भगवान गोपियों द्वारा आवृत होकर पृष्ठीतल पर शोभायमान हो रहे थे, उसी प्रकार पूर्वाचन्द्र के शशि पूर्णिमा को नक्षत्रों द्वारा घिरे हुए शोभित हो रहे थे। जिस प्रकार समशीतोष्ण वनस्थ पुष्प और मंद, सुगंध पवन को आस्वादन कर मनुष्य अपने-अपने तापों को विस्मृत कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा हृदय चुराए जानेवाली गोपियाँ उनका आलिंगन कर सब क्लेश विस्मरण कर जाती हैं।

एवं अध्याय उनतीस में रासलीला-प्रसंग में एक स्थल पर रास करते हुए कृष्ण की शोभा का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

१. आज भी ग्रामान्तरित होनेवाले नृत्यों में नर्तक बीच में ही आ चिल्लाते हैं।

२. रास is thus not to be derived from रस् but from रास् a root which means to cry aloud, which may refer to the very primitive form of this dance when the proportion of music and artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance.

तामिः^१ समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।

उदारह्रास द्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैरणाङ्क इवोडुभिवृतः ॥

तात्पर्य यह है कि कुन्द पुष्प के सहस्र दांतवाले, उदार, हास्यपूर्ण, प्रिय कृष्ण द्वारा देखी जाने के कारण प्रसन्नवदना गोपियों द्वारा घिरे वे उस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, मानो अपनी पत्नी तारिकाओं से घिरे हुए चन्द्रमा ही हों ।

राशिलीला का अनुकरण रासलीला को माननेवाले कहते हैं कि गोचारण के समय कृष्ण और गोपियों की मण्डली परिवेष्टित चन्द्र की ज्योत्स्ना पर मुग्ध होकर उनकी अनुकृति का खेल रचाया करती थी, उसीका नाम रासलीला रखा गया ।

सातवां मत रासलीला को रहस्यलीला समझता है । इस मत के अनुसार देवीसिंह ने आगे चलकर रासलीला को रहस्यलीला नाम देकर लीला का वर्णन किया है । उपर्युक्त सभी मत काल्पनिक हैं । हमारा मत यह है कि रास शब्द वस्तुतः संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो संस्कृत बन गया है और इस देशी नाट्य-कला को जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, रास के नाम से संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया है । रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो तथा रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है और वह रास जिसका विशेष सम्बन्ध गोपियों से है, ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता । यदि यह अनुमान सत्य है तो गीतिनाट्यों की धारा हिन्दी की अपनी पैतृक संपत्ति है, जिसके लिए वह संस्कृत की ऋणी नहीं, जिसकी परम्परा सरस्वती धारा के समान गुप्त अथवा प्रकट रूप में युग-युगान्तर से चली आ रही है । आगामी अध्याय में यह सिद्ध किया जाएगा कि रास के दो मुख्य तत्त्व हैं, एक नृत्य और दूसरा रूपकत्व । इन दोनों की शैली और परम्परा संस्कृत की नाट्य-शैली से सर्वथा भिन्न है । इससे यह अनुमान प्रमाणित होगा कि रास हिन्दी नाटकों की स्वतन्त्र शैली है, जिसके प्रभाव से ही आगे चलकर गीतिनाट्य की सृष्टि हुई ।

लक्षणग्रन्थों में रासक, नाट्यरासक, रास

पिछले अध्याय में हिन्दी के आदिनाटक रासक का उल्लेख किया जा चुका है । 'रासक' संस्कृत लक्षणग्रन्थों में एक उपरूपक माना जाता है । कुछ आचार्यों ने केवल नृत्यकोटि में इसकी गणना की है किन्तु निम्नलिखित प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि रासक नृत्य ही नहीं, प्रत्युत एक प्रकार का उपरूपक है । इसे पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए संस्कृत के लक्षणग्रन्थों के अनुसार रासक का रूप समझ लेना चाहिए । नाट्य-दर्पण में रामचन्द्र ने रासक का लक्षण इस प्रकार किया है^१ :

१. श्रीमद्भागवत, दशस्कन्ध, अध्याय २६, श्लोक ४३

२. नाट्यदर्पण, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बंबे, खण्ड २ (१०६३-११७५), पडिशान, १६२६, पृष्ठ २१४-२१५

शोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नाय (यि) काः ।
 पिण्डीबन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम् ॥
 पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।
 भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदतः ॥
 कामिनीभिर्बुबो भर्तृचेष्टितं यत् नृत्यते ।
 रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

भावप्रकाश ने रासक की कई परिभाषाएं दी हैं। एक स्थान पर इसका, लक्षण यह बताया है :

लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणाः पीत्वामृतं तस्तदा
 पिण्डीशृङ्खलिका विशेषविहितो युक्तो लताभेद्यकैः ।
 चित्रातोद्य विचित्रितैलंययुतो भेदद्वयालंकृतः ।
 चारी खंड सुमंडलैरनुगतः सोयं मतो रासकः ॥^१

यद्यपि यह रासक का लक्षण है किन्तु इसे नाट्यरासक के प्रकरण में उद्धृत किया गया है।

दूसरा लक्षण इस प्रकार मिलता है :

शोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः ।
 पिण्डीबन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्^२ ॥
 पिण्डनात् भवेत्पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।
 भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनाहतः ॥
 एते नृतात्मना कार्या नाट्यवन्तः क्रियाविधौ ।
 सुकुमारोद्धतैरंगैर्गायिकाभिर्विलक्षणाः ॥
 वाक्यस्था नाट्यस्था विधयो ह्येते पिण्डाद्या दृश्यजातयः ।
 नवभेदा विधीयन्ते ह्यनुकार्यानुरागिणः ॥
 कामिनीभिर्बुबो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते ।
 रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

रासक का तीसरा लक्षण इस प्रकार है :

अथ रासकमेकांकं सूत्रधारेण वर्जितम् ।
 सुविलिष्टान्दीयुक्तं पञ्चपात्रं त्रिसन्धिकम् ॥
 पूर्णभाषाविभाषाभिः कैशिकीभारतीयुतम् ।
 वीर्यगमंडितं मुख्यनायकं स्यात्तनायिकम् ॥
 गर्भावमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम् ।
 उदात्तभावविन्यासभूषितं सोत्तरोत्तरम् ॥

१. भावप्रकाश, पृष्ठ २६५, ११, १०-१३

२. भावप्रकाश, नवमोऽधिकार, पृष्ठ २६१-६४

एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन ॥^१

अर्थात्, १. एक अंक हो, २. सूत्रधार रहित हो, ३. सुश्लिष्ट नान्दी हो, ४. पांच पात्र हों, ५. तीन सन्धियां हों, ६. विभिन्न भाषाएं हों, ७. कैशिकी और भारती वृत्ति हो, ८. वीर्यग हो, ९. प्रसिद्ध नायक हो, १०. प्रसिद्ध नायिका हो, ११ उदात्त भाव हों, १२. उत्तरोत्तर ।

साहित्यदर्पण^२ में विश्वनाथ ने रासक का लक्षण इस प्रकार लिखा है :

रासकं पंचपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।

भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती कैशिकी युतम् ॥

असूत्रधारमेकांकं सवीर्यगं कलान्वितम् ।

श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥

उदात्तभावविन्यासमश्रितं चीनरोत्तरम् ।

इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

रासक में पांच पात्र होते हैं, एक अंक होता है, मुख और निर्वहण संधियां होती हैं, इसमें वृत्तियां कैशिकी और भारती होती हैं । सूत्रधार नहीं होता । नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है । उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं । किसी-किसीके विचार से इसमें प्रतिमुख सन्धि भी होती है । उदाहरण के रूप में 'मैनका-हित' का नाम दिया हुआ है ।

इसीके आधार पर डा० कीथ^३ का कहना है कि :

नाट्यरासक का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार दिया है :

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थितिः ।

उदात्तनायकं नन्दवत्पीठमर्दोपनायकम् ॥

• हास्योद्भूत स शृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ।

मुखनिर्वहणे सन्धी लास्यांगानि दशापि च ।

केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥

दो संधि के नाट्य रासक का उदाहरण 'नर्मवती' और संधि चतुष्टयवती का उदाहरण 'विलासवती' है ।

साहित्यदर्पण के अनुसार नाट्यरासक में एक अंक होता है, नायक उदात्त और पीठमर्द होता है । यह हास्यरसप्रधान होता है । शृंगार का भी इसमें समावेश रहता है । नायिका वासकसज्जा होती है । इसमें मुख और निर्वहण सन्धियां तथा लास्य के

१. भाषप्रकारा, पृ० २६६, ११, १३०१६

२. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, पृष्ठ परिच्छेद पृ० २६७

(१३००-४०)

३. द संस्कृत ड्रामा, डा० कीथ, पृ० ३५१

दसों' अंग मिलते हैं। कुछ विद्वान् प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त दोष चारों सन्धियों का होना मानते हैं। किन्तु यह प्रायः दो सन्धियों का ही मिलता है।

डा० कीथ का मत भी इसीपर आधारित है।^१

संस्कृत साहित्य में रासक

लक्षण ग्रन्थों के अतिरिक्त हल्लीसक, रासक का उल्लेख संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। यदि भास के नाटक सबसे प्राचीन मान लिए जाएं तो 'बालचरित' नामक नाटक के तीसरे अंक में कृष्ण के साथ गोप-गोपियों के नृत्य का वर्णन इस प्रकार मिलता है।^३

संकर्षणः—दामक ! सर्वे गोपदारकाः समागताः ।

दामकः—आम भट्टा षष्ठे षण्णद्धा आ भदा । (आम भर्तः सर्वे सन्नद्धा आगताः ।)

दामोदरः—धोवसुन्दरि ! वनमाले चन्द्ररेखे ! मृगाक्षि ! घोषवासस्यानुष्णोऽयं हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्जताम् ।

सर्वाः—अं भट्टा आणवेदि । (यद् भर्ता आज्ञापयति)

संकर्षणः—दामक ! मेघनाद ! वाद्यन्तामातोद्यानि ।

उभौ—भट्टा ! तह । (भर्तः ! तथा ।)

वृद्धगोपालकः—भट्टा ! तुम्हे हल्लीसकं पकीडेन्ति । अहं एत्थ किं करोमि (भर्तः ! यूयं हल्लीसकं प्रक्रीडथ । अहमत्र किं करोमि ।)

दामोदरः—प्रेमको भवान् ननु ।

भास के नाटक के उपरान्त बाण के 'हर्षचरित' में रासक का उल्लेख इस प्रकार मिलता है।^४

क्वचिन्नुपाबलाबलात्कारनर्त्यमाननृत्यानभिज्ञान्तःपुरपालभावितभुजिष्यः सपर्वत इव कुसुमराशिभिः, सधारागृह इव शीघ्रप्रपाभिः, सनन्दनवन इव पारिजातकामोदः, सनीहार इव कर्पूररेणुभिः साट्टहास इव पटहरवैः, साभृतमंथन इव कलकलैः, सावत्तं इव रासकमंडलैः, सरोमांच इव भूषणमणिकिरणैः.....

१. साहित्यदर्पण, प्र० परिच्छेद, पृ० ३६७

(१३००-४०)

२. The Natarasaka a ballet and pentomime.

—Keith

३. संस्कृत श्रामा, डा० कीथ, पृ० ३५१

आक्सफोर्ड ग्रेट ब्रिटेन प्रेस, १९२४

४. भासनाटकचक्रम्, सी० आर० देवर्षि एम० ए०, ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पृ० ५३६

५. हर्षचरितमहाकाव्यम्, चतुर्थ उच्छ्वास, पुत्रजन्मोत्सव

बाण के उपरान्त भट्टनारायण ने भी इसका उल्लेख अपने बेणीसंहार नामक नाटक में इस प्रकार किया है^१ :

कालिन्धाः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षणेऽनुनयः प्रसन्नदयिताहृष्टस्य पुष्पातु वः ॥

उपर्युक्त नान्दी यमुना पुलिन में केलिकुपितराधिका के पदानुसरण करनेवाले कृष्ण के उस रूप की वन्दना है जो राधिका का चरणस्पर्श करते हुए प्रसन्नता के कारण गद्गद हो रहा है ।

बेणीसंहार श्रीभट्टनारायण की रचना है । भट्टनारायण का जीवन-काल^२ विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्त में माना जाता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि सातवीं शताब्दी के मध्य में रास के नायक श्रीकृष्ण उपास्यरूप में मान्य थे । और यह भी निश्चित है कि उनको यह मान्यता केवल किसी स्थान-विशेष पर नहीं प्राप्त थी, प्रत्युत् उत्तर भारत में कन्नौज से लेकर बंगाल तक उस समय तो अवश्य ही यह मान्यता सर्वाधिक व्याप्त रही होगी । अन्यथा, जो भट्टनारायण बंगाल के राजा आदिसूर के निमन्त्रण पर जन्मभूमि कन्नौज छोड़कर बंगाल चले गए थे,^३ उन्हें क्या किसी अन्य रूप में कृष्णोपासना अभीष्ट न होती ? उन्होंने रास में भिन्न-भिन्न स्थानों पर कृष्ण की बंदना देखी होगी, और उसका प्रभाव उनके हृदय पर इतना अधिक पड़ा होगा कि उन्हें बेणीसंहार की नांदी के लिए इससे उपयुक्त और कोई विचार नहीं सूझा ।

कृष्ण रास का विस्तृत वर्णन हमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में मिलता है । इस स्कंध में १६ से २३ अध्याय तक रासक्रीड़ा का प्रसंग उपलब्ध होता है । प्रारम्भ में

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रंतुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

१. बेणीसंहार प्रबोधः—श्लोक २

२. It may therefore be referred that Bhatt Narain lived in the first half of the 7th century A. D.

Classical Sanskrit Literature by M. Krishnamacharya, M.A., M.L., Ph. D., printed at Tirumalai Tirupatti Devasthanams Press, Madras, 1937, p. 612

३. Traditionally he was one of the Brahmins that migrated from Kanoj to Bengal at the invitation of Adisura, king of Bengal.

—Classical Sanskrit Literature by M. Krishnamacharya, p. 612

से लेकर

विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः,
श्रद्धान्वितो नु श्रृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।

तक अर्थात् १७४ श्लोकों में रास का वर्णन मिलता है। इन्हीं श्लोकों में तैत्तिरीयों अध्याय में दूसरा श्लोक इस प्रकार है :

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥

यही रास-परम्परा भागवत के उपरांत ब्रजभाषा के कृष्ण रास रूप में हिन्दी में आई ।

ईसा की सातवीं शताब्दी में कृष्ण रास की ही शैली पर एक और नाट्यप्रणाली प्रचलित थी, जिसका उल्लेख चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपने लेखों में किया है। इसमें बोधिसत्त्व को नायक बनाकर अभिनय किया जाता था। "उस समय महाराज हर्ष (शिलादित्य) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा को संगीतबद्ध करके नृत्य-संगीत-कलाविद् अभिनेताओं के द्वारा अभिनय कराया था।"^१

महाराज हर्ष ने जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा के आधार पर 'नागा-नन्द' नाटक की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि उस संस्कृत-नाटक का प्रचार यथेष्ट रूप में होते न देख महाराज हर्ष को जनसाधारण में जीमूतवाहन की कथा का प्रचार करने के लिए जननाटक-पद्धति रास का आधार लेना पड़ा।

रासक्रीड़ा का यह श्लोक हस्तलिखित प्रति में मिलता है।^२

अंगनामंगनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणांगना ।

इत्थमाकल्पिते मंडले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

इसी रास का विकसित रूप आज गीत-नाटकों में देख रहे हैं। यह रासक जो आज गीत-नाट्य के रूप में विकसित हो गया है, हिन्दी का प्रारम्भिक एकांकी नाटक माना जा सकता है। हिन्दी के प्रारम्भिक काल, तेरहवीं शताब्दी में इसके अभिनय का

१ King Shiladitya versified the story of Bodhisattva Jimutvahan who surrendered himself in place of a Naga. The version was set to music, he had it performed by a band of actors accompanied by dancing and acting and thus popularised it in his time.

—A Record of Buddhist Religion in India

२. दार्नियल केटेलग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन ओरिएंटल लिटरेसे मद्रास । एक से सात

उल्लेख मिलता है। उपकेशगच्छ पट्टावली में रास के प्रदर्शन का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :

स्त्रीणां हल्लीसकैः स्थाने स्थाने लकुटरासकैः ।

प्रेक्षणाकैर्जीयमानैः वादित्रैश्च पुरस्सरैः^१ ॥

‘कन्हड दे प्रबन्ध’ का उद्धरण इस प्रकार है ।

फल्या मनोरथ पूगी आस, ठामि ठामि देवराइ रास ।

नारी करइ लूण लूछणां, नगर माहि मांड्या प्रेखणा ॥^२

इससे प्रमाणित होता है कि ‘कन्हड दे प्रबन्ध’ के रचयिता पद्मनाभ के समय (१५वीं शताब्दी विक्रमी) में स्थान-स्थान पर रास का प्रदर्शन होता था ।

१. उपकेशगच्छ पट्टावली हस्तलिखित ग्रंथ, डा० दशरथ शर्मा के संग्रहालय से उपलब्ध, लेखक कम्पूरी, पृ० १६ क-ख

२. कन्हड दे प्रबन्ध, कटना १३७ वि०, रचना-काल १५वीं शताब्दी, पृ० २३=

पाँचवां अध्याय

हिन्दी के आदि साहित्यिक नाटक

गत अध्याय में हम यह मत प्रतिपादित कर चुके हैं कि हमारे देश में संस्कृत नाटक के साथ-साथ जननाटक की परम्परा भी अक्षुण्ण रही है। नाटक की ये दो शैलियाँ निरन्तर अपने-अपने पथ पर चलती हुई एक-दूसरे पर प्रभाव डालती चली आ रही हैं। अपभ्रंश भाषा में रासक नाटकों का प्रचार इतना बढ़ा कि अन्य शैलियाँ कालान्तर में तिरोहित-सी हो गईं।^१ यह शैली पूर्णतया जननाटक की परम्परा है। यह शैली समाज की साधारण जनता की रुचि और योग्यता का ध्यान रखकर निर्मित हुई। नाटक की यह नवीन शैली रासक के नाम से प्रचलित हुई, जिसकी परम्परा के सम्बन्ध में हम विचार करेंगे।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपभ्रंश नामक जनभाषा को व्याकरण के बन्धन में इस प्रकार जकड़ दिया कि यह भाषा भी साहित्यिक भाषा बन गई, परन्तु जनभाषा पूर्ववत् चलती रही। इसी अपभ्रंश शैली में, जो जनसमुदाय की भाषा थी 'रासक' नाम के नाटक का प्रथम सृजन हुआ।

बिगत पचीस वर्षों में अपभ्रंश साहित्य के विस्तृत अध्ययन द्वारा रासक नामक नाटक पर कुछ प्रकाश पड़ा है। इस अपभ्रंश धारा में भी साहित्य प्रचुर मात्रा में विरचित होता चला आ रहा है। अपभ्रंश-साहित्य के अप्रकाशित रहने और आदि-

१. The cultured and elite of that period considered Prakrit as a language of the yesterday which was a valuable source of literary enjoyment by virtue of its literature of tenderness and beauty but only for those who could understand that language, who had studied its grammar and who were otherwise well-read, not for the averagely educated and uninitiated. Prakrit had become somewhat difficult to grasp. Consequently to cater to the contemporary literary demand, the authors had to write their works in Apabhrans, as also which was a literary dialect of the time accessible to common people.

हिन्दी के नाटक-साहित्य की अनुपलब्धि के कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास-लेखक रासक की ओर दृष्टि न दौड़ा सके और हिन्दी-नाटकों का उत्पत्ति-काल सत्रहवीं शताब्दी निर्धारित करते रहे। किन्तु पिछले पचीस वर्षों में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसन्धानकर्ता विद्वानों ने इतना साहित्य उपलब्ध कर लिया है, जिससे सिद्ध होता है कि हिन्दी का नाट्य-साहित्य विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक मिलनेवाला नाटक साहित्य उसी परम्परागत नाट्य-साहित्य की एक शाखा है, जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से लेकर अब तक प्रवाहित होती चली जा रही है। इस अध्याय में उसी चिरकालीन नाट्य-धारा पर विचार करेंगे।

अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध पंडित मुनि जिनविजय विगत ४० वर्षों से जैन भंडारों की हस्तलिखित पुस्तकों का अध्ययन कर रहे हैं। उन विशाल ग्रंथभंडारों में उन्हें 'सन्देश रासक' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ। यह ग्रन्थ विक्रम की तेरहवीं सदी में एक उदार मुसलमान द्वारा अपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखा गया। इसकी भाषा और कथावस्तु के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि इसका रचनाकाल शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी के आक्रमण का पूर्वकाल था। इसकी भाषा पृथ्वीराज रासो की मूलभाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। यह वह काल था जब अपभ्रंश भाषा में सामान्य जन की भाषा राजस्थानी अपना स्थान बनाती चली जा रही थी। अतएव ग्रन्थ में अपभ्रंश तथा राजस्थानी का मनोरम संगम पाया जाता है। इसके पश्चात् जितने रासक विरचित हुए उनमें अपभ्रंश का प्रभाव क्षीण से क्षीणतर और राजस्थानी का प्रबल से प्रबलतर बनता गया और अचिरादेव रास और रासो राजस्थानी में विरचित होने लगे। रास और रासो की यह परम्परा न्यूनाधिक सात सौ वर्षों से हमारे नाट्य-साहित्य को प्रभावित करती चली आ रही है। इस परम्परा पर विचार करने से पूर्व हम उन लोगों की शंका का समाधान कर देना चाहते हैं, जो इन रासों को अव्यकाव्य ही मानकर नाटक-साहित्य में परिगणित न करना चाहें। इस समस्या को 'सन्देश रासक' में ही नाट्यकार ने सुलझा दिया है।

रासकों की उपयोगिता बताते हुए अब्दुल-रहमान लिखते हैं :

कह न ठाह पडवेइहि वेउ पयासियइ ।

कहबहु-रुचिणिबडउ रासउ भासियइ ॥

इसीकी टिप्पणक रूपा व्याख्या में इस प्रकार अर्थ मिलता है :

कुत्रापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते ।

कुत्रापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते ॥

अर्थ—कहीं पर चतुर्वेदी (चारों वेदों के श्रोत्रिय) वेदों की व्याख्या करते हैं और कहीं बहुरूपिये अर्थात् अभिनेता सुसम्बद्ध रासकों का कथोपकथन रूप में प्रदर्शन करते हैं।

इस नवोपलब्ध 'सन्देश रासक' में विविध छन्द के साथ कथानक में भी नाटकत्व पाया जाता है। मंगलाचरण के उपरान्त इस रासक का संक्षेप में कथानक यह है : विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती, वियोगाग्नि में झुलसती, पति-दर्शन को लालायित पथ पर खड़ी चारों ओर निहार रही है। इतने में एक पथिक आता है, जिसके पास पटुंचकर हिचकियों के साथ वह पति को सन्देश भेजना चाहती है। उसकी विपन्नावस्था देखकर पथिक उसे एक गाना सुनाता है। पथिक और विरहिणी में इस प्रकार संवाद होता है^१ :

विरहिणी—आप कहां से आते हैं, कहां जाएंगे ?

पथिक—भद्रे ! मैं उस शाम्बपुर से आ रहा हूं, जहां भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनाई पड़ते हैं, वेदज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं-कहीं रासकों का अभिनय नटों द्वारा किया जाता है,^२ इत्यादि।

इस प्रकार परिचय के उपरान्त विरहिणी अपने पति को सन्देश भेजती है। सन्देश कहते-कहते अश्रुधारा उमड़ पड़ती है। भावोन्मेष के कारण कण्ठावरोध हो जाता है।

पथिक—आप अधीर न हों। आंसुओं को पोंछकर धैर्य धारण करके फिर कहिए।

इस प्रकार सन्देश कहते-कहते संध्या हो चली।

पथिक बोला—अब मुझे भी प्रस्थान करना चाहिए। आप अपनी अश्रुधारा रोकिए, अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशंका होगी।

विरहिणी—आपकी यात्रा मंगलमय हो।

पथिक—सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना सन्देश संक्षेप में सुनाइए। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना और बता दीजिए कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही हैं।

विरहिणी—जब मेरे प्राणनाथ विदेश चले, ग्रीष्म के दिन थे, तब से एक के बाद दूसरी ऋतु नई वेदना लेकर आती है।

विरहिणी प्रत्येक ऋतु में अपनी वेदना का वर्णन करते हुए प्रियतम के पास सन्देश भेजती है। अन्त में निवेदन करती है कि हे पथिक, यदि व्यथा के वेग में मैंने कोई अप्रिय तथा कठोर शब्द प्राणनाथ के प्रति कहा हो तो उनसे न कहिएगा। मेरा सन्देश इस विधि से कहिएगा जिससे उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे।

तदुपरांत आशीर्वाद देकर पथिक को उसने विदा किया और निशागमन के

१. 'सन्देश रासक' से अनूदित

२. सन्देश रासक... At places the Vedas are expounded by experts ; somewhere the Rasak is staged by the actors. —Shri Jin Muni Vijaya, p. 80

कारण द्रुतगति से निजगृह की ओर अग्रसर हुई। इतने ही में परदेशी प्रियतम का दर्शन हो गया। इस असम्भावित मिलन से उसका हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो गया।

नाटकत्व से परिपूर्ण यह रासक आशीर्वाचन के साथ समाप्त होता था। इस व्याख्यान पर वादी यह आपत्ति उठा सकता है कि रासक को श्रव्य-काव्य क्यों न माना जाए। हमारा उत्तर यह है कि यह दृश्य काव्य है, क्योंकि बहुरूपियों द्वारा इसका प्रदर्शन अथवा अभिनय किया जाता है। इस प्रकार यदि श्रव्य-काव्य का अभिनय के रूप में प्रदर्शन किया जाए तो उसे दृश्य-काव्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? हमारी सम्मति में यह रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है, जिसमें श्रव्य-काव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य-काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।

आगामी अध्यायों में हम देखेंगे कि रासक की यह परम्परा देशी भाषा, पश्चिमी राजस्थानी में रास और रासो के रूप में चली जा रही है और विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में इसी मुख्य धारा से रास की एक और भी परम्परा प्रकट हुई।

पश्चिमी राजस्थानी में रास-नाटक की परम्परा

हम पूर्व सिद्ध कर आए हैं कि सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक गुर्जर भाषा और पश्चिमी राजस्थानी एक ही भाषा थी।^१ तेरहवीं से बीसवीं शताब्दी तक विरचित हस्तलिखित रास-ग्रंथों का विवेचन मोहनलाल दुलीचन्द देसाई ने 'जैन गुर्जर कवियो' नामक ग्रन्थ के तीन भागों में किया है। यशोविजयग्रंथमाला, भावनगर से 'ऐतिहासिक रास संग्रह' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त कितने ही रास ग्रंथ अभी तक जैन जनता के अधिकार में लुप्त पड़े हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रास-ग्रंथों की गणना करना तो दुष्कर कार्य है। हां, उपलब्ध रासग्रंथों की संख्या न्यूनाधिक एक सहस्र तक पहुँच जाती है। हमारे नाट्य-साहित्य की इतनी बड़ी पैतृक सम्पत्ति अभी तक अधूरी पड़ी है। इसपर शोध की बड़ी भारी आवश्यकता है।

अगरचन्द नाहटा ने 'गयमुकुमार-रास' नामक एक रास-ग्रन्थ की शोध जैसलमेर में की। यह रास-ग्रन्थ उस काल का है जब ग्राम्य, अपभ्रंश और राजस्थानी का प्रायः सन्धिकाल था। इस रास की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वसुदेव की पत्नी देवकी कृष्ण के समान ही एक और पुत्र की कामना करती हैं। उनकी अभिलाषा पूर्ण होती है। वही इस रास का नायक है।

इस रास का रचनाकाल संवत् १३०० विक्रमी के सन्निकट माना जाता है। इस रास में रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इसके पात्र हैं : वसुदेव, देवकी, गयमुकुमार, कंस, जरासन्ध और नेमिकुमार।

१. डा० टेसिटोरी, कन्हड़ दे प्रबन्ध-प्राक्कथन, पृ० १

२. गयमुकुमार-रास (हस्तलिखित प्रति)

इसका प्रारम्भ मंगलाचरण^१ से और अन्त आशीर्वाचन^२ से होता है जो नान्दी और भरतवाक्य से मिलता-जुलता है।

राजस्थानी की यह रास-परम्परा अब तक चली जा रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व शेखावाटी प्रान्त में इनका अभिनय प्रायः होता रहता था। लकुड़ रास तो अब तक प्रतिवर्ष अभिनीत होता ही है। इस प्रकार अपभ्रंश से उद्भूत रास-परम्परा ने हमारे नाट्य-साहित्य को इतना प्रभावित किया कि ब्रजभाषा में भी सोलहवीं शताब्दी में रास की नई परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा में नन्ददास, ध्रुवदास, ब्रजवासीदास आदि महात्माओं ने उत्कृष्ट रचना की, जिनका उल्लेख ब्रज की रासधारा में किया जाएगा।

राजस्थानी के न्यूनाधिक एक सहस्र रास-ग्रन्थ स्वतन्त्र शोध के विषय हैं। अतएव केवल 'गयसुकुमार-रास' का उल्लेख करके हम ब्रजभाषा के रास पर आते हैं, क्योंकि इस परम्परा ने हमारे नाट्य-साहित्य पर काफी प्रभाव डाला है।

अन्त में हम इतना कहना चाहते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक रासक अभिनीत होते रहे, जिनमें अपभ्रंश का प्रभुत्व विद्यमान था, किन्तु 'गयसुकुमार-रास' में राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें पात्रों की संख्या रासक से अधिक है। तीसरी विशेषता यह है कि यह वसुदेव, देवकी, कृष्ण से सम्बन्ध रखता है।

यदि हमारा यह अन्वेषण मान्य हो तो हिन्दी-साहित्यिक नाटक का उत्पत्तिकाल सत्रहवीं शताब्दी के स्थान पर तेरहवीं शताब्दी संवत् १२८६ वि० मानना होगा। एतदर्थ नाटक के इस विकसित रूप में विरचित यह 'गयसुकुमार-रास' ही हमारे अनुसन्धान के फलस्वरूप प्रथम नाटक सिद्ध होता है। इस प्रकार विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी-नाटक के विकसित रूप की परम्परा सिद्ध हो जाती है।

राजस्थानी रास-नाटकों की परम्परा और उनका विकास

रासग्रन्थों का बृहद् भण्डार जैनग्रन्थागारों में मिलता है। उन ग्रन्थों में 'लकुटरास', 'तालरास' आदि नाटक शृंगाररस प्रधान होते थे। भूतेश्वर-बाहुबलि-रास, समरसिंह-रास आदि वीररस-प्रधान होते थे, और गयसुकुमार-रास, नेमिरास इत्यादि शांत-रस-प्रधान होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जनता ने नृत्य-गीतमय उन रास-नाटकों के द्वारा, जिनमें शृंगार की प्रधानता होती थी, मनोविनोद प्रारम्भ किया

१. पथमेबिणु सुभदेवी सुभरयण बिभूसिय ।

पुत्थम कमल करीय कमला सखि संठिय ॥

२. आशीर्वाचन—एछु रासु सुहदेयह जाई,

रकड़उ सयलु संघु अंभाई ।

एछु रासु नो देसी गुणिसी,

सो सासय सिब सुकखइह लहिंसी ॥

होगा। ऐसे रास-नाटकों का सफल अभिनय देखकर वीररस के नाटक लिखनेवालों ने 'भरत बाहुबली-रास' जैसे रासनाटकों की रचना की होगी और जनता पर ऐसे नाटकों का प्रभाव देखकर धर्म-प्राण जैन-मुनियों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ 'गयसुकुमार', 'नेमिरास' जैसे धार्मिक रासों का निर्माण किया होगा।

जैन ग्रन्थागारों में जो रास-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः सभी धार्मिक हैं। हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि रास-नाटक अभिनय के लिए लिखे जाते थे। अतः यह सम्भव है ही नहीं कि शृंगार और वीररस के नाटक इतनी अल्पसंख्या में रचित होते रहे हों, जितने आज उपलब्ध हैं। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि वे रास-नाटक क्या हुए? मिलते क्यों नहीं? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अभिनेय रास-नाटक, नाटक-कर्ताओं को कंठस्थ होते थे। उनको प्रायः लेखबद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी और वे गुरु से शिष्य को परम्परागत प्राप्त होते रहे। अधिकांश जन-नाटकों की यही दशा है। वे लेखबद्ध न होकर प्रायः मौखिक रूप में ही मिलते हैं और समयानुसार परिवर्तन के साथ अभिनीत होते रहते हैं।

रास-नाटकों का विकास

लकुट-रास, भरतेश्वर-बाहुबली-रास और गयसुकुमार आदि प्रारम्भिक रास-नाटकों का कथानक बहुत छोटा होता था। दृश्य-परिवर्तन की उन्हें उसी प्रकार आवश्यकता न थी, जैसे आज के जन-नाटकों में। वाचनिक या कवि दृश्य-परिवर्तन की सूचना-मात्र प्रेक्षकों को दे देता है। मृत्यु तथा श्मशान-दृश्य, युद्ध का वर्णन भी वाचनिक स्वतः प्रेक्षकों को सुनाता है।

रास-नाटकों का निर्माण प्रारम्भ में अपभ्रंश के महाकाव्यों का कथानक लेकर होता रहा। 'भरतेश्वर-बाहुबली-रास' 'त्रिसट्ठ महाकाव्य' के भरतेश्वर और बाहुबली का कथानक लेकर रचा गया है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में रास की तीन धाराएं हो गईं। एक धारा पूर्ववत् जन-नाटकों के रूप में प्रवाहित होती रही, जिसका परिवर्तित रूप हम जन-नाटकों में पाते हैं। लकुट-रास, ताल-रास का विकसित रूप शृंगार-प्रधान जन-नाटकों में परिलक्षित होता है।

दूसरा रूप अपभ्रंश के चरित और प्रारम्भिक रास-नाटकों के मध्य का था। इस धारा में नृत्य और नाट्य का क्रमशः लोप होने लगा और तीर्थंकरों तथा दानी श्रेष्ठियों की जीवन-गाथा को प्राधान्य दिया जाने लगा। उन राजाओं को भी नायक

१. अमरसिंह राठौर (स्वांग नाटक), नवामल, पृ० २४ :

रोख सलाकत का किया अमरसिंह ने डेर।

खड़ा बीच दरबार में, तान रो र रामरोर ॥

गयसुकुमार-रास—ताबह गय सुकुमाला सिरि पाल करेई।

दाख्य खयर अंगार सिरि पूरण लेई ॥

बनाया गया जो ब्राह्मणधर्म को त्याग कर जैनधर्म में दीक्षित होते रहे। इसमें आराध्य देवताओं का सम्पूर्ण चरित्र लेकर रास तैयार होता था।

रास का तीसरा रूप 'रासो' है, जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विरचित होता रहा।

राजस्थानी में विरचित रासग्रन्थों के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रास-नाटकों के दो मुख्य भेद 'एकांकी' और 'पूर्ण नाटक' किए जा सकते हैं। एकांकी में कथानक लघु होते थे और पूर्ण नाटकों में चरित-काव्य की शैली पर कथानक विस्तृत बनाए जाते थे। इन पूर्णनाटकों में अधिकांश धार्मिक अवश्य हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तीर्थंकरों को ही नायक मानकर नाटक की रचना होती थी। रास के नायक ऐसे भी धनी-मानी व्यक्ति होते थे, जो अपने धन का सदुपयोग जनता के कल्याण के लिए करते थे। उदाहरण के लिए 'संघपति समरारास' लीजिए। इस रास की रचना संवत् १३७१ वि० में अम्बदेव नामक कवि ने की। संघपति राजस्थान का एक साधारण वणिक् था। उसने अपने पराक्रम और पुरुषार्थ से धनकोष संग्रहीत किया और उसके द्वारा दीन-हीन जनता की सेवा की। उसने शत्रुंजय नामक तीर्थ के भग्न मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। सदाचार और नैतिकता के बल से उसने अपना जीवन इतना निर्मल बना लिया कि उस समय समाज में सबके आदर का भाजन बन गया।

पौराणिक कथानकों में अभिनय के अनुकूल परिवर्तन करके रास की रचना होती रही। उदाहरण के लिए धर्मदेव विरचित 'हरिश्चन्द्र' रास और ऋषिवर्धन विरचित 'नल-दमयन्ती रास' देखिए। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को पात्र बनाकर कुछ रासों की रचना हुई। ब्रह्मजिनदास-विरचित 'सम्यक्त्वरस' इसका प्रमाण है। इस रास का प्रारम्भ इस प्रकार होता है।

त्रोटक

जयवंत जय जगि सार सुन्दर रामचन्द्र बखानिए।

लक्ष्मीधर अरु भरत शत्रुघ्न च्यारि पुत्र धरि जाणीए ॥

कुल कमल दिनकर सकल शास्त्र सुजानवंत महामती।

देव धर्मह गुरु परीक्षण रामचन्द्र सार्तयती ॥

समिक्ति रासो निरमलाए मिथ्यातमोड एकदाता।

गावो भवीयण सबड़ो ए जिमि सुख होइ अनंदाता ॥

श्री सकल कीरति गुरु प्रणमीनए, श्री भवन कीरति भवतारतो।

ब्रह्म जिएदास मनो घ्याइए गाइए सरस अपारतो ॥

राजस्थानी में रास-ग्रन्थों का बृहद् भंडार है। राजस्थान में रास और रासों के अभिनय शताब्दियों तक होते रहे हैं। अभी तक हिन्दी के इस विशाल नाट्य-साहित्य

की गवेषणा अवशिष्ट है ।

ब्रजभाषा की रास-शैली ने भारतीय इतिहास के उस काल में जन्म लिया, जब वैष्णव धर्म की चर्चा देश में सर्वत्र सुनाई पड़ रही थी । बंगाल में जयदेव कवि का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जा रहा था । चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में अपने भक्त मित्रों के द्वारा कृष्णलीला का अभिनय दिखाकर जनता को मुग्ध कर रहे थे । यात्री-गण इस अभिनय की वार्ता दूर देशों तक पहुंचा रहे थे । इस प्रकार भारतीय नाट्य-साहित्य का एक नया अध्याय रचा जा रहा था । महाप्रभु के विद्वान शिष्य प्रसिद्ध तीर्थों में इस नवोदित नाटक-शैली का समावेश कर रहे थे । कृष्णलीला की यह महत्वपूर्ण घटना कृष्ण के रासस्थल पर स्वयं महाप्रभु द्वारा पहुंच चुकी थी ।

उस समय वृन्दावन के लताकुंजों में स्थित साधुओं के पराङ्कुटीर साहित्य के उद्भट कृष्णभक्त आचार्यों के आवाम बन रहे थे । स्वामी वल्लभाचार्य और हितहरिवंश के पराङ्कुटीरों में भक्तों की भीड़ लग गई थी । प्रसिद्ध गवैया तानसेन के गुरु हरिदास भी वहीं आकर बस गए थे । इन आचार्यों के साथ उनका शिष्य वर्ग भी बसने को लालायित हो उठा । बंगाल से महाप्रभु ने अपने प्रसिद्ध शिष्य रूपगोस्वामी को यहां (वृन्दावन) बसाने के निमित्त भेज ही दिया था । महाप्रभु के विद्वान शिष्य श्री गदाधर भट्ट भी वृन्दावन में बस गए । इस प्रकार आचार्यों की एक नई बस्ती बस गई, जहां प्रतिक्षण राधाकृष्ण की लीलाओं का प्रसंग चलता तथा भागवत की कथा होती और 'नारद-पंचरात्र' का पाठ आदि चलता रहता ।

इन आचार्यों में एक आचार्य ऐसे थे जो राधाजी के परम उपासक थे । वे महात्मा राधिकाजी के ऐसे भक्त हुए कि उनके सम्प्रदाय का नाम ही राधावल्लभ सम्प्रदाय पड़ गया । ये थे महात्मा हितहरिवंश, जिनका जन्म संवत् १५५६ विक्रमी में हुआ था और जो सांसारिक व्यवहार त्यागकर वृन्दावन के एक लताकुंज में नित्यप्रति ध्यान किया करते थे । कहा जाता है कि इस सूक्ष्म तत्त्वदर्शी महात्मा को 'सेवाकुंज' में नित्य राधिकाजी के साथ कृष्ण का रासविहार दृष्टिगोचर होता था । कभी-कभी यह महात्मा महारास^१ का दर्शन किया करते थे ।

एक दिन रासविहार का प्रसंग छिड़ा । भक्तों में स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि आचार्यजी को वृन्दावन में भगवान कृष्ण का जो रासविहार दिखाई पड़ता है, वह किस प्रकार का है । साधकों की दृष्टि से तो वह नितान्त अदृश्य रहता है । स्वामी हरिदास भी मंडली में विद्यमान थे । आचार्य हितहरिवंश ने धमंडी देव^२

१. सेवाकुंजेति विख्यातो श्रीमद्वृन्दावनान्तरे ।

राधया सह गोविन्दो यत्र क्रीडां करोति भः ॥—मांडव्य संहिता

२. महारास में कृष्ण अनेक कृष्ण के रूप में दिखाई पड़ते हैं ।

३. महात्मा धमंडी देव उस समय नाटक-अभिनय के लिए प्रसिद्ध थे । (धमंडी देव के तीन नाम धमंड देव, धमंडि देव और धमंडी देव मिलते हैं ।)

महात्मा को बुलाया, उनको और स्वामी हरिदास को कुछ निर्देश किया। रास-लीला में दृष्टिगोचर होनेवाली राधाकृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंश ने किया। इस प्रकार रास-मंडल की तैयारी हुई।^१

स्वामी हरिदास संगीत के धुरन्धर विद्वान थे ही। हितहरिवंश के पद 'आज बन नीको रास बनायो' तथा 'खेलत रास दुलहिनी दूलह' को संगीत रूप में प्रस्तुत किया गया। अन्य महात्माओं ने भी सहयोग दिया। हितहरिवंश के साथ श्री बल्लभाचार्य तथा गदाधरभट्ट भी थे, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने ब्रजभाषा में सर्वप्रथम कृष्णरासमंडल रचाया, जिसमें नृत्य, संगीत और नाट्य को ही स्थान मिला।

रासलीला का दर्शन महात्मा हितहरिवंश को वर्षों की साधना के उपरान्त हुआ था। तपस्या करते-करते सहसा आचार्य को एक दिन आनन्दानुभूति हुई और मुख से निकल पड़ा :

कालिन्दीतटकुञ्जे, पुंजीभूतं रसामृतं किमपि।

अद्भुतकेलिनिधानं निरवधि राधाभिधानमुल्लसति^२॥

अर्थात्—कालिन्दी तट के कुञ्ज में कोई अनिर्वचनीय पुंजीभूत रसामृत एवं निरवधि अद्भुत केलि-निधान श्रीराधा नामक स्वरूप उल्लसित हो रहा है। अब तो आचार्य की साधना सफल हुई। उन्होंने प्रत्यक्ष एक छटा देखी, जिसका वर्णन करते हुए मुख से निकल पड़ा :

आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोर,

कहा कहीं अंग-अंग परम माधुरी।

करत केलि कंठमेलि बाहु दंड गंड-गंड

परस सरस रास लास मंडली जुरी॥

स्याम सुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार

मधुरघोष मृपुरादि किकनी जुरी।

देखत हरिवंश आलि निसनी सुधंग बालि

बारि फेरि देत प्रान देह सी जुरी^३॥

आचार्य ने उस रासलास पर मुग्ध होकर अपने शरीर से प्राण चुराया और उस छटा पर निछावर कर दिया। इस प्रकार कुछ लोगों के मतानुसार रास की उत्पत्ति बरली पर हुई और उसीकी अनुकृति आचार्य ने भक्तों को सिखाई। यह

१. रासलीला के प्रथम संस्थापकों के नाम के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई श्री बल्लभाचार्य को और कोई श्री नारायणभट्ट को संस्थापक मानता है।

२. राधा कुलनिधि, हितहरिवंश, पृ० ११७

३. राधाकुलनिधि, हितहरिवंश, पृ० ४६

रासलीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी प्रतीत हुई कि महात्मा धंमडी-देव ने इसका पुनः-पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललिता सखी के गांववाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी। उस समय अकबरी दरबार से भवकाश-प्राप्त नृत्यकला-विशारद कलाकार वल्लभ भी वृन्दावन में आ बसा। उसने पात्रों को नृत्य की शिक्षा दी। स्वामी हरिदासजी ने संगीत सिखाया। इस प्रकार रासमंडली की ख्याति फैलने लगी और तीर्थयात्री रास का दर्शन करना भी धर्म का अंग समझने लगे। तब से अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर आज २१वीं शताब्दी विक्रम तक रासलीला का यह क्रम निरन्तर चलता आ रहा है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हितहरिवंश से पूर्व रासलीला का प्रदर्शन होता ही नहीं था।

बारहवीं शताब्दी में श्री वोपदेव-रचित श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला^१ के रास का उल्लेख पाया जाता है। क्या बारहवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक ४०० वर्ष के दीर्घकाल में कृष्णरास रचा ही नहीं गया होगा? तत्कालीन कृष्णरास का उल्लेख न मिलने से यह प्रमाणित नहीं होना कि इस काल में कृष्णरास का प्रदर्शन नहीं होता था। Argumentum Ex-Silentio अर्थात् वर्णनाभाव के तर्क का प्रमाण सर्वथा भ्रामक है। बारहवीं शताब्दी में विरचित श्रीमद्भागवत की कृष्णरासलीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्णरासलीला की रास-पद्धति का अनुमान किया जा सकता है। यह पृथक् गवेषणा का विषय है, जिसपर यदि कार्य किया जाए तो अवश्य सफल होगा।

गोलोक में रासलीला का दर्शन प्रत्यक्ष रूप से करनेवाले कई महात्माओं के सम्बन्ध में जनश्रुतियां पाई जाती हैं। गुजरात में घर-घर यह सुना जाता है कि नरसी मेहता गोलोक में होनेवाली रासलीला को जब देख रहे थे तो वह रासमंडल के मध्य में दीपक लेकर खड़े थे। वे इतने ध्यानावस्थित थे कि दीपक से हाथ जलने का भी भान उन्हें न हुआ। अन्त में कृष्ण ने स्वतः उनका हाथ जलने से बचाया। इसी प्रकार श्री वल्लभाचार्य आदि महात्माओं का रासलीला को गोलोक में प्रत्यक्ष देखना अनुश्रुति के रूप में आज तक चला आता है। इससे एक बात तो प्रत्यक्ष हो जाती है कि रासलीला का प्रसार अल्पकाल में सारे देश में होने का श्रेय इन महात्माओं की साधना को ही है। आज भी गुजरात में गांव-गांव इस रास का प्रचार है। गुजरात के कुछ विद्वान तो यह भी कहते हैं कि रास का सर्वप्रथम उद्भव सौराष्ट्र में ही हुआ^२। श्री नरसिंह मेहता इसके संस्थापक थे। संस्थापन की समस्या पर आगे विवेचन किया जाएगा।

रासलीला प्रतिदिन वृन्दावन में किसी न किसी देवालय या कुंज अथवा कालिंदी पुलिन पर होती है। इसके लिए यात्रा-नाटक के सहश पद और नाटक-सम्बन्धी अन्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। लकड़ी की कुसियों पर गद्दे और ऊपर स्वच्छ

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध, अध्याय २६-३३

२. टाइम्स आफ संस्कृत इन्डिया, डॉ. आर. मनकड, पृ० १४२

चादर डालकर कहीं भी रंगमंच बना दिया जाता है। जनता चतुर्दिक् बैठ जाती है, स्त्रियाँ एक ओर, और पुरुष दूसरी ओर। राधा-कृष्ण तथा सखियों का आगमन होते ही जनता खड़ी हो जाती है। समीपवर्ती भक्तगण, अतिवृद्ध साधु-महात्मा भी चरण-स्पर्श को दौड़ पड़ते हैं। राधा-कृष्ण के आसनासीन होने पर नान्दी-पाठ प्रारम्भ होता है, जिसमें जयदेव के गीतगोविन्द और आचार्य वल्लभाचार्य, हितहरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। तदुपरान्त एक सखी कृष्ण से कहती है, “राम को समय हूँ गया अब आप पधारें।” कृष्ण खड़े होकर राधिकाजी से निवेदन करते हैं :

“राधे, रूप उजागरि श्यामा करियो कृपा की कोर।” संगीतज्ञ कृष्ण के गान की वाद्य के साथ पुनरावृत्ति करते हैं। आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं :

रसिकन रजधानी राधिका महारानी कृपा करि हेरो,

मग जोवत राधे तेरो....

चलो चलें सब बन की ओर

करिए कृपा की कोर,

राधा भानुकुमारी।

राधिका कहती है—नन्दकिशोर मोहन कुंज-विहारी।

कृष्ण कहते हैं :

चलिए सवन बन की ओर श्री मम प्राणपियारी।

बोलत चातक-मोर फूली अति फुलवारी ॥

राधे—मैं न चलूँ बन की ओर तू नटखट गिरधारी।

[दर्शक कृष्ण भगवान की जयजयकार करते हैं।]

तुम प्रीतम चितचोर उलटी रीति तुम्हारी ॥

कृष्ण—हा हा ! काह बतावत चोर, तुम चितचोर निहारी।

निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी।

ब्रजवनितन सिरमौर, तुम भोली-भाली।

अब राधाजी उठती हैं और सखियों के साथ कृष्ण नृत्य दिखाते हैं। कभी केवल कृष्ण और राधा का नृत्य होता है, कभी सभी साथ मिलकर और कभी एक-एक अलग-अलग नृत्य दिखाते हैं। जिस मंडली के नृत्य और संगीत में कला होती है, उसकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है और दर्शक अच्छे अभिनेता कृष्ण तथा राधा पर द्रव्य निष्कावर करते हैं। नृत्य के उपरान्त कृष्ण का यह गाना मधुर स्वर में दर्शकों तथा यात्रियों को मुग्ध बना देता है। वे अपनी यात्रा सफल समझते हैं।

जो रस बरस रह्यो ब्रज मांही, याको दरसन औ' कहुं नाहीं।

अब कृष्ण अपने पूर्ववतारों से कृष्ण-अवतार की तुलना करते हैं।

रामलला कब घर-घर घायो,

पकरि-पकरि कब हिए लगायो।

दैर्घ्य मीखन कौने नचायो,
बावन बनकर लम्बे हो गयो ।
जो अस देखति यमुमति माता,
बांधि ती लेनी कैसे हाथा ।

वृन्दावन का सुख वर्णन करते हैं ।

राजपाट को नाहि करैया, मोहि कमरिया गाय चरैया ।
रथ विमान पर नाहि चढ़ैया, गरुड़ पीठ पर नाहि उड़ैया ।
पावन-पावन नंगे डोलैं, ब्रजरज-सम, कोउ नाहि ।
जो रस बरस राख्यो ब्रज माही, याको दरसन औ' कहूं नाहि ।

इसके उपरान्त आरती की जाती है । प्रेक्षक खड़े हो जाते हैं और राधाकृष्ण की स्तुति होती है ।^१

कृष्णरास और जैनरास

कृष्णरास और जैनरास में पहला अन्तर यह है कि कृष्णरास में राधा और कृष्ण का प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु जैनरास में जैनियों के उपास्य देव अथवा तीर्थंकर का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है । दूसरा, कृष्णरास में कृष्ण के अनिर्वक्त और कोई नायक नहीं हो सकता, किन्तु जैनरास में कोई जैनी साधु-महात्मा, सेठ-साहुकार, धनी-मानी-दानी भी नायक हो सकता है । तीसरा, कृष्णरास के सभी नाटक एकांकी मिलते हैं और वे एकांकी इस ढंग से रचे गए हैं कि दो या दो से अधिक का भी अभिनय एक साथ किया जा सकता है किन्तु जैनरास में एकांकी और पूर्ण नाटक दोनों उपलब्ध होते हैं ।

लीला-नाटकों का क्रमिक विकास

ब्रजभाषा के प्रारम्भिक रामलीला-मन्त्रन्धी नाटक नन्ददासजी द्वारा विरचित हुए । नन्ददासजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । उन्होंने मधुर स्वर में गाने योग्य स्फुट गेय पद, भागवत दशमस्कन्ध के अनुवाद रूप में कथा, और लीला के रूप में दृश्यकाव्य की रचना की । कारण यह था कि उनमें मूर की नरह तन्मयता, तुलसी की तरह प्रबन्ध-पटुता के साथ-साथ संवादोपयुक्त तीखी तर्क-बुद्धि और वाग्बैदध्य भी था । नन्ददास की गोपियां उद्धव को अवाक्य करती हैं, आंसुओं से नहीं, वाणी से । नन्ददास में दृश्यकाव्य के अनुकूल किसी कथा के आवश्यक अंग को ग्रहण करने और अनावश्यक को पृथक् करने की क्षमता थी । एक ही कथावस्तु को संगीत, कथा और दृश्यकाव्यों के योग्य गढ़ लेने की उनमें अद्भुत शक्ति थी । उन्होंने गोवर्धनलीला स्फुट पदों में,

१. भक्तगण आरती के समय धन दान करने हैं । रास-मण्डलीवालों का वह आग्रह होती है । उसीके द्वारा वे अपनी मण्डली का व्यय चलाने हैं ।

भागवत के अनुवाद में, और अभिनयार्थ लीला के रूप में तीन बार लिखी। यदि उनको दृश्यकव्य लिखने की प्रेरणा न हुई होती तो भागवत के अनुवाद-रूप में गोवर्धनलीला की रचना वे प्रथम ही कर चुके थे, पुनः दूसरे रूप में गोवर्धनलीला ही लिखने का क्या प्रयोजन था ? दोनों गोवर्धनलीलाओं की तुलना करने से यह विषय और स्पष्ट हो जाता है।

भागवत की गोवर्धनलीला के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं है और होना भी नहीं चाहिए, किन्तु गोवर्धनलीला में शुद्ध नान्दी है, “श्री गुरुचरण सरोज मनावी।” इस नान्दी में १२ वर्ण हैं जो नान्दी का लक्षण है।^१

तदुपरांत प्रस्तावना के रूप में सामाजिकों को बताया जाता है कि आज गिरि गोवर्धनलीला होगी।^२ इस लीला के प्रति रवि उत्पन्न करने के लिए इसकी विशेषता का वर्णन है। “कलमल हरन मंगलकरनी। मनहरनी श्री शुक्मुनिवरनी।” कहकर सूत्रधार अथवा व्यवस्थापक प्रेक्षकों का मन आकर्षित करता है। वह कहता है कि गोवर्धनलीला कलमलहरण करके मंगलविधान करनेवाली है, वह आज की नहीं, बड़ी पुरातन है और शुक्देव मुनि द्वारा वर्णित है। इसमें कितनी गम्भीर अभिव्यंजना है। नाटक में तीन गुण आवश्यक हैं। मनोरंजनकारी हो, निःश्रेयस और अभ्युदय का दाता हो। इस लीला में तीनों गुण विद्यमान हैं, ‘कलमलहरनी’ होने से निःश्रेयस का दाता है, ‘मंगलकरनी’ से अभ्युदय प्रदान-कर्ता है और ‘मनहरनी’ से रचिकर है।

जिस क्रम से नन्ददासजी ने^३ ‘कलमलहरनी’ ‘मंगलकरनी’ और ‘मनहरनी’ लिखा है, उससे नाटककार का नाटकोद्देश्य भलकता है। उसने निःश्रेयस को प्रथम अभ्युदय को द्वितीय और मनोरंजन को तृतीय स्थान दिया है। कृष्णलीला के प्रायः सभी नाटकों में यही उद्देश्य क्रम से मिलता है। उन्होंने नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं लिया, वे लोग धर्मात्मा-महात्मा थे। भरतमुनि का आदेश उन्हें मान्य था। भरतमुनि श्रुति-स्मृति-सम्मत कथानक के द्वारा निःश्रेयस की, सदाचार और ज्ञान-विज्ञान द्वारा अभ्युदय की और विनोद के द्वारा मनोरंजन की सिद्धि नाटक में चाहते हैं।^४

इस प्ररोचना के उपरांत नाटक की मूल कथावस्तु का प्रारम्भ है। इस नाटक में भागवत की कथा के कई अंश ग्रहण नहीं किए गए हैं। जैसे भागवत की कथा के रूप में एक स्थान पर गोवर्धन-पूजा के लिए पकवानों का विस्तृत वर्णन मिलता है।^५

१. नन्ददास ग्रन्थावली, अजरत्नदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण, पृ० १६०

२. गिरिगोवर्धनलीला गाथा

३. नन्ददास ग्रन्थावली, अजरत्नदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १६०

४. श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिपोषार्थकल्पनम्।

विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥—भरतनट्यशास्त्र

५. रचहु विविध परकार सुव्यंजन। सुभग, सुगन्ध, स्वच्छ, मनरंजन।

पुवा, सुहरो, मोदक भारी। गुभर, रसमू भा, दहि न्यारी ॥

नाटकवाली गोवर्धनलीला में इन विविध व्यंजनों का वर्णन अनावश्यक था। अभिनय के समय विविध व्यंजनों से सुसज्जित थाल पर्याप्त हैं। उनके मध्य बया रखा है, इसका विवरण देना व्यर्थ है। इसी कारण नन्ददासजी ने उन्हें अग्राह्य माना है।

भागवत की लीला के अन्त में भरतवाक्य नहीं है, और न होना ही चाहिए किन्तु भरतमुनि के आदेशानुसार इसका होना अनिवार्य है। नन्ददासजी की सूक्ष्मदृष्टि से नाटक का आवश्यक अंग कैसे छूट सकता था। अंत में वे लिखते हैं :

नवल किशोर सुन्दर गिरधारी । स्रवन नैन अमृत रूप भारी ।

नन्ददास को उतनी कीर्ज । पान गुन गावन रीति दीर्ज ।

हमें वृन्दावन के मन्दिरों में 'स्याम-सगाई' नामक लीला की कई हस्तलिखित प्रतियां मिलीं। उनके आधार पर नाटक का कथानक यह है :

स्याम-सगाई लीला का कथानक

वृषभानु कुमारी राधिका अन्य गोपियों के साथ नंदजी के घर कभी-कभी आया-जाया करती हैं। यशोदाजी को राधिका इतनी प्रिय प्रतीत हुई कि उन्होंने कृष्ण की सगाई का संदेश अपनी पुरोहितानी के द्वारा कीर्ति जी (राधा की माता) के पास भेजा। पुरोहितानीजी बरसाने से लौटकर कीर्तिजी की अस्वीकृति का समाचार सुनाते हुए कहती हैं :

रानी उत्तर दयी, सु हीं नहिं करौं सगाई ।

सूधी राधे कुंवरि, स्याम हैं अति चरवाई ।

नंदहिं ढोटा लंगर महा, दधि माखन को चोर ।

कहत सुनति लज्जा नहीं, करति और ही और ।।

इतने ही में खेलते-खेलते कृष्णजी आ जाते हैं। माता यशोदा को चिन्तित देखकर कारण पूछते हैं। यशोदाजी कृष्णजी से कीर्तिजी के उलाहने की बातें बताती हैं। कृष्णजी माता यशोदा को समझाते हैं कि यदि मैं नंद का ढोटा हूं, तो वह पांय पड़कर अपनी लड़की तुम्हें देगी, तू चिंता न कर।

कृष्णजी ग्वालबालों के साथ बरसाने के एक उपवन में जाते हैं। एक ऊंचे टीले पर बैठकर मधुर मुरली बजाते हैं। राधिकाजी अपनी सखियों के साथ वहां पहुंचती हैं और कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण अपने साथियों के साथ गोकुल चले आते हैं, राधिकाजी श्याम-श्याम रटते-रटते मूर्च्छित हो जाती हैं। उनकी यह दशा देखकर सखियां रहस्य समझ जाती हैं और जब राधिका की मूर्च्छा निवारण होती है तो उसे समझाती हैं।

मिश्री मिश्रित पायस बरी । वर संजाव भाव विस्तरी ।

मुद्रादाली, घृत की ब्याली । रस के कन्दर सुन्दर साली ।।

—नन्ददास ग्रन्थावली (बजरत्नदास) पृ० ३०६

सुनौ कुंवर तोइ इक जतन, बताऊं,
 चुप रहिकै सुन लेहु, उठौ अब घर ले जाऊं ।
 कहियौ, काटी नागनै, जो पूछै तो माई,
 हम हैं मीत गोपाल की, लैंहैं तुरत बुलाइ ।

कहैगी पीर बहु ॥

राधिकाजी को उठाकर सखियां कीर्तिजी के पास लाती हैं । माता कीर्तिजी राधिका की दशा देखकर व्याकुल होती हैं । कहती हैं कि कोई उपाय करो ।

एक गोपी कहती है—कहौ ती गोकुल जाऊं,

मनमोहन घनश्याम, तुरत वाको लं आऊं ।

दूसरी सखी कहती है कि वह नंद का डोटा बड़ा भारी है, वह तुरत ही अच्छा कर देगा । कीर्तिजी कृष्ण को बुलाने के लिए गोपियों को भेजती हैं । गोपियां गोकुल जाकर माता यशोदा से कीर्तिजी का सन्देश सुनाती हैं ।

वेगि पठै नंदलाल कां, जीउदान दै मोहि,

पांय लगौं विननी करौं, जग जस आवै तोहि ।

ये बातें हों ही रही थीं, इतने में कृष्णजी खेलकर आ जाते हैं । यशोदाजी उन्हें बरसाने जाने को कहती हैं । कृष्णजी गोपियों से कहते हैं :

कौन वाइसी सुनै ताहि किन मोहि बनायौ ।

परपंचनि तुम ग्वालि, भूठ ही मांहि बुलायौ ।

को राजा वृषभानु है, कित बरसानो गाँव ।

कौन निहारी कुंवर है, हाँ जानन नहि नांव ॥

यह सुनकर एक सखी कहती है :

सुनो नन्द के लाल, सावरै कुंवर कन्हौई ।

वरसानो वह ग्राम, जहाँ तुम मुरली बजाई ।

नटवर भेष बनाइकै बैठे आसन मारि ।

धुनि सुनि मोही राधिका, आँ ब्रज सिगरी नारि ।

मनीं टोना कर्यौ ॥

इसी प्रकार दूसरी सखी कहती है :

कालीनाग जु नाथियो, तुम सों और न कोइ,

वृन्दावन में सांवरे, कहा सिखावत मोइ ।

बात जानति सबै ॥

अन्त में कृष्ण एक शर्त पर चलने को तैयार होते हैं, वह शर्त यह है :

वह राजा वृषभानु, एक ही डोल गढ़ावै,

मोइ कुंवर बँठारि, सखिन पैं भोंटा छावै ।

अरथदान इच्छा नहीं, पान पात नहि लेंऊ,
जाँ इतनी कारज करे, तौ कुंवरि भली करि देंऊ ।
बात एती अहे ॥

एक सखी कहती है :

जो मांगे साँ लेंऊ, साँवरें कुवर कन्हैया,
बिन मांगे ही देहि नुम्हें राधा की मया ।

कृष्ण सखियों के साथ रथ पर बरमाने जाने हैं । कीर्तिजी उनका स्वागत-
मन्कार करती हैं । सखियाँ परस्पर यह कहकर हँसती हैं :

बहु विधि वारति ए सखि, मुदित कुंवरि की माइ ।
धन्य है इहि घरी ॥

कृष्ण का आगमन सुनते ही राधिकाजी नेत्र खोलती हैं । सखियाँ पुरोहितजी को बुला लाती हैं । ब्राह्मण पुरोहित राधिका के हाथ से स्पर्श कराकर माला कृष्ण के गले में पहनाता है । ग्वालबालों और गोपियों का नृत्य और गान होता है । इस प्रकार 'श्याम-सगाई' नामक लीला समाप्त होती है ।

उपर्युक्त नाटक का स्थान-स्थान पर जो उद्धरण संवाद के रूप में दिया गया है, उसमें गद्य का अंश विद्यमान है । यही अंश संवाद को संयुक्त करता है । इससे भी प्रमाणित होता है कि इस नाटक की शैली नितान्त पद्यबद्ध नहीं, प्रत्युत गद्य-मिश्रित है । गद्य का यह अंश विशेष महत्वपूर्ण है । इसीका क्रमशः विकास होकर भारतेन्दु-काल में रास में गद्य को अधिक स्थान मिलने लगा ।

इस नाटक की भाषा के विषय में क्या कहा जाए ? सम्पूर्ण नाटक नन्ददासजी ने अपने प्रिय छंद रोला में लिखा है, जिसके अन्त में एक पंक्ति और जुड़ती गई है जो पुरे छन्द को आवेष्टित करती है । भाषा तो नन्ददासजी की चुरी थी । जो प्राजलता और जो प्रवाह नन्ददासजी में है, वह अन्यत्र कदाचित् ही प्राप्य है । इस नाटक में कहीं-कहीं मुहावरों की छटा देखने ही बनती है । आस पुजाना, मनुहारी करना, गोद-पसारि मांगना, बात चलाना, अरदास करना, नार्क आना, पूले फिरना, धीर न धरना, बहकि-बहकि बोलना, मुरझाकर पृथ्वी पर गिरना, बलैया लेना, नैन पूतरी होना, वाइगी सुनना, टोना करना इत्यादि मुहावरे उपयुक्त स्थान पर अर्थ की अभिव्यञ्जना में कितने सहायक हो रहे हैं !

चरवाई, बट्टा लगे आदि प्रचलित शब्दों के प्रयोग आज भी ग्रामीण स्त्रियों के मुख से सुने जाते हैं । इस नाटक में क्या नहीं है । चरित्र का निर्वाह, व्यापार की द्रुतगति, संवाद-योजना का चमत्कार तथा वाग्वैदग्ध्य आदि सभी गुण इसमें विद्यमान हैं । हास्य की मधुर छटा आद्योपान्त बनी रहती है ।

इस लीला में नान्दी का रूप बदल दिया गया है । प्रथम पंक्ति में राधे और श्याम का नाम देकर मानो कथा-प्रारम्भ और नांदी दोनों का निर्वाह किया गया है

प्रथम रोला छंद है 'एक दिन राधे कुंवरि स्याम घर खेलनि आई।' प्रत्येक रोला के अंत में गद्य सदृश एक लघु पंक्ति जोड़ दी गई है। रास नामक गीतिनाट्यों में कविता के साथ प्रत्येक छंद के अन्त में गद्य-पद्यमय लघु अंश हमें जैनरास ग्रन्थों में नन्ददास के पूर्व उपलब्ध होता है। कृष्णरास नाटकों में सर्वप्रथम इस शैली का प्रयोग नन्ददासजी ने ही किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि नन्ददासजी कृष्णरास-सम्बन्धी नाटकों की रचना करते हुए जैनरास की पद्धति को अपने सम्मुख रखते रहे। इस सम्बन्ध में जैनरास का एक उद्धरण हमारे मत की पुष्टि के लिए आवश्यक है।

जैनरास ग्रन्थों में हमें एक श्रीपालरास मिला है। इसमें मंगलाचरण इस प्रकार है :

हो स्वामी प्रणामो आदि जिएंद, बंदों अजित होइ आनन्द ।

संगी बंदी जुगतिस्वी, हो अभिनन्दन का प्रणामो पाइ ॥

यह रास नाटक ब्रह्म श्रीराममल ने संवत् १६३० वि० में विरचित किया। ब्रह्म श्रीराममल इसके अन्तिम भाग में इस प्रकार लिखते हैं :

हो मूलसंध मुनि प्रगटे जानि, कीरति अनन्त सील की खानि,
ता तस तनी सिधि जानि जे, हो ब्रह्म राइमल्ल हृदकरि चित्त ।

भाव भेद जाने नहि होत, हि दीठै श्रीपाल चरित्र,

हो सोलासे तीसो सुभ वर्ष, तिथि तेरस सित सोभिता ।

हो अनुराधा नषित्र सुभ सर, वरन् जोग दीसी मल ।

हो भनै वार सनीसरवार ॥

....

....

सामायिक यीसो करै हो.....तन नीडो फिरी

....

जैसी मति मोहि उपनी, तैसी मति भो बने रास

रास^१ भनो सिरिपाल की—

उपर्युक्त उद्धरण के साथ नन्ददासजी की 'स्याम-सगाई' की तुलना करने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है :

१. ब्रजभाषा में कृष्णरास की जो परम्परा चली, उसपर पूर्व विरचित राजस्थानी और अन्य जैनरासों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।
२. "भावभेद जाने नहीं, होत हि दीठै श्रीपाल चरित्र" से यह सिद्ध होता है कि ब्रज में प्रचलित कृष्ण-रास नाटकों के पूर्व प्रचलित जैनरास नाटक भी अभिनीत होते चले आ रहे थे। तभी तो नाट्यकार ब्रह्म श्री रायमल ने श्रीपाल

चरित को रास में देखने से भेदभाव के विनष्ट होने की बात कही है। तेहरवीं शताब्दी से चली आनेवाली रास नाटक की उस परम्परा में जो अब तक जैन धर्म के के प्रभाव से अत्यन्त प्रभावित थी, एक विशेष परिवर्तन हुआ। सोलहवीं शताब्दी से समस्त भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार हो रहा था। बल्लभाचार्य, हितहरिवंश, नारायण भट्ट आदि आचार्यों ने अपठित तथा अल्प-पठित जनता के हृदयों में राधा-कृष्ण के प्रेम की प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए रास की नाटक शैली का सहारा लिया। राधा-कृष्ण के प्रेम की विविध कहानियाँ जो श्रीमद्भागवत में वर्णित थीं, कृष्णरास नाटकों की कथावस्तु बनने लगीं। नन्ददासजी ने उन मनोहारी कथानकों को अपनी काव्यप्रतिभा के द्वारा रससिक्त कर दिया। 'स्याम-सगाई' लीला में कितना रस भरा है यह हम पूर्व देख चुके हैं। अतः यह निःसन्देह भाव से कहा जा सकता है कि नन्ददासजी ने कृष्णरास नाटकों का एक नया पथ निर्माण किया। उन्होंने कृष्णलीला का जो पथ बनाया उसपर अनेक महात्मा चलते रहे। लगभग संवत् १६३० से लेकर—श्री वियोगीहरि जी की छद्मयोगिनी लीला—संवत् १६७८ विक्रमी तक जो नाटक निरन्तर अभिनीत हुए उनकी परम्परा नन्ददासजी ने स्थापित की। रासलीला के लिए रास पंचाध्यायी और पांच प्रमुख लीलाएं लिखकर उन्होंने लीलानाटक लिखने की प्रेरणा अन्य महात्माओं को प्रदान की।

ध्रुवदास

ध्रुवदासजी राधावल्लभी सम्प्रदाय के उन महात्माओं में से थे ; जिनको राधिका के साथ-साथ सरस्वती की भी अनुकम्पा प्राप्त थी। ध्रुवदासजी की लेखनी से प्रचुर साहित्य का सृजन हुआ और वह साहित्य विद्वन्मण्डली में अति प्रशंसनीय है। ध्रुवदासजी ने ४२ लीलाएँ^१ लिखीं जिनमें दान-लीला, मान-लीला अति प्रसिद्ध हैं।

प्रथम ध्रुवदासजी की दान-लीला पर विचार किया जाएगा। दानलीला के प्रसंग को लेकर अनेक महात्माओं ने रचना की है। अतएव लीला-नाटकों का क्रमिक विकास दिखाने के लिए यह लीला अधिक उपयोगी होगी।

ध्रुवदासजी ने मान-लीला पूर्ण करके दान-लीला^२ लिखी। ध्रुवदासजी की बयालीसवीं लीला बयालीस ही दोहों में समाप्त होती है। कथानक यह है कि एक दिन गोपियों के मन में राधा और कृष्ण की लीला देखने की इच्छा हुई। कृष्ण इस रहस्य

१. बयालीस लीला नामक एक हस्तलिखित प्रति कार्या नागरी प्रचारिणी सभा में विद्यमान है। हमने उसीके आधार पर लिखा है। मुझे प्रकाशित प्रति देखने को नहीं मिली। यह प्रति वृन्दावन के श्री राधावल्लभ के मन्दिर में लाजा रामकिशन के द्वारा मार्गशीर्ष, संवत् १८८२ वि० में लिपिबद्ध हुई। इसकी पृष्ठ-संख्या २४२ है।

२. इति श्री मानलीला सम्पूर्ण ॥४१॥ अथ दानलीला लिख्यते ॥ (ध्रुवदासजी, स्वामी हितहरिवंश के शिष्य, संवत् १८८६ के लगभग विद्यमान थे।

को समझ गए और बंसीवट के समीप जाकर खड़े हो गए ।

बंसीवट तट जा...सधन कुंज की खोर ।

दानी ह्वै ठाढ़े भये, नागर नवल किशोर ॥

गोपियां शृंगार किए हुए उस वन की ओर भाई तो कृष्ण ने मत्तगयन्द गति से उन्हें चलते देखा । वे उनका मार्ग रोककर खड़े हो गए । उन सखियों में ललिता को पहचानकर उनके समीप पहुंचे और बोले :

दान हमारो लगत कछु कहौ प्रिय सो जाई ।

ललिताजी कब चूकनेवाली थीं । उन्होंने भट उत्तर दिया :

नई रीति कब ते गही, यह सखवन किन दीन ।

फिर आगे कहती हैं :

यह वन राधा कुंवरि को, इक छत राजत राज ।

कृष्ण अब भी नहीं हटते, तब ललिता फिर बोलती हैं :

उलटी कैसे होत है, छाड़हु अधिक सयान ।

ठकुराइन जिनकी तहां तिन पै मांगत दान ॥

कृष्ण अब भी नहीं हटते । अब ललिताजी बता रही हैं, क्या तुमने सुना नहीं :

दान दान तुम कहत हौं, सुन्यौ न कबहू कान ।

इहिठा बिन कुंजेश्वरी, नहि काहू की कान ॥

कृष्ण बोले :

ललिता तुम मानत नहीं, जो हम कहत हैं बैन ।

नवल किशोरी रूप के दिन ही दानी नैन ॥

इसके पश्चात् राधिका के सांदर्य का वर्णन तीनों दोहों में मिलता है ।^१

अब कृष्ण गोपियों को रोकने का कारण स्पष्ट बता देते हैं :

अब तू बिच ह्वै धाय सखि, राख हमारो मान ।

ललिताजी बोलीं :

यह रस तो तब पाइए जो हारो निज प्रान ।

कृष्णजी बोले :

चरन गह्वीं जिनती करौं आगे दोउ कर जोरि ।

बस, अब क्या था । ललिताजी ने राधिकाजी से सारी बातें कहीं, राधिकाजी स्वाम की किमती को सुनकर द्रवोभूत हो गई और राधेश्याम की युगल जोड़ी देखकर सखियां आनन्द मानने लगीं ।

बस, इतना ही कथानक है और कुल ४२ दोहों में लीला समाप्त है । इसमें

‘स्याम-सगाई’ की तरह न तो कथा में चढ़ाव-उतार है और न संवाद-योजना में उतना चमत्कार। सीधे-सीधे संत की सीधी-सादी भावना सीधे-सादे शब्दों में वर्णित है। किन्तु आगे चलकर दान-लीला में ब्रजवासीदासजी ने १६वीं शताब्दी में जो विकास किया, वह वास्तव में सराहनीय है और यह सिद्ध करता है कि लीला नाटकों में ह्रास और विकास का क्रम चलता ही गया।

ध्रुवदासजी का रचना-काल सं० १६६६० से १७०० तक माना जाता है। ध्रुवदासजी के पश्चात् लीलानाटकों में सबसे अधिक योग देनेवाले चाचा वृन्दावनदासजी मिलते हैं। एक संग्रह ‘श्री रास छद्मविनोद’ नामक मिलता है। इसमें एक लीला श्री दामोदर स्वामीजी-कृत है और दूसरी श्री वंशीअनिजी-कृत है। शेष चाचा वृन्दावनदासजी की कृतियाँ हैं।^१

चाचा वृन्दावनदास

चाचा वृन्दावनदासजी के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने चार लक्ष पदों की रचना की थी। इस प्रकार गणना की दृष्टि से इनका साहित्य सूर से भी अधिक है। केवल संख्या में ही नहीं साहित्यिक गुणों में भी यह सूर से आगे नहीं तो पीछे भी नहीं रहे जा सकते। इनकी प्रथम लीला ‘गाने वारी लीला’ कहलाती है। इसीपर विचार करके इनकी भाषा के सौष्ठव, पद-लालित्य, कथा-प्रवाह तथा नाटकत्व का दिग्दर्शन कराया जाएगा। नाटक इस प्रकार है :

एक छद्मवेश में गोपी राधिकाजी के राजप्रासाद के निकट अकेली बैठी है। जब दो-चार गोपियाँ इधर-उधर आती-जाती हैं तो उन्हें वह बुलाती है और कहती है :

मेरी बात मुनो मैं नन्द ग्राम तैं आई,

बसिहीं एक रात कोउ लायक मुहि राखी विरमाई।

सखियाँ आपस में कुछ बातें कर रही है। इतने ही में ललिताजी आ जाती हैं। ललिताजी उसकी बांह पकड़कर राधिकाजी के पास ले जाती हैं।

ललिता राधिकाजी से कहती हैं :

प्यारी जू निकट राखिये याकों यह किनहु जु रुठाई।

हैं भामिनी काहू बड़े भवन की दैं आदर बैठाई।

छद्मवेशवाली गोपी घूँघट निकालकर राधाजी से बात करती है। अपना परिचय देते हुए कहती है :

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २००२), पृ० १६७

२. श्री रास छद्म विनोद, चाचा वृन्दावनदासजी कृत मु. बा. मंगीलाल गुप्त श्री हित कुम्हारूप निकुं जानुरागिनी जा द्वारा प्रकाशित श्री हिताब्द ४६३, विक्रमाब्द १९९२। यह लीलानाटक सं० १००० वि० के पूर्व विरचित है।

३. चाचा वृन्दावन की ‘छद्मलीला’ का उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने किया है। पहले केवल २४ लीलाएँ मिली थीं। अब ४० लीलाएँ उपलब्ध हैं।

छद्म गोपी,

मेरो है पीहर पूरी मुहि तहां देउ पहुंचाई ।

अति अनीति या गाम देखिकं पीहर चली पलाई ॥

राधिकाजी पूछती हैं :

कहि अनीति कैसी देखी तें कौन तेहि दुखाई,

दीखत है कुलवती, मन की कहदै सब सचाई ।

घर छोड़े पति कैसे पावै, बड़े गोप की जाई,

जाहु-जाहु घर उलट आपने, दै मुहि भेद बताई ॥

छद्म गोपी,

हों गीने आई अबहीं स्मृओं न कछु चतुराई,

एक दिना हों पीरी ठाढ़ी देखी कुंवर कन्हाई ।

वह छोटा रिझवार रूप की, मों मन भरी भुराई,

भूत्यो खेल और ठौरन मो द्वारे घूम मचाई ॥

फिर-फिर रंग भिजोवैं मोकूं हों सकुची जु महाई,

गावैं निपट उधारी बातें मुख मांडन ललचाई ।

मोहि सलीनी कहै सामरी दै दै बहुत बड़ाई,

भीजों लाज कहां लग ढापीं यह तन सुन्दरताई ।

लागे दोष लगावन मुहि सब नर नारी जु चवाई,

घर में पांव ठाहरै कैसे सामु मिली लरिहाई ॥

इतना ही नहीं, छद्म गोपी फिर कहती है :

इक दिन हों कपाट दै बैठी ऐसी उक्ति उपाई ।

खोलि-खोलि कहै लंगर मेरी, 'मुरली तें जु चुराई ॥'

हों डरपी कैसी बनी दैया यासों कहा बसाई ।

जुरि आई सब पास परोसिनि तिनन मोहि समझाई ॥

यह राजा को कुंवर घरबसी तें कहा कुमति उपाई ।

दै चुकि याकी मुरली जो तें कहूं डरी है पाई ॥

पुनि आए सब सखासंग के, बढ़ि गई भीड़ सबाई ।

काहूं के कर रंग कमोरी काहू कर पिचकाई ॥

बीच परी उनकी जुमिलनियां तिननि किवार खुलाई ।

लाल कहै ढूंढी मुरली इन चोली मांहि दुराई ॥

भाजन रंग सीस तें ढारे नखसिख मोहि भिजाई ।

इत त्रासों मोकों सब घर के उत उन करी हरियाई ॥

कैसे बास होय मेरो जिय छिन-छिन में अकुलाई ।

औसर पाय निकसि के आई मोमे कहा बुराई ॥
 विधि बांधी जु गरे में शोभा यह मोहि नाच नचाई ।
 अब काहू ढिग बैठि रहोंगी वहि पुर गयौ न जाई ॥
 कीजै कहा होहि जो राजा हू को मुन अन्याई ।
 धर्म रही कै जाउ वहां कै नाते सौं हों धाई ॥
 कोऊ कही भली कै भौंडी मैं सब कथा सुनाई ।
 होरी तो सब ठौरि देखि नंदगाम जु बुद्धि भुलाई ॥
 आठ पहर के पटुपट देखन को न जाय बौराई ।
 तुम हो राज मुना जु न्याय की यहि घर रीति मदाई ॥
 शिक्षा देहु कृपा करि मोको जो मन मेटे कच्याई ॥

राधिका बोली :

वसो भवन हवां भांम भोर ह्वां टांढिनि दैटुं पटाई ।
 नेरे पनि के सामु-मुगर के नृपमुन की जू खुटयाई ॥

वार्तालाप करते-करते राधि हो जाती है । दोनों बैठकर साथ-साथ व्यास करनी हैं । सोने की तैयारी होनी है नां छद्म गोपी कहने लगी :

न्यारें मोहि नीद नहि आवे और कछू न सुहाई ।
 रहिकै निकट कहानी कहिहों सुनौ कुंवर चित लाई ॥

राधिकाजी उसकी बांह पकड़कर साथ ले चलनी हैं । उनकी शय्या भी पास ही बिछवाती हैं । छद्मगोपी राधिका के चरण दबाती है । राधिकाजी उससे पूछती हैं, यह तो बता :

तू कारी कारी जु नन्दमुन कैमं प्रीति बढ़ाई ।
 उनके मन की हों परखत तै कोधों जुगत बनाई ॥
 वे मो दृग पुनरीन बसत हों उन दृग मांहि समाई ।
 मुरलीधर के व्रत अनन्य मो बिन न और मन भाई ॥

इतना कहते-कहते राधिका का हृदय भर जाता है और नैनों से नीर बहता है । फिर कहती है :

नन्द गाम की सुनि मन लरज्यौ तोमों करी भलाई ।
 खोटी बात कही प्रीतम की हों हिय जिय अनखाई ।

राधिकाजी का अनन्य प्रेम देखकर छद्मगोपी देह-दशा भूलकर बेसुध हो जाती है ।

राधिकाजी आश्चर्यचकित होकर पुकारती हैं, “ललिते ! ललिते ! अरी यहां आ । यहां का यह कौतुक देख । देख इस भामिनी की क्या दशा है ।”

ललिता दौड़ी आती है । छद्मगोपी की दशा देखकर अचरज-सागर में डूबती है । फिर कुछ सोचकर बोलती है :

हैं बलि गई प्रिया यह प्रीतम तुमही लेहु चिताई ।

अरबराकर कुंवर उठती है और बेसुध छद्मगोपी को सादर उठाती है ।

गोपी की मूर्च्छा क्रमशः दूर होती है ।

छद्मगोपी तब कहती है :

गरुबी प्रीति कहा न करावे राखै नहि प्रभुताई ।

ललिताजी बोलीं :

या होरी की महिमा मोहन विधिना तुमहि चिताई ।

रस विलसन की घात घनेरी धनि गुरु जननि पढ़ाई ॥

कृष्ण अपना छद्मवेश हटाकर पीताम्बर की कछनी में दिखाई पड़ते हैं और वंशी निकालकर बजाते हैं ।

इति श्री गौने वारी-लीला की जय जय श्रीहित हरिवंश ॥

इसी प्रकार चाचा वृन्दावनदासजी ने सरस भाषा और अति सरस छन्द में निम्नलिखित ४० लीलाएं लिखीं :

१. गौने वारी-लीला २. चितेरिन-लीला ३. सुनारिन-लीला ४. मनिहारी-लीला ५. मालिन-लीला ६. बिसातिन-लीला ७. पटविन-लीला ८. रंगरेजिन-लीला ९. तमोलिन-लीला १०. नाइन-लीला ११. बैद्यनि-लीला १२. मैनाबरी-लीला १३. नटीवन-लीला १४. डाढिन-लीला १५. वीणावारी-लीला १६. गंधिन-लीला १७. ब्रह्मचारी-लीला १८. प्रथमजोगी-लीला १९. द्वितीय जोगी-लीला २०. तृतीय जोगी-लीला २१. चतुर्थ जोगी-लीला २२. पंचम जोगी-लीला २३. षष्ठ जोगी-लीला २४. मौनी जोगी-लीला २५. वनजारी-लीला २६. सावरी सहेली-लीला २७. नेही सांवरी-लीला २८. नारद-लीला २९. ब्रह्मा-लीला ३०. महादेव-लीला ३१. शिवजोगी-लीला ३२. जोगीश्वर-लीला ३३. श्याम सहचरी सांभी-लीला ३४. राधादासी सांभी-लीला ३५. गुन्दर और श्याम-लीला ३६. सांवरी सायिन-लीला ३७. हित संधि सांभी-लीला ३८. श्री प्रियाजी की रूप भुराई-लीला ३९. श्रीप्रिय रूप गर्वलीला ४०. होरी विवाह-लीला ।^१

चाचा वृन्दावनदासजी का रचना-समय अठारहवीं शताब्दी विक्रमी के आसपास होना चाहिए। ध्रुवदासजी की लीलाओं से इनकी तुलना करने पर सी वर्ष के मध्य विरचित रासलीलाओं के विकास पर प्रकाश पड़ेगा। ध्रुवदासजी के कथानक में कोई आरोहोहावरोह नहीं, वह समगति से चलता जाता है। चाचा वृन्दावनदास की लीलाएं इतनी सरल गति से नहीं चलतीं। कृष्ण का विविध रूप से छद्म वेश में राधा के प्रेम

१. चाचा वृन्दावनदासजी ने हितरूप चरित्रवेलि में अपने गुरु गोस्वामी श्री रूपलालजी का जन्म संवत् १७६७ वि० लिखा है। इसमें अनुमान होता है कि वि० १८वीं शताब्दी में उन्होंने रचना प्रारम्भ की होगी। इन्होंने सवाई जयसिंहजी का वर्णन किया है। इनके गुरु श्री रूपलालजी ने बाईस विलास लिखा है, जिसमें सम्भवतः २२ लीलाएं हैं। पुस्तक अभी तक मिली नहीं है।

का परीक्षण यह विद्वत् करता है कि इस काल में रासलीला-नाटकों में नाटकत्व आ गया था। 'तौने वारी-लीला' में कथावस्तु की शैली ऐसी है कि अन्त तक जिज्ञासा बनी रहती है—इसके बाद क्या होगा? राधिकाजी के मुख से कृष्ण के प्रति स्वाभाविक स्नेह की उमड़ती धारा को छद्म गोपी नर्तों संभाल सकी। इसके द्वारा 'प्रेम के वन में हैं भगवान' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। इस लीला में क्या नहीं है। भाव कितना स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण, कथावस्तु में कितना नाटकत्व और चरित्र-चित्रण का कितना कौशल भ्रमकता है। इस लीला में रसधारण तो मानो उमड़कर बहती है।

द्युवशास और चाचा वृन्दावन के मध्यवर्ती काल में अनेक लीलाओं का निर्माण हुआ। इनमें एक विशेषता पाई जाती है कि कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह-लीला, भगीरथ-लीला तथा प्रह्लाद-लीला आदि की भी रचना होने लगी। इनके अतिरिक्त नागनौर की लीला, ग्वान पहेली लीला, भोर-लीला, दान-लीला, मनेह-लीला, यज-लीला, मगारथ-लीला आदि नई-नई लीलाओं की रचना होती रही। इनमें एक-एक लीला पर कई-कई महानुभावों ने नये-नये ढंग में नाटक लिखने का प्रयास किया है। दान-लीला, मनेह-लीला और मान-लीला पर मिलनेवाले हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या तो अनेक है। कदाचित् ये तीनों प्रसंग भक्तों को अत्यन्त रोचक प्रतीत होते थे। रास-लीला के सम्बन्ध में एक और नई सृष्टि इस युग में हुई। कृष्ण रासलीला करते हैं तो उनके बड़े भाई बलदेव इससे कैसे बचें! इसलिए एक भक्त ने 'बलदेव रासमाला'

१. नरसिंह-लीला, राजा देवामिह, पृ० २२, छन्द १३६, टीकमगढ़ के पुस्तकालय में हस्तलिखित प्रति
२. भगीरथ-लीला, तारपानि, पृ० ३३, छन्द ७९, दतिया स्टेट लाइब्रेरी में हस्तलिखित प्रति
३. प्रह्लाद-लीला, रामदास मालवावाले, पृ० ५४, कुल छन्द १२७, स्टेट लाइब्रेरी दतिया में
४. दान-लीला की निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं :
 १. दान-विलास, विचित्र कवि, संवत् १७४० वि०
 २. दान-लीला, मनचित्र, पृ० २३५, छन्द २०४०, भारत-भवन पुस्तकालय, छत्तरपुर
 ३. दान-लीला, ध्यानदास, पृ० २६, छन्द १०, स्टेट लाइब्रेरी, बिजावर
 ४. दान-माधुरी, माधुरीदान, स्टेट लाइब्रेरी, बिजावर
 ५. दान-लीला, अरण्यदास (धार के), सं० १७६०, स्टेट लाइब्रेरी, छत्तरपुर
 ६. दान-लीला, राममुखे (अयोध्या), स्टेट लाइब्रेरी, दतिया
५. मनेह-लीला, स्वामी मोहनदास, पृ० २८, छंद १०५, छत्तरपुर
- मनेह-लीला, जगमोहन, पृ० २६, छंद १५६ टीकमगढ़

(बा० जगन्नाथ प्रसाद)

मनेह-लीला, सरसिक राय, पृ० ६, छन्द १५१, टीकमगढ़ पुस्तकालय

६. मान-लीला, नन्दब्यास, पृ० ३०, छंद १८०, स्टेट लाइब्रेरी, दतिया
- मान-लीला, ध्यानदास, पृ० २३, छंद ६३, स्टेट लाइब्रेरी, बिजावर
७. बलदेव रास-माला, कवि सिंगार, कुल पृ० ६८, छंद २७८ (रिसचै रियोर्टे)

नाम का ग्रन्थ लिखा इसमें बलदेवजी भी गोपियों के साथ रास खेलते हैं। मन्ददास की शैली पर रासपंचाध्यायी^१ लिखने की भी अनेक महानुभावों ने चेष्टाएं कीं। कई ग्रंथों की भाषा इतनी परिमार्जित और सरस है कि आज कई रास-मण्डलियां रास और महारास के अभिनय के समय इनकी सहायता लेती हैं।

इस काल का यज्ञ-लीला^२ नामक एक ग्रन्थ मिला है, जिसमें मथुरा के चौबे जब यज्ञ कर रहे हैं तो उनके घरों की स्त्रियां श्रीकृष्णजी को विविध पकवान और मक्खन खिला रही हैं।

होरी लीला^३ के भी कई ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इतना ही नहीं, इस काल में श्रीकृष्ण की तरह श्रीराम भी होरी खेलने लगे हैं।^४

कुछ महात्माओं ने नन्ददासजी की 'स्याम-सगार्ई' पर मुग्ध होकर उनसे एक कदम आगे बढ़ने की चेष्टा में श्रीकृष्ण और राधा का ब्याह भी करा दिया है। एक ग्रन्थ व्याहलो^५ नाम का मिलता है।

आगे चलकर एक विशेषता और दिखाई देती है। रास का प्रचार इतना फैल गया था कि रोला, सोरठा, दोहा, छंद, कवित्त आदि के अतिरिक्त कुछ मनचलों ने रेखता और लावनी में भी इसकी रचना प्रारम्भ कर दी थी। यह समय का प्रभाव था। इससे बचना कठिन भी था। उर्दू में रेखता की धूम मच रही थी। उर्दूवालों की यह नई शैली राजा देवीसिंह को इतनी प्रिय प्रतीत हुई कि उन्होंने रासलीला को रहस्यलीला^६ बनाकर रेखता में रचना कर डाली। इतना ही नहीं, आगे चलकर नवलसिंह ने वृन्दावन में रास देखकर कपने प्रिय छंद लावनी में इसका वर्णन कर डाला। ग्रन्थ का नाम है 'रहस लावनी'।^७

१. श्री राधिका-महारास, श्री अलिजी, देखिए श्री रास छंदम विनोद, पृ० २३६

महरस-लीला, हितदामोदर स्वामी, देखिए श्री रास छंदम विनोद, पृ० १७६

रास-पंचाध्यायी, रामकृष्ण चौबे, कालिंजर किला, सं० १=७० वि०

रहस्य-लीला, राजा देवी सिंह

कृष्ण-गीतावली, पंचाध्यायी, सोमनाथ मथुरावाले, सं० १=०७ वि०

रहस-लावनी, नवलसिंह

रास-पद्धति, रामसखे, स्टेट लाइब्रेरी, दतिया

रास-लीला, रहीम खानखाना

रास-रत्नलता, नागरीदास (१=०० वि० के आसपास)

२. यज्ञ-लीला, नन्ददास (संवत् १७१६ वि०)

३. होरी, रूप सखी-कृत

४. डेर-लीला, रत्नेक अली

५. व्याहलो, रसिक दिहरा दास

६. रहस्य-लीला, राजा देवासिंह, लिपि देवनगरी, पृ० ८, छं० २०, सं० १६१३ वि०

७. रास का रेखता में रहस्य और लावनी में रहस बन गया

रहस लावनी, नवलसिंह-कृत, दतिया में लाला लच्छूप्रसाद के पास हस्तलिखित प्रति

नवलसिंह ने एक ओर तो राम पंचाध्यायी की रचना की और दूसरी ओर लावनी छंदों में रहस लावनी लिखी। एक से विद्वानों की मंनुष्टि हुई और दूसरी से ग्रामीण जनता को रामलीला का रस मिला।

ब्रजवासीदास

चाचा वृन्दावनदास के पश्चात् सर्वम अधिक लीलाओं के रचयिता श्री ब्रजवासीदासजी हुए। इन्होंने एक ऐसे ग्रंथ की रचना की, जिसे एक प्रबन्ध कव्य के रूप में भी पढ़कर आनन्द उठाया जाए और साथ ही साथ जिसकी एक-एक लीला रासलीला के साथ अभिनय के रूप में भी रखी जा सके। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने अपने ब्रज-विलास को अध्याय, काण्ड, परिच्छेद इत्यादि में न बांटकर ७४ लीलाओं में बांटा है और प्रत्येक लीला का नाम दे दिया है।

ब्रजवासीदासजी कवि के साथ-साथ नाट्यकार भी थे। इन्होंने 'प्रबोध-चंद्रोदय' का अनुवाद गद्य-पद्यमय भाषा में रचकर अपनी नाटक-रुचि का परिचय दिया है। ब्रज-विलास में श्रीकृष्णजी की ७४ लीलाएं मिलती हैं।

रासधारी इनके आधार पर विविध लीलाएं करते रहते हैं। इनकी लीलाओं में विस्तार अधिक है और कथावस्तु में उत्कर्षापकर्ष बहुत ही मर्मस्पर्शी है। 'अथ' लगाकर नई लीला प्रारम्भ करते हैं जैसे 'अथ दानलीला'। ध्रुवदासजी की दानलीला का वर्णन पूर्व किया जा चुका है। ब्रजवासीदासजी की दानलीला उनसे कहीं अधिक विस्तृत और मनोहारी है। कथावस्तु इस प्रकार है—कृष्णजी ग्वालबाल के साथ उम वन-मार्ग पर खेल रहे हैं, जहां से ग्वालिनें गोरस बेचने जाती हैं। उन्होंने ग्वालबालों से परामर्श किया कि इन ग्वालिनों से दान-रूप में गोरस लेकर खाना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव कौन न मानता। योजनाएं बनी, तदनुसार पेड़ों की ओट में सब छिप गए। ग्वालिनें सिर पर गोरस की मटकी धरे परस्पर छेड़छाड़ करनी आ ही पहुंचीं। अवसर देखकर सब ग्वालबाल निकल पड़े और उन्होंने गोपियों को चारों ओर से घेर लिया। गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वन में इतने बालक सहसा कहां से आ गए। कई भयभीत हो उठीं और कई अवाक् रह गईं। ग्वालोंने उन्हें सशंक देखकर आश्वासन दिया, "इहा चोर ठग कोउ नाही। अभय कान्हू को राज सदा ही।" आप कृपा करके "दधि का दान लगे सो दीजं।" कान्हू का नाम सुनकर उन्हें धैर्य हुआ। उनमें से एक हंसकर बोली, "कहां तुम्हारे प्रभु नंदलाला।" दूसरी बोली, "चोरी करि नाहू अघायो। अब वन में दधि दान लगायो।" तीसरी बोली :

तब अति बालक हुने कन्हौई। सही जु कछु कीन्हों लरिकारई ॥

होहू जो कछु वा धोखे मांही। परि है समुझि अबहि छन माहीं ॥

इतने में कृष्ण सामने आ जाते हैं, और गोपियों को उत्तर देते हुए मुस्कराकर कहते हैं :

कृष्ण—तब तो हम लरिका हुते, सर्बाहि बात अनजान ।

सोघ्यै कौ अब भेटिकै, छांडि देहु अभिमान ।

हम माँगत दधि दान, तुम उलटी पलटी कहत ।

करत नंद की आन, दिये पाय ही जान सब ।

ग्वालिन—(मुस्कराती हुई) नंदहु ते कछु तुम्हें कन्हाई ।

भयो जानिए तप अधिकारी ।

कालहि चोर चोर दधि खाते,

घर घर देखत ही भज जाते ।

रात न भयी स्वप्न कछु आई ।

प्रातहि भई आज ठकुराई ॥

कृष्ण—

तुम-सी प्रजा बसाई गावहि । सो हम ठाकुर क्यों न कहावहि ।

एक ग्वालिन—(भुंभलाती हुई).....

.....बात संभारे कहहु कन्हाई ।

दूसरी—ऐसो को बहि गयो हमारे । जो परजा ह्वै बस्यो तुम्हारे ।

...

...

...

तीसरी ग्वालिन—

जो तुम याते हो गरवाते । तो अब तजिहीं गाँव विहाने ।

कृष्ण—(मुस्कराते हुए) गाँव हमारो छांडि कै, बसिहौ का पुर माहि ।

ऐसो कौ तिहु लोक में जो मेरे बस नाहि ॥

(हंसी त्यागकर)

का गिनती में कंस, जाके हम कहवावहीं ।

देहुदान को अंस, रार करत बेकाज कत ॥

ग्वालिन—

बड़ी बात छोटे मुंह माहीं ।

आप संभारि कहत हो नाहीं ।

...

...

...

यह तुम बात कही तिन माहीं । जो कोइ तुमकौ जानत नाहीं ।

हम इन बातन भय नहि माने । जैसे हो तुम तैसे जाने ।

दूसरी ग्वालिन—

हम सौ लीजो दान सवाई । पहले थैली लेहु मंगाई ।

तीसरी ग्वालिन—

पीताम्बर बोझन फट जैहै । तब पाछे पछतावौ ऐहै ।

कृष्ण—

तू ग्वालिन हम कौ कहा जाने । हम नहि झूठी बात बखाने ।

झूठी हो तुमही सब ग्वारिन । सतर होति ही बिन ही कारन ॥

...

...

...

कृष्ण—बहुरी छोरि दही सब लेहौं ।

नंद सौंह यों जान न देहों ।

एक ग्वालिन—

काहे कौं अठिलात कन्हाई । छांड़ि देहु मोहन लरिकाई ॥

दूसरी ग्वालिन—

पहली परिपाटी चलौ, नई चली क्यों आज ।

जान पाय हं कंस जो, तौ पुनि होय अकाज ॥

तीसरी ग्वालिन (खीझकर)

हैंसी घरी द्वै चारि, बीतन लाग्यो याम युग ।

बन में रोकी नारि, बाढ़ि जाइ है बात पुनि ॥

कृष्ण—

कहा कंस कहि मोहि मुनावो । अब ही बाको जाय जनावो ।

.... ...

मारि पूतना स्वर्ग पठाई । तृणावनं महि दियो गिराई ।

... ...

तुम हीं हंसी करत हो खारी । देति दिवावति हो हठि गारी ॥

... ...

चोरी सदा बेचि दधि जाहू । बिना दान क्यों हू न निबाहू ।

अब तो आज पकरि में पाई । सब खीसन को लेहुँ चुकाई ।

एक ग्वालिन—

गिरि धार्यो बन खाय हमारी । जानी हम सब बात तुम्हारी ।

दूसी ग्वालिन—

मांगि लेहु अबहं दधि खाहू । होत दान मुनि हमको दाहू ।

तीसरी ग्वालिन—

हमें कहत हो चोरटी, आप भए जो साह ।

बड़े भए चोरी करत, अब लूटत हो राह ॥

चौथी ग्वालिन—

लेहु दही बलि जाउं, हमको होति अबार अब ।

दिए दान को नाउं, एक बूद नहि पाइही ॥

इस प्रकार कृष्ण तो दान लेने पर डटे हैं और गोपियां दान 'कर' के नाम पर एक बूद भी नहीं देना चाहतीं । अब तो बस छीना-भपटी प्रारम्भ हो गई । ग्वालबाल डर से भाग जाते हैं । कृष्ण और गोपियों का मल्लयुद्ध प्रारम्भ होता है ।

दूसरा दृश्य

यहां से दूसरा दृश्य है। गोपियों के हार टूट गए हैं। गोपियां माता यशोदा के यहां उलाहना लाती हैं। उनसे कृष्ण की चुगली खाती हैं कि कृष्ण ने हमारे कपड़े फाड़ दिए। वे हमसे छेड़छाड़ करते हैं। राह रोकते हैं। अब यशोदा और गोपियों का संवाद अत्यन्त रोचक और वाग्वेदग्यपूर्ण है।

एक गोपी—

अति ही कान्ह भए अब ईतर । रोकत युवतिन को मग भीतर ।
चोली फार हार सब तोरे । गहि-गहि आंचर पट भकभोरे ।
ऐसी को कुल भयो महर के । जोवन दान लियौ जिन अरके ।

....

....

....

....

यशोदा—

आप फिरत इतरात, कहत स्याम ईतर भयो ।
उरन लाय नखघात, उरहन कौं दौरी फिरत ।
दसहि बरस कौ कहां कन्हई । कहं तुम सब माती तरुणाई ।
दोष लगावत स्यामहि आनी । कैसे धौ कहि आवत बानी ।
तुम कौं लाज लगति है नाहीं । जाहु सवै बेटो घर माहीं ।

दूसरी गोपी—

अहो महरि ऐसी नहि कीजै । बिन बूझे गारी नहि दीजै ।
तुमहुं खीज करति सुत ओरी । ऐसैं ब्रज में बसि है कोरी ।

तीसरी गोपी—

तजि हैं आजहि गांव तिहारी । बहुरि न सुनिही नाम हमारी ।

यशोदा—

ऐसे कहा कहत डरपाई । बसत नाहि किन अनतहि जाई ।
जोवन दिन द्वै सबहिन बौरी । तुम बांधत आकासहि डोरी ।

एक गोपी—

तुम सुत के कर्मन नहि जानी । हठि करि टेक आपनी ठानौ ।
दस गायन करि कहा बड़ाई । अहिर जात सब एकहि माई ।
महा ढीठ हरि मानत नाहीं । बन में भगरत गहि-गहि बाहीं ।

यशोदा—

...

....

कहत गैयन की बाम इहां री ।

और चली कहा इहां जात की ।

मोहि रिसि सुनि अनमिल बात की ।

कहां बसत तुम कहां कन्हई । कब हरि बांह गही बन जाई ।

कहति बात नहि नेकु लप्ताह । सुनि है कहूं तिहारे नाह ।

नेकु नहीं डर करति ईस को । मनी भयो हरि बरस बीस को ।
एक गोपी—

मुनहुं महरि तुम बात, हरि सीखे टौना कछू ।

बनहि तहन ह्वै जात बालक ह्वै आवति घरहि ।

यशोदा जब किसी प्रकार कृष्ण के दोष को स्वीकार नहीं करती तो एक गोपी कहती है कि अच्छा महरि, अगर सब भूठी बात है तो एक दिन वन में किसी वृक्ष की ओट में छिपकर कृष्ण की लीला देखो,

हैं हरि दस कै बीस बरस के । देखो अपने नैन निरख के ।

अब तो यशोदाजी को रोप आना स्वाभाविक था । गोपियों को जली-कटी सुनाने लगीं, जा-जा । “दीठ लगावन हैं घर आई ।” अब टोना हटाना भी है । तो कहती हैं, “जरहि बरहि ये आख तुम्हारी । जो हरि को नहि सकत निहारी” । अब गोपियों को पश्चात्ताप हुआ कि हमने क्यों ऐसी बातें कीं । एक गोपी कहने लगी, हे महरि...

हमें कहा मोहन प्रिय नाहीं । जीवहु जुग-जुग हरि ब्रज माहीं ।

कहा करै जब बहुत खिजावै । तब हम तुम्हें कहन दुःख आवै ।

अब दोनों पक्षों में नमी आती है । प्रेम से गोपियां विदा हो जाती हैं ।

तीसरा दृश्य

गोपियों ने बरसाने में यह चर्चा फैला दी है । राधा, चन्द्रावती, ललिता आदि कृष्ण से मिलने के लिए गोरस बेचन के बहाने चलती हैं । कृष्ण गोपकुमारों के साथ वहां पहुंच जाते हैं । आज ग्वालवाल पेड़ों की ओट में नहीं प्रत्युत पेड़ों की डालियों पर छिपे बैठे हैं । गोपियों को देखकर एकसाथ हल्ला बोल कूद पड़ते हैं और सबको घेर लेते हैं । इस बार गोपियों की संख्या सोलह सहस्र है और गोप भी पांच सहस्र । पिछले दिन भगड़ा करके जानेवाली गोपियां भी इनके साथ आई हैं । आज ग्वालों को पराजित करने के विचार से बड़ी संख्या में यह समुदाय आया है । इस बार गोपियों के साथ राजकुमारी स्वतः आई हैं । पहले ग्वाले ही गोपियों से विवाद करते हैं । फिर कृष्ण आते हैं । इस बार नई-नई युक्तियों, नये-नये तर्क के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर होता है । गोपियां कंस की धमकी देती हैं । कृष्ण जब कंस को राजा स्वीकार ही नहीं करते, अपने को राजा बताते हैं, तो गोपियां कितना मामिक और सीधा उत्तर देती हैं :

तौ सिंहासन बैठत नाहीं । गाय चरावत कत बन माहीं ।

मोर पखन को मुकुट उतारो । नृप किरिट माथे पर धारो ।

पहिरत कहा गुंज के हारा । नृप भूपन किन करत सिंगारा ।

छत्र चामर सिर ऊपर राजै । तजहु मुरली अब नौबत बाजै ।

दूसरी गोपी—

भरगत कहा द्रही के काजा। लखि हमको उपजति है लाजा।

कृष्ण का उत्तर सुनिः

ब्रज में मेरी राज सदाई। और इहां काकी ठकुराई।

दूसरी गोपी उनके पीताम्बर पर कटाक्ष करती है :

कामरि ओढ़न हार, तुम्हें न छाजत पीतपट।

कारे तन पर चार, कारी कामरि सोहई।

तीसरी गोपी उनकी शक्ति का उपहास करती हुई कहती है :

और सुनहु जसुमति जब बांधे। ऊखल सों दोऊ भुज साधे।

तब सहाय कर हमहि बचाये। कर के बन्धन जाय छुड़ाये।

अब कृष्ण अपना ब्रह्मत्व बखानते हैं कि मैं कभी पैदा नहीं होता। मैं सदा सर्वत्र विद्यमान हूँ।

तब एक गोपी कितना चुटीला व्यंग्य करती है :

जैसे निदरत तुम सब काहू। तैसे निदरत मात पिताहू।

इस प्रकार नाना तर्क-वितर्कपूर्ण वाद-विवाद चलता रहता है, तदुपरान्त कृष्ण गोपियों से बहुमूल्य वस्तुओं का वाणिज्य करने के कारण दान (कर) का प्रस्ताव रखते हैं। गोपियों द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं के नाम पूछने पर कृष्ण कहते हैं :

मत्त गयंद तुरंगम तुम सौं। कैंसें दुरत दुराये हम सौं॥

हंस मोर केहर मृग वारे। कनक कलस मद रस सौं आरे॥

चमर सुगन्ध कपोत कीरवर। कोकिल विद्रुम वज्र धनुष सर॥

एतों घन खग मृग तुम पाहीं। कैंसें निवहत दान बिनाहीं॥

रूपकातिशयोक्ति के द्वारा सौन्दर्य का कितना रम्य वर्णन है। अनेक वाद-विवाद के पश्चात् गोपियां कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार करके शरणागत बन जाती हैं :

कहति कान्हू अब शरण हम, लीजिये सरबस दान।

अब कृष्ण और ग्वालबाल बैठ जाते हैं। ग्वालिनें खिलाने लगती हैं। राधिका-जी एक और झुपचाप खड़ी हैं। अब कृष्ण उनसे कहते हैं :

औरन की मटुकी को खायो। तुम्हरे दधि कौ स्वाद न पायौ॥

अब राधिकाजी मुस्कराकर अपना दही देती हैं। उसे खाकर कृष्ण कहते हैं, “मीठी है यह सबन तैं” तदुपरान्त गोपियां कृष्ण भगवान की स्तुति करती हैं, और उनसे क्षमा मांगती हैं। कृष्ण ब्रज और गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करते हैं और बैकुण्ठ त्यागकर ब्रजवास का रहस्य समझाते हैं। इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक ग्वालबाल और गोपियां अपने-अपने घर प्रस्थान करती हैं।

१. मैं पूरण अविगत अविनासी।

बांधे सब माया की फांसी।

ब्रजवासीदास की दान-लीला में ६६ दोहे, सोरठे और ४ हरिगीतिका छंद हैं। हर १२ चौपाइयों के पश्चात् १ दोहा आता है। इस प्रकार ५७६ चौपाइयां, ४८ दोहों, ४८ सोरठों और ४ हरिगीतिका के बाद यह लीला समाप्त होती है।

भाषा

ब्रजवासीदास की भाषा पूर्व के लीला-रचयिताओं में पृथक् भलकती है। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है, जैसे—श्याम, परस्पर, शरीर, शक्ति, दोष, तरुणिनि, षड्रस, सहस, पंच सहस, वृथा, यज्ञ, नृपतिनास, मत्तगयन्द, नुरंग, आभूषण।

ब्रजवासीदासजी ने दान-लीला की साधारण कथा में अपनी कल्पना से कितना चमत्कार पैदा कर दिया है ! ऐसी संवाद-योजना तो आज के नाट्यकारों में भी विरल ही दिखाई पड़ती है। यशोदा और गोपियों के संवाद में कितनी स्वाभाविकता और मानोज्ञता है। यशोदा को विश्वास होता ही नहीं कि दस वर्ष का बालक कृष्ण उस तरुणियों के साथ छेड़-छाड़ करेगा। जब गोपियां कृष्ण को वन में बीस वर्ष का तपस्वी जैसा बताती हैं, तो यशोदा का मानु-हृदय गोपियों की दीठि लगने के डर में सन्न हो जाता है। जादू-टोने की नौबत आ जाती है। कहा जाता है कि नजर लगानेवाले को टोक दिया जाए तो नजर नहीं लगती। यशोदा भट भल्लाकर गोपियों को उलटा-सीधा मुनाने लगती हैं।

दृश्य-योजना

यद्यपि लीलाधारी रासलीला में पट-परिवर्तन की पद्धति को बहुत महत्व नहीं देते, किन्तु इस लीला में तीन दृश्य स्पष्ट ही हैं। तीसरे दृश्य में फलागम मिलता है। वास्तव में कृष्ण को अनन्य उपासिका के हाथ से दही खाना है। यही नाटक का मुख्य कार्य है। उसमें लिए प्रथम दिवस गोपियों से दही-दान की योजना बनाई गई। जब गोपियों को ज्ञात हो गया कि कृष्ण को इस प्रकार दही खिलाकर उनका दर्शन किया जा सकता है, उनसे प्रेमालाप हो सकता है, उनसे लड़ने-भगड़ने का अवसर मिल सकता है तो राधिकাজी अपनी सखियों के साथ गोरस बेचने के बहाने आ पहुंचती हैं। इस प्रकार कृष्ण को अनन्य उपासिका राधा का मीठा दही खाने को मिलता है, यही है फलागम।

ब्रजवासीदास तक आते-आते, रासलीला में केवल काव्यमय गीतिनाट्य द्वारा रासास्वादन की प्रणाली बदल चली थी। अब उसमें घटना में आरोह-अवरोह, उतार-चढ़ाव और संवादों में रमणीयता भी आने लगी थी। अतः लीला-रचयिता केवल काव्यत्व की ओर अपना ध्यान न लगाकर नाटक की अन्य विशेषताओं को भी अपनाने लगे थे। स्पष्ट है कि जनता की रुचि का ध्यान नाटककार को रखना ही होता है। गद्य के प्रचार से लोग संवादों में रमणीयता चाहने लगे थे। इसलिए इसका समावेश करना आवश्यक बन गया था। इसका एक दुष्परिणाम भी हुआ। आरम्भिक लीलाओं में

भाषा जितनी प्रौढ़, प्रांजल और सुव्यवस्थित है, उतनी ब्रजवासीदास में नहीं मिलती। प्रारम्भिक लीलाओं में तुकान्त के लिए न शब्दों में तोड़-मरोड़ है और न पाद-पूर्ति के निमित्त शब्दों की भर्ती है। ब्रजभाषा निखरे रूप में भावों और घटनाओं को साथ-साथ लिए हुए जमुना की मन्द-मन्द लहरियों के समान रमणीयता बिखेरती चलती है। किन्तु १६वीं शताब्दी में मिलनेवाली लीलाओं में उपर्युक्त गुण नहीं मिलते।

दूसरा दोष स्पष्ट यह भूलकता है कि प्रेम और शृंगार का वर्णन जितना शिष्ट रूप से प्रारम्भिक लीलाओं में है, उतना १६वीं शताब्दी में नहीं। यहां चटक-मटक अधिक है, पर व्यंजना शक्ति द्वारा भावाभिव्यंजन की क्षमता कम। ब्रजवासीदास की गोपियां यशोदाजी को नखक्षत ऐसे रूप में दिखाती हैं, जो सुसंस्कृत समाज को रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकता। दूसरा दोष है, भाषा में संश्लिष्टता का अभाव। कहीं-कहीं सारी चौपाई पिष्टपेषण-मात्र प्रतीत होती है। वह न तो विचारधारा को आगे बढ़ाने में सहायक होती है और न घटना की प्रगति को वृद्धि प्रदान करती है। वर्णन में न वह तन्मयता है और न वह स्निग्धता। आधुनिकता के लोभ में प्राचीनता को जैसे उपेक्षित किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है।

आधुनिक लीला-नाटकों की रचना

लीला-नाटकों का यह क्रम आज तक चलता आ रहा है। भारतेन्दुजी की चन्द्रावली लीलानाटिका ही तो है। अभी वियोगी हरिजी ने 'छद्म' योगिनी लीला लिखकर इस परम्परा को आधुनिक काल से संयुक्त कर दिया है।

आज रास-मंडलियों द्वारा अभिनीत लीलाओं पर आधुनिकता का भी प्रबल प्रभाव पड़ा है। हास्यरस का मधुर पुट जो हम नन्ददास, ध्रुवदास और चाचा वृन्दावन-दास की छद्मलीलाओं में पाते हैं, वह विलीन हो गया है और आज थियेट्रिकल कम्पनियों का सा हास्य लीलाओं में प्रविष्ट हो रहा है।^१ इस प्रकार रासलीला पर यदि स्वांग और भद्दे नाटकों का प्रभाव बढ़ गया तो इसकी मौलिकता नष्ट हो जाएगी। अब तक इसकी यह विशेषता रही है कि भट्टी जनरुचि के भंभा से भी इसकी आध्यात्मिक ज्योति कभी बुझने नहीं पाई है। आजकल दो प्रकार की रास-मंडलियां हैं। कई रासघारी मंडलियां अपनी लीलाओं में गद्य को महत्त्व देती हैं, दूसरी मंडलियां

१. वियोगी हरि, रचना-काल संवत् १९७९ वि०

२. इस वर्ष हमने वृन्दावन में वंशा-चोरी-लीला कई स्थानों पर देखा। विभिन्न मंडलियों द्वारा इसका अभिनय हुआ। हमने यह देखा कि किसीमें कृष्ण को सुरला को गोपियों तक पहुंचाने का काम पुरोहितजी करते हैं और किसीमें कृष्ण-सखा एक गोप। गोपियों का पुरोहित तथा गोप के साथ हास का बड़ा ही असंस्कृत था। वे बार-बार बूढ़े पुरोहित की पीठ पर या गोप की पीठ पर धन-धन मारती थीं और स्वतः हंसीं थीं। यह ढंग स्वांग जैसा प्रतीत होने लगता है। एक तो संवाद में गद्य परिमार्जित न होने से यों ही आध्यात्मिकता का पुट नहीं रहता, दूसरे बार-बार मजाक करने से तो वह बिलकुल ही नष्ट हो जाता है।

प्राचीन महात्माओं के पदों के ही आधार पर लीला करती हैं। एक में संवाद प्रधान होता है, दूसरी में संगीत। एक में वाह-वाह और हास्य की बहार रहती है, दूसरी में भक्तिभाव और रस की। एक अपनी नवीन रचनाओं में राम करते हैं, दूसरे रागरत्नाकर तथा सूर, मीरा आदि के पदों का आधार लेते हैं।

रासलीला का प्रभाव रामभक्तों पर

रासलीला का प्रचार और प्रसार इतना व्यापक हुआ कि विक्रम की १६वीं शताब्दी में एक आन्दोलन रामभक्तों की ओर से चला, जिन्होंने यह मित्र करने का प्रयास किया कि रासलीला वास्तव में राम ने की थी। कृष्ण ने तो वृन्दावन में एक जन्म में रास किया। राम रामावतार में ६६ रास कर चुके थे। एक अवशिष्ट रास राम ने कृष्णावतार में वृन्दावन में किया। फिर क्या था, गोलोक की भाँति माकेन में रासलीला होने लगी और उन नर्तकियों में रामा और उर्वशी तो आई ही, वृन्दावन से राधा और चन्द्रावली भी पहुँच गई। इसके प्रमाण में ग्रन्थ निर्माण होने लगे। यहाँ तक कि महारासोत्सव नामक ग्रन्थ १६०४ विक्रमी में प्रकाशित भी हो गया। नदनुसार वृन्दावन के अनुकरण पर चित्रकूट में भी क्रीड़ा-कुंज बन गए।

पुरी के मुख्य जगन्नाथ मंदिर के अन्तर्गत एक भाग नृत्यमंदिर कहलाता है। इसकी छत पर रंगीन चित्रावली बनी है, उसमें एक स्थान पर रास-मंडल दिखाया गया है।

रास की स्थिरता क्यों ?

पिछले अध्याय में हम देख आए हैं कि ब्रजभाषा में रास-परम्परा महाप्रभु वल्लभ तथा हितहरिवंश आदि महात्माओं के समय से अब तक अधूणा रूप से चली आ रही है। साहित्यिक नाटकाभिनय का कोई भी ऐसा अन्य रूप ढूँढना कठिन है, जो शताब्दियों तक निरन्तर इतनी मनोज्ञता के साथ चला जा रहा हो। इस रास में कोई ऐसी विशेषता अवश्य है जो राजा-रंक, विद्वान-मूर्ख, नास्तिक-आस्तिक, सेठ-भिखारी, महात्मा-दुरात्मा, रसिक-अरसिक, बाल-वृद्ध आदि सभी वर्गों को प्रसन्न करने की शक्ति रखती है। वह शक्ति क्या है ? वह विशेषता यह है कि रामायण महाकाव्य की तरह इसमें सबको अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल रसास्वादन कराने की सामर्थ्य है। एक अनपढ़ युवा किसान जो, गोपालन के अतिरिक्त और कुछ जानता ही नहीं, जो जंगलों में ग्वाल-ग्वालिनों के साथ रहता है, वह अपनी ही तरह स्वच्छन्दता से विहार करनेवाले कृष्ण को देखता है तो उसे अपने जीवन की भाँकी मिलती है। वह यह देखकर रोझ जाता है कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी ग्वाल कृष्ण की प्रशंसा करते और पदबंदना को लालायित होते हैं। उसे न रास के अध्यात्म से कुछ लेना-देना है, न कृष्ण की ऐतिहासिकता और अनेतिहासिकता पर विवाद करना है। वह तो इस लीला में भाग लेने-

वालों का नृत्य देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। उसे रास के साहित्य-संगीत की कला से क्या नाता। सम्यता की प्रथम सीढ़ी पर पग रखनेवाले अनपढ़, मूर्ख-गंवार को इस प्रकार रस-मग्न करने की क्षमता इस रास में है।

नितान्त अनपढ़ से ऊपर स्तरवालों को रास के मधुर संगीत की सहरी मोहित करती है। कृष्ण और राधा के कोमल कण्ठ से उद्भूत संगीत अमृत-वर्षा के द्वारा उन्हें मन्त्रमुग्ध बना देता है, उसी रास में वे विभोर हो जाते हैं। इस संगीत में क्या राग-रागिनी है, क्या कौशल है, कितनी कला है, कहां संगीत में त्रुटि पाती है, इससे उन्हें कोई रोक नहीं। वह तो अलाप के माधुर्य पर मुग्ध रहते हैं। यह हुआ सम्यता की दूसरी सीढ़ी पर पग रखनेवाले प्रेक्षकों की मनोहारिता का प्रसंग। हां, संगीतज्ञ तो संगीत की स्वरलहरी पर नाच ही उठते हैं।

ध्वनि-छटा से भी अधिक रमणीयता चाहनेवाले व्यक्ति इसमें शब्दच्छटा देखकर इसकी सराहना करते हैं। जयदेव, वल्लभ, हितहरिवंश, सूरदास, नन्ददास, ध्रुवदास, नागरीदास, वृन्दावनदास, हितदामोदर, श्री हरिवंश, हरिनाथ स्वामी, श्री वल्लभ रसिक, श्री हरिदास स्वामी, चन्दसखी, श्यामा, चरणदास, श्री माधुरीजी, मीरा आदि भक्त साहित्यिकों की रस से अंतर्प्रोत वाणी किस सहृदय को मन्त्रमुग्ध न कर देगी। इस प्रकार सहृदय साहित्यिकों को भी रस प्रदान करने की क्षमता इस रास में है।

ऐतिहासिक विद्वान रास के कृष्ण में सहस्रों वर्ष पूर्व जन्म लेकर वृन्दावन में विचरण करनेवाले एक ऐसे बालक की कल्पना करता है, जिसने कंस जैसे अन्यायी राजा को अपने बाहुबल से पछाड़ा था, जिसमें बांसुरी की तान अलापने के साथ-साथ सुदर्शन चक्र चलाने की भी शक्ति थी, जो अगणित सुन्दरियों के मध्य में रहता हुआ भी योगिराज कहलाता था, रास उसके बाल्यकाल की एक भांकी है, जिसमें नृत्य है, संगीत है, साहित्य है, कला है। इन विचारों के साथ वह कृष्ण की शोभा और शक्ति के मानसरोवर में अमृतरस पीकर मस्त हो जाता है।

अवतार के विश्वासी ऐतिहासिक इस कृष्ण को सर्वशक्तिसम्पन्न और अन्तर्यामी मानकर इसी वृन्दावन में विचरण करनेवाले भगवान की लीला देखते हुए रसमग्न हो जाते हैं। किन्तु जो अवतारवाद के विरोधी हैं और संसार को प्रकृति का खेल समझते हैं, वे इसे एक प्रतीक नाटक मानते हैं और श्रीकृष्ण को चन्द्रमा, राधा को अनुराधा नक्षत्र और गोपों को आकाश-गंगा के तारों का रूप समझकर अन्तरिक्ष में होनेवाली केवल बुद्धिगम्य लीला को निज नेत्रों से देख-देखकर रसमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रेमियों को भी रस प्रदान करने की क्षमता रास में है।'

क. विदग्ध माधव, पृ० ७

ख. वही, पृ० १४

श्री कृष्णजी चन्द्रावली से कहते हैं :

तस्य षोडशकलस्य षोडशी कल्लभा स्फुरति या नभस्तले ।

राधया मुकुन्दने कर्म तथा संगतिमुं वि ममाद्य संभवेत् ।

अद्वालु भक्तों के लिए तो राधा का सौन्दर्य और प्रेम कृष्णमिलन के लिए व्याकुल बनाता है। राधा से मिलकर उनके आराध्यदेव को आनन्द मिलता है। जिस लीला से आराध्यदेव को आनन्द मिलता है, उसको बार-बार देखने की अभिलाषा रहती है। आनन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्र की आनन्ददायिनी रासलीला में उन्हें रस मिलता है। इसलिए रासलीला को नित्य देखते हुए भी वे सन्तुष्ट नहीं होते, इस रास के प्यासे बने रहते हैं।

शोध-प्रेमियों को रास, कृष्ण के रूप में उस आनन्दधन चैतन्य तत्त्व को प्रदर्शित करता है, जिसको समाज ने वैदिक साहित्य से लेकर युग-युग तक नये-नये नामों और रूपों में अनुभव किया। वैदिक काल का विष्णु गोविन्द, वासुदेव होता हुआ गोपाल कृष्ण के रूप में अवतरित हुआ। इस प्रकार रास का यह रूप अति विस्तृत परम्परा को समेटकर नर्तन, वादन और गायन करता हुआ मन को मुग्ध बनाता है। एक तत्त्वज्ञानी लीलाओं का वैज्ञानिक अर्थ समझता हुआ रासनायक कृष्ण में परिपूर्ण मानव की सर्वोत्कृष्ट शक्ति का आरोप कर रस-मग्न हो जाता है।

- ग. षोडशकलरय षोडशी राधा । आकाशस्थया तथा सह संगतिर्भुवि स्थितस्य मम कथं संभवेदित्यादिना सैवैका मया धार्यतेत्या का वा भवतीति भावः ॥ चतुर्थ अंक, पृ० ६६
- घ. अद्भुत विश्वलीलाना प्रतीक रूप श्रीकृष्णजी रासलीला अमोघ रसे वारंवार गातां के गोपी भावे हरि ने रमता धोलायना पण । नरमिह कवि नरसिंह । (युजराती साहित्यिनी रूपलेखा, पृ० ३४)
१. क. दावानल—जीवन की विकराल आग्न है, जो उस समय ब्रज में सर्वत्र व्याप रही थी। कृष्ण ने अपनी शक्ति से उसे शान्त किया।
- ख. यमलाजुन—यमलाजुन यज्ञराज कुबेर के दो पुत्र थे, जो शाप-वश वृज बने थे। वैदिक परिभाषा के अनुसार नाम-रूप दो महान यज्ञ हैं, ते (नाम-रूप) ह महती यज्ञ महति अग्ने । नाम-रूप दो बड़े यज्ञ हैं जो अम्ब हैं, दिखाई पड़ने पर भी नहीं हैं। जो नाम-रूप के दो वृज हमारे जीवन को रोके खड़े हैं, उन्हें उखाड़ फेंकना ही अध्यात्म का मार्ग है।
- ग. वरुण पाश—कुमार स्वामी का कहना है कि वैदिक परिभाषाओं में मुच्यु को वरुण पाश या मृत्यु कहते हैं। इसपर अधिकार पाना अव्यात्मशास्त्र की आवश्यक संज्ञा है। उनके अनुसार मुच्युलन्द नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुच्युकुन्द के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही बात है।
- आवरणात्मक पाश डालनेवाली शक्ति है अहिर्बुध्नः। समुद्रवासी जरठ बुद्धा जब पीठ पर सवार हो जाता है तो कठिनाई से छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्रवासी बुद्ध हैं। वे नन्द को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नन्द का उद्धार करते हैं।
- घ. कालियनाग—वैदिक परिभाषाओं में भूतल पर रेंगनेवाली अन्धकार-प्रधान वृत्ति का संज्ञा सर्प है। जीवन-जल के सब स्रोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जलकमल या शील चक्र हैं, सब कालियनाग के अधिकार में हैं। शक्ति का यह प्रतीक यह कालियनाग सबके भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही बश में रखना चाहता है। नागनधेया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं, जो जीवन के रूप हैं।

एक तत्त्वदर्शी महात्मा इस रासलीला को अध्यात्म की दृष्टि देखता है। उसे कृष्ण सदेह सच्चिदानन्द-आनन्दधन रसरूप में दिखाई पड़ते हैं। राधा उनकी पराशक्ति हैं, गोपियां उनकी सखी-सहेली, सहचरी और दूती हैं। पराशक्ति रसधन के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे मिलने को व्याकुल होती है। ये सखियां चित्तवृत्तियां हैं, जो देहधारिणी बनी हैं। ये चित्तवृत्तियां इस परमात्मा से पराशक्ति को मिलानेवाली हैं। इन चित्तवृत्तियों (भावनाओं) को उस श्यामसुन्दर से स्वतः एकीकरण की अभिलाषा नहीं होती। ये तो आत्मा पराशक्ति को घनश्याम ब्रह्मशक्ति से जोड़ने में उससे अधिक आनन्द पाती हैं, जितना स्वतः पराशक्ति को आनन्दधन के साथ एकाकार होने के समय होता है। ये पवित्र भावनाएं जीवात्मा का साथ तभी कर पाती हैं, जब उनमें नितान्त निर्मलता आ जाती है। यद्यपि राधिका नित्य हैं, गोपियां नित्य हैं, किन्तु वासना के निवारण होने पर दृष्टिगोचर होती हैं।^१

ज्ञानी ऊधो परकीया-भाव से^२ प्रेम करनेवाली राधा की प्रशंसा में कहते हैं कि यह राधा लक्ष्मी से भी अधिक भाग्यशालिनी है। इसने गोविन्द को जिस रूप में पाया है, वह तो किसीको भी उपलब्ध नहीं होता। रासोत्सव में कृष्ण की भुजा इनके कंठ में पड़ी है और यह भगवान् के साथ रास-विहार कर रही है।^३ इस प्रकार ज्ञानी महात्मा उद्भव भी रसमग्न हो जाते हैं।

भक्तगण गोपियों में अध्यात्म प्रेम के ग्यारह तत्त्व पाते हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा करते हैं।^४

इससे यह निष्कर्ष निकला कि मानव-सम्पत्ता के प्रथम चरण से लेकर मानवता को देवत्व की ओर ले जानेवाली सर्वोच्च अध्यात्म प्रेरणा का दर्शन इस रासलीला में हो जाता है। यही कारण है इसकी महत्ता का, और यही कारण है इसकी सर्व-प्रियता का। इसीके बल पर यह रास पूर्व रूप में आज तक निरन्तर चला आ रहा

१. इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम् ।
अस्याश्च परितः पश्चात् सख्यः शतसहस्रशः ॥
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः ।
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम ॥
सर्वमेतन्नित्यमेव, चिदानन्द रसात्मकम् ।
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ॥

—पद्मपुराण, पाताल खण्ड-७३-७५

२. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, ३३ अध्याय, श्लोक ३१, ३६, ३७
३. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, ३१ अध्याय, श्लोक ५, ६, १३
४. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदार्यासक्तिमुख्यासक्तिकान्तासक्ति-वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्तिमयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ।

—नारदभक्ति सूत्र, २३

है, फिर भी इसका आकर्षण कम नहीं होता ।

यद्यपि रासलीला की रोचकता के अनेक कारण गिनाए जा सकते हैं, किन्तु रास-लीला को लोकप्रिय बनाने का मुख्य कारण है मनुष्य का स्वभावतः शृंगार रस का प्रेमी होना और प्रेम भी यदि स्वच्छन्द रीति का हो तो उसकी रचित अधिक अनुकूल पड़ता है । शृंगार का विप्रलम्भ रूप अधिक मनोनीत है । मनुष्य की इस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति कृष्णलीला नाटकों में मुचाह रूप से पाई जाती है । रसराज के संयोग और विप्रलम्भ दोनों ही रूप राधा और कृष्ण के मिलन तथा वियोग में अभिव्यक्त होते हैं । किन्तु एतावन्मात्र लक्षणा ही कृष्ण-लीलाओं के लोकप्रिय होने का कारण नहीं बन सकता । लौकिक प्रेम की तृप्ति उस प्रेम की ज्वाला को शीतल करने में मशक्त है । अतः कृष्ण-लीलाओं में किसी और ही तत्त्व का समावेश होना चाहिए, जिससे संयुक्त होने से स्वच्छन्द प्रेम की निरन्तर तृप्ति होने पर भी अतृप्ति को परम वेगवती बनाती रहे । यह तभी संभव है, जब लौकिक प्रेम पारमार्थिक प्रेम का रूप धारण कर ले । प्रेम की उच्छ्वलता लौकिक रूप का परित्यागकर आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित हो जाए । इस आदर्श प्रेम की प्यास बुझनेवाली नहीं । यही कारण है कि कृष्ण-लीला के नाटकों का युग-युगान्तर में देखने की प्रवृत्ति घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है । नाटक का यही एक ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप है, जिसमें लौकिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में उन्नयन हो जाता है । शृंगारिक शब्दावली, वेशभूषा, प्रसाधन आदि रसोत्पादन के संकेत-मात्र रह जाते हैं । और जिस रस का परिपाक होता है वह लौकिक भोगविलास का पर्यायवाची नहीं, प्रत्युत वह अध्यात्म-रस है, जिसकी प्यास कभी बुझनेवाली नहीं है । रासलीला की यही विशेषता है कि यह सांसारिक भोग-वासना को ईश्वरीय आनन्द के रस में परिणत कर देता है । दर्शक के लिए राधिक जीवात्मा का प्रतीक और कृष्ण परमात्मा का प्रतीक बन जाता है । दोनों की परस्पर प्रेमलीला से चित्त कभी ऊब नहीं सकता । इसमें समाधिस्थ योगी की तरह परमानन्द की प्रतीति होती है ।

हिन्दी नाटकों में संस्कृत और रास-शैली

हम पिछले अध्याय में लिख आए हैं कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में संस्कृत नाटकों में सर्वप्रथम मैथिली गीतों ने प्रवेश पाया और वे गीत इतने आकर्षक प्रतीत हुए कि संस्कृत नाटकों में मैथिली भाषा को उत्तरोत्तर अधिक स्थान प्राप्त होने लगा । परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में मैथिली संपूर्ण नाटक में व्याप्त हो गई । संस्कृत का कार्य नाटक का केवल ढांचा प्रस्तुत करना रह गया । पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते संस्कृत शैली पर सम्पूर्ण मैथिली नाटक विरचित होने लगे । ये मैथिली नाटक राजसभा का आश्रय पाकर नेपाल में विकसित होने लगे । यह है पूर्वी भारत में नाटकों का विकास-क्रम । भारत के पश्चिमी भाग राजस्थान में नाटक की उत्पत्ति दूसरे ढंग से हो रही थी । तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के जो रासक ग्रन्थ विरचित हो रहे

थे, उनमें जनभाषा राजस्थानी प्रयुक्त होने लगी थी। अल्पकाल में ही राजस्थानी में समग्र रासनाटक विरचित होने लगे। अपभ्रंश नाटकों में स्थान पाने से इन रासनाटकों का ढांचा संस्कृत के रूप में न होकर अपभ्रंश की ही शैली पर हो गया। इस प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक दो शैलियों में विरचित होते रहे।

संस्कृत शैली में विरचित मैथिली नाटक नेपाल राज्य में विकसित होते रहे। भारतीय जनता से सम्पर्क न रहने के कारण उन नाटकों का प्रभाव हमारे देश के जन-नाटकों पर न पड़ सका, अतएव हमारा नाट्य-साहित्य उनसे पृथक् ही रह गया। हां, राजस्थानी की रास-शैली ने हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाटकों को अवश्य प्रभावित किया।

नाटकों पर रास का प्रभाव दिखाने के पूर्व रास-शैली की विशेषताएं समझ लेनी आवश्यक हैं।

रास-शैली की विशेषताएं

१. रास नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होता है।
२. रास नाटकों में गद्य भाग सर्वथा उपेक्षित रहता है। कारण यह है कि गद्यांश को संगीतबद्ध नहीं किया जा सकता।
३. नाटक के सभी पात्र अथ से इति तक रंगमंच पर ही विद्यमान रहते हैं। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता।
४. सम्पूर्ण नाटक नृत्य और गीत पर अवलम्बित होता है।
५. इन रास नाटकों का मंगलाचरण तथा प्रशस्ति-पाठ स्वांग-नाटकों के सदृश है। प्रमाण यह है कि रास और स्वांग दोनों में नाट्यकार अपनी गुरु-परम्परा को उल्लेख करते हुए उनको श्रद्धांजलि अर्पण करता है। प्रमाण के लिए 'नेमीश्वर रास' का उद्धरण देखिए :

अहो मूल संगि मुनि सरस्वति
गच्छू छोड़ि हो चार कषायनि निभछि ।
अनन्त कीर्ति गुरु वन्दिते अहो
तास तराी सुखी कीयो वरवाग ।
राडमल ब्रह्म सो जाणिज्यो,
स्वामी हो पारसनाथ के धानि ॥१॥'

६. रास के अन्त में नाट्यकार नाटक लिखने का प्रयोजन बताते हैं और उसके पढ़ने, सुनने, गाने और अभिनय से पुण्यफल की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं। किन्तु संस्कृत

नाटकों में प्रस्तावना के साथ ही नाटकाभिनय का प्रयोजन और उद्देश्य प्रकट कर दिया जाता है। प्रमाण के लिए धनपाल रास से उद्धरण देखिए :

श्री सकल कीरति गुरु प्रगमीनें, श्री भवन कीरति भवतार ।

दानतणा फल वरगव्या, ब्रह्म जिणदास कहें सार ॥१॥

पढ़े गुणों जो सांभले, मनधरी निरमल भाऊ ।

मन वंछित फलरु बढ़ा, लाभें शिवपुर ठाऊ ॥२॥'

७. रासनाटक में स्वांग के सदृश आद्योपांत सभी दृश्य पट-परिवर्तनरहित होते हैं।

उनमें संस्कृत नाटकों के समान अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक तथा अंकावतार गदि नहीं होते। नाटक के मध्य में घटनास्थल परिवर्तित हो जाता है, तो उसकी सूचना कवि किसी पात्र-विशेष के द्वारा दिला देता है। अंक नहीं बदला जाता।

८. रास की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रायः नितांत अभाव तथा तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य है।

हम पूर्व देख आए हैं कि नाटकों के नामकरण में भी संस्कृत शब्दों का बहिष्कार और अपभ्रंश का प्रयोग मिलता है, जैसे 'गज सुकुमार राम' के स्थान पर 'गय सुकुमार रास'। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा, कथा-संविधान तथा नाट्यकला की दृष्टि से रास-नाटक संस्कृत नाट्य-परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि हिन्दी के आदि नाटकों पर संस्कृत शैली का कोई भी प्रभाव नहीं। इसके विपरीत रास-नाटकों ने तत्कालीन संस्कृत नाटकों पर अपना प्रभाव डाला। तथ्य तो यह है कि प्रत्येक युग का नाटक उस युग की जनरुचि से अवश्य प्रभावित रहता है। रास-नाटकों में सर्वत्र गेय पदों की प्रधानता इस मनोवृत्ति का प्रमाण है कि उस काल की जनरुचि नाटकों में संगीत को सबसे अधिक महत्त्व देती थी, नाटक के अन्य अवयव उसे विशेष नाटकोपयोगी नहीं प्रतीत होते थे। जब पद्यबद्ध नाटक ही जनता की रुचि के अनुकूल थे तो संस्कृत नाटककार इस तथ्य की उपेक्षा किस प्रकार कर सकते थे। जब संस्कृत नाट्यकारों ने गीति-नाट्यों में जनता को मुग्ध होने देखा तो उन्होंने भी क्रमशः पद्यभाग की वृद्धि और गद्यांश का लोप करना प्रारम्भ किया होगा। परिणाम-स्वरूप संस्कृत में पद्य-प्रधान नाटक निर्मित होने लगा। हमारे इस मत की पुष्टि डा० दासगुप्ता और डा० डे भी करते हैं।^२

१. नाट्यकार ब्रह्मजिनदाम

२. The Presumption is not unlikely that such vernacular semi-dramatic performances of popular origin reacted on the literary Sanskrit drama and influenced its forms and manner to such an extent as to render the production of such apparently irregular types greatly probable.

—History of Sanskrit Literature by Dr. Das Gupta and S. K. De.
p. 509

रास एवं रासान्वयी अभिनेय काव्यों के सम्बन्ध में विगत वर्षों में कई ग्रन्थ विरचित हुए हैं। हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड में डा० माताप्रसाद गुप्त ने रास की विभिन्न धाराओं पर विधिवन् विचार किया है। इस विषय पर हिन्दी में विरचित एक नया ग्रन्थ 'रास एवं रासान्वयी काव्य' नागरी प्रचारिणी सभा से सन् १९५९-१९६० में प्रकाशित हुआ है। शोध के विद्यार्थियों के लिए ये ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होंगे। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में रास साहित्य का सम्यक् विवेचन उपलब्ध हो सकता है।

छठा अध्याय

द्वितीय उत्थान

संस्कृत-मिश्रित रास-शैली

वैष्णव आन्दोलन का प्रभाव : हम पूर्व यह सिद्ध कर आए हैं कि हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक (रास-नाटक) संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहे। इसका मुख्य कारण यह था कि रास-नाटकों का उद्भव ही अपभ्रंश रास-नाटकों से हुआ था। दूसरा कारण यह था कि रास-नाटकों के रचयिता जैनाचार्य तथा धर्म-प्रचारक कविगण अपभ्रंश-साहित्य से अधिक परिचित और प्रभावित होते थे, अतएव संस्कृत का उनपर प्रभाव नहीं पड़ता था। इन कारणों के अतिरिक्त देश की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था भी संस्कृत-प्रचार के अनुकूल न थी। इस प्रकार रास-नाटकों का यह क्रम न्यूनाधिक तीन शताब्दियों तक अपभ्रंश साहित्य के साथ-साथ चलता रहा, किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में एक नया धार्मिक आन्दोलन खड़ा हो गया, जिसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण देश वैष्णव धर्म के नूतन आन्दोलन से आलोड़ित हो उठा था। वैष्णव-मन्दिरों का निर्माण और मूर्ति-पूजा के विविध उपचार होने लगे। श्रीमद्भागवत और रामायण का पठन-पाठन सर्वत्र होने लगा था। वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए साधु-महात्मा गांव-गांव भ्रमण करने लगे। कथा-कीर्तन का प्रचार होने लगा। इस कारण संस्कृत के अध्ययनाध्यापन के साधन संकलित होने लगे। जनता भी भजन-पूजन के लिए उत्सुक हो उठी। स्थान-स्थान पर कीर्तन होने लगे। वैष्णव भक्त संस्कृत-पदावली-संयुक्त गेय पदों की रचना करने लगे। देशी भाषा की रचना में अपभ्रंश के स्थान पर संस्कृत के तत्सम, अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग चल पड़ा। हिन्दी में महाकाव्यों की रचना होने लगी।

इस नवजागरणकाल में वैष्णव-मन्दिरों में कृष्ण-रास (एकांकी नाटक) का प्रदर्शन होने लगा था। इसके पूर्व तेरहवीं शताब्दी से जैनाचार्य अपने धर्म-प्रचार के लिए जैन-रास की रचना करते आ रहे थे। अब वैष्णव महात्मा भी भक्तों के लिए कृष्ण-रास की रचना करने लगे थे। जैन-रास में नृत्य का अभाव हो चला था, और अभिनय के योग्य रास के स्थान पर अपभ्रंश 'चरिऊ' की शैली पर बृहत् रास केवल पठन और श्रवण के लिए विरचित होने लगे थे। ऐसे समय में कतिपय विद्वानों को

देश-काल और जनरुचि के अनुकूल कथावस्तु, भाषा तथा शैली का ध्यान रखकर पूर्ण नाटक-रचना की प्रेरणा हुई। हम पूर्व कह आए हैं कि जनता वैष्णव धर्म की ओर आकर्षित हो रही थी, अतएव कथावस्तु के लिए रामायण और भागवत से सामग्री लेना उचित प्रतीत हुआ। वैष्णव धर्म के प्रचार से संस्कृत शब्दों का व्यवहार होने लगा था, अतएव जनभाषा तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों के सम्मिलन से निखरने लगी। उपर्युक्त दोनों समस्याओं को सुलझा लेने पर शैली का प्रश्न सम्मुख आया। शताब्दियों से नाटक की रास-शैली से परिचित जनता सहसा संस्कृत-शैली अपनाने को सन्नद्ध कैसे होती! रास के गेय पदों में संगीत और नृत्य का जो आकर्षण जनता को मिलता था, वह शुष्क गद्य में कहां उपलब्ध होता। उस काल के दूरदर्शी विद्वान नाट्यकारों ने इस रहस्य को समझ लिया था। अतएव संस्कृत-नाटकों से प्रभावित होने पर भी उन नाट्यकारों ने रास-शैली पर छन्दोबद्ध नाटकों की ही रचना की।

इस मत को प्रमाणित करने के लिए आलोच्यकाल के नाटकों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। हिन्दी के पूर्ण नाटक हमें विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त प्राप्त होते हैं। प्रकाशित तथा अप्रकाशित नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

रामायण महानाटक

रामायण महानाटक की रचना संवत् १६६७ विक्रमी में हुई। इस नाटक में भगवान राम का सम्पूर्ण चरित दोहा-चौपाइयों में विरचित है। रामकथा संवाद द्वारा वर्णित है। नाटक-रचना का उद्देश्य कवि अन्त में इस प्रकार लिखता है :

रामचरित जो कहै बखाना। बाढ़े धर्म पाप होए हाना ॥

अरु जो सुनै श्रवन चित लाई। सो जमपुर के निकट न जाई ॥

...

...

...

...

नारद बालमीक दुर्वासा। तिनहूँ राम नाम की आसा ॥

हनुमन्नाटक

दूसरा नाटक कवि हृदयरामकृत हनुमन्नाटक है। इसका रचनाकाल संवत् १६८० वि० है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है, किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं। कारण यह है :

१. संस्कृत के हनुमन्नाटक से केवल ३८ छंदों में भाव-साम्य मिलता है। हिंदी हनुमन्नाटक में कुल ११८३ छंद हैं।^१ ११८३ छंदों में केवल ३८ छंदों का भाव-साम्य नगण्य ही है।

१. हनुमन्नाटक के चौदह अंकों में छंद-संख्या क्रमशः इस प्रकार है, १५, ८८, १०६, १६, ६४, ११६, ३४, ११६, १२६, ६२, ६६, ५८, १११, १३३। कुल संख्या ११८३।

२. संस्कृत हनुमन्नाटक में नान्दी-सूत्रधार मिलते हैं, किन्तु हिन्दी हनुमन्नाटक में इनका कहीं पता नहीं।

३. वस्तु-संविधान में दोनों नाटकों में अन्तर है। संस्कृत-नाटक में परशुराम के शान्त होने पर रामविवाह सम्पादित होता है, किन्तु हृदयरामजी ने विवाह के उपरान्त अयोध्या के मार्ग में परशुराम के साथ लक्ष्मण का वाद-विवाद दिखाया है। इसी प्रकार मूल के छठे अंक में हनुमान का लंका-दाह अत्यन्त संक्षेप में मिलता है, किन्तु हिन्दी में उसका वर्णन आठ छन्दों में विस्तार के साथ किया गया है। एक ही छन्द में प्रश्नोत्तर दिखाकर हृदयराम ने अपनी संवाद-योजना का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए देखिए :

कौन है रे ! कपि हों रे, कौन कपि ? हनुमान,
काको मुत ? बृभ. नीके अंजनी को पूत हों।
कौन काज बाग तोर दार्यो मुत मार्यो मेरो ?
भूख लागी तोर्यो अरि मारवे को भूत हों।
मेरे आगे मूर है कहावत, कहाऊं क्यों न ?
तोसो गिरि तोरिखे को बज्र पुरहूत हों।
क्यों है लंक आयो ? रघुवीर है पठायो,
कछु लागत है ? सेवक हों दूतन को दूत हों।^१

४. इसी प्रकार मूल संस्कृत में सागर और राम का वार्तालाप बाल-चापल्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु हिन्दी में वही संवाद गम्भीर और सजीव है।

५. मूल के दसवें अंक में रावण और सीता का संवाद मिलता है, किन्तु हिन्दी में उसका कहीं लेशमात्र संकेत भी नहीं।

इस प्रकार वस्तु-संविधान, संवाद-योजना आदि कई बातों में इतना अन्तर है कि हिन्दी नाटक को न तो संस्कृत का अनुवाद कह सकते हैं न रूपान्तर। हृदयरामजी ने अंकों का संविधान अवश्य संस्कृत-नाटक के अनुसार किया है। इस कारण इसका भी नाम हनुमन्नाटक रख दिया है।

समयसार नाटक

तीसरा नाटक बनारसीदासकृत समयसार है, जिसकी रचना संवत् १६६३ विक्रमी में आगरा में हुई। नाट्यकार इसकी कथा के स्रोत के सम्बन्ध में स्वयं लिखता है :

अब यह बात कहूँ है जैसे, नाटक भाषा भयो सु ऐसे।
कुन्द-कुन्द मुनि मूल उघरता, अमृतचन्द टीका के करता ॥२१॥
समयसार नाटक सुख दानी, टीका सहित संस्कृत बानी।
पंडित पढ़ें सुदिद मति बूझै, अलपमती कौ अरथ न सूझै ॥२२॥

१. हनुमन्नाटक, भारत जीवन प्रेस, काशी, पृष्ठ १७१-७२.

सोरह सौ तिरानवा बीतैं, आसो मास सित पच्छ विनीते ।

तिथि तेरस रविवार प्रवीना, ता दिन ग्रन्थ समापत कीना ॥३७॥^१

यद्यपि अमृतचन्द के 'कलश' के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है, किन्तु कलश और इस नाटक की तुलना करने से दोनों में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है । नाट्यकार ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मूल भाग में परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिया है । उदाहरण के लिए 'कर्ता, कर्म, क्रिया द्वारा' प्रसंग को लीजिए । मूल के ५४ श्लोकों का अनुवाद ३६ छंदों में किया गया है किन्तु 'बंध प्रसंग' के १७ श्लोकों को विस्तृत करके ५८ छंदों में लिखा गया है । श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने प्राकृत ग्रन्थ का नाम केवल 'समयसार' अथवा 'समयपाहुड़' दिया है, किन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत-टीका में "इति ह पूर्व रंगः समाप्तः" "इति समयसार व्याख्याया मात्मव्याप्तौ प्रथमोक्तः" आदि संकेतों के द्वारा इसको नाटक उपाधि प्रदान की । उसीके आधार पर बनारसीदासजी ने इसे नाटक माना । अन्यथा इसमें कहीं भी संवाद-योजना नहीं मिलती ।

बंड़ी-चरित्र

समयसार के उपरांत हमें गुरु गोविन्दसिंह-विरचित 'विचित्र नाटक' या 'बंड़ी-चरित्र' उपलब्ध होता है । गुरुजी ने इस विचित्र नाटक में तत्कालीन विरचित नाटकों को अनुपयोगी बताकर उनकी निन्दा की है । ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वीर-रस के नाटकों का अभाव था और गुरुजी औरंगजेब से युद्ध करने के लिए वीरों की सेना संकलित करने में संलग्न थे । अतएव उन्हें वीररस का नाटक लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई । गुरु तेगबहादुर के बलिदान पर वे स्वयं लिखते हैं :

धर्म हेत साका जिन कीया । सीस दिया पर सिरं न दीया ॥

नाटक चेटक किए कुकाजा । प्रभु लोगन कह आवत लाजा ॥१४॥^१

गुरुजी ने वीररस का जो नाटक लिखा, उसमें बंड़ी का चरित्र है । जैसा इसका विषय है, वैसी ही प्राण-संचारिणी इसकी भाषा भी है । उदाहरण के लिए देखिए :

नमो चक्र पाणं । अभूतं मयाणं ॥

नमो उग्र दाड़ं । महा गुष्ट गाढं ॥१६॥

नमो तीर तोपं । जिनै शत्रु घोषं ॥

नमो घोष पट्टं । जिनै दुष्ट बट्टं ॥२०॥^१

१. समयसार नाटक, प्रकाशक आचार्य नन्दलाल, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मिराट, ग्वालियर, वि० सं० २००७, पृ० ६०८, ६१४

२. श्री गुरु गोविन्दसिंहजी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र, प्रकाशक द यूनाइटेड सिक्ख मिरानरी सोसाइटी, मजुरा, सन् १९३५ ई०, पृ० ४३

३. विचित्र नाटक, द यूनाइटेड सिक्ख मिरानरी सोसाइटी, मजुरा, पृ० ३११

प्रबोधचन्द्रोदय

इस संस्कृत-नाटक के अनेक अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होते हैं। इसका प्रथम अनुवाद महाराज यशवंतसिंह ने संवत् १७०० वि० के आस-पास किया। इस अनुवाद में मूल श्लोक का अनुवाद पद्य में और गद्य का अनुवाद गद्य में किया गया। इस अनुवाद के २६ वर्ष बाद ही अनाथदासजी ने इसका समस्त अनुवाद छन्दोबद्ध रूप में किया। यहां तक कि रंगमंच के संकेत भी कविताबद्ध बन गए। महाराज यशवंतसिंह के उपरान्त आलोच्यकाल में जितने भी अनुवाद हुए, वे सभी छन्दोबद्ध रूप में मिलते हैं।

निर्माणकाल

संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के रचयिता श्रीकृष्ण मिश्र चन्देलराजा कृष्ण-वर्मा के समकालीन थे। कृष्णवर्मा का राजत्वकाल शिलालेखों के आधार पर सं० ११०७ से प्रारम्भ माना जाता है। यह नाटक महाराज कृष्णवर्मा के दरबार में अभिनीत हुआ था। जनश्रुति है कि कृष्णवर्मा एक बार चेदिराज कर्ण से पराजित होकर अत्यन्त खिन्न हो रहे थे, उस समय उनके योग्य सेनापति गोपाल ने दूसरे घोर युद्ध में चेदिराज को पूर्ण रीति से विजित किया, किन्तु संग्राम में अनेक प्राणियों का वध देखकर उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने अपने गुरुवर श्रीकृष्ण मिश्र से अपने हृदयगत भावों को प्रकट किया। इसी कारण सेनापति को वास्तविक ज्ञान कराने के लिए गुरु ने इस प्रतीक-नाटक की रचना की।

कथावस्तु

साक्षात् आनन्द की मूर्ति, तेजःपुङ्गव, ज्ञानस्वरूप, विषय से सर्वथा पराङ्मुख, सौम्य स्वभाववाले एक पुराण-पुरुष हैं। उनकी माया नामक एक स्त्री है। उसकी विलक्षणता यह है कि वह अघटित घटना पटीयसी है। उस मायाविनी के पुत्र का नाम मन है, पति को बृद्ध समझ वह अपने पुत्र को सिंहासनासीन करना चाहती है। बेटा मन भी मां की योजना में सम्मिलित होकर पिता को खंड-खंड करके एक ओर फेंक देता है।

मन की दो स्त्रियां—प्रवृत्ति और निवृत्ति—हैं। प्रवृत्ति से महामोह के कुल की और निवृत्ति से विवेक-प्रधान कुल की उत्पत्ति होती है। दोनों कुलों में घोर संघर्ष की तैयारी होती है। महामोह के सहायक हैं—काम, क्रोध, लोभ, दंभ, अहंकार, मिथ्यादृष्टि, रति, हिंसा, तुष्णा इत्यादि; और विवेक के सहायक हैं—मति, वस्तु-विचार,

१. प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद :

- (१) जन अनन्य-कृत, रचनाकाल अज्ञात
- (२) सुरति मिश्र-कृत, रचनाकाल, संवत् १८०० वि०
- (३) अजवासीदास-कृत, रचनाकाल, १८१६ वि०
- (४) आनन्द-कृत 'नाटकाज्जन्द', रचनाकाल संवत् १८४० वि०

सन्तोष, श्रद्धा, शान्ति, करुणा, विष्णुभक्ति, उपनिषद्देवी, क्षमा इत्यादि ।

प्रथम अंक में विवेक और उसकी पत्नी मति का वार्तालाप होता है । मति को शंका उत्पन्न होती है कि पापिन माया पुराण-पुरुष को किस प्रकार प्रताड़ित करती है । विवेक मति को समझाता है कि माया में सदाचरण नहीं है । वह षड्यन्त्र-कारिणी है । उसे अपने पतिदेव के दुःख का लेशमात्र कष्ट नहीं है । वह अपने परामर्शदाताओं के बहकावे में घा गई है ।

दूसरे अंक में महामोह के आदेश से दम्भ, पाखंड, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्यादि योगिनियां विष्णुभक्ति के विनाश में प्रयत्नशील हैं । अहंकार आस्तिक दर्शनों का परिहास करते हुए बौद्धदर्शन, वेदान्त, शैव-पाशुपत को निन्द्य बताता है और महामोह चार्वाक को आस्तिक दर्शनों के उन्मूलन की आज्ञा देता है । महामोह अपने सैनिकों को कुल-विद्वेषिणी शान्ति को दंड देने का आदेश देता है । वह सैनिकों को समझाते हुए कहता है कि शान्ति की माता श्रद्धा है । वह उपनिषदों के समीप निवास करती है । यदि विलासिनी मिथ्यादृष्टि उसे पकड़ जाए तो उसकी पुत्री शान्ति वियोग-जनित दुःख के कारण हताश हो जाएगी । महामोह मिथ्यादृष्टि को अपनी योजना समझाते हुए कहता है कि विवेक और उपनिषद् के संगम से यदि प्रबोध उत्पन्न हो गया तो हमारे कुल का विनाश अवश्यम्भावी है । श्रद्धा ही विवेक और उपनिषद् का मिलन कराने में कुट्टिनी का कार्य करती है । मिथ्यादृष्टि महामोह को विश्वास दिलाती हुई अपनी योजना समझाती है कि मैं श्रद्धा को वेदमार्ग के दूषण, स्वर्गफल के मिथ्यात्व एवं मोक्ष की हेयता दिखाकर उपनिषद् से दूर खींच लाऊंगी ।

तीसरे अङ्क में मातृविहीना, दुःखकातरा शान्ति अपनी सखी करुणा से चिता प्रज्वलित करने का आग्रह करती है । करुणा उसे आश्वस्त करती हुई श्रद्धा के अन्वेषण में चल पड़ती है । विष्णु के पार्श्व में उसे पाकर वह उल्लसित होती हुई शान्ति के समीप आती है । इस अङ्क में विवेक काम को पराजित करने के लिए वस्तु-विचार को, क्रोध को जीतने के लिए क्षमा को, लोभ को मारने के लिए सन्तोष को आदेश देता है और स्वतः चिदानन्द सन्दोह से प्रार्थना करता है कि हे देव ! भक्तों के हृदय से सम्मोह को नष्ट करने के लिए बोधोदय प्रदान कीजिए ।

पांचवें अङ्क में श्रद्धा और शान्ति का मिलन होता है । प्रतिद्वन्द्वी भागमों और तर्कों में संधि हो जाती है । श्रद्धा विष्णुभक्ति से विवेकराज की सैन्य-सफलता का वर्णन करते हुए कहती है कि वस्तु-विचार द्वारा काम; क्षमा द्वारा क्रोध, हिंसा आदि ; सन्तोष द्वारा लोभ, तृष्णा, दैन्यादि ; अनसूया द्वारा मात्सर्य ; परोत्कर्ष-भावना द्वारा मद और परगुणाधिक्य द्वारा मान का मूलोच्छेद हो गया । मन अपनी आशा, तृष्णा, अहिंसा आदि पुत्र-वधुओं की मृत्यु देखकर अत्यन्त खिन्न हो उठा । वह अपनी प्रिया प्रवृत्ति को पुकारने लगता है । किन्तु संकल्प से यह सूचना पाकर कि वह तो कुटुम्ब-वियोग-जन्य शोकान्नि से संदग्ध-हृदय हो आत्मघात कर बैठी, वह मूर्च्छित हो जाता

है। चैतन्य होने पर वह अपने सम्मुख सरस्वती को पाता है।

इस समय विष्णुभक्ति ने मन को समझाने के लिए सरस्वती को भेजा था। सरस्वती के सत्य परामर्श से मन प्रभावित होता है और अपनी परित्यक्ता भार्या निवृत्ति को भ्रंगीकार करता है। इस शुभ अवसर पर मन का पुत्र विराग और यम, नियम आदि आठों भ्रमात्म्य भी उपस्थित होते हैं। मैत्री आदि चारों बहिनें तथा विष्णुभक्ति का भी उसी समय आगमन होता है। मन अब पूर्ण स्वस्थ बनता है। पुरुष और विवेक का मिलन होते ही उपनिषद्देवी को साथ लेकर शांति रंगमंच पर पहुँचती है। उपनिषद् के उपदेश से पुरुष विचार में लीन हो जाता है। विष्णुभक्ति के आदेश से पुरुष को निदिध्यासन की प्राप्ति होती है और उपनिषद् के गर्भ से विद्या और प्रबोधोदय का आविर्भाव होता है। उपनिषद्देवी ने मन को तो विद्या प्रदान की और पुरुष को प्रबोधोदय। देवी स्वयं विवेक के साथ विष्णुभक्ति के पास जाती है। विद्या मन का संहार करती है और महामोह को निगीर्ण करती हुई अन्तर्धान हो जाती है। पुरातन पुरुष प्रबोधोदय की प्राप्ति से कृतकृत्य हो जाता है। विष्णुभक्ति पुरुष की साधना से सन्तुष्ट होकर उसे वरदान देना चाहती है। पुरुष पूर्णतः निष्काम बन गया है, अतः जगत् के कल्याण की कामना से संसारी व्यक्तियों के लिए श्रेय और प्रेय का वरदान मांगता है।

मोह-पराजय

प्रतीक नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय के उपरान्त प्राचीनता की दृष्टि से (नाट्य-गुणों की दृष्टि से नहीं) 'मोह-पराजय' की गणना की जाती है। इस नाटक के रचयिता कवि यशपाल चालुक्यराज कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मंत्री थे। अजयपाल का राजत्वकाल १२२६ ई० से १२३२ ई० तक माना जाता है। अतः इस नाटक की रचना उक्त समय के आस-पास हुई होगी।

इस नाटक में कतिपय पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और कतिपय कल्पित। आचार्य हेमचन्द्र की कृपा से राजा कुमारपाल का जैनधर्म में दीक्षित होना इसकी प्रमुख घटना है। इसके प्रारंभ में कुमारपाल का विवाह कृपासुन्दरी के साथ दिखाया गया है। कृपासुन्दरी वास्तविक नाम है किन्तु इसको नाट्यकार ने मूर्तिमती करुणा के रूप में प्रदर्शित किया है। इस विवाह में निमित्त मंत्री पुण्यकेतु रहा है और आचार्य हेमचन्द्र पुरोहित का कार्य करते हैं।

कुमारपाल छूत-श्रीड़ा, मांसभक्षण, मद्यपान, जीवहंसा, चौर्यकर्म, व्यभिचार आदि सप्त दोषों के परित्याग की प्रतिज्ञा लेते हैं। मुनि हेमचन्द्र की सहायता, योगशास्त्र के कवच एवं वीतराग स्तुति के बल से राजा कुमारपाल मोह का व्यूह तोड़ डालते हैं।

कला की दृष्टि से यह नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की तुलना में कहीं नहीं ठहरता। शृंगार की घटनाएं भी सर्वथा प्रभावरहित एवं अग्राह्य हैं। सिद्धान्त-प्रतिपादन के

लिए बड़े ही लचर तकों का प्रयोग पाया जाता है ।

चैतन्य-चन्द्रोदय

उड़ीसा-महाराज गजपति प्रतापरुद्र के आदेश से सन् १५७२ ई० में इस नाटक की रचना कवि कर्णपूर ने की । वास्तव में यह नाटक नाटकीय शैली में चैतन्यदेव की नवद्वीप और पुरी की लीलाओं का वर्णन करता है । यद्यपि इसके पात्रों के नामकरण में हम प्रतीक-नाटकों की शैली पाते हैं, तथापि इसका मूल लय चैतन्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के साथ-साथ महाप्रभु की लीलाओं का भी दिग्दर्शन कराना प्रतीत होता है । एक ओर भट्टत, मैत्री, भक्ति, भ्रम, विराग आदि मनोभाव पात्र हैं तो दूसरी ओर नारद, राधा, कृष्ण आदि पौराणिक व्यक्ति भी पात्र बनाए गए हैं । इनके अतिरिक्त पात्रों की एक और पंक्ति है । उनके नाम हैं—राजा, भट्टाचार्य, गोपी-नाथाचार्य, दामोदर, जगदानन्द, मुकुन्द, चन्दनेश्वर, गंगा, रत्नाकर, नित्यानन्द । इससे प्रमाणित होता है कि इस नाटक को न तो शुद्ध प्रतीक-नाटक कह सकते हैं, न पौराणिक नाटक और न चरित्र-प्रधान नाटक । यह वास्तव में तीनों पद्धतियों का सम्मिलित रूप है ।

धर्म-विजय

संस्कृत में चैतन्य-चन्द्रोदय के उपरांत भूदेव शुक्ल का 'धर्म-विजय' नामक प्रतीक-नाटक संवत् १६२५ वि० के आसपास विरचित हुआ । पांच अंकों में यह नाटक समाप्त होता है । इसमें पापात्मक एवं पुण्यात्मक प्रवृत्तियों को तो पात्र बनाया ही गया है, कविता और अलंकार भी इसमें पात्र होकर आते हैं । पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि भ्रम के ऊपर धर्म की विजय दिखाना ही नाटक का उद्देश्य है ।

विद्या-परिणय और जीवानन्द

वेद कवि ने विद्या-परिणय नामक प्रतीक-नाटक तंजीरराज के अमात्य आनन्द-राय के संरक्षण में १८वीं शताब्दी में निर्मित किया । सात अंकों के इस नाटक में जीव और विद्या का परिणय दिखाया गया है । धर्मशास्त्र के विधि-विधानों के आधार पर शृंगार-भावनाओं का कल्पना के बल पर पुट देकर इस नाटक की कथावस्तु प्रस्तुत की गई है । वेद कवि का ही दूसरा प्रतीक-नाटक जीवानन्द सात अंकों में समाप्त मिलता है । इस नाटक में 'विद्या-परिणय' की अपेक्षा नाटकीयता कम है ।

अमृतोदय

मैथिल गोकुलनाथ-विरचित यह प्रतीक-नाटक पांच अंकों में समाप्त होता है ।

१. नारायण खिस्ते ने सन् १९३० ई० में सरस्वती भवन पुस्तकमाला के अन्तर्गत इसका सम्पादन किया ।

गोकुलनाथजी का श्रीनगर में राजकवि होना (विक्रम संवत् १६७२ के आसपास) प्रमाणित हो चुका है। अतएव यह रचना भी लगभग उसी समय की मानी जा सकती है। इसमें सृष्टि से संहार तक जीव की आध्यात्मिक उन्नति का क्रम दिखाया गया है।

श्रीदामाचरित

कवि सामराज दीक्षित का यह प्रतीक-नाटक संवत् १७३८ वि० में विरचित हुआ। इस नाटक में चैतन्य-चन्द्रोदय के समान कृष्ण-सखा श्रीदामा के चरित और आध्यात्मिक चिन्तन दोनों का सम्मिलन पाया जाता है। इसका नायक सरस्वती का उपासक और लक्ष्मी का कोप-भाजन व्यक्ति है। अन्त में श्रीकृष्ण की कृपा से लक्ष्मी का कोप दूर होता है और नायक सुखी दिखाई पड़ता है।

इनके प्रतिरिक्त दक्षिण में 'संकल्प सर्वोदय,' 'यतिराज-विजय'^१ (वेदान्त-विलास) नामक दो और प्रतीक-नाटक प्रसिद्ध हैं। इनमें रूपकात्मक शैली में रामानुज स्वामी की विजय दिखाई गई है।

इन नाटकों में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए रूपकात्मकता का सहारा लिया गया है। इसी कारण इनका विषय नीरस और असंगत बन गया है।

प्रतीक-नाटक की विशेषता

यद्यपि सर्वप्रथम अश्वघोष कवि की रचनाओं में मनोभावों को पात्र बनाकर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रतीकात्मक पद्धति का दर्शन होता है, किन्तु कृष्ण मिश्र से पूर्व इस पद्धति की परम्परा का दर्शन नहीं होता। यदि प्रतीक-नाटकों की रचना ११वीं शताब्दी से पूर्व हुई भी हो तो वह समूचा साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। अतः उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही इस शैली की विशेषताओं का विवेचन करना सम्भव है।

इस शैली की प्रथम विशेषता मानव-मन के सूक्ष्म तत्त्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने के प्रयास में झलकती है।

भावात्मक विचारों को नाटक का पात्र बनाकर अभिनय तो दिखाया जा सकता है, किन्तु उस अभिनय से रस की धारा प्रवाहित करना सरल नहीं। दार्शनिक विषय इतने गहन एवं शुष्क होते हैं कि उनमें रस उत्पन्न करना मरुभूमि में जलस्रोत प्रवाहित करने के सदृश दुष्कर कार्य है।

आगे चलकर हिन्दी के ही प्रतीक-नाटकों का विवेचन करते हुए इस नाट्य-शैली

१. संकल्प सर्वोदय (दस अंकों का नाटक), बैकटनाथ वेदान्त-शिक्षक कवि तार्किकसिंह

२. यतिराज-विजय, बरदाचार्य

के दोष-गुण पर विस्तार के साथ विचार किया जाएगा ।

शकुन्तला नाटक

कविवर नेवाज ने कालिदास के शकुन्तला नाटक का अनुवाद संवत् १७२७ विक्रमी में किया । समस्त अनुवाद दोहा-चौपाई में मिलता है । रंगमंच के संकेत भी पद्य में ही मिलते हैं । उदाहरण के लिए दुष्यन्त के दर्शन से शकुन्तला और सखियों की दशा का वर्णन देखिए :

निरखि नृपहि बिन मोल बिकानी । तीनों छकीं डरीं अकुलानी ॥

ठाढ़ी रहि न सकीं नहिं डोलें । जकि सों रहीं कछु नहीं बोलें ॥

अनुसूया तब मन दृढ़ कीन्हों । महाराज को उत्तर दीन्हों ॥

मूल और अनुवाद में कथानक के अतिरिक्त बृहद् अन्तर है । मूल में सात अंक हैं, किन्तु अनुवाद में केवल चार । मूल के विष्कम्भक और प्रवेशक का अनुवाद में चिह्न भी नहीं । एक ही अंक में भिन्न-भिन्न स्थानों पर घटित होनेवाली घटनाएं पट-परिवर्तन के बिना ही दिखाई गई हैं । उदाहरण के लिए तीसरा अंक देखिए । इस अंक का प्रारम्भ दुष्यन्त के प्रस्थान के कारण शकुन्तला के विरह-वर्णन से होता है । तदुपरान्त दुर्वासा का शाप, कण्व का अशीर्वाद, शकुन्तला की विदा का वर्णन मिलता है । इसके पश्चात् दुष्यन्त के पास जाने का वर्णन इस अंक में इस प्रकार दिखाया गया है, “चलत-चलत पतिपुर नगिचायो” । शकुन्तला शिष्यों के सहित दुष्यन्त की राजसभा में पहुंच जाती है । शकुन्तला और राजा का प्रश्नोत्तर कथा के रूप में वर्णित है । तदुपरान्त शकुन्तला को मेनका का पृथ्वीलोक से ले जाना, पुरोहित का राजा को सूचना देना, राजा का अज्ञात कारण से खिन्न रहना कथा-रूप में मिलता है । शकुन्तला नाटक की शेष सम्पूर्णा घटनाएं चौथे अंक में दिखा दी गई हैं और नाटक का अन्त इन शब्दों के साथ किया गया है :

“इति श्री शकुन्तला नाटक कथा चतुर्थीक सम्पूर्णाम् ।”

सभासार नाटक

सभासार नाटक के रचयिता अहमदाबाद-निवासी श्री रघुराम नागर हैं । उदयपुर राज्य के ‘सरस्वती भंडार’ में उपलब्ध प्रतिलिपि पर रचनाकाल संवत् १८१६ वि०

१. कवि नेवाज-कृत शकुन्तला उपाख्यान, अंक तीसरा

२. विदा होत तुम दई अँगूठी । यातें हों दुइहौं नहिं भूठी ।

और भेद अब कहा बतावौ । बहै अँगूठी कहो दिखावौ ।

... ..

जो मैं लखन अँगूठी पाऊँ । तो मैं तुमहिं साँच ठहराऊँ ।

कर मैं तब न अँगूठी पाई । हाय हाय तिहि ठौर मचाई ।

—नेवाज-कृत शकुन्तला, तीसरा अंक

मिलता है, किन्तु नाटक का रचनाकाल संवत् १७५७ विक्रमी है। लेखक ने इस नाटक की रचना का उद्देश्य इस प्रकार बताया है :

ज्यों सब संगति जानिए, प्रभु सों कहो पुकार ।
सकल सभा वर्णन कहूँ, नृपति आदि निरधार ॥६॥
सब लच्छिन पहले सुनो, पुन्य सुसंगति पाइ ।
मन चंचलता जानि जग, नीच संग न सुहाइ ॥७॥

तदुपरांत भले-बुरे की पहचान के लक्षण बताए गए हैं। इस नाटक में विविध व्यक्तियों के धर्म-कर्म का वर्णन मिलता है। व्यक्तियों की विस्तृत नामावली में राजा, कपटी, बेवकूफ, गाफिल, चोर, सभाचतुर, सभा-विगार, मुनसी, उग्र दाता, विवेकी दाता, लवार दाता, कलि के दाता, खवीस दाता, मूम, लालची, कुकवि, सूर, कवि, कायर, सदरी मीत, अघीर, लड़ाका, मसखरा, चुगल, ठग, नारी, परोपकारी, दुष्ट, महादुष्ट, बगाबाज, सत्यवादी, खुशामदी, मूरख, पोस्ती, उद्धत, विरही, गुंडा, नास्तिक, आस्तिक, मसखरा आदि विविध प्रकार के मनुष्यों का वर्णन मिलता है।

करुणाभरण

इस नाटक के रचयिता कृष्णजीवन लच्छीराम हैं। इसका रचनाकाल, उदयपुर के सरस्वती भंडार में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति पर इस प्रकार अंकित है, “महाराजा-धिराज महाराणा श्री संग्रामसिंहजी लिखाविता। भट्ट कृष्णदासेन लिखिता संवत् १७७२ वर्ष कार्तिक वदि कृष्ण ५ गुरुवारे ॥ शिवमस्तु सर्व जगत् ॥” संपूर्ण नाटक सात अंकों में समाप्त होता है। अंकों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं: राधा-अवस्था, ब्रजवासी-अवस्था, सत्यभामा-अवस्था, राधा-मितन, नित्यविहार तथा अद्वैत अङ्क। कथानक का आधार है कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण और गोप-गोपियों का पुनर्मिलन। सूर्य-ग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्णजी द्वारिका से और गोपी-गोप ब्रज से कुरुक्षेत्र पधारे हैं। वहीं सबका मिलन होता है। नाट्यकार ने नाटक का उद्देश्य प्रारम्भ में इस प्रकार बताया है :

प्रेम बड़े मन निपट ही, अरु आवे अति रोइ ।
करुना अरु सिंगार रस, जहां बहुत करि होइ ॥
लछीराम नाटक कर्यो, दीनी गुननि पठाइ ।
भेष रेष नितैन निपुन, लाए नरनि सधाइ ॥
सुरद मंडली जोर तहाँ, कीनो बड़ो समाजु ।
जो उनि नाच्यो सो कह्यो, कविता में सुख साजु ॥^१

इस नाटक में भी संवाद तथा घटनाएं प्रबन्धकाव्य की शैली में दिखाई गई हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

तब राधा ऐसी कही, तो वृन्दावन जाऊँ ।
के नित सँग विहूँ तहाँ, के ह्याँ सरहि सुसाउँ ॥५४॥
एवमस्तु हरि जू कह्यो, तब भाई सर तीर ।
श्री रुकमनि सुख पाइ के, पहराए नव चीर ॥५५॥^१

विवेचन

उपर्युक्त नाटकों की रचना विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में माधव-विनोद नाटक, जानकी-रामचरित नाटक, रामलीला-विहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न-विजय नाटक, नहुष नाटक तथा आनन्द-रघुनन्दन नाटक की रचना हुई। इन नाटकों में केवल 'माधव-विनोद' ऐसा है जो संस्कृत 'मालतीमाधव' का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष संपूर्ण नाटक मौलिक हैं और रामचरित तथा कृष्णचरित के आधार पर विरचित हैं।

१७वीं से १९वीं शताब्दी तक विरचित उपर्युक्त पन्द्रह नाटकों में छः नाटक रामचरित-सम्बन्धी, तीन नाटक कृष्णचरित-सम्बन्धी, एक दुर्गा-सम्बन्धी, तीन नाटक प्रतीकात्मक हैं, एक नीति-सम्बन्धी है। केवल शकुन्तला और माधव-विनोद ऐसे नाटक हैं, जो धार्मिक नहीं।

इन दोनों नाटकों की रचना में नाट्यकार को ग्रन्थ-निर्माण की प्रेरणा अपने अन्तःकरण से नहीं हुई है, प्रत्युत आश्रयदाताओं की रुचि का इसमें प्राधान्य है। नेवाज ने शकुन्तला नाटक अपने आश्रयदाता आजमशाह के प्रोत्साहन से लिखा और सोमनाथ ने भरतपुर के राजकुमार प्रतापसिंह की प्रेरणा से 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया।

इस प्रकार यदि शकुन्तला और माधव-विनोद को पृथक् कर दिया जाए तो शेष समस्त नाटक वैष्णव धर्म के प्रभाव से प्रभावित भक्त नाट्यकारों की अन्तःप्रेरणा से विरचित प्रतीत होते हैं। इन नाटकों की रचना का उद्देश्य नाट्यकारों ने भगवान की भक्ति ही माना है। उदाहरण के लिए हनुमन्नाटक को देखिए :

शुभ लच्छन द्रुच्छन सुदेस कविराम विचच्छन ।
कृष्णदासतनु कुल प्रकास जस दीपक रच्छन ।

रघुपति चरित्र तिन यथावति प्रगट ३ शुभलगन गरि ।
दे भक्तिदान निर्भय करहु जय रघुपति रघुवंश मणि ॥^२

१. कृष्णभरण नाटक, कृष्णजीवन लच्छीराम (छठा अंक) छन्द ५४-५५

२. हनुमन्नाटक, कविराम, प्रकाशक भारत जीवन, काशी, १० ४२७

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णव धर्म के नवजागरण का प्रभाव हिन्दी नाट्य-कारों पर इतना पड़ा कि वे रामकृष्ण के चरित से कथा-वस्तु का संविधान करने लगे। यद्यपि रास की शैली पर सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध होते रहे, किन्तु वस्तु-संविधान संस्कृत-पद्धति के अनुसार ग्रंथों में विभाजित होने लगा। ग्रंथ शब्द के अतिरिक्त संस्कृत-नाट्यशास्त्र का अन्य कोई बन्धन एक के अतिरिक्त किसी नाट्यकार को मान्य न हुआ। इस आलोच्यकाल में एक ही नाट्यकार ऐसा है, जिसने संस्कृत-नाट्यशास्त्र के समग्र नियमों का पालन अनुसृत नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' में करना चाहा है। कृष्ण मिश्र के प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद महाराज यशवन्तसिंह ने मूल के अनुसार ही किया है। इस कारण श्लोक का अनुवाद पद्य में और गद्य का अनुवाद गद्य में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज यशवन्तसिंह संस्कृत-शैली पर हिन्दी नाटकों का निर्माण देखना चाहते थे। उन्हें रास-शैली पर किसी नाटक ग्रंथ को आद्योपान्त छन्दोबद्ध रूप में विरचित करना रुचिकर नहीं प्रतीत होता था। किन्तु उनकी यह नवीन शैली उन्हीं तक सीमित रही। तीन सौ वर्षों में किसी अन्य नाट्यकार ने उस शैली पर नाट्य-रचना नहीं की। इससे यही प्रमाणित होता है कि रास-शैली जनता में इतनी प्रिय बन चुकी थी कि संस्कृत-शैली पर विरचित नाटकों का कोई मूल्य ही नहीं था। यही कारण है कि हिन्दी नाटकों में संस्कृत-शैली का पूर्ण प्रभाव इस काल के उपरान्त ही मिलता है।

संस्कृत-शैली पर विरचित बीसवीं शताब्दी के नाटकों का विवेचन करने से पूर्व उन समालोचकों का शंका-समाधान करना आवश्यक है, जो उपर्युक्त छन्दोबद्ध नाटकों को नाटक न मानकर प्रबन्धकाव्य की कोटि में परिगणित करते हैं।

ब्रजभाषा के द्वितीय उत्थान के इन नाटकों को कुछ समालोचक नाटक कहना भी उचित नहीं समझते, इन्हें प्रबन्धकाव्य की कोटि में रखते हैं।^१ यह विषय प्रति विवादास्पद बन गया है कि हनुमन्नाटक आदि हिन्दी के नाटक काव्य की कोटि में आते हैं अथवा नाटक की श्रेणी में।

सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि क्या आज से तीन शताब्दी पूर्व नाटक का वही तात्पर्य समझा जाता था, जो आज ड्रामा से माना जा रहा है? आज ड्रामा का क्या अर्थ है? आज ड्रामा कहते ही हमारे नेत्रों के सम्मुख आधुनिक प्रणाली से सुसज्जित रंगमंच पर अभिनेय वह खेल आता है, जिसके कथानक में मानस-बन्धुष की भावना-प्रत्यंभा को इतना तनाव देने की शक्ति होती है कि कुतूहल का बाण सनसनाता हुआ हृदय को चीरकर निकल जाता है। अर्थात् कौतूहल, विस्मय और सनसनी पटुंचाने-वाले कथानकों से पूर्ण मनोहारी अभिनय दिखानेवाले खेल ड्रामा कहलाते हैं।

सम्भव है, ड्रामा का यह अर्थ अद्यतन न रह गया हो। ड्रामा का रूप जनता की रुचि के साथ-साथ बदलता रहता है और जनरुचि काल के चक्र के साथ चलता

है; वह स्थायी नहीं रहती। यदि जनरल स्थायी नहीं तो नाटक के स्वरूप भी स्थायी कैसे हो सकते हैं ?

यह स्थिति केवल हमारे ही देश में नहीं, संसार के अन्य देशों में भी पाई जाती है। गत शताब्दी के मध्य तक शेक्सपियर के नाटक भावार्थ माने जा रहे थे, किन्तु अब उनका वह महत्त्व संशयात्मक बन गया है। बर्नार्ड शॉ ने लिखा है :

‘शेक्सपियर की गहराई की अब चर्चा करना निरर्थक है। उसमें संगीत के अतिरिक्त कुछ अब रह नहीं गया है। ‘पियरजिट’ के सामने ‘हेमलेट’ बेरीड़ की मूर्ति है, ‘नोरा हेल्मर’ के सामने ‘हमोजेन’ खिलौना-मात्र और ‘जूपिलन’ के सामने ‘ओथेलो’ इटालियन अपिरा की परम्परा-मात्र है।’^१

उपर्युक्त उद्धरण यह प्रमाणित करता है कि अंग्रेजी नाटकों का रूप तीन सौ वर्ष में इतना बदल गया है कि वे प्रसिद्ध नाटक, जिनको शेक्सपियर की अमर कृति माना जाता था, आधुनिक युग में ‘संगीत-मात्र’ कहे जाने लगे हैं। इसी प्रकार यदि हिन्दी के प्राचीन नाटकों को आज केवल नाटकीय काव्य (ड्रामेटिक पोइटरी)^२ कहा जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आधुनिक नाट्यकला की कसौटी पर प्राचीन नाट्यकारों की कृतियों को कसना उन्हें न्याय से वंचित रखना है। किसी भी कलाकार को आज की समृद्ध कला के दृष्टिकोण से देखने से उसका समुचित मूल्यांकन न हो सकेगा। काल, स्थान और परिस्थिति को सम्मुख रखकर किसी कलाकार की कला का मूल्यांकन करना ही उचित है। एतदर्थ उन नाटकों के देश, काल और परिस्थिति को सामने रखकर उनके नायकत्व की परख करनी चाहिए।

हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाटकों को नाटक न माननेवाले विद्वानों की प्रथम युक्ति यह है कि ये नाटक पद्यबद्ध हैं, और पात्रों का वार्तालाप पद्य में होता है, जो अस्वाभाविक है। हमारा मत यह है कि पद्यबद्ध संवाद को इसी कारण तो हेय और अनुपयोगी समझा जाता है कि इससे नाटक में अस्वाभाविकता आ जाती है। किन्तु पद्य के कारण न तो नाटक में अस्वाभाविकता आती है और न अस्वाभाविकता के कारण नाटक नाटक नहीं रह जाता। सत्य तो यह है कि नट की क्रिया का नाम नाटक है। इसलिए नाटक का मुख्य लक्षण है क्रियाशीलता, जिसकी अभिव्यक्ति का साधन अभिनय है। अतः अभिनय नाटक का प्राण है। अब रही भाव व्यक्त करने की बात। कोई कवि पद्य-शैली में अपने आशय को भली प्रकार प्रकट कर सकता है और कोई गद्य द्वारा। जैसे बाणभट्ट का अधिकार गद्य पर अधिक था, उसने गद्यमय काव्य लिखे। इसी प्रकार बूनानी नाटककारों तथा शेक्सपियर ने बलक वसं में रचना की, किन्तु पद्यबद्ध होने से उनका नाटकत्व तो नहीं नष्ट हो जाता।

एक बात को विस्मृत नहीं करना चाहिए। ३०० वर्षों में—सत्रहवीं शताब्दी से

१. नई भारा, ‘बर्नार्ड शॉ-जंक’, पृ० २५

२. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी, भवन प्रकाश, पृ० ७

लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक—अंग्रेजी में जितने नाटक लिखे गए, वे प्रायः पद्यबद्ध थे। फिर हिन्दी ही के नाटकों पर क्यों आपत्ति उठाई जाती है ?

शकुन्तला नाटक का अनुवाद भी जब नेवाज कवि करने लगे तो उन्होंने गद्य को भी पद्य में परिणत कर दिया। यहां तक कि रंगमंच के संकेत भी पद्यबद्ध होने लगे। उनका शकुन्तला नाटक पद्यमय है, गद्य का उसमें नाम तक नहीं।

विचारणीय विषय यह है कि अनूदित नाटकों में भी पद्य-मदति का कारण क्या था ? इस परिवर्तन का कारण ढूँढने के लिए तत्कालीन जन-नाटकों, रास और स्वांग की प्रवृत्तियाँ समझ लेनी चाहिए। उस युग में लिखे जानेवाले नाटकों में गद्य-भाग और संवाद-चमत्कार घटते-घटते न्यूनतम एतदर्थ उपेक्षणीय बन गए थे। पाँच-छः शताब्दियों तक जन-नाटक केवल संगीतमय होते रहे।

“The prose and the dialogue are thereby reduced to a minimum and the little that remains of them loses all dramatic quality for the simple reason that everything of importance is expressed in verse.”^१

उपर्युक्त उद्धरण से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो तत्कालीन मनोवृत्ति पद्य की ओर झुकी हुई थी, दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि जो प्रणाली एक काल में अस्वाभाविक मानी जाती है, वही दूसरे काल में स्वाभाविक समझी जा सकती है। फिर स्वाभाविकता का नित्यरूप क्या हुआ ? जो कुछ एक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है वही दूसरे के लिए अस्वाभाविक, कृत्रिम। इतना ही नहीं, जो कुछ एक व्यक्ति के लिए एक समय स्वाभाविक है वही उसी व्यक्ति के लिए दूसरे अवसर पर अस्वाभाविक हो सकता है। नाटककार विभिन्न पात्रों की रुचि का ध्यान रखकर उसके अनुरूप संवाद की योजना करता है। इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर टी० एस० इलियट ने एक पात्र के मुख से यह सिद्धांत प्रमाणित किया है कि :

“The human soul, in intense emotion, strives to express itself in verse.”

अर्थात्—मानव भावातिरेक में अपने विचारों की अभिव्यक्ति छंद में करता है।

दूसरा पात्र कहता है :

“All poetry tends towards drama, and all drama towards poetry.”^२

अर्थात्—सभी काव्यों में नाटकीयता और नाटकों में काव्यात्मकता पाई जाती है।

इसलिए किसी नाटक को छन्द-बाहुल्य के कारण नाटक न कहना समुचित नहीं प्रतीत होता।

दूसरा आक्षेप यह है कि हिन्दी के प्राचीन नाटकों में क्रियाशीलता नहीं है। यह आक्षेप नितान्त निर्मूल है। व्याख्यान दो प्रकार का हो सकता है, साभिनय और

१. हिन्दी आफ संस्कृत लिटरेचर, डा० दासगुप्ता, पृ० ४४५

२. Problems of the Drama, p. 29

अभिनयशून्य। साम्प्रतिक व्याख्यान ही नाटक है। क्या अभिनय को ग्रन्थों में दिखाया जा सकता है? भवभूति के उत्तररामचरित में क्रियाशीलता की मात्रा अस्थूल है तो क्या वह नाटक नहीं है? उसपर इतना ही दोष लगाया जा सकता है कि क्रियाशीलता की कमी है, किन्तु उसे नाटक ही न मानना क्या उचित है?

तीसरा लक्षण है कि संस्कृत से प्रभावित होने पर भी ये नाटक नांदी, प्रस्तावना तथा भरतवाक्य आदि नाटकीय नियमों का परिपालन नहीं करते। इसका उत्तर तो स्पष्ट है। यह तो हिन्दी की मौलिकता है कि उसने प्राचीन सभी बन्धनों से अपने को मुक्त रखा है। ये नाटक संस्कृत की शैली का अनुसरण करते ही कब हैं? ये नाटक संस्कृत के नियमों की दासता मानते ही नहीं, यही स्वतन्त्रता तो हिन्दी नाटकों का अलंकार रही है। यह नाटक-साहित्य उस अन्तर्बर्तिनी जनधारा से निकला है, जो आदिकाल से स्वतन्त्र और अबाध गति से बहती चली आ रही है।

चौथा आरोप है कि ये नाटक जनता से इतने दूर रहते हैं कि उनमें जनजीवन के रोग की ओर संकेत और उनके निदान तथा उपचार का कहीं पता ही नहीं अर्थात् ये नाटक अपने उद्देश्य से दूर, जलती हुई विश्व-ज्वाला की शान्ति का प्रयास न करके, वास्तविक उद्देश्य से दूर रहकर जगती से उदासीन संन्यासी के समान देवस्तोत्र करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें न मानवता की सुधि है न सांसारिकता की परख। वे तो देवता अथवा अतिमानव के गुणगान में मग्न हैं। अतएव इन नाटकों को देवस्तोत्र क्यों न कहा जाए?

इसका उत्तर यह है कि यदि देवता-सम्बन्धी नाटकों को देवस्तोत्र कहा जाता है तो मनुष्य-सम्बन्धी नाटकों को मनुष्यस्तोत्र क्यों न कहा जाए? यदि मनुष्यस्तोत्र नाटक कहे जा सकते हैं तो वे देवस्तोत्र नाटक क्यों न कहे जाएं? मनुष्यस्तोत्रों को नाटक इसीलिए तो कहते हैं क्योंकि वे अभिनयशील हैं। इसी प्रकार देवस्तोत्र में अभिनय विद्यमान होने से वह भी नाटक नहीं तो और क्या है? देवस्तुति और मानव-स्तुति जनता की रुचि के अधीन होती है। उस युग में जनरुचि देवस्तुति की ओर थी किन्तु आज की जनरुचि मानव-प्रशंसा की ओर है।

इसलिए हमारा यह मत है कि हिन्दी के प्रथम उत्थान की कृतियां, जिनका उल्लेख किया गया है, हिन्दी के मौलिक नाटक हैं। ऐसी कोई युक्ति नहीं प्रतीत होती, जिससे इनको नाटक न माना जाए।

उपसंहार

हम सिद्ध कर आए हैं कि रामायण महानाटक से प्रद्युम्नविजय तक विरचित नाटकों में केवल महाराज यसवन्तसिंह-कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' संस्कृत नाटक का अनुवाद है, शेष नाटक न तो संस्कृत के अनुवाद हैं, न उनकी शैली पर लिखे गए हैं। संस्कृत नाटकों का नाम-साम्य और यन्त्र-तन्त्र भाव-साम्य इनमें अवश्य पाया जाता है, किन्तु

इनके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों से इनमें इतना अधिक वैषम्य उपलब्ध है कि इनकी सृष्टि संस्कृत नाटक की परम्परागत शैली के आधार पर मानी ही नहीं जा सकती। संस्कृत नाटकों की तरह नाम और कथावस्तु का कारण भी रहा होगा। संस्कृत-परम्परा में परिपालित विद्वानों को जन-नाटक-शैली के नाट्य-साहित्य का रसास्वादन कराने के उद्देश्य से संस्कृत नाटकों का नाम तथा कथावस्तु रखना कदाचित् अधिक उपयोगी समझा गया होगा। जिस प्रकार तुलसी ने संस्कृत के विविध ग्रन्थों के सार-भूत काव्य 'रामचरितमानस' द्वारा हिन्दी-जगत् को ऐसा ग्रन्थ दिया जो संस्कृतविद् तथा साधारण जनता दोनों में प्रचलित हुआ, उसी प्रकार 'हनुमन्नाटक', 'समयसार', 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि नाटक दोनों वर्गों को मान्य और कल्याणकारी सिद्ध हुए। संस्कृत के विद्वानों को हिन्दी-नाटकों में संस्कृत नाटकों का कथानक देकर आकर्षित करना सहज था और रास-शैली द्वारा जन-साधारण को इनका अभिनय दिखाना सम्भव था। इन नाटकों के द्वारा संस्कृत और भाषाविद् जनता को समीप लाना भी सम्भव था। बनारसीदासजी ने अमृतचन्द्राचार्य-कृत समयपाहुड़ के गूढ़ कलश को समझने-वाले संस्कृत विद्वानों तथा समयमार पढ़नेवाले हिन्दी भाषा-भाषियों को सुलभ रीति से नाटक का रसास्वादन कराया। समस्त जनता को विविध संस्कृत नाटकों का सार जन-नाटक-शैली के पात्र में रखकर रसास्वादन कराने का पुनीन प्रयास इन नाट्यकारों की मौलिकता का परिचायक है। इसका प्रमाण आलोच्य नाटक से उद्धृत किया जा सकता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रारम्भ में नाट्यकार लिखते हैं :

बोधचन्द्र के उदय को, नाटक सरस सुग्रन्थ ।
तेहि छाया भाषा करी, प्रकट मुक्ति को पन्थ ॥
कछुक रीति बाशिष्ठ की, कछु गीता की उक्ति ।
कछु कछु अष्टावक्र पुनि, कहीं वेद की उक्ति ॥
कहूँ भागवत को मतो, कहूँ सन्त अनुमान ।
सुलभ किए सब जगत को, जानो सन्त मुजान ॥
कहूँ भारत कहूँ सांख्य मत, कहूँ अपनी अनुमान ।
सुलभ किए सब नरन को, जानो जान अजान ॥'

उपयुक्त उद्धरण से दो बातें परिलक्षित होती हैं। एक तो यह है कि नाटक-रचना में न केवल संस्कृत ग्रन्थों का ही आधार है प्रत्युत 'कहूँ अपनी अनुमान' भी है। दूसरी बात यह है कि 'जान और अजान', ज्ञानी तथा अज्ञानी, संस्कृत तथा अपढ़ सभी के लिए नाटक का मूल उद्देश्य बोधगम्य रूप में रखा गया।

अतएव हमारा यह मत प्रतिपादित हो गया कि हिंदी के प्रारम्भिक साहित्यिक नाटक मौलिक हैं और नाटक की कोटि में आते हैं, ये काव्य अथवा ड्रामैटिक पोएट्री 'नाट्य काव्य' नहीं हैं। डा० सोमनाथ यह आपत्ति उठाते हैं कि "सब रचनाएं कविता

में हैं। इनमें पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान का कोई संकेत नहीं, अंक-विभाजन और दृश्य-परिवर्तन का कोई चिह्न नहीं, गति-निर्देश के लिए छन्दों का सहारा लिया गया है, लेखक स्वयं अनेक स्थानों पर एक पात्र बन गया है।^१ उनकी यह आपत्ति निराधार है। रास-शैली की परम्परा पर ध्यान न जाने के कारण उनको यह शंका उत्पन्न हुई है। हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने जन-नाटकों की शैली अपनाई है, जिसमें कविता दोष नहीं, गुण मानी जाती है और अन्य बातें हेय समझी जाती हैं। नाटकों की कथावस्तु संस्कृत के नाटकों, धर्मग्रंथों तथा काव्यों से लेकर जनता की रुचि को परिभाजित किया गया है और संस्कृतज्ञ विद्वानों का ध्यान हिन्दी नाटक-शैली की विशेषता की ओर आकर्षित किया गया है। एतदर्थ हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने देश-काल का ध्यान रखकर नाटकों द्वारा जन-रंजन तथा उन्नयन का जो स्तुत्य कार्य किया है वह विद्वत्-समाज और जन-समाज दोनों के लिए कल्याणकारी था। हमारे देश में काव्यकार और नाट्यकार दोनों ही कवि हैं, कविता का प्रयोग दोनों करते हैं, अतएव छंदोबद्ध होने के कारण नाटक अव्यकाव्य नहीं बन जाता। हां, काव्य और नाटक में एक अन्तर अवश्य है।

“The drama stands away from pure poetry in that it is primarily an art-form that makes its appeal to a precise and often limited body of spectators. A poet may in seclusion produce his prophetic rhapsodies independently of his public ; he may write more for the readers yet unborn than for the readers of his time but dramatist must always bear in mind the audience before whom he is to present his work”^२

जिस प्रकार कवि को वर्तमान समाज की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी भविष्य की, उसी प्रकार नाट्यकार को वर्तमान समाज की जितनी चिन्ता रहती है उतनी भविष्य की नहीं।

आलोच्यकाल के नाट्यकारों ने समाज की स्थिति को समझा। उन्होंने अनुभव किया कि पंडित-समाज जननाट्य की शैली की रमणीयता से पराङ्मुख हो रहा है और साधारण जनता संस्कृत नाटकों के भाव-गाम्भीर्य से वंचित रह जाती है। अतएव ऐसे नाटकों की आवश्यकता थी जो दोनों वर्गों को रमणीय और उन्नायक सिद्ध हों।

श्री बनारसीदास, हृदयराम तथा गुरु गोविन्दसिंह प्रभृति नाट्यकारों ने युग की इस मनोवृत्ति को समझा और तदनुकूल नाटक-साहित्य का सृजन किया। यही कारण है कि आलोच्य नाटकों में भावधारा तो संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर चलती रही किन्तु शैली जननाटक की ही अपनाई गई।

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ७

२. Introduction to Dramatic Theory by Allar Byce Nicoll M.A., p. 20

सातवां अध्याय

तृतीय उत्थान सम्वत् १९०० वि०

संस्कृत-शैली के प्रथम हिंदी-नाट्यकार

भारतेन्दुजी' ने अपने नाटक नामक ग्रन्थ में देवमाया प्रपंच, प्रभावती तथा आनन्द-रघुनन्दन को सर्वप्रथम नाटक-रीति पर विरचित नाटक माना है। बाबू गुलाबराय तथा बाबू बजरत्नदास' का मत है कि आनन्द-रघुनन्दन ही हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है। यह धारणा संस्कृत की नाट्यशैली पर नान्दी, सूत्रधार तथा विष्कंभक आदि के कारण बनी है, अन्यथा हिन्दी का प्रथम नाटक तो राम के रूप में गीतिनाट्य है, जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया था, जिसके विषय में गत अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

आनन्द-रघुनन्दन के रचयिता रीवां के महाराज विश्वनाथसिंह हैं। इनके पिता महाराज जयसिंह साहित्य-प्रेमी और साहित्य-निर्माता थे। इन्होंने प्रायः बीस पुस्तकों की रचना स्वतः की थी। ऐसे साहित्यिक राजपरिवार में विश्वनाथसिंह का जन्म सम्वत् १८४६ में हुआ। इन्हें बाल्यकाल से ही अध्ययन की लगन लग गई थी। विद्वानों का सत्संग मिला और देश-देशान्तर में भ्रमण का अवसर भी प्राप्त हुआ। संवत् १८७० विक्रमी में इनकी योग्यता पर रीझकर महाराज जयसिंहजी ने अपने जीवन-काल में ही इन्हें राजगद्दी सौंप दी। इनके दरबार में विद्वानों का स्वागत-सत्कार और भी अधिक उत्साह से होने लगा। कविता और कवियों को आश्रय मिला। दोनों को पल्लवित होने का अवसर प्राप्त हुआ। देश के विभिन्न भागों से विद्वान आने लगे। विभिन्न प्रान्तों में विरचित साहित्य की समालोचना चलने लगी। इस काल में बंगाल अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हो चुका था और वहां हिन्दी भी पहुंच चुकी थी। संवत् १९०० वि० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जहां संस्कृत तथा अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का पठन-पाठन भी प्रारम्भ हो गया। मिरीरामपुर मिशन निर्मित

१. भारतेन्दु-नाटकावली, श्यामसुन्दरदास, पृ० ८३६-३७

२. हिन्दी नाट्य-विमर्श, बाबू गुलाबराय, पृ० ७१

३. हिन्दी नाट्य-साहित्य, बाबू बजरत्नदास, पृ० ५८

हो चुका था, जहाँ मुद्रण-यन्त्र के साधन से पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं और उनका प्रचार होने लगा ।

संस्कृत और अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार द्वारा भारतीय और यूरोपीय दो विचार-धाराएं परस्पर टकराने लगीं । इस संघर्ष से देश में नवजागरणकाल आया । बंगाल में मिशनरी कार्यकर्ताओं और पंडितों के प्रयास से संस्कृत का पठन-पाठन उत्साह के साथ चल पड़ा । प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है :

The conquest of Bengal by the English was not only a political revolution but involved a greater revolution in thought and ideas, in religion and society.

बंगाल में अंग्रेजी नाट्यशाला का निर्माण

बंगला के नाटक-क्षेत्र में नई उर्वरा शक्ति क्रमशः आ रही थी । कारण यह था कि कलकत्ता नगर में बसनेवाली विनोद-प्रिय जनता ने संवत् १८१३ विक्रमी में सर्वप्रथम एक नाट्यगृह निर्माण कराया । तदुपरान्त संवत् १-३२ वि० में कलकत्ता थियेटर का निर्माण हुआ । उस समय वारेन हेस्टिंग्स और सर इ० इम्पे आदि ने एक लाख रुपये के चन्दे से उक्त रंगशाला को निर्मित कराया था । संवत् १८३७ वि० आते-आते अंग्रेजी नाटकों के अभिनय का तांता लग गया । अंग्रेजों में नाटकों का बाहुल्य देखकर देश-भाषा-प्रेमी विद्वानों की आंखें खुजीं । भारतीय भाषा में नाटक-रचना की ओर प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान गया । हम पूर्व कह आए हैं कि संस्कृत का अध्ययन पुनः होने लगा था । अतः यह स्वाभाविक था कि नाट्यकार अपनी प्रचुर पितृ-नाट्य-संपत्ति को विस्मृति के गर्त से खोदकर निकालते ।

इसी समय देशी भाषाओं का महत्त्व क्रमशः बढ़ने लगा था । फोर्ट विलियम कालेज में सल्सूलालजी, मुंशी सदासुखलाल आदि हिन्दी ग्रन्थ-प्रणयन के कार्य में संलग्न थे । स्वभावतः विद्याप्रेमी कुंवर विश्वनाथसिंह उस साहित्य की ओर दृष्टि रखने लगे । विश्वनाथसिंहजी ने कई काव्यों की रचना की । वे स्वयं कवि थे और उनके यहां कवियों का निरन्तर समागम रहता था । कविता से मंजी लेखनी को नाटक लिखने की प्रेरणा अन्तःकरण से मिली । राजा का परिवार रामोपासक था । ये आनन्द-रामायण काव्य की रचना कर चुके थे । रघुनन्दन की कथा से बढ़कर आनन्ददायिनी और कौन कथा होती । अतः उनके मानस-पटल पर जिस आनन्ददायी रघुनन्दन का चित्र खिंच गया था, उसीको नाटक के रूप में उन्होंने जनता के सामने रखा । आनन्द-रघुनन्दन से पूर्व १९वीं शताब्दी तक राम-सम्बन्धी नाटकों का प्रणयन होता रहा । किन्तु इन सभी नाटकों में संस्कृत-शैली का पूर्ण रीति से अनुसरण न किया गया था । रास की प्राचीन शैली (Technique) ही प्रधान रूप से चल रही थी । यूरोप में संस्कृत नाटकों की प्रशंसा देखकर भारतीय विद्वानों का ध्यान पुनः उनकी ओर आकर्षित हुआ । शकुन्तला-नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का सफल अभिनय रंगमंच पर होने और उसकी

सर्वत्र चर्चा फैलने से संस्कृत नाटकों के प्रति श्रद्धा बढ़ी। बंगाल में रामनारायण तर्करत्न ने संस्कृत-शैली पर बंगला में नाटक की रचना प्रारम्भ कर दी थी। ऐसे पुनरुत्थान के युग में नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर नाटक लिखना श्रेयस्कर समझा गया। परिणाम यह हुआ कि विश्वनाथजी ने अपना नाटक नये दृष्टिकोण से लिखना प्रारम्भ किया। उनका हृदय विशाल था, उनकी बुद्धि विकसित थी, रुचि संस्कृत थी, ज्ञान विस्तृत था और अनुभव अपार था। इन सब शक्तियों ने मिलकर हिन्दी नाटकों में ऐसी क्रांति पैदा कर दी, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने संस्कृत-शैली पर वस्तु-संविधान में केवल 'श्रंग' का प्रयोग किया था। विश्वनाथजी ने नाट्यशास्त्र के अन्य नियमों को भी अपनाया।

गद्य का प्रयोग

संवत् १९०० तक लिखे जानेवाले नाटकों में प्रायः गद्य-शैली अलक्ष्य है और यदि कहीं प्राप्त हो भी जाती है तो उसका रूप नितान्त उपेक्षणीय है। विश्वनाथजी ने सर्वप्रथम मौलिक नाटकों में ब्रजभाषा की गद्य-शैली का प्रयोग मुख्य पात्रों से कराया। उन्हें भरतमुनि का भाषा-सम्बन्धी नियम सदैव स्मरण रहता था कि पात्रों की भाषा में स्वाभाविकता होनी चाहिए। पात्र जिस प्रान्त के हों वहाँ की भाषा का प्रयोग ही भरतमुनि' को ग्राह्य था। नाट्यकार ने इस नियम का पूर्ण पालन किया है। यही कारण है कि इस नाटक में एक-दो नहीं, प्रत्युत भारत की कई प्रमुख भाषाओं का दर्शन होता है। नागकन्या नाग भाषा का प्रयोग करती है तो मिथिला के गायक स्वयंवर-काल में मैथिली में गान सुनाते हैं। राम जब वनगमन के समय ग्रामों के समीप जाते हैं, तो ग्रामीण स्त्रियों की भाषा अपभ्रंश' हो जाती है। राम जब किष्किन्धा में पहुँच जाते हैं, तो महाराष्ट्र प्रदेश में मराठी भाषा का प्रयोग मिलता है। राम और आगे जाते हैं और करनाटक प्रान्त में पहुँचते हैं तो करनाटकी' भाषा का दर्शन होता है। इसी प्रकार द्रविड़' और पेशाची' का प्रयोग भी हुआ है।

समन्वय-साधना

क्या भाषा, क्या आस्थान, क्या गद्य, क्या पद्य, क्या श्रंग, क्या दृश्य, क्या प्रकृति-वर्णन, क्या चरित्र-चित्रण, क्या विचार-दर्शन, क्या संदेश, सभी ज्ञातव्य विषयों

१. नाट्यशास्त्र (भरतमुनि), अध्याय सत्रह, पृष्ठ ३७२ से ३७८ तक
Gaikwad's Oriental Series, Vol. II, Oriental Institute, Baroda
२. अपभ्रंश का प्रयोग, पृष्ठ ५०
३. करनाटकी, पृष्ठ ७६
४. द्रविड़ भाषा का प्रयोग, पृ० ७८
५. पेशाची, पृ० ८५

में विश्वनाथजी समन्वयवादी प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है, कि रामकथा-सम्बन्धी प्रायः सभी काव्यों और नाटकों का अध्ययन करके उन्होंने यह नाटक लिखा था। नाट्यशास्त्र को आलोड़ित करके नाटक की विभिन्न परम्पराओं को आत्मसात् कर लिया था, नागरिक और ग्रामीण, सुपठित और अल्पपठित सभीकी रुचियों को उन्होंने पहचान लिया था। संस्कृत को समाहत करने के विचार से सर्वत्र रंगमंच के संकेत संस्कृत में ही मिलते हैं। इस प्रकार देशी भाषा में विरचित रामचरित-रूपी मणि-माणिक्य को अथ से इति तक संस्कृत-संकेतों से गूँथकर एक नवल हार का उपहार विश्वनाथजी ने देश को दिया है। इसमें विद्यापति, तुलसी और केशव की काव्य-छटा, आदिकवि वाल्मीकि का दर्शन, भवभूति का प्रकृति-वर्णन,^१ कालिदास का नाटकत्व, सूर का वाग्वैदग्ध्य स्थान-स्थान पर झलकता है। बाण तथा सुबन्धु की अलंकारमय गद्य-शैली तथा लल्लूलालजी जैसा अनुप्रास-प्रयोग भी विद्यमान है।

विश्वनाथजी ने वेदकाल की यज्ञक्रिया से प्रारम्भ करके सूर-तुलसी की भक्ति-व्यवस्था तक के धार्मिक विचारों को अपनी नाट्यकला के आवरण में इस प्रकार सजाकर रखा है कि पाठक का चित्त कलाचातुर्य पर विमुग्ध हो जाता है। विश्वामित्र की यज्ञक्रिया का दर्शन और स्थान-स्थान पर वेद-पाठ की मधुर ध्वनि दर्शक तथा पाठक के सामने वैदिककालीन भारत का दृश्य उपस्थित करती है। विश्वामित्र यज्ञ की रक्षार्थ ही दिक्जान राजा दशरथ के पास लोकहितकारी को मांगने आते हैं। दिक्शिर रावण अपने महान बल तथा अपनी राज्यशक्ति से उन्मत्त होकर वैदिक क्रिया तथा वैदिक धर्म को नष्ट करने का प्रयास कर रहा है। वेद का चिन्तन, वैदिक क्रियाओं का अनुसरण और याग-यज्ञों का संवर्धन करनेवाले ऋषियों का कार्यावरोधन हो रहा था। ऐसी संकटापन्न स्थिति में नाटक का बीजारोपण होता है, किन्तु जगहितकारी विविध विपदाओं का सामना करने के उपरान्त भारत देश में ऐसी व्यवस्था बना देते हैं कि सर्वत्र आनन्द-मंगल की ध्वनि सुनाई पड़ती है। युद्ध की अस्त्र-भङ्गार के पश्चात् नूपुर^२ की ध्वनि कानों को आकर्षित करती है। सर्वत्र सुख-शांति फैल रही है। इस प्रकार देश संकट की स्थिति से निकलकर आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत-शैली के हिन्दी के प्रथम नाटककार विश्वनाथजी ने वैदिक काल से चली आती हुई धार्मिक परम्परा को रामभक्ति-धारा में जोड़कर दीर्घ-कालीन इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया है।

१. सूरदास, किरह-वर्णन, गोपियों जैसा

भवभूति, योदावरी-वर्णन, कलिदजा जैसा

२. ततः प्रबिशान्धस्सरो गंधर्वाश्च। सर्वे महिजा हितकारिणो प्रणम्य नृत्यमारभते।

—न० प० आनन्दरघुनन्दननाम नाटकम्, लाइट थैथालय, सं० १६२८ वि०, पृ० १३६

नाटक की रचना-शैली

सात अंकों में नाटक समाप्त किया गया है। कथा का क्रम प्रायः वही है जो तुलसी ने रखा है।

अंक और दृश्य

इस नाटक में सात अंक हैं और प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं। दृश्य-परिवर्तन की पद्धति विश्वनाथ ने यह बनाई है कि जहाँ 'सर्वे निष्क्रान्ताः' आ जाए, वहीं दृश्य-परिवर्तन समझ लेना चाहिए। इस प्रकार जहाँ एक कथांश समाप्त होता है, वहीं दृश्य-परिवर्तन इस रूप में हो जाता है कि पाठक को पढ़ते समय कथा की शृंखला टूटती हुई नहीं प्रतीत होती।

रस

हमारे शास्त्रों में काव्य का उद्देश्य है सामाजिक के हृदय को रस-निमग्न करना और रस की निष्पत्ति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम नाटक माना जाता है। इसलिए अभिनवगुप्त ने 'नाट्यमेव रसः, रससमुदायो हि नाट्यम्' माना है। देखना यह है कि इस नाटक आनन्दरघुनन्दन में प्रधान रस क्या है? साधारणतः घामिक ग्रन्थों में शांति-रस प्रधान होता है। शांतिरस का स्थायीभाव निर्वेद है, किन्तु उसकी इसमें कहीं झलक भी नहीं। फिर इसमें प्रधान रस क्या है? वास्तव में यह नाटक वीरता से प्रारम्भ होता है। प्रथम अंक में जनहितकारी और डील धराधर धनुषबाण से सुसज्जित होकर मख-रक्षा को जाते हैं, मानो वीररस साकार जा रहा हो।

धनुषयज्ञ में भी लक्ष्मण की वीरता-भरी बातें सुनाई पड़ती हैं। वीररस का स्थायीभाव उत्साह है। इस नाटक में आद्योपान्त उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है। वह उत्साह जगहितकारी और दिक्शिर' दोनों के पक्ष में है। हनुमान,^१ अंगद और लक्ष्मण वीररस के प्रतीक जान पड़ते हैं।

वीररस के सहायक करुण और भयानक दोनों रस अंगीभूत होकर आते गए हैं। महिजा (सीता) के अपहरण के बाद हम राम को विनाप करते हुए पाते हैं, किन्तु ये अश्रुकरण उत्साह की अग्नि को घघकानेवाले सिद्ध हुए, उसे निर्दग्ध करनेवाले नहीं। वही महिजाहरण युद्ध का कारण हुआ। इस प्रकार महिजाहरण से पुनः प्राप्ति तक जगहितकारी तथा उनके सहायक वर्ग का जीवन अत्यन्त उत्साहपूर्ण रहा है।

अब विचारणीय विषय यह है कि आनन्द-रघुनन्दन को नाटक की किस कोटि में परिगणित किया जाए। बाल-रामायण को शारदातनय ने नाटक की 'भास्वर'

१. प्र० अंक, पृष्ठ २०

२. चतुर्थीक, पृष्ठ ७६

३. गंगानाथ कमेमोरेशन बाल्यम्

कोटि में परिगणित किया है। यह नाटक भी उसी शैली पर लिखा गया है। इसलिए इसे भी नाटक की 'भास्वर' कोटि में ही रखना चाहिए।

भास्वर नाटकों में वृत्ति भारती होती है और रस, वीर तथा अद्भुत। संघियां होती हैं—माला, नायक, सिद्धांग, ग्लानि, परिक्षय और मान्नावशिष्ट-संहार।

माला में पक्षी और विपक्षी स्पष्ट हो जाते हैं। आनन्द-रघुनन्दन के प्रथम अंक में ही यज्ञ के रक्षक लोकहितकारी और उसके विध्वंसक राक्षस अप्रत्यक्ष रूप से भास-मान होने लगते हैं। धनुषयज्ञ में यह बात कुछ-कुछ भलकने-सी लगती है कि दिक्विशार का सामना होगा, किन्तु परशुराम एक नया कांड भलग खड़ा कर देते हैं। इसलिए दोनों का साम्मुख्य कुछ काल के लिए स्थगित हो जाता है। दूसरी संधि नायक-सिद्धांग नाम की होती है, जिसमें नायक को धोखा दिया जाता है। इस नाटक में मारीच के छलमय व्यवहार के द्वारा राम को प्रतारित किया जाता है। तीसरी सन्धि है ग्लानि, इसमें आंशिक सफलता के दर्शन होते हैं। लंका को घेर लेने तक की स्थिति इसीके अन्तर्गत है। प्रमाण यह है कि दिक्विशार की विशाल सेना को जगहितकारी के सैनिक किस प्रकार पराजित कर सकेंगे—इस विषय में विभीषण भी चिन्तित है। चौथी सन्धि है परिक्षय। युद्ध में आंशिक सफलता मिलती है, किन्तु युद्ध के पीछे राम-लक्ष्मण को नागफांस लगा दिया जाता है। यहां तक परिक्षय सन्धि है। पांचवीं सन्धि है मान्नावशिष्ट-संहार। यह सन्धि नाटक के अन्त में अग्नि-परीक्षा के समय तक रहती है।

इस कोटि के नाटकों में नाट्यकार को हास्यरस के उपक्रम में कठिनाई होती है। शृंगाररस के नाटकों में हास्य के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है, किन्तु हास्य वीररस का बाधक हो जाता है। तथ्य तो यह है कि जहां जीवन और मरण का प्रश्न खड़ा हो, देश-निर्वासन के उपरांत पत्नीहरण और विभिन्न संकट उपस्थित हों, वहां हास्यरस को स्थान कहां। विश्वनाथजी ने इस तथ्य को समझ लिया था, किन्तु हास्यरस का नितान्त अभाव भी उन्हें खटकता रहा। एतदर्थ प्रारम्भ में ही हास्य की एक छटा उन्होंने दिखाई है।

नृत्य से नाटक प्रारम्भ होता है। रामजन्म की बधाई में नाच-गाना तथा उत्सव हो रहा है। यहीं नट अपनी नटी को बूढ़ रहा है, तो सभासद् कह रहा है, "अपनी दूसरी नटी से पूछ ले पहली कहां गई।" नट जाकर कहता है कि मेरी नटी तो महाराज के भौन में है, हुकुम हो तो टेर लेऊं।

सभासद्—अरे नट, यह तो बड़ा आश्चर्य है। महाराज का हुकुम है टेर ले।

नट—ये नटी, ये नटी, आवे-आवे।

[नेपथ्य में हां जी, हां जी, पहुंची-पहुंची।]

द्वितीय नटी—साहु-साहु यदि अपुखं कादुभं कभं।^१

१. अर्थ—शाबास, शाबास, तुमने अति अपूर्व कौतुक किया।

[इतने में विदूषक आता है।]

विदूषक—अरे नट, ऐसे मुंह मटकाय नैनन नचाय भूलनी भ्रमकाय सबके उर आनन्द
भरलाय हों न समझयो तेरी दूजी नटी प्रथम कौन बोली बोली ?

नट—यह नागकन्या है, नागभाषा भने है।

विदूषक—अरे नट, तैं नर यह नागिन कैसे संग भयो ?

नट—अरे विदूषक, तैं नहीं जाने है कि नारी गंगा है।

(प्रहस्य सभासदः) अरे विदूषक, तो दौरि याहि गहि हरगंगा हरगंगा कहन लग्यो।

नट—अरे या कहा करे है।

विदूषक—अरे बावरे हो हूं अस्तान करों हो।^१

तदुपरान्त नृत्य और संगीत प्रारम्भ होता है किन्तु क्षणिक सुख के पश्चात् ही विश्वामित्र आते हैं और राम को देशहित में संलग्न होना पड़ता है। इस कर्मपरायण वीर को राज्यारोहण तक चौदह वर्ष भूमि पर शयन मिला, कन्द, फल, फूल का अशन मिला और युद्ध की लगन में जीवन बिताना पड़ा। लंका में अयोध्या आने पर पुनः नृत्य, संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ती है। फिर तो रास-लीला की प्रत्यक्ष छटा, नायिका-भेद के समस्त साहित्यिक उदाहरण नर्तकियों के रूप में सामने आते हैं। सच बात तो यह है कि विश्वनाथमिह्र जैसे कुशल कवि हैं, वैसे ही प्रवीण नाट्यकार। इस नाटक में जितना रस काव्यमय भाषा के कारण मिलता है, उतना ही नाटकीय संवादों के। अंगद-रावण का संवाद कितना मनोहारी है। कदाचित् सबसे अधिक स्थान कवि ने इसी संवाद को दिया है। कारण यह है कि यहां नाट्यकार को नाट्यकला का परिचय देने का अवसर मिल गया है।^२

इस प्रकार विश्वनाथजी ने सर्वप्रथम नाटको में गद्य का शास्त्रीय रीति से प्रयोग किया। नान्दी, सूत्रधार, विष्कम्भक, भरतवाक्य को हिन्दी नाटक में स्थान मिला। उन्होंने चरित्र-चित्रण और संवाद-योजना में पूर्ण सफलता पाई और भविष्य के नाटक-कारों को एक नया पथ दिखाया।

यदि इतनी ही विशेषता इस नाटक में होती तो भी हिन्दी नाट्यकारों का पथ-प्रदर्शन करने को यह पर्याप्त था, किन्तु इसमें और भी विशेषताएँ हैं। आज के कतिपय समालोचक^३ इसको पात्रों के बाहुल्य तथा नाम-वैचित्र्य के कारण उपहासास्पद बता रहे हैं। अब इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहिए।

नाटक का गुप्तभाव

इस नाटक में पात्रों की बहुलता पर कई आलोचकों की आपत्ति होती है, किन्तु

१. आनन्दरघुनन्दन नाटकम्, पृ० ६

२. नर्तकियों के नाम—कलकंठा, आनन्दलता, मदनमंजरी, अनंगसुन्दरी आदि

३. पृ० ६४ से ६६ तक

४. हिन्दी नाट्य-साहित्य, बजरत्नदास, पृ० ५६

अल्पसंख्यक पार्श्वों से इतना विशाल कार्य संभव भी न था। भारत देश को उस वेद-विरोधी शक्ति से, जिसको दशों दिशाएं मुकुट पहना रही थीं, बचाना कोई हंसी-खेल नहीं था। उस समय दो विचारधाराएं बह रही थीं—एक में जगहित की कामना थी, दूसरी संहार के लिए दशों दिशाओं में सिर उठा रही थी। एक के प्रतीक थे जगहितकारी (राम), दूसरी के दिक्शिर (रावण)।

इन दोनों पक्षों का संघर्ष शीलकेतु की पुत्री महिजा के स्वयंवर में होते-होते बच गया। शील और मही (धैर्य) से उत्पन्न बालिका जो संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, वह लोकहितकारी को स्वभावतः वरण करना चाहती थी। वही योग्य भी थे, क्योंकि उनमें सभी गुण विद्यमान थे और उन्होंने धनुष तोड़ने (प्रतिज्ञा-पालन) में सफलता पाई थी, एवं अपने सौजन्य से शीलकेतु की नगरी को विमुग्ध कर लिया था। इसके विपरीत दिक्शिर (रावण) ने अपने संयमरहित व्यवहार से नियम-भंग के द्वारा उस पृथ्वी की लक्ष्मी को पाने का प्रयास किया। यहां लोकहितकारी की प्रथम विजय हुई।

जगहितकारी के तीन भाई जगडहडहकारी, डील-धराधर और डिंभीदर (दंभहर) हैं, अर्थात् संसार के कल्याणकारी के तीन सहायक हैं, जग को आनन्दित करने वाले भरत, शेषनाग के अवतार लक्ष्मण और पाखंड के विनाशकारी शत्रुघ्न। इनके पिता (जगजान) संसार का ज्ञान रखनेवाले हैं। उनसे उत्पन्न इन चारों भाइयों में जगडहडहकारी और डिंभीदर अपराजित नगरी में जगहितकारी की आज्ञा से रह जाते हैं, किन्तु दण्ड की शक्ति रखनेवाले डील-धराधर (लक्ष्मण) जगहितकारी के साथ चल रहे हैं।

सुवर्णमृग के छत्र से जगहितकारी प्रतारित किए जाते हैं, और पृथ्वी की लक्ष्मी पर जगध्वंसकारी दिक्शिर अन्याय और अत्याचार द्वारा अधिकार करना चाहता है। उ३ असहायावस्था में त्रेतामल्ल, भुजभूषण और सुगल प्राप्त होते हैं। जगहितकारी को शक्ति, शोभा और मधुर कण्ठ की सहायता मिलती है। विपत्ति का सागर जगहितकारी की शक्ति से विकम्पित हो जाता है और मार्ग दे देता है। जगहितकारी के गुणों से रीझकर विभीषण (भयानक) भी भक्त बन जाता है, विभीषिका भक्त बन जाती है। दिक्शिर के भाई-बन्धु सभी पराजित होते हैं, किन्तु वह तब भी महिजा अर्थात् पृथ्वी की पुत्री लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है। उसके शक्तिप्रयोग से त्रेतामल्ल और डील-धराधर मूर्च्छित हो जाते हैं अर्थात् बल और दंडशक्ति कुछ काल के लिए कुण्ठित बन जाती है, किन्तु हिमालय की जड़ी अर्थात् प्रकृति की कृपा से जगहितकारी की पराजय विजय में परिवर्तित होने लगती है। दण्डशक्ति पुनः जीवित हो उठती है। जगहितकारी और दिक्शिर में घोर युद्ध होता है, जिसमें जगहितकारी की विजय होती है। इस प्रकार प्रेक्षकों को सद्नीति तथा लोकहित-चिन्तन की ओर यह नाटक संकेत करता है।

जिन नामों पर आज के समालोचकों को हंसी आती है वे नैतिकता की ओर संकेत करते हैं। यह एक उत्कृष्ट नीतिप्रधान नाटक (प्ले आफ मोरेलिटी) रचा गया है। भारतेन्दुजी ने इसके रहस्य को समझा था। अतः उन्होंने हिन्दी के प्रथम सफल नाटक की उपाधि से इसे विभूषित किया था।

इस नाटक में रसिकों को राम की रसमय चर्चा से मुग्ध और विरक्तों को नैतिकता के संकेत से आह्लादित करने की शक्ति संकलित कर दी है। इसमें जीवन-दर्शन और आनन्ददायी रस दोनों साथ-साथ—आदि से अन्त तक—चलते हैं। उन दोनों में ऐसी मैत्री है कि कभी एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, प्रत्युत सहायक बनते रहते हैं।

प्रबोधचन्द्रोदय, मोहराज-पराजय, समयसार आदि नाटकों में अध्यात्म-निरूपण की प्रक्रिया इतनी स्पष्ट भलकती है कि उसमें जीवन-दर्शन अध्यात्मशास्त्र का रूप धारण कर लेता है, किन्तु इस नाटक में उस ओर केवल संकेत-मात्र है और केवल नाम-साम्य द्वारा उसकी ध्वनि अर्थान् भंकार-मात्र सुनाई पड़ती है। इसकी ओर यदि विद्वान समालोचकों का ध्यान जाए तो कितने ही विचार-रत्न निकाले जा सकते हैं।

विश्वनाथजी की काव्यकला कहीं नाट्यकला से आगे बढ़ जाती है, कहीं नाट्य-कला और कव्यकला साथ-साथ दौड़ती हैं, तो कहीं नाट्यकला काव्यकला से बाजी ले जाती है। किन्तु सम्पूर्ण नाटक मिलाकर देखने से यह कहना पड़ेगा कि विश्वनाथजी का नाटकत्व काव्यत्व से बाजी ले गया है। निस्सन्देह विश्वनार्थसिंह ऐसे सफल नाट्य-कार हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को पात्रों के चरित्र-चित्रण में सन्निविष्ट कर देते हैं। वे नाटकीय परिस्थितियों के सच्चे पारखी हैं। प्रकृति की लीलाओं को पात्रों की लीलाओं के साथ ऐसी कला के द्वारा समन्वित कर देते हैं कि चकोर भी राम के साथ रोदन करता है, सुपर्ण गृह भी उनके लिए युद्ध करता है, सागर भी मार्ग दे देता है। आख्यान-परिवर्तन में कुशलता दिखाने का अधिक अवसर न पाकर चिरविश्रुत कथानक के अनुसार ही करुणा और हास्य, वीर और भयानक, अद्भुत और रोद्र रसों का परिपाक ऐसी कुशलता के साथ किया है कि उसी चिरपरिचित आख्यान में पग-पग पर आनन्दानुभूति होने लगती है। जहां-जहां वह क्रियाशीलता और वर्णन का पथ छोड़कर व्यंजना-शक्ति का आश्रय लेते हैं, वहां नाटक अधिक आकर्षक बन गया है।

पहले कहा जा चुका है विश्वनाथजी को सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा से सब प्रकार की सुविधाएं थीं। विद्वत्ता और अनुभूति में उनमें कौन अधिक थी, यह भी कहना कठिन है। कहीं-कहीं अनुभूति से पुस्तक-ज्ञान बढ़ा हुआ मालूम पड़ता है। भरतवाक्य के पूर्व ३५ प्रकार की नायिकाओं का नृत्य-संगीत नाटक की दृष्टि से कुछ अनावश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि काव्यरस के प्रवाह में यह त्रुटि अदृश्य-सी होती जाती है, किन्तु सर्वथा सुप्त नहीं हो जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि 'विश्वनार्थसिंह के

विचारानुसार जगहितकारी व्यक्ति जब आसुरी शक्तियों का दमन कर लेता है तो वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ मानसिक वृत्तियाँ नर्तकी के समान नृत्य करती हुई दिखालाई पड़ती हैं, किन्तु उसके अन्तःस्थ पर कोई विकारमय प्रभाव नहीं डाल सकतीं। जीवनमुक्त पर नर्तकियों का क्या कुप्रभाव पड़ सकता है ?

विश्वनाथजी अपने राम को जगहितकारी दिखाकर देशवासियों के सामने जगसेवा का आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। जगहितकारी दीनों के हितकारी हैं। जगहित के लिए वे राजपाट, धन, स्त्री आदि सर्वस्व अर्पण करते हैं। असंस्कृत भालू-बन्दरों के समुदाय को संस्कृत और सुखी बनाते हैं। शत्रु पर भी कल्याण की भावना रखते हैं।

इन गुणों के साथ-साथ इस नाटक में कई दोष भी हैं। भाषाओं का प्रयोग कहीं-कहीं अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इतनी विविध भाषाओं के प्रयोग के कारण पाठक और दर्शक में अरुचि-सी उत्पन्न होने लगती है। दूसरा यह दोष है कि इसका कलेवर नाटक के अनुपयुक्त बन गया है, संवाद बहुत ही लम्बे-लम्बे हैं। अतः संवाद-योजना में नाटकत्व कम निखर पाया है।

विश्वनाथ का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर

प्रायः २५० वर्षों तक चली आनेवाली नाट्य-शैली को विश्वनाथ ने एक नये मार्ग पर मोड़ दिया। नाट्यशास्त्र के नियंत्रण को नाट्यकारों ने पूर्णतया स्वीकार किया। यह स्वाभाविक भी था। हिन्दी नाट्यकारों ने १३वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की उपेक्षा की थी। सत्रहवीं शताब्दी में महारज जसवन्तसिंह ने संस्कृत-नाट्यशास्त्र के नियमों का उपयोग कराना चाहा, किन्तु वे सफल न हो सके। छः सौ वर्षों के बाद देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया कि नाट्यकार विश्वनाथसिंह ने पूर्णतया संस्कृत की नाट्यशैली को अपनाया और इस कार्य में वे सफल हुए। विश्वनाथ द्वारा प्रचारित नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना के विधि-विधान सबको मान्य हुए। भारतेन्दुकालीन नाट्यकारों के नाटकों से होती हुई यह परम्परा 'प्रसाद' के प्रारम्भिक नाटक 'सज्जन' तक चलती रही। यद्यपि यत्र-तत्र आज भी उसके दर्शन हो जाते हैं, किन्तु अब उसकी भाँकी ही रह गई है।

गद्य का प्रयोग

विश्वनाथसिंह ने गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा का उपयोग किया। गद्य में भारत की कई देशी भाषाओं का प्रयोग इस नाटक में मिलता है। मैथिली, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाएं इसमें उपलब्ध हैं। आगे चलकर हिन्दी नाटकों में इसी प्रकार प्रान्तीय भाषाओं का समावेश पात्रों के अनुसार होने लगा।

छब-रचना

भाषा के अतिरिक्त अन्य नियमों में भी इसने नेतृत्व किया। समयसार,

हनुमन्नाटक आदि में सवेया, कवित्त, दोहा इत्यादि सस्वर पढ़े जानेवाले छन्दों का बाहुल्य रहता रहा, किन्तु विश्वनाथजी संगीत के प्रेमी थे, अतएव उन्होंने स्थान-स्थान पर गेय पदों का भी निर्माण किया। भजन, पद, विरहा आदि नये-नये गेय पदों की रचना करके नाटक में संगीत को प्रमुख स्थान देने की जो शैली विश्वनाथजी ने सर्वप्रथम निकाली, उसका प्रचलन भारतेन्दु के समय में मान्य हुआ और प्रसादजी ने अपने गीतों में उस शैली को अपनाया। लाला श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि सभी श्रेष्ठ नाट्यकारों ने इस पद्धति को स्वीकार किया।

दृश्य-परिवर्तन

दृश्य-परिवर्तन की नवीन पद्धति का प्रभाव भविष्य में इतना अधिक पड़ता गया कि प्रसाद-काल तक उन्हींका पालन होता रहा। विष्कंभक, आकाशभाषित आदि का प्रयोग भारतेन्दु (काल) तथा उसके पश्चात् प्रसाद के पूर्व तक चलता रहा। इस प्रकार विश्वनाथजी का प्रभाव नाटक के क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक बना रहा।

आठवां अध्याय

चतुर्थ उत्थान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दुजी इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पूर्वजों पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा शताब्दियों से चली आ रही थी। भारतेन्दुजी का जन्म इसी सुसंस्कृत परिवार में संवत् १६०७ विक्रमी में काशी में हुआ। इनके पिता गोपालचन्द्रजी प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'नहुष' नामक एक नाटक भी लिखा था। यह नाटक भारतेन्दुजी के बाल्यकाल में सं० १९१४ वि० में लिखा गया। भारतेन्दुजी को इसकी रचना की कुछ-कुछ स्मृति थी।

भारतेन्दुजी की प्रारम्भिक रचनाएं रीतिकालीन कविता की शैली पर शृंगार-प्रधान थीं, क्योंकि कविता के क्षेत्र में नये युग का प्रभाव अभी नहीं पड़ा था। भारतेन्दुजी के बाल्यकाल में नाटक की प्रधानतः पांच शैलियां प्रचलित थीं। एक शैली ब्रज में रासलीला की, दूसरी उत्तरभारत में रामलीला की और तीसरी यात्रानाटक की, चौथी स्वांग आदि जननाटकों की थी। इनके प्रतिरिक्त पांचवीं नवीन शैली महाराज विश्वनाथ ने आनन्दरघुनन्दन में स्थापित की थी, जिसपर संस्कृत नाटकों का पूर्ण प्रभाव था। इनके बाल्यकाल में भारतेन्दुजी के पिता ने जो नहुष नाटक लिखा था, वह प्रायः विश्वनाथजी की शैली पर विरचित था। नहुष नाटक में पद्य-भाग ब्रजभाषा में है, जो सम्पूर्ण नाटक का प्रायः तीन-चौथाई है। गद्य का भाग खड़ी बोली-मिश्रित ब्रज-भाषा में है।

नहुष नाटक

यह नाटक लुप्तप्राय हो गया था, किन्तु सौभाग्य से कांकरौली में इसकी एक हस्तलिखित प्रति मिल गई है। इस प्रति में नाटक में प्रस्तावना तथा छः अंक हैं। इसकी कथावस्तु महाभारत के उद्योग तथा अनुशासन पर्वों के आधार पर निर्मित है।

इसमें प्रासंगिक कथा को स्थान नहीं दिया गया है। नाटक में आरम्भ इन्द्र तथा वृत्रासुर के युद्ध-वर्णन से होता है। वृत्रासुर की मृत्यु के उपरांत इन्द्र को ब्रह्महत्या लगती है और वह भाग खड़ा होता है। इन्द्र के रिक्त राजसिंहासन पर नहुष को बिठाने

का प्रयत्न है। उस राजसिंहासन से नहुष को हटाकर इन्द्र को पुनः सिंहासनासीन करने का वड्यन्त्र प्राप्त्याशा है। नहुष का शापभ्रष्ट होकर इन्द्रासन रिक्त करना नियताति है। और इन्द्र का पुनः इन्द्रासन पाना फलागम है।

प्रथम अंक में जयन्त तथा कार्तिकेय के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि इन्द्र को वृत्रासुर के वध से ब्रह्महत्या लगी और वह भाग गया। यही समाचार बीज है। बृहस्पति द्वारा नहुष का इन्द्रपद पाना विन्दु है। इन्द्राग्नी पर मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने का नहुष का प्रयत्न पताका है और उसका शापभ्रष्ट होना प्रकरी है। इन्द्र का पुनः इन्द्रपद पाना कार्य है।

इस नाटक में यह विलक्षण पद्धति पाई जाती है कि पात्र के प्रवेश के साथ उसके परिचय के रूप में एक कविता दे दी गई है। जैसे 'हत्या' के प्रवेश की सूचना के साथ उसका परिचय इस प्रकार दिया गया है :

छप्पय

गलित गात मब पलित चर्म पद खलित धरत महि ।

पीरे केम शुभेम नेत स्वाँमहि जिमि वर अहि ॥

जरा ग्रमित अति छीन छई तन छई दुखदपन ।

नैन लाल बिकराल वदन कारो भय दरमन ॥

दुर्गंधभरी मछरी सरिम, भरी धूर मौँ कठिन चित ।

मुख कटुक बोल घरघर कहनि, बनी ब्रह्महत्या रुमित ॥

इस नाटक के निम्नलिखित उद्धरण से भारतेन्दुजी के पिता की नाट्यशैली का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

कार्तिकेय—जब वृत्रासुर के भय सों मुर मब भागे तब छीरनिधि के निकट जायकै यह कहन लागे :

छप्पय

जँ रमेस परमेस सेससाई सुरेस हरि ।

जँ अनंत भगवंत संत-बंदित दानव अरि ।

जँ दयाल गोपाल प्रनत प्रतिपाल गुनाकर ।

जँ अनन्य गति धन्य धरमधुर पंचजन्यधर ।

वृंदारक-वृंद-अनंदकर कृपाकंद भवफंद हर ।

हर बंध मनोहर रूप धर जँ मुकंद दुखदुंद दर ॥'

इस नहुष नाटक में नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना का समावेश आनंदरघुनंदन के सहस्र मिलता है।

तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु को बाल्यकाल में नाटक-शैली के रूप में जो पैतृक

सम्पत्ति मिली वह ब्रजभाषा में पद्य-प्रधान थी। कथानक धार्मिक थे। इसी काल में उन्हींकी नगरी में एक विशेष घटना और घटी। क्वीन्स कालेज में अंग्रेजी नाटकों का पठन-पाठन चल पड़ा था। पिन्काट साहब की प्रेरणा से राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक का पहला अनुवाद संवत् १६२० वि० में शुद्ध लड़ी बोली में किया। उस समय भारतेन्दुजी उसी कालेज में पढ़ते थे और उनकी अवस्था १३-१४ वर्ष की थी। इस काल में गद्य में अनूदित शकुंतला नाटक की धूम थी।^१

भारतेन्दुजी के बाल्यकाल में ही उनकी काव्य-प्रतिभा चमक उठी थी। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ से ही राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मणसिंह जैसे साहित्यिकों के सम्पर्क में आने से उनमें काव्य-रचना की शक्ति और भी बलवती हो उठी। उस समय देश में नवजागरण का सूत्रपात हो गया था। धार्मिक विचारों पर स्वामी दयानन्द और राजा राममोहनराय का प्रभाव पड़ रहा था और राजनीतिक उथल-पुथल सन् १८५७ की क्रांति के कारण हो ही चुकी थी। अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन से देश-प्रेम, जाति-प्रेम, भाषा-प्रेम की भावना उमड़ती जा रही थी। प्राचीन और नवीन विचारधाराओं के ऐसे संघर्षकाल में भारतेन्दुजी ने साहित्यिक कार्य प्रारम्भ किया।

अंग्रेजी नाटकों को पढ़नेवाले भारतीय, संस्कृत एवं देशी भाषाओं के नाट्य-साहित्य का उपहास कर रहे थे। भारतेन्दु जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति को यह उपहास मामिक आघात पहुंचाता था। अतएव उन्होंने मातृभाषा की सेवा में अपना सर्वस्व निष्ठावर करने का संकल्प कर लिया और इसी कार्य पर आरुढ़ हो गए।

देश की दशा के ज्ञानार्जन एवं अनुभववृद्धि के लिए उन्होंने दूर-दूर स्थानों का भ्रमण किया। इससे उन्हें देशकालानुकूल साहित्य-रचना की विशेष प्रेरणा मिली। उन्हें यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अपने भावों और विचारों को जनता तक पहुंचाने का सर्वोत्तम साधन नाटक है। अतएव नाटक-रचना की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

भारतेन्दुजी के मम्मूख यह समस्या उठी कि सर्वप्रथम कौन नाटक लिखा जाए। वे लिखते हैं, “मुझे शकुंतला और रत्नावली दो संस्कृत नाटक सबसे अच्छे प्रतीत हुए।” शकुंतला का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह कर चुके थे, अतएव स्वभावतः उनका ध्यान रत्नावली की ओर गया, और उन्होंने रत्नावली का अनुवाद हिन्दी में प्रारम्भ किया। परन्तु यह विषय संदिग्ध है कि जो रत्नावली की प्रति इस समय उपलब्ध है और उनकी कृति बतलाई जाती है, वह वास्तव में उन्हींकी रचना है। क्या यह सम्भव नहीं कि उनकी वास्तविक रचना इस समय अप्राप्त हो और उपलब्ध रचना किसी अन्य की कृति हो? यह विषय अभी अत्यन्त विवादास्पद है। अतः इस विषय में पढ़ना हम उचित नहीं समझते।

विद्यासुन्दर

रत्नावली के उपरान्त भारतेन्दुजी ने बंगप्रदेश में प्रचलित विद्यासुन्दर के कथानक को लेकर एक नाटक की रचना की। इस विद्यासुन्दर नाटक में नांदी-सूत्रधार को स्थान नहीं मिला। यह नाटक बंगला के 'विद्यासुन्दर' का छायानुवाद है। अतएव उसी बंगला शैली का पूरा-पूरा निर्वाह किया गया है। इस नाटक के सभी पात्र बंगला नाटक से लिए गए हैं। केवल प्रहरी को चौकीदार बना दिया गया। बंगला विद्यासुन्दर के पात्र हैं—राजा वीरसिंह, मंत्री, गंगाभाट, सुन्दर, धूमकेतु, कोतवाल, विद्या, हीरा मालिनी, सुलोचना, चपला, विमला, प्रतिहारी और प्रहरी। भारतेन्दुजी के नाटक में भी पात्रों के नाम अक्षरशः ये ही हैं। यहां तक कि राजकुमारी की सखियों के नाम में भी परिवर्तन नहीं मिलता।

बंगला में विद्यासुन्दर

संवत् १६२२ विक्रमी में विद्यासुन्दर (बंगला) नाटक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने इस संस्करण में प्रथम संस्करण का अत्यन्त अश्लील भाग निकाल दिया था। ३० दिसम्बर, सन् १८६५ ई० को इसका अभिनय महाराज गीतां को महाराजा बनीन्द्रमोहन ने दिखाया था। यह नाटक इतना सर्वप्रिय हुआ कि बलगछिया थियेटर में आठ बार इसका अभिनय निरन्तर होता रहा।

सम्भवतः भारतेन्दुजी कलकत्ता में इस नाटक का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने हिन्दी में यह नाटक लिख डाला। डा० सोमनाथ ने इस नाटक की आलोचना करते हुए भारतेन्दुजी की 'अपरिपक्व नाट्यकला' का निर्देश किया है। उन्होंने कारण यह बताया है, "राजा अपने गंगाभाट को गुणसिन्धु राजा के पुत्र को अपने साथ लाने के लिए भेजते हैं। परन्तु गंगाभाट के वहां पहुंचने के पहले ही, न जाने किस समाचार के आधार पर, सुन्दर पहले ही से वर्धमान के राजा की नगरी में पहुंच जाता है।"

हमारा उत्तर यह है कि समाचार का आधार प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक में ही प्रकट कर दिया गया है। राजा गंगाभाट को कांचीपुर भेजने के पूर्व कहता है, "कवि-राज, अब तक तुमने अनेक देशों में भ्रमण किया और अनेक राजपुत्रों को यहां ले आए।" इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि विवाह-सम्बन्धी विद्या की प्रतिज्ञा देश-भर में फैल गई थी।

विद्या का प्रण है कि जो विवाद में मुझे पराजित कर देगा उसके साथ पाणि-ग्रहण करूंगी। गंगाभाट का काम है इस सन्देश को सर्वत्र प्रसारित करना। वह

१. विद्यासुन्दर : द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १

२. बंगला विद्यासुन्दर : इंडियन स्टेज, बाल्यूस २, पृ० १०४, १०५

३. विद्यासुन्दर नाटक, पृ० १३

हीरा मालिनी विद्या से कहती है, "आपकी प्रतिष्ठा तो संसार में सबपर विदित ही है।"

समाचारपत्र के विज्ञापन (मैट्रिमोनियल) के समान सर्वत्र सूचना देता फिरता है। इस विवाह में जाति-पांति का बन्धन नहीं, धनी-दरिद्र का प्रश्न नहीं। कोई व्यक्ति किसी समय भी राजा की अनुमति से विद्या के साथ विवाद कर सकता था।

जब यह सन्देश दूर-दूर तक प्रसारित हो गया तो प्रत्येक राज्य के कविराज (भाट) का यह कर्तव्य हो गया कि अपने आश्रयदाता को इससे परिचित कराए। भाटों का कार्य ही है देश-देशान्तर में अपने राज्य की सूचना भेजना और अन्य राज्यों की सूचना अपने राज्य में फैलाना। स्वच्छन्द प्रेमोपासक राजकुमार तरुण सुन्दर से उसका भाट ऐसी सुखद सूचना कैसे गुप्त रख सकता था। अतएव यह स्पष्ट है कि राजकुमार अपने भाट से यह समाचार सुनकर विद्या के साथ विवाह करने को स्वतः आया। वह विद्या के प्रथम दर्शन में ही इस रहस्य का उद्घाटन कर देता है। वह सखियों से कहता है, “भाट के मुख से तुम्हारी राजकन्या के विवाह का समाचार सुनकर यहाँ आया हूँ।” सुन्दर गंगाभाट का नाम ही कब लेता है? गंगाभाट का प्रस्थान प्रथम अंक के गर्भांक में होता है और जवनि का गिरती है। तत्क्षण ही पर्दा खुलते-खुलते सुन्दर नामक पात्र प्रेक्षकों के सामने आता है। अर्थात् गंगाभाट के गमन से सुन्दर के आगमन का कोई सम्बन्ध नहीं।

यदि गंगाभाट के निमंत्रण पर सुन्दर आता और अन्य राजकुमारों के समान विवाद के द्वारा विद्या को जीतने का प्रयास करता तो सुन्दर के चरित्र का वैशिष्ट्य ही लुप्त हो जाता। वह स्वच्छन्द प्रेमोपासक अपने राजबैभव के बल से नहीं, अपने ज्ञान-भंडार और तर्कबल से भी नहीं, प्रत्युत गुणसिन्धु से उत्पन्न अपने सौंदर्यबल से विद्या को जीतने के लिए लालायित है। वह हीरा के प्रस्ताव को ठुकरा देता है और राज-महल में सुरंग बनाकर स्वयं राजकुमारी विद्या के समक्ष उपस्थित होता है।^१

तथ्य तो यह है कि राजकुमार सुन्दर किसी अन्य साधन द्वारा किसीको मध्यस्थ बनाकर विद्या का प्रणय नहीं चाहता, वह तो उस आत्मविश्वासी राजकुमार के समान है जो वर्षा की फुंकार मारनेवाली सरिता में तैरने का आनन्द उठाने के लिए सब प्रकार की भयंकर परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत है। उसके मन में शौर्य और सौंदर्य की भावना हिलोरे ले रही है।

डा० सोमनाथ की दूसरी आपत्ति है कि “गंगाभाट को किस प्रकार इन घटनाओं का पता चला और उन्होंने अपने दूतत्व का किस प्रकार उपयोग किया” आदि प्रसंगों पर नाटक में किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता।”

नाट्यकला का यह एक सिद्धान्त है कि जिसका अनुमान प्रेक्षक कल्पना के द्वारा प्रसंग की ध्वनि से निकाल सकता है, उसे प्रत्यक्ष प्रकट कर देना एक दोष है, क्योंकि उस ध्वनि का भान होने पर प्रेक्षक को जो आनन्दानुभूति होती है, उससे वह वंचित

१. सुन्दर ने हीरा मालिन से कहा था, “मौसी, मैं परदेशी हूँ। इस नगर की सब बातें नहीं जानता और राजा के घर में चोरी से घुसकर बच जाना भी साधारण कर्म नहीं।” —विद्यासुन्दर, पृ० ३१

रह जाता है। चरित्र-चित्रण में नाट्यकार का नैपुण्य समझ लेने से सारी समस्या दूर हो जाती है। गंगाभाट बुद्धिमान कविराज है। कांचीपुरी में जाने पर उसे सुन्दर की अनुपस्थिति का कारण तथा उसका चरित्र-वर्लक्षण्य अवश्य ज्ञात हो गया होगा। यह अनुभवी कविराज बद्धमान में आते ही सुरंग खोदकर विद्या से मिलनेवाले पुरुषार्थी व्यक्ति का समाचार पाता है। कोई भी दूरदर्शी यह अनुमान लगा सकता था कि ऐसा उन्मत्त प्रेमोपासक राजकुमार सुन्दर के अनिरिक्त और कौन हो सकता है। सत्य तो यह है कि डा० सोमनाथ जिस अवर्णित सूचना को नाटक का दोष मान बैठे हैं वह तो उस नाटक के अनेक गुणों में एक गुण है। अतएव उनका यह कहना कि “विद्यासुन्दर उच्चकोटि की रचना नहीं कहला सकती” सर्वथा अनुचित है। और भारतेन्दुजी की काव्यप्रतिभा पर यह लांछन कि उनकी “नाट्यकला अपरिपक्व है” सर्वथा निर्मूल और कपोल-कल्पना है। इस नाटक में प्रगबद्ध विवाह का दोष और गांधर्व-विवाह की विशेषता दिखलाई गई है। विद्या हीरा मालिन के प्रस्ताव पर कहती है, “नहीं, ऐसा न होने पावे, पहले मैं देख लूं तब और कोई देखे।”

उस समय युवतियां वैवाहिक सम्बन्ध के लिए मनोनुकूल तरुण से संलाप, मेल-मिलाप करके माता-पिता की अनुमति लेना चाहती थीं, किन्तु प्रथा इसके विपरीत थी। उस समय की प्रथा हीरा मालिन स्पष्ट करती है, “मैं कैसे पहले तुम्हें दिखा दूँ।” जो कोई जान जाएगा तो क्या होगा? अर्थात् जनमत उस समय इस प्रकार के गांधर्व-विवाह का समर्थक नहीं बना था, किन्तु तरुण-तरुणियों का एक वर्ग विवाह की प्राचीन पद्धति का विरोध कर रहा था।

हिन्दी में विवाह-सम्बन्धी सामाजिक प्रश्न को कथानक बनाकर इतने सुसंगठित रूप से लिखा हुआ यह प्रथम नाटक है। स्वेच्छा-विवाह और नियोजित विवाह के गुण-दोष कितने स्वाभाविक रूप में दिखाए गए हैं। राजा विद्या के विवाह के सम्बन्ध में कहता है, “विद्यावती के संग जो इसका गांधर्व-विवाह हुआ वह अच्छा ही हुआ।” मैं अपने हाथ से कन्या को जन्म-भर का दुःख दे चुका था, अहा, भगवान ने बहुत बचाया।” आगे चलकर राजा सुन्दर से कहता है :

राजा—तूने विद्यावती से जो गान्धर्व-विवाह किया है, उसमें मैं प्रसन्नतापूर्वक सम्मति प्रगट करता हूँ, जिससे अवश्य तुझको बड़ा सन्तोष होगा।

राजा प्रसन्न होकर अपनी सम्पत्ति भी समर्पण कर देता है। यद्यपि सुन्दर और विद्या ने अभिभावकों की अज्ञान में रखकर स्वेच्छा से गांधर्व-विवाह कर तो लिया, किन्तु विवाहोपरान्त उनकी आत्मा अन्तर्वेदना को प्रगट कर देती है।

राजा ने जब सुन्दर से पूछा कि पकड़े जाने के समय तुमने अपना नाम क्यों नहीं बताया, तो सुन्दर आत्मग्लानिपूर्ण उत्तर देता है :

सुन्दर^१—महाराज, क्षत्री के निष्कलंक कुल में उत्पन्न होकर ऐसे बुरे कर्म में अपना

नाम प्रगट करने से प्राण-त्याग करना उत्तम है।

विद्या भी अपने किए पर कभी-कभी पश्चात्ताप करने लगती है। भगवान से क्षमा मांग रही है, “हे भगवान, मेरे अपराधों को क्षमा करना।” किन्तु उसे एक विश्वास है कि मैंने एक पुरुष से ही प्रेम किया ; मैं पतिव्रता हूँ। वह कहती है, “और जो मैं पतिव्रता हूँ—तो मुझे दुःख से पार करो।”

इस प्रकार नाट्यकार ने इस गांधर्व-विवाह में राजा की उदात्त भावना से इस नाटक को दुःखांत होने से बचा लिया है। यह नाटक एक समस्या-नाटक है। इसमें समस्या यह है कि विवाह केवल अभिभावकों की इच्छानुसार ही हो अथवा वर-वधू को भी विवाह में निर्वाचन का कोई अधिकार है ? इस नाटक में नवीन विचार के अनुसार विद्या और सुन्दर विवाह तो कर लेते हैं, किन्तु चिरकाल-प्रचलित परम्परा की उपेक्षा के कारण उनमें अन्तर्द्वन्द्व भी उत्पन्न हो जाता है। नाट्यकार ने इस संघर्ष को कलापूर्ण शैली में दिखाया है। राजा की उदात्त भावना के कारण यह नाटक शोकांत होने से बच गया है। इस नाटक में नूतन और पुरातन विवाह-पद्धतियों का संघर्ष समयानुकूल है और भारतेन्दु-जी की सुधारक प्रवृत्ति के अनुसार है। इसीलिए यह नाटक उन्हें खिकर प्रतीत हुआ होगा। भारतेन्दुजी की प्रतिभा ने वैवाहिक रूढ़ि तथा अभिनव क्रांति के द्वन्द्व का समाधान उसी प्रकार करा दिया, जिस प्रकार कालिदास ने अपने शकुन्तला नाटक में शकुन्तला और दुष्यन्त के विवाह को कण्व ऋषि की अनुमति दिलाकर सामाजिक समस्या को हल किया। इसमें विद्या और सुन्दर समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जो गांधर्व-विवाह का समर्थक है। इस नाटक में विवाह की समस्या को सुलझाने की दो विधियाँ बताई गईं। प्रथम तो यह कि गांधर्व-विवाह में तर्हण-तर्हणी को विवाह के पश्चात् पश्चात्ताप करना पड़ता है, अतएव उन्हें दूरदर्शिता से काम लेकर इस पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। दूसरी विधि यह है कि अभिभावकों को भी इतना उदार होना चाहिए कि यदि उनकी संतान गांधर्व-विवाह कर ही डाले तो उसका समर्थन करें।

उपर्युक्त अर्थ के प्रतिरिक्त इस नाटक से यह और अर्थ भासमान हो रहा है। यह सम्पूर्ण नाटक प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। विद्या (Wisdom) उन राजपुत्रों को प्राप्त कैसे हो सकती है, जिन्हें अपने राजवंश का बल है और उसी बल पर विद्या (Wisdom) को प्राप्त करना चाहते हैं। विद्या की प्राप्ति के लिए गुरुसिन्धु-प्रसूत सुन्दर के सहश राजवंशव त्यागकर प्रवासी बनना पड़ता है। विद्या के प्रहरी का प्रहार सहना पड़ता है। प्रकृति-प्रांगण की पुजारिन मालिन का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। नाना शास्त्रों की कलापूर्ण माला प्रस्तुत करनी पड़ती है। विद्या (आत्मविद्या) के अभ्येक्ष स्थलों को बेधकर अनाश्रित एकाकी बन उसका साक्षात्कार करने के लिए समस्त बाधाओं को सहने की शक्ति संचित करनी होती है, तब कहीं उसका साक्षात्कार हो

सकता है, जैसा सुन्दर ने किया था। साक्षात्कार होने पर भी विद्या (आत्मविद्या) साधक की परीक्षा लेने के लिए मुख को आवरण से आच्छादित कर लेती है। ऐसी स्थिति में उसकी सखियाँ विमला^१ (निर्मल बुद्धि) और सुलोचना^२ (पर्यवेक्षण-शक्ति) सहायक बनती हैं। इतने पर भी विद्या (आत्मविद्या) की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुन्दर के सहृदय कारागार के एकांत स्थल में बैठकर तप भी अपेक्षित है।

नाटक के पात्रों के नाम और घटनाओं के द्वारा उपर्युक्त अर्थ परिलक्षित हो उठता है। इस प्रकार यह नाटक सामाजिक कोटि से ऊंचा उठकर प्रतीकात्मक बन जाता है और चिरसत्य का दिग्दर्शन कराता है। भारतेन्दुजी का ध्यान इस अर्थ की ओर अवश्य था। तभी तो प्रारम्भ ही में वे कहते हैं: “इतने राजपुत्र आए पर उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया। इन मन्त्रोंका केवल राजवंश में जन्म तो है, पर वास्तव में ये पशु हैं।”

भारतेन्दु ने तत्कालीन मूर्ख राजाओं की कंसी मीठी चुटकी ली है! भारतेन्दुजी ने बंगला के इस नाटक को इसीलिए अनुवादार्थ चुना कि इसमें नाट्यकला के गुणों के अतिरिक्त सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है और एक चिरसत्य का संदेश जनता तक पहुंचाया जा सकता है। तथ्य तो यह है कि इस नाटक में क्या नहीं है। वस्तु-संविधान की स्वाभाविकता^३ और प्राचीन चरित्र-चित्रण, भावनाविलास, काव्यत्व, रचना-कौशल, अद्भुत रम्यता, क्रियाशीलता आदि समस्त गुणों का समुचित समावेश देखकर ही यह नाटक चिरजीवी बना है। भारतेन्दुजी प्रारम्भ से अन्त तक स्थान-स्थान पर विनोद का भीना-भीना फुहारा छोड़ते जाते हैं। हीरा मालिन की विनोद-शीलता इसे अत्यन्त रोचक बनाती चलती है। विनोदप्रियता के कारण ही अंधेड़ा-वस्था में वह बारह वर्ष की बालिका के समान प्रतीत होती है। उसे विपत्ति में भी हास्य सूझता है। जब चौकीदार उसे पकड़कर ले जाते हैं, उस समय उनका वार्तालाप^४ सुनने योग्य होता है।

विद्या—तेरा शरीर बूढ़ा हो गया पर चित्त अभी बारही बरस का है।

चौकीदार—अरे यह छिनाल बड़ी छतीसी है...। ऐसा मन होता है कि इस रांड की जीभ पकड़कर खींच लें।

हीरा मालिन—दोहाई महाराज की, दोहाई महाराज की! हे धर्म-देवता, तुम साक्षी रहना, देखो यह सब मुझे अकेली पाकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं, दोहाई राजा की।

पहला चौकीदार—(कोतवाल से) महाराज, यही रांड सब कुकर्म की जड़ है और

१. विमला विद्या की सखी है।

२. सुलोचना विद्या की सखी है।

३. विद्यासुन्दर यात्रा का प्रचलन शताब्दियों पूर्व हो चुका था।

४. भारतेन्दु नाटकावली, विद्यासुन्दर, पृ० ४०-४८

तिसपर ऐसी-ऐसी बातें बनाती है।

हीरा मालिन—एक मैं ही दुष्कर्म करती हूँ और तुम सब साधु हो। देखो कोतवाल, हम तो कुछ नहीं करतीं और तुम सब हमारी प्रतिष्ठा बिगाड़ते हो।

सबसे बड़ा गुण इस नाटक में यह है कि असम्भावित घटना, प्रतिमानवीय शक्ति तथा अविश्वसनीय वार्ता की इसमें कहीं गन्ध भी नहीं आने पाई है।

अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के कई स्थल बड़े ही मर्मस्पर्शी^१ हैं। इसी कारण कलकत्ता में रीवा-महाराज इसका अभिनय देखकर मुग्ध हो गए थे।^२

पाखंड-विडम्बन (सं० १६२६ वि०)

भारतेन्दुजी ने हिन्दी-नाट्यकारों का ध्यान 'रत्नावली' के द्वारा संस्कृत नाटकों की ओर और विद्यासुन्दर के द्वारा आधुनिक नाटकों की ओर आकर्षित किया। ये दोनों नाटक सामाजिक रूपकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दोनों के पीछे दीर्घ-कालीन परम्परा अन्तर्निहित है। रत्नावली और विद्यासुन्दर की रचना के उपरान्त भारतेन्दुजी ने प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अंक का हिन्दी अनुवाद किया, जिसका नाम पाखंड-विडम्बन रखा। मानसिक वृत्तियों को पात्र मानकर कृष्ण मिश्र द्वारा लिखा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक अपनी कोटि में सर्वश्रेष्ठ परिगणित होता है। उसी नाटक के केवल तीसरे अंक का अनुवाद भारतेन्दुजी ने किया। इसका अनुवाद गद्य और पद्य में मूल के आधार पर ही हुआ है।

प्रश्न उठता है कि भारतेन्दुजी ने केवल एक अंक का अनुवाद क्यों किया? उसमें भी पुस्तक के मध्य में से तीसरा अंक क्यों चुना?

तीसरे अंक में तामसी श्रद्धा का विविध विनोद कपालिनी के रूप में दिखाया गया है। वह कापालिक भिक्षुक दिगम्बर का आलिंगन करता है और उसे दूषित करता है। इसके पश्चात् मदिरा का दौर चलता है और सब इस मद में भ्रमकर मदिरा की प्रशंसा करते हैं।

१. सुन्दर का सुरंग में से सहसा प्रकट होना और बिद्या की सखियों के साथ हास्य-विनोद, सुन्दर और हीरा का बन्दीरूप में राज-दरबार के पथ पर चलना, गंगाभाट के परिचय से मुक्त होना आदि घटनाएँ।

२. It is said that the Raja was so highly pleased with the play that when it was over, he caused two packages of Kashmire shawls and a bag of money to be brought and offered for distribution to the actors.

—The Indian Stage, vol. II.

३. पाखंड-विडम्बन, पृष्ठ ७४

अशा हा! बाह रे या मदिरा को मिठास, बाह रे स्वाद, बाह रे सुगन्ध, बाह रे मादकता, अरे मैं तो अर्द्धत के मत में रक्षी तो ऐसी मदिरा बिना बहुत ही ठग्यो मयो रे, अरे सिद्धि मेरो तो मायो धूँम है, तातो हूँ तो सोऊँगो।

मदोन्मत्त कापालिक जगत् को ठगने के लिए कहता है—

“जाहि विलोकीं बनै सोई सिद्ध,
धरुं निज चित्त जो सोई करौ ।

...
पुनि मोहन मारन कर्षन थंमन,
आदि अनेकन सिद्धि भरौ ।”

ये सभी दुराचारी साधु केवल एक प्रयत्न में तल्लीन हैं कि किसी प्रकार “धर्मरी बेटी श्रद्धा कूं पकड़ कै म्हाराज के पास ले चनें”; किन्तु ये पाखंडी यह सुनकर हताश होते हैं कि श्रद्धा तो श्रीकृष्ण-भक्ति महारानी के संग में है। यह समाचार पाकर शांति और करुणा प्रसन्न होती है।^१

इस एक ही अंक में पाखंडियों का बाह्याडम्बर और उनके द्वारा दुराचार का परिहार भी भलकता है। इसी कारण भारतेन्दुजी ने यह अंक अनुवाद के लिए चुना होगा। केवल श्रीकृष्ण की श्रद्धा-भक्ति से ही जनता का कल्याण और दुरात्नाओं का दमन हो सकता है, यही प्रदर्शित करने के लिए भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद किया।

एक विलक्षणता अनुवाद में यह है कि शुद्ध संस्कृत-पद्यों का अनुवाद उन्होंने कई स्थलों पर ऐसे शब्दों में किया है जो विलक्षण-से प्रतीत होते हैं। जैसे—

लहने को मिला घल छुन्दलछा,
अलु भोगन को मिली छुन्दल नाली ।
लद् अनेकन भोजन कों मिले,
छैन के हैत ऐ छेज छुखाली ॥
कै छलधा जुअती छब अंगन,
लाओत तेलफुऐछो छुवाली ।
दै गल में बइयाँ छुख छो इमि,
बीतत है नित लात उजाली ॥^२

कदाचित् दूर देश का निवासी भिक्षु अपने विलक्षण उच्चारण से ऐसी भाषा का प्रयोग करता है। दूसरा उद्देश्य सम्भव है यह हो कि ऐसी भाषा से दर्शकों को

१. पाखंड-विडंबन, पृ० ७५ (भारतेन्दु नाटकावली)

२. मूल संस्कृत है :

आवातोलयनं मनोहरमभिप्रायानुरूपं बखिद्—
नायों बांक्षितकालमिष्टमरानं शय्या मृदुप्रस्तराः ॥
श्रद्धापूर्वमुपासिता युवतिभिः क्लृप्तागद्धानोत्सव-
कीडानन्दभरेम जन्ति विलसन्त्योत्सोऽब्जला रात्रयः ॥

—प्रबोधचन्द्रोदयम्, पृ० १०५, अंक १, स्तोत्र ६

हुंसी भी आएगी, एतदर्थ दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाएंगे ।

इस नाटक का उद्देश्य जनता को शुद्ध कृष्ण-भक्ति द्वारा दुराचारी कापालिक, भिक्षु और दिगम्बरों से बचने की विधि बताना है । भारतेन्दुजी स्वयं वैष्णव थे, अतएव वैष्णव सम्प्रदाय को कल्याणकारी बताते हैं । भारतेन्दुजी के प्रदर्शित इस पथ पर आगे चलकर कई नाट्यकारों ने नाटक लिखे, जिनमें प्रसादजी का कामना नाटक और सुमित्रानन्दन पन्त का ज्योत्स्ना नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं ।

धनंजय-विजय (सं० १६३० वि०)

कदाचित् रौद्ररस-प्रधान नाटक की छटा दिखाने के उद्देश्य से भारतेन्दुजी ने धनंजय-विजय का अनुवाद किया हो । इस अनुवाद से दो कार्य सिद्ध हुए । एक तो रौद्ररस के आस्वादन की सुविधा, दूसरे व्यायोग एकांकी नाटक का रूप-ज्ञान । व्यायोग नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण कथानक एक ही दिन में घटित हो जाता है और वह अति प्रसिद्ध हुआ करता है । नायक भी विख्यात राजा^१ अथवा देवता होना चाहिए । विविध विधि के युद्ध इस नाटक में अनिवार्य हैं । अतएव नायक का धीरोद्धत होना आवश्यक है । इसमें विष्कम्भक और भारती, आरभटी वृत्तियां होनी चाहिए । सन्धियों में गर्भ और विमर्श के लिए स्थान नहीं ।^२

मूल संस्कृत-नाटक के रचयिता हैं कांचन कवि । इसका कथानक महाभारत से लिया गया है । दुर्योधन राजा विराट की गायों को अपहृत करके जाने लगा तो अर्जुन ने अपने साथ उत्तर को लेकर कौरवों से गाएं छीन लीं । इसीसे प्रसन्न होकर राजा विराट ने अपनी कन्या का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया ।

इस नाटक का अनुवाद करने में स्वभावतः नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, भरत-वाक्य भी अनुदित हो गए हैं । विद्यासुन्दर, पाल्खंड-विडंबन में इनका अभाव था ।

इस नाटक का 'भरतवाक्य' मूल से कुछ परिवर्तित है । राजवर्ग^३ का मद त्यागकर विद्या में निवृण होना और राजकर का छूटना, ये दो बातें मूल से बढ़ा दी गई हैं । इनसे सामयिकता का ज्ञान होता है कि उस समय शासकवर्ग मदमत्त होकर नित नये कर की वृद्धि कर रहा था । इसका विरोध नाटक के द्वारा ही किया जा

१. नाट्यशास्त्र, एन. एस. अ. १८, श्लोक ११५ से १३७ तक

२. दशरूपक, तीसरा अध्याय, श्लोक ६०

३. राजवर्ग मद छोड़ि निपुण विद्या में होई ।

छुटे राज कर, मेघ समे पर जल बरसावें ।

मूल संस्कृत : सारस्वतं स्फुरतु चेतसि सत्कवीनाम् ।

चक्षुर्भवन्तु कृतिनो गत मत्सराश्च ॥

भूबरच सन्तु कवि-सूक्तिषु सानुरागाः ।

एतयज्य मंडलकविप्रणयानुरागम् ॥६०॥

सकता था। भारतेन्दुजी में यह विलक्षणता थी कि विपक्षी के दोषों का निर्देश अपनी नाटकीय कला में संवारकर इस ढंग से करते, जो हृदय पर चोट करके भी पीड़ा न पहुँचाए।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (सं० १६३० वि०)

भारतेन्दुजी ने पाखण्ड-विहम्बन में अवैदिकों का भंडाफोड़ किया था, अतएव यह आवश्यक था कि पाखंडी वैदिक धर्मानुयायियों की भी खबर ली जाए और जनता को उनसे सावधान किया जाए। प्रहसन के रूप में मांसाहारी पुरोहित का उत्साह से यज्ञ करना, एवं शैव-वैष्णवों का मांस खाने को लालायित रहना दिखाकर पाखंडियों की खिल्ली उड़ाई गई है। हिंसामय यज्ञ करनेवाला राजा जब यमराज के सम्मुख उपस्थित होता है तो चित्रगुप्त उसका लेखा उपस्थित करता है। वह स्थल^१ अत्यन्त आकर्षक है।

यह स्थल सर्वसाधारण के लिए कितना महत्त्व का है ! इसके आगे एक संकेत है जो केवल राजा शिवप्रसादजी की ओर ही हो सकता है।^२

इस प्रहसन नाटक के द्वारा समाज को दूषित करनेवाले पाखंडियों की खूब खबर ली गई है। ऐसा सहेतुक प्रसह्न लिखना भारतेन्दुजी की विलक्षणता थी।

प्रेमयोगिनी (सं० १६३२)

‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ नामक प्रहसन के उपरान्त भारतेन्दुजी ने दो वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। सम्भवतः काशी में होनेवाले पाखंडों, बाह्याहंवरों तथा अनर्थों का निरीक्षण करते रहे और अपने ही नगरवालों का भंडाफोड़ करना था, अतएव संयत भाषा और अति संयत शैली में दिग्दर्शन कराना था। काशीवासी के नाते प्रच्छन्न रूप से ‘आपबीती’ भी बतानी थी। यह कार्य सरल न था। इसके लिए उत्कृष्ट कला अपेक्षित थी। नाटक सम्पूर्ण न हो सका, अतएव कला की दृष्टि से क्या कहा जाए। यह नाटक समाज की यथार्थ दशा का चित्रण बड़ी ही सफाई से कर गया है। प्रारम्भ में यात्रियों को दर्शन करानेवाले गुसाइयों का कदाचार जिस रूप में दिखाया गया है, वह आज भी देखा जा सकता है। गैबी पर जुटे हुए गुण्डों, भंडेरियों, गंगापुत्रों और दलालों का वार्तालाप देश की पतनोन्मुख स्थिति का सूचक है।

१. महाराज, सुनिए, यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसका व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मंदिर के पी गया, पर आज सदा धर्म का रखे। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल बितंडा-कर्मजाल किया, जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर-प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की। जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।

२. चित्रगुप्त—महाराज, सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चिन्तानुसार करता है, उसको रक्षक आप बख्शिया को पदवी मिलती है।

मुगलसराय स्टेशन पर पंखों की लीला आज भी तद्बत बनी है। यहां पर सुधाकर नामक एक विदेशी पंडित काशी का माहात्म्य न्यूनाधिक आठ पृष्ठों में वर्णन करता है। अभिनय की दृष्टि से यह वर्णन अत्यन्त दोषपूर्ण और शुष्क है। आश्चर्य है कि भारतेन्दुजी ने इसे और किसी रोचक ढंग से क्यों न उपस्थित किया !

विविध बोलियों और संकेतमयी भाषा की छटा काशी की स्थानीय विनोद-शैली के साथ, जैसी इस नाटक में मिलती है वैसी भारतेन्दु के अन्य किसी नाटक में नहीं।

इस अपूर्ण नाटक की भाषा इतनी स्थानीय बन गई है कि काशी की बोली से अपरिचित व्यक्ति इसमें उस प्रकार रम नहीं सकता, जिस प्रकार काशीवासी मग्न हो जाता है।

बाबू बजरत्नदासजी का कथन है कि भारतेन्दुजी ने इस नाटक में अपने को भी एक पात्र बना डाला है। हम समझते हैं कि यह भी इस नाटक के अपूर्ण रहने का एक कारण हो सकता है। नाट्यकार तभी सफल होता है जब वह नाटक की घटनाओं को निर्लिप्त होकर दर्शक-रूप में देखता है। जब नाट्यकार किसी एक पात्र की ओर विशेष रुचि रखकर नाटक की रचना करने लगता है तभी नाटक का संतुलन विनष्ट हो जाता है, फिर नाटककार सफल नहीं हो सकता। सम्भव है कि निजी चरित्र का चित्रण करने की धुन के कारण ही भारतेन्दुजी यह नाटक आजीवन पूर्ण न कर पाए हों।

सत्यहरिश्चन्द्र (सं० १६३२ वि०)

भारतेन्दुजी के नाटकों में 'सत्यहरिश्चन्द्र' ने सबसे अधिक ख्याति पाई। उस युग में इसका अभिनय नगरों में तो होता ही था, ग्राम्यजीवन भी इसके अभिनय द्वारा मुखरित हो उठा था। सबसे अधिक प्रेक्षक भी कदाचित् इसी नाटक ने देखे होंगे। इस नाटक ने मानव-हृदय की करुण रागिनी को तड़पाने में सबसे अधिक सफलता पाई। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतेन्दुजी की यह सबसे प्रौढ़ और उत्तम कृति है। जितनी ही इसकी ख्याति फैली है, उतनी ही इसकी मौलिकता के प्रति आशंकाएं भी उठी हैं। डा० सोमनाथ गुप्त ने चण्डकौशिक और हरिश्चन्द्र नाटकों की विस्तृत तुलना करते हुए यह परिणाम निकाला है कि "अपनी सम्पूर्ण स्थिति में सत्यहरिश्चन्द्र न तो एकदम मौलिक ही है और न बिल्कुल अनुवाद ही। यदि हम उसे रूपान्तरित मान लें तो किसी प्रकार के विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। इसमें लेखक की मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम।"

डाक्टर सोमनाथ ने उपर्युक्त मत के समर्थन में जिन स्थलों का उद्धरण 'चंड-कौशिक' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' से देकर सत्यहरिश्चन्द्र को चंडकौशिक का उस सीमा

तक अनुवाद माना है, वे ही स्थल भारतेन्दु की मौलिकता के प्रमाण कहे जा सकते हैं। सत्य-पालन के लिए राजा हरिश्चन्द्र का बिक जाना आर्य क्षेमेश्वर की कल्पना नहीं, यह तो पुराण-प्रसिद्ध वार्ता है। किन्तु उस वार्ता को दोनों नाट्यकार जिस ढंग से उपस्थित करते हैं, उसमें मौलिकता की परख होती है। उद्धरणों की तुलना कीजिए—

चंडकौशिक—आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि शाश्वतम्।

यस्मिन्नरक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम्॥

सत्यहरिश्चन्द्र—

बेचि देह सारा सुग्न, होइ दास हू मंद।

रखिहूँ निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

दोनों की तुलना कीजिए, किसमें विदग्धता तथा मार्मिकता अधिक है? इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। कैसे एक को दूसरे का अनुवाद कहा जाए?

मौलिकता का प्रश्न चंडकौशिक के कारण उतना नहीं उठता, जितना बंगला नाटक की प्राचीन प्रति की उपलब्धि से खड़ा होता है। पं० रामचंद्र शुक्ल कहते हैं, "सत्यहरिश्चंद्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बंगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।"^१

शुक्लजी ने न तो नाट्यकार का नाम दिया है और न नाटक का रचना-काल। शोध करने से ज्ञात हुआ है कि भारतेन्दु के समकालीन मनमोहन बोस ने हरिश्चन्द्र नामक एक नाटक लिखा। इसका रचनाकाल दिसम्बर १८७४ ई० है। भारतेन्दुजी का नाटक इससे पूर्व प्रकाशित हो चुका था और स्थान-स्थान पर उसका अभिनय हो रहा था। मनमोहन बोस ने बंगला संवत् मध्यस्थ, माघ १२८१ में यह नाटक 'बाऊ बाजार थियेटर के लिए लिखा।' इसी नाटक का द्वितीय संस्करण सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ।^२ उक्त नाटक वास्तव में भारतेन्दुजी के हरिश्चंद्र नाटक से बहुत कुछ साम्य रखता है। उसकी समालोचना करते हुए डा० पी० गुहा ठाकुर इसे मनमोहन की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं।^३

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी ना० प्र० सभा, २००२ वि०, पृ० ४००

२. The party next staged Manmohan's Harishchandra written in December, 1874.

—Indian Stage, Vol. II, p. 132-133

३. Bengali Drama by P. Guha Thakura, p. 241

४. "Harish Chandra may be regarded as Manmohan's best work. In it he created powerfully true dramatic character of Viswamitra, the famous Ksatriya hero of Hindu legend. He made him a typical representative of the ancient Ksatriya culture, noble, aggressive and great. He also revealed in Harish Chandra the noblest ideals of a Hindu King who strove to gain spiritual power through

केवल बंगला में ही नहीं प्रत्युत ठीक इसी प्रकार का हरिश्चन्द्र नाटक मराठी में भी उसी युग में लिखा गया। भारतेन्दुजी के समकालीन प्रसिद्ध मराठी नाट्यकार अन्ना साहब किलोस्कर' ने भी सन् १८८० ई० में हरिश्चन्द्र नाटक लिखा। उनके नाटक में संगीत को प्रधान स्थान दिया गया।

प्रश्न यह उठता है कि हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती में हरिश्चन्द्र एक समय में लिखने का कारण क्या था? दो ही बातें सम्भव हैं? एक तो यह कि भारतेन्दुजी के हरिश्चन्द्र की ख्याति इतने वेग से बढ़ी कि प्रान्तीय सीमाएं छिन्न-भिन्न होकर इसमें विलीन हो गईं और वह अन्तःप्रान्तीय बन गया। इस कारण अन्य भाषा के नाट्यकारों ने इसकी अभिनेयता पर रीझकर अपनी-अपनी भाषा में इसका रूपान्तर कर डाला। अथवा अंग्रेजी राज्य में न्यायालय स्थान-स्थान पर खुल गए। उन न्यायालयों में असत्य की पूजा और सत्य की हत्या देखकर इन नाट्यकारों के हृदय में एक वेदना उत्पन्न हुई। उसके कारण जनता में फैलते हुए असत्य का वेग रोकने के लिए उन्हें एकसाथ ही सत्यहरिश्चन्द्र नाटक लिखने की प्रेरणा मिली। स्वयं भारतेन्दु बाबू को भी न्यायालय का अनुभव था।^१ इसी प्रकार अन्य प्रांतों में भी न्यायालयों में दिन-दहाड़े असत्य की शिक्षा न्याय के नाम पर दी जा रही थी। निश्चय ही इन नाटकों के अभिनय ने सहस्र-सहस्र प्राणियों के हृदयों में सत्य के प्रति अनुराग एकसाथ ही उत्पन्न किया। उनका जीवन-स्तर ऊंचा उठा और समाज में सदाचार के लिए बल मिला। इस नाटक में चार अंक हैं और प्राचीन नाटकों की तरह अंक हृदयों में विभाजित नहीं। आधुनिककाल के रंगमंचों पर ऐसे नाटकों का अभिनय कठिनता से होता है। तीसरे अंक में काशी की गलियों में हरिश्चन्द्र अपने-आपको बेचते दिखाई

sacrifice and renunciation. 'The character of the much suffering queen Saibya is drawn with consummate skill. She is utterly tragic in her tenderness, and yet so austere heroic in the endurance of the sufferings that came upon her and her husband Harish Chandra, who lost his kingdom and all rather than break his plighted word to Viswamitra.....'

—Ibid, p. 93

१. मराठी नाट्य संसार, लेखक पां. स. खांडेलकर, पौराणिक काल
२. रणछोड़भाईकुल हरिश्चन्द्र नाटक—Further Milestones, Page 189
३. भारतेन्दुजी पर एक बार एक महाजन ने दावा किया। सर सैयद अहमदखां उस समय सदर-आला थे। कदाचित् उनके संकेत या परीक्षा की दृष्टि से भारतेन्दुजी से मुकर जाने के लिए कहा गया। भारतेन्दुजी ने उत्तर दिया :
 "मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिए नहीं बिगाड़ने का। मुझसे इस महाजन ने जबरदस्ती हुण्टी नहीं लिखवाई और न मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जबकि मैंने अपनी गरज से समझ-बूझकर उसका मूल्य तथा नज़राना आदि स्वीकार कर लिया तो क्या अब देने के भय से मैं उस सत्य को भंग कर दूँ।"

पड़ते हैं और उसी अंक में उन्हें श्मशानभूमि पर कम्बल ओढ़े, लाठी लिए दिखाना पड़ता है। प्रयोग की दृष्टि से यह दोष होने पर भी इस नाटक में कुछ ऐसा आकर्षण है कि आज भी हरिश्चन्द्र नाटक देखने के लिए जनता दूट पड़ती है। सम्भवतः इसके मूल में वे शाश्वत तत्त्व निहित हैं, जो चिरसत्य हैं, चिरप्रतिष्ठित हैं। यद्यपि समाज की गति इतनी द्रुत है कि बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व लिखित नाटक आज प्राचीन और भूमिल पड़ गए हैं, किन्तु ७५ वर्ष से अधिक हो गए, इसकी ज्योति पूर्ववत् जगमगा रही है।

यदि इस नाटक में दो-एक दोष न होने तो इसकी ज्योति और भी उज्ज्वलतर हो जाती। काल-दोष तो इसमें मानना ही पड़ेगा। महाराज हरिश्चन्द्र गंगावतरण करानेवाले भगीरथ के पूर्वज हैं, अतः हरिश्चन्द्र-काल में गंगा-वर्गान शोभा नहीं देता।

प्रायः नाटकों में अन्तिम अंक पूर्व अंकों से लघुकाय रखा जाता है, किन्तु भारतेन्दुजी ने अन्तिम अंक को सबसे बड़ा और विस्तृत भागपूर्ण बना दिया है। किन्तु ये दोष हरिश्चन्द्र नाटक के गुण-सागर में नगण्य-से हैं।

कर्पूरमंजरी (संवत् १९३२ वि०)

कर्पूरमंजरी राजशेखर-रचित एक सट्टक है। संस्कृत में सात सट्टक प्रसिद्ध हैं। उनमें शैली की दृष्टि से सबसे विख्यात 'कर्पूरमंजरी' है। कदाचित् सट्टक का एक नमूना हिन्दी-भाषी जनता के सामने रखने ही के लिए भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद किया। अन्यथा एक योगी की शक्ति द्वारा प्राप्त मुन्दरी कन्या से एक लम्पट राजा का विवाह करना भारतेन्दु-युग के लिए क्या महत्त्व की बात थी? उन्होंने इतना श्रम इस अनुवाद में क्यों किया? ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा में नाटकों का क्या रूप होता था, उसकी भी एक आंकी हिन्दी-भाषी जनता को दिखाना उन्होंने आवश्यक समझा।

सट्टक वास्तव में एक प्रकार की नाटिका है। यह आद्योपांत प्राकृत भाषा में लिखी जाती है। राजा, मंत्री, विदूषक, स्त्रियां, सेवक आदि सभी प्राकृत भाषा में वार्तालाप करते हैं। इसमें अद्भुतरस होता है और अंक के स्थान पर जवनिका^२ होती है।

सट्टक की वृत्ति कंशिकी और भारती होती है, इसमें कोई सन्धि नहीं होती।^३ भावप्रकाश का तो कहना है कि राजा को संस्कृत में ही बोलना चाहिए, अन्य पात्र प्राकृत में बोलें। किन्तु इस मत से अन्य नाट्यशास्त्र सहमत नहीं हैं। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक भी वर्जित हैं।^४

१. वा० अजरतदास अपने ग्रन्थ, हिन्दी-नाट्यसाहित्य, पृष्ठ ७५ पर न जाने कौन प्राचीन सट्टकों की संख्या एक निर्धारित करने हैं। सात सट्टक तो आज उपलब्ध हैं, जिनका उल्लेख हम पूर्व कर आए हैं।

२. साहित्यदर्पण, अध्याय ६, पृ० २७९

३. भावप्रकाश, पृ० २६६

४. नाट्यदर्पण, पृ० २१३

कर्पूरमंजरी में ये सभी गुण विद्यमान हैं और नृत्य प्रधान है। अतएव भारतेन्दुजी ने अन्य सट्टकों को छोड़कर इसीका अनुवाद किया। अनुवाद में नाटकीय वातावरण अनुकूल बनाने के निमित्त मूल में परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिया है। एक विलक्षणता इस अनुवाद में और है। पद्य-भाग का अनुवाद सर्वत्र पद्य में नहीं किया गया है। कहीं पद्य-भाग पद्य में अनूदित है तो कहीं गद्य में। उदाहरणार्थ भैरवानन्द कहता है—

मंतो ए तंतो ए अ किपि जाणे,
भारं च एो कि पि गुज्जसादा ।
मज्जं पिवामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमगलगा ।'

अवि अ,

रंडं चंडा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्षा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्मणोभादि रम्मो ॥

कि च,

मुत्ति मणंति हरिवम्ह मुहा वि देवा
भारोण वेअपठणेण कडुविक आहि ।
एक्केण केवलमुमादइदेणदिट्ठो,
मोक्खो समं सुरअ केलि सुरार से हि ॥

इसका अनुवाद भारतेन्दु ने ऐसी लच्छेदार भाषा में किया है कि मूल से भी अधिक रस मिलता है। 'अवि अ', 'कि च' इत्यादि को छोड़ दिया है। तात्पर्य यह है कि अनुवाद में जहां जैसी आवश्यकता सूझ पड़ी है, वैसा ही हेर-फेर कर दिया गया है।

इस अनुवाद से कदाचित् भारतेन्दुजी यह दिखाना चाहते हैं कि सिद्धों का प्रभाव राजपरिवार के ऊपर राजशेखर-नाल^३ में कितना विषैला पड़ रहा था। रानी का तांत्रिक गुरु भैरवानन्द कुन्तल देश की सुन्दरी राजकन्या कर्पूरमंजरी को लाता है और राजा चन्द्रपाल को उसकी ओर आकर्षित करके गृह-कलह उत्पन्न करा देता है।

कर्पूर-मंजरी, निष्यंसागर मुद्रणालयम् मुंबई, चतुर्थ संस्करणम्, १९४६, प्रथम जबनिका, पृष्ठ २६, ३०

From his explicit references to Mahendrapala, Mahipala and Yuvaraja, his date has been fixed with some certainty at the last quarter of the 9th and the first quarter of the 10th century.

—History of Sanskrit Literature by S. N. Das Gupta, University of Calcutta, 1947, p. 455

अन्त में षड्यंत्रों से विवश होकर रानी उम राजकन्या से विवाह कराने की अनुमति दे देती है ।

इसके दो परिणाम निकलते हैं । एक तो यह कि तांत्रिक मिद्ध ने अपने दुराचरण और चमत्कृतिपूर्ण व्यवहारों से राजकुल तथा जनसाधारण का सदाचारमय जीवन संकट में डाल दिया था, जो भारत के अधःपतन का कारण बना । दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि उम समय शुद्ध साधनात्मक आध्यात्मिक चिन्तन का स्थान वे रहस्यवादी सिद्ध तांत्रिक अपहरण कर रहे थे, जिनमें "आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर" ले जाने की क्षमता ही न थी । इसका दुष्परिणाम भारत को शताब्दियों तक भोगना पड़ा । कदाचित् ऐसे पाखंडी साधुओं से सावधान करने के उद्देश्य से ही भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद किया हो, अन्यथा किसी भी दृष्टि से इस नाटक की कोई उपादेयता नहीं । राजशेखर उम युग का नाट्यकार है, जब संस्कृत और प्राकृत नाट्यों का अधःपतन सीमा को पहुँच गया था । राजशेखर में न चरित्र की कला है न रंगमंच का अनुभव । न तो विदूषक में हृदय को गुदगुदाने-वाला हास्य है, न गुरुजन में लोक-कल्याणकारी भावना । डा० कीथ का कहना है कि पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण इतना अनियमित और अव्यवस्थित है कि इस नाटक का अभिनय करना दुस्साध्य बन जाता है ।

भारतेन्दुजी ने इस नाटक के अनुवाद का उद्देश्य भरतवाक्य^२ में स्पष्ट कर दिया है । उनका आशय है कि इस नाटक को पढ़कर और खेलकर जनता शिक्षा ले, जिससे आर्यों का चित्त उन्नत बने, कपट-व्यवहार छोड़कर जनता सत्य-पालक बने । भारतेन्दु बाबू की आकांक्षा है कि आर्यों में यवनों के संसर्ग से जो दोष आ गए हैं, वे मिट जाएँ और सभी आर्य भाई भक्ति-पथ का अनुसरण करें । उनका भक्त वैष्णव हृदय यवन-संसर्ग के कारण आर्यों का दुराचारमय जीवन देखकर विदीर्ण हो जाता है । अतएव वे बार-बार पाखंडियों के कलुषित जीवन और दुराचारी धर्माचार्यों के अपावन कृत्यों की ओर संकेत करते चलते हैं ।

विषय विषमौषधम् (सं० १६३३)

यह प्रसिद्ध है कि संवत् १६३२ में जब महाराज गायकवाड़ अपने कुप्रबन्ध के

1. There can be no doubt of the demerits of Rajasekhara's works ; he is devoid of the power to create a character..... the confusion of exits and entrances in the Karpuramanjari is difficult to follow and probably more difficult to act.

—Sanskrit Drama : Dr. Keith

(Oxford - at-the-Clarendon Press, 1924), p. 235

२. कर्पूरमंजरी : भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ १६३
उन्नत चित्त है आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावै ।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्यवहार चलावै ॥

कारण राजच्युत कर दिए गए तो भारतेन्दुजी ने प्रसन्नता प्रकट करने के लिए यह भाण लिखा। इससे एक उद्देश्य तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी में भाण का उदाहरण आ जाए।

भावप्रकाश^१ के अनुसार भाण के नौ भेद होते हैं। उन भेदों में से भारतेन्दुजी-रचित भाण 'चित्र' जाति का है। इसमें नाना भाषाओं का संयोग होता है। इस भाण में हिन्दी-संस्कृत प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु बाबू ने इस नाटक में मुहावरों की ऋणी लगी है। कदाचित् वे बताना चाहते थे कि नाटकों में 'भाण' उस जाति का है, जिसमें बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग नाटक को रोचक बना देता है। इसमें हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं के मुहावरों की छटा विद्यमान है। एक-एक पृष्ठ पर कई-कई मुहावरे हैं। जैसे अपनी नाक ठहरी जिधर फेर दिया, उनकी बकरी जिस घाट पानी पिलाएं, बिजली को घन का पच्छड़, पचड़ा गाना, परचल गोहू करोंदा खाय, जान निछावर करना, यस्यास्ति भाग्यं स नरः कुलीनः, हमब ठाछा फुलाउब गाबू, पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव इत्यादि।

इन कहावतों को विस्तार से देने का यह प्रयोजन है कि हिन्दुस्तानी के उन भक्तों को उत्तर मिल जाए जो मुहावरेदार भाषा के पक्ष में हैं और भारतेन्दु की भाषा पर आक्षेप लगाते हैं। कदाचित् अपने गुरु राजा शिवप्रसादजी की प्रिय भाषा में यह भाण लिखने का प्रयास भारतेन्दुजी ने किया। इससे उनका यह उद्देश्य प्रकट होता है कि जहां विषय गम्भीर न हो वहां यह हलकी-फुलकी भाषा काम दे सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस नाटक के कारण भारतेन्दुजी की राष्ट्रीय भावना पर दोषारोपण किया जाता है। कुछ समालोचकों का आक्षेप है कि विदेशी सरकार द्वारा एक देशी राजा के राजच्युत होने पर हर्ष मनाना कहां की राष्ट्रीयता है।^२ इसका उत्तर तो भारतेन्दुजी ने स्वतः नाटक के नामकरण में ही दे दिया है। वे तो कहते हैं कि "विष की औषध विष है।" अर्थात् देशी राजाओं के अत्याचार को मिटाने का जो उपचार है, वह भी तो विष ही है। उसे भारतेन्दुजी अमृत कब मानते हैं? किन्तु वे ऐसे दुराग्रही नहीं, जो स्वदेशाभिमान के जोश में अपनी दुर्बलताओं पर भी आवरण डाल दें। हां, अपने देश की साधारण दुर्बलताओं को छिपाना अनुचित तो नहीं है, किन्तु जहां वे हृद से बढ़ जाएं, वहां उनका उद्घाटन होना श्रेयस्कर ही होता है।^३

भरतकाव्य में भारतेन्दुजी की चेतावनी न केवल प्रजा प्रत्युत राजन्यवर्ग के लिए भी है।^४

१. भावप्रकाश, पृ० २६८

२. भारतेन्दु नाटकावली, प्रस्तावना, बाबू श्यामसुन्दरदास

३. बाबू गुलाबराय, साहित्य-सन्देश, पृ० २१६, भारतेन्दु ग्रंथ, अक्टूबर-नवंबर १९५०

४. भारतेन्दु नाटकावली, विषय विमोचकम्, पृ० ५६२-६३

‘परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावें ।’

चन्द्रावली (सं० १६३३ वि०)

प्रायः सभी समालोचक इस बात में सहमत हैं कि ‘चन्द्रावली’ भारतेन्दुजी के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इस नाटिका में वैष्णव भक्त भारतेन्दु का कृष्ण-प्रेम निहित है। सम्पूर्ण लौकिक सीमाओं के बंधन को उत्तीर्ण करता हुआ चन्द्रावली के समान उनका हृदय कृष्णचन्द्र तक पहुंचने के लिए उमड़ता दिखाई पड़ता है।

चन्द्रावली को एक पात्र मानकर नाटक की रचना का सर्वप्रथम प्रयास रूप गोस्वामीजी ने अपने ‘विदग्धमाधव’ नाटक में किया है। संभव है उसी चन्द्रावली की धारणा भारतेन्दु की अवचेतना में बैठी इस नाटक-रचना की प्रेरणा करती रही हो।

इस नाटिका में चार अंक तथा एक विष्कम्भक है। प्रथम तीन अंकों में चन्द्रावली अपनी सखियों तथा वनदेवी, वर्षा, संध्या के सामने अपने अन्तःकरण की व्यथा एवं कृष्ण-मिलन की तीव्र उत्कंठा मानो हृदय खोलकर रख देती है। तीसरे अंक में चन्द्रावली अपनी सखियों—कामिनी, माधवी, माधुरी, विलामिनी—के साथ एक सरोवर के समीप उद्यान में बातें करती हुई दिखाई पड़ती है। चन्द्रावली की प्राणान्तक परिस्थिति देखकर सखियां कृष्ण-मिलन की योजना बनाती हैं। यहां तक इस नाटिका की रचना ‘विदग्धमाधव’ की शैली पर हुई है। किन्तु चौथा अंक विगत अंकों से भिन्न लीला-नाटकों की शैली पर विरचित प्रतीत होता है। यदि इसे चाचा वृन्दावनदास की ‘योगिनी छद्मलीला’ का तद्वत् रूप कहा जाए तो कोई त्रुटि नहीं। जिस प्रकार चाचा वृन्दावनदासजी की छद्मलीला में कृष्ण छद्मयोगिनी का रूप धारण कर राधिका के प्रेम की परीक्षा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार चौथे अंक में कृष्णजी गेरुआ साड़ी पहनकर हाथ में सारंगी लिए हुए चन्द्रावली के सिंहद्वार से राजप्रासाद में पहुंचकर उसके प्रेम की परीक्षा लेते हैं। परीक्षा में चन्द्रावली को दृढ़ और सत्यव्रती पाकर जब उसके मुंह से यह सुनते हैं :

रोम-रोम प्रति नैन श्रवण मन, केहि धुनि रूप लखाऊं ।

बिना सुजान-शिरोमनि रो केहि, हियरो काढ़ि दिखाऊं ॥

और चन्द्रावली को विरह की अग्नि में संतप्त मूर्खावस्था में पाते हैं तो उसे कंठ से लगा लेते हैं। फिर तो सखियां आनन्दमंगल मनाने लगती हैं। कृष्णजी की आंखों में प्रेमाश्रु झलकने लगते हैं और वे परीक्षा की बात स्पष्ट करके कहते हैं ‘परन्तु “मोहि निहचय है कि हमारे प्रेमिन को हम सो हूं हमारो विरह प्यारो है। ताही सो मैं हूं बचाय जाऊं हूं। या निठुरता में जै प्रेमी हैं विनको तो प्रेम और बढ़े और जै बच्चे

हैं विनकी बात खुल जाय ।” ठीक इसी प्रकार का वर्णन हमें चाचा वृन्दावनदासजी की ‘प्रेम-योगिनी’ लीला में मिलता है। ‘विदग्धमाधव’ में चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन का और ही रूप है। वहाँ कृष्ण को छद्मयोगिनी का रूप नहीं धारण करना पड़ता, प्रत्युत अपनी काव्य-कुशलता से वे ऐसे श्लोकों की रचना करते हैं, जिसका अर्थ चन्द्रावली और राधिका दोनों की प्रशंसा में ठीक-ठीक घट जाता है। ‘विदग्धमाधव’ में चन्द्रावली कृष्ण के प्रेम की परीक्षा करती है न कि कृष्ण चन्द्रावली के। एक बार कृष्ण के मुख से जब धारा के स्थान पर राधा निकलता है तो चन्द्रावली रष्ट हो जाती है। रूप गोस्वामी इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं :

कृष्ण—विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा ।

अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्तए राधा ॥

(इति ससंभ्रमम्) धारा धारा—

...

...

...

कृष्ण—प्रिये, द्वयोर्वर्णयोः कर्णयोर्वा विपरीतत्वमित्यस्मिन्नास्ति विचारः ।

चन्द्रावली—अइ दानसौंड अल एदाए अवहित्थाए । अज्ज अप्पणो मणहारिणो

सुवण्णजुअलस्स विष्णासादो साहु माहुरीपूरिदकरणम्हि किदा ।”^१

तदुपरान्त कृष्ण को लताकुंज के भीतर से एकांत में अपनी प्रशंसा करते हुए सुनकर अपनी सखी पद्मा और कृष्ण-मित्र मधुमंगल के समझाने से चन्द्रावली पुनः कृष्ण के पास आती है और वैजयन्ती की माला कृष्ण-कंठ में डाल देती है। इस प्रकार दोनों का आनंदपूर्वक सम्मिलन होता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दुजी ने विदग्ध-माधव की चन्द्रावली और वृन्दावनदास की छद्मयोगिनी का समन्वय इस ढंग से किया है कि एक-दूसरे की त्रुटि के पूरक बन जाएं। विदग्धमाधव में नाट्यशास्त्र का पूर्णतया परिपालन हुआ है, किन्तु लीला-नाटकों के सहस्र आकर्षण का अभाव भी उसमें खटकता है। इसी प्रकार लीला-नाटकों में सभी आकर्षक गुण हैं पर शास्त्रीय पद्धति का अभाव उनमें अवश्य है। भारतेन्दुजी ने इन दोनों का सम्मिश्रण ऐसी समन्वयात्मक शैली से किया है कि दोनों का वैशिष्ट्य एक-दूसरे का पूरक होकर नाटक के चमत्कार में वृद्धि कर दे।

१. भारतेन्दु नाट्यवली, पृ० ५७१

२. बालासिंह छलाला : चाचा वृन्दावनदास

३. विदग्धमाधव : श्री रूप गोस्वामी, निर्ययसागर प्रेस बम्बई, १९०३ ई०, पृ० ६४-६५

४. विदग्धमाधव, पृ० ६५

५. संस्कृत रूपान्तर :

आर्य दानशौण्ड, अलमेतयावहित्थया । अथात्मनो मनोहारिणः सुवर्णयुगलस्य विन्यासात्साधु माधुरीपूरितकर्णारिम कृता ।

६. विदग्धमाधव, श्री रूप गोस्वामी, निर्ययसागर प्रेस बम्बई, सन् १९०३ ई०, पृ० ६५

भारतेन्दुजी ने यह नाटिका रासलीला की शैली को लक्ष्य करके लिखी है। यह पूर्व कहा जा चुका है कि भारतेन्दुजी किसी नाटक-परम्परा का बहिष्कार एवं संहार नहीं चाहते थे, वरन् उसके परिष्कार और उद्धार के लिए प्रयत्नशील थे। चंद्रावली के द्वारा रासलीला-नाटकों में एक नवीन विधान का संयोग कराना चाहते थे। यद्यपि चंद्रावली की छंद-योजना प्रायः चाचा वृन्दावनदास की 'छछलीला' की शैली पर हुई, किन्तु छछलीला से इसमें एक विशेषता है। इसके वार्तालाप में गद्य का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार लीला-नाटकों में गद्य का प्रवेश और शास्त्रीय पद्धति का समावेश करके भारतेन्दुजी ने अभिनय शैली के द्वारा लीला-नाटकों की नये पथ से संयुक्त कर दिया। भारतेन्दुजी के पश्चात् लीला-नाटकों में गद्य का प्रयोग स्थान-स्थान पर होने लगा। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से निरन्तर अभिनीत होनेवाले लीला-नाटकों को विकसित करने का श्रेय भी भारतेन्दु बाबू को ही देना चाहिए। इसका प्रमाण यह है कि न केवल अभिनय में ही प्रस्तुत लीला-सम्बन्धी कृष्ण के साहित्यिक नाटकों में भी भारतेन्दुजी की शैली मान्य बन गई। श्री वियोगीहरिजी का छछ-योगिनी नाटक इसका प्रमाण है।

रूप गोस्वामी के समान भारतेन्दुजी ने राधा और चंद्रावली की सखियों में विभेद नहीं माना है। रूप गोस्वामी ने ललिता को राधिका की और पद्मा को चंद्रावली की अंतरंग सखी माना है। भारतेन्दुजी ने यह भेद-भाव नहीं रखा है। विदग्धमाधव में चंद्रावली और राधिका का सापत्न्यभाव दिखाया गया है और वह सापत्न्यभाव इतना तीखा है कि कृष्ण के मुख से राधा का नाम सुनते ही चंद्रावली रुष्ट हो जाती है। किन्तु भारतेन्दुजी ने ऐसी परिस्थिति कहीं नहीं आने दी है। केवल एक स्थान पर इतना संकेत अवश्य कर दिया है कि राधिकाजी को प्रसन्न करने के निमित्त चंद्रावली की एक सखी राधिका के पास जाते हुए दिखाई पड़ती है।

सम्पूर्ण नाटक में आद्योपांत जिस प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसके द्वारा भारतेन्दुजी ने आदर्श कृष्ण-प्रेम की स्थापना की है। वास्तव में एकनिष्ठ-प्रेम और निष्काम रति की जो विवृति चंद्रावली में दिखाई गई है, वह परमतत्त्व और परमात्म-प्रेम की ओर संकेत करती है। चंद्रावली में कृष्ण के प्रति सच्ची तन्मयता और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण दिखाकर भारतेन्दु बाबू ने आध्यात्मिक प्रेमपूर्णता की ओर मानव-हृदय को ले जाने की चेष्टा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटिका में जिस ंम का चित्र अंकित किया गया है वह उनके भक्तिभाव का प्रतिबिम्ब है।^१ इस प्रेम-तत्त्व के सम्बन्ध में स्वयं भारतेन्दु बाबू ने स्पष्ट कह दिया है, "इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं।"^२

१. बयालीस छछलीला, चाचा वृन्दावनदास

२. २०० श्यामसुन्दरदास, भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ६१-६२

३. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४६४

चंद्रावली की कल्पना साहित्य में इस निमित्त से की गई प्रतीत होती है कि शृंगार की पुष्टि के लिए सापत्न्यभाव के दर्शाने का अवकाश प्राप्त हो। जिस प्रकार साहित्य में राधा की कल्पना की सृष्टि इस निमित्त से प्रतीत होती है कि अनेक गोपियों का निर्भर्यादित प्रेम एक गोपी में केन्द्रीभूत होकर विलक्षण प्रेम को प्राप्त हो। भागवत में राधा की कल्पना का सर्वथा अभाव है। उसके स्थान पर अनेक गोपियों के रसमय विहार का वर्णन प्राप्त है। यह साहित्यिक विकास का एक प्रकार है।

मुद्राराक्षस (सं० १६३५)

यह नाटक संस्कृत के अति प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का अनुवाद है। नीतिज्ञ राजनीतिक चाल की चोटें किस प्रकार लगाते और रोकते हैं, इसे देखने के लिए मुद्राराक्षस से बढ़कर और कौन नाटक हो सकता था? भारतेन्दुजी इसके पूर्व कई नाटकों का अनुवाद कर चुके थे। वे अब सिद्धहस्त हो गए थे, तभी इतने गूढ़ नाटक का अनुवाद इतनी सफाई से कर पाए। इसमें अन्य अनुवादों से एक विशेषता है। इस नाटक में भारतेन्दुजी ने विस्तृत भूमिका में पूर्वकथा और उपसंहार में इतिहास-सम्बन्धी शोध के विवरण दिए हैं। इस नवीनता ने ऐतिहासिक नाट्यकारों को नई दिशा की ओर संकेत किया। प्रसादजी ने इस संकेत को पहचाना और अपने कई ऐतिहासिक नाटकों में इस संकेत से सहायता ली। इस प्रकार हिन्दी नाटक के इतिहास में एक नवीन पद्धति चल पड़ी। नाटक-प्रेमियों को नाटक पढ़ने में तो रस मिलता ही है, इतिहास के शोध और नाटक में उसके प्रयोग से आनन्द द्विगुणित हो जाता है। यह भारतेन्दुजी की विलक्षण सूझ थी।

भारतेन्दुजी ने यह नाटक क्यों समयोपयोगी समझा और राजा शिवप्रसादजी को क्यों समर्पण किया है? यह एक विचारणीय विषय है कि भारतेन्दु जैमा वैष्णव भक्त, जो जीवन के प्रत्येक अंग में प्रेम की गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना का उपासक हो, इस हिंसा-प्रतारणा और कुचक्र-समन्वित नाटक में क्यों व्यस्त हो गया। उस समय देश को विदेशी शासन से मुक्त करना था। इस नाटक की, जिसमें दो भारतीय महानुभाव परस्पर एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे हों, क्या उपयोगिता थी? भारतेन्दु ने इतना श्रम इस नाटक के अनुवाद में क्यों उठाया? और फिर उसे लिखकर राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द को क्यों समर्पित किया? यह तो सर्वविदित है कि राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दुजी के राजनैतिक तथा भाषा-सम्बन्धी विचारों में मतभेद नहीं था। एक तो सरकार के न्याय तथा अन्यायमय सभी विचारों का समर्थक था, दूसरा प्रजा-हित-चिन्तन में संलग्न रहकर सरकार के उत्तम गुणों का प्रशंसक होते हुए भी दुर्गुणों का निर्देशक था। गुरु-शिष्य का मतभेद क्रमशः इतना बढ़ गया कि परस्पर मनोमालिन्य

१. परम श्रद्धास्पद श्रीयुत राजा शिवप्रसाद बहादुर सी. एस. आई. के चरणकमलों में, केवल उन्हीं-के असाहचर्य से, उनके वात्सल्य-भाजन छात्र द्वारा बना हुआ यह ग्रन्थ सादर समर्पित हुआ।

की स्थिति उत्पन्न हो गई। मनोमालिन्य ने खुले विरोध का द्वार खोल दिया और दोनों एक-दूसरे की कटु समालोचना पर उतारू हो गए। भाषा और राजनीति के क्षेत्रों में इस कटुता ने शत्रुता का रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु के परम प्रयास से सरकार ने हिन्दी के उत्तम ग्रन्थों पर पुरस्कार-प्रदान का वचन दिया तो राजा साहब ने अपने किसी चाटुकार अनुवादक को अरबी-फारसी की शब्दावली में विरचित 'उत्तररामचरित' के अनुवाद पर पुरस्कार दिलाकर निज शैली का प्रचार करना चाहा। भारतेन्दुजी ने इसके विरुद्ध लेख लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें तत्कालीन लाट सर विलियम म्योर^१ और लेवी^२ की नीति का खुल्लमखुल्ला खंडन किया। सरकार ने भारतेन्दुजी की उन पत्रिकाओं को, जिनकी प्रशंसा यूरोप में गासी दी तासी^३ ने भी की थी, निन्द्य घोषित किया और उनको लेना बन्द कर दिया।

भारतेन्दुजी को आनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से भी हटना पड़ा। इन सबके मूल में राजा शिवप्रसाद की वैरभावना बैठी प्रेरणा दे रही थी। यह रहस्य अब गुप्त नहीं रह गया था। तात्पर्य यह है कि ये दोनों व्यक्ति उस समय एक-दूसरे के विरोध में प्राणपण से संलग्न हो गए थे। जिस समय मुद्राराक्षस का अनुवाद हो रहा था, यह बैमनस्य भाव चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

भारतेन्दुजी सहृदय साहित्यिक थे। राजनीति की भ्रंशा में भी उनमें कृतज्ञता, उदारता आदि सद्गुण अचल बने रहे। यह नाटक अपने गुरुदेव को समर्पण करके उन्होंने अपनी कृतज्ञता और उदारता का परिचय दिया। साथ ही 'भरतवाक्य' के द्वारा जन-समाज को यह सिखलाया कि राजनीति में दो विरोधी मतावलम्बी होना अहितकर नहीं, अपने सिद्धान्त की सिद्धि के लिए विविध प्रयत्न करना भी अनिष्टकर नहीं, विनाशकर है वह धारणा, जो केवल निजोन्नति के लिए स्वार्थ से प्रेरित बुद्धि के द्वारा देश का अमंगल कराती है।

चाणक्य और राक्षस दो विरोधी सिद्धांतों के प्रवर्तक हैं। दोनों राजनीति में धर्माधर्म का विचार त्यागकर अभीष्ट-सिद्धि की साधना में संलग्न हैं। दोनों के साधनों का मूल्यांकन सिद्धि करती है, धर्म और न्याय नहीं। विषकन्या का प्रयोग भी विहित है, बचनभंग, प्रतारणा, हिंसा आदि सभी दुर्गुण क्षम्य हैं। दोनों साधन की नैतिकता नहीं देखते, सिद्धि की प्रगति देखते हैं।

उपर्युक्त दुर्गुणों के दास होते हुए भी दोनों महान माने जाते हैं। क्यों? दोनों का स्वभाव भिन्न, दोनों की शक्ति भिन्न, दोनों का उद्देश्य भिन्न, दोनों का मन्तव्य भिन्न। कहां राक्षस सूक्ष्मदर्शी, कोमल, भावुक और भूल पर झूल करने वाला, कहां चाणक्य रहस्यमय, अविश्वासी और अनुदार। कहां राक्षस स्पष्ट, मिलनसार और

१. मर्सिया (सर विलियम म्योर पर कटाक्ष)

२. लेवी प्राथ लेवी (लेवी दरबार में हिन्दुस्तानी रईसों की दुर्दशा)

३. बी लेंगुआडेस हिन्दुस्तानिस (सन् १८७० ई०), गासी दी तासी

उदार। एक से उसके घनिष्ठ मित्र भी भयभीत और दूसरे पर उसके साथी प्राणोत्सर्ग को प्रस्तुत। तथ्य तो है यह कि चाणक्य की कठोरता का प्रकाश राक्षस की कोमल भावुकता को और भी जावबल्यमान बना देता है। चाणक्य राक्षस की इन कोमल वृत्तियों की प्रशंसा करता है और उसे लाभ उठाकर अपने उद्देश्य की सिद्धि भी करता है। चाणक्य की सिद्धि होती है, राक्षस पराजित होता है, किन्तु पराजित होने पर भी वह चाणक्य के सहस्र ही महान है।

अब प्रश्न है कि दोनों महान क्यों ? भारतेन्दुजी ने इसे स्पष्ट कर दिया है। महत्ता का लक्षण है निःस्वार्थ कार्यनिष्ठा। राजनीति में महान वह, जो व्यक्तिगत उन्नति को देशोन्नति में विलीन कर दे। चाणक्य और राक्षस दोनों कुशल राजनीतिज्ञ, साधन-सम्पन्न, राजोन्नति के लिए एकनिष्ठ होकर भी पद-तृष्णा को ठुकरा देते हैं, दोनों राजपद से निर्लिप्त हैं, स्वार्थ-भावना से बहुत ऊपर हैं। इसी कारण दोनों महान हैं। इस तथ्य को समझने की आवश्यकता जितनी विशालदत्त के समय में थी, उतनी ही भारतेन्दु-युग में थी और उतनी ही आज भी है। इसी कारण भारतेन्दुजी ने इस नाटक का अनुवाद किया। राजनीति में सदा प्रत्येक देश में दो मत होते ही हैं। कभी सारी जनता एकमतावलम्बी होती ही नहीं। देशहित की समस्या मतभेद के कारण उतनी जटिल नहीं होती, जितनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दासवृत्तिवालों के कारण होती है। भारतेन्दुजी राजा साहब की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता आदि के प्रशंसक थे, पर उन्हें वेदना इस कारण पहुंचती थी कि राजा साहब केवल स्वयं उच्चपद पाने के प्रलोभन में फंसकर देशहित को भूल जाते थे। इसी कारण अन्त में वे राजा साहब से अनुरोध करते हैं :

‘अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।’

दुर्लभ बन्धु (सं० १६३७)

अब तक संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद हिन्दी-भाषी जनता के सम्मुख आ चुका था। इस काल में अंग्रेजी नाटकों का पठन-पाठन नगर-नगर में हो रहा था। शेक्सपियर के नाटकों की चर्चा स्थान-स्थान पर चल पड़ी थी। भारतेन्दुजी ने उसी शेक्सपियर के एक नाटक ‘मर्चेंट आफ वेनिस’ का अनुवाद ‘दुर्लभ बन्धु’ नाम से किया। भारतेन्दुजी के नामकरण की अपनी प्रणाली थी। उन्होंने वेनिस का व्यापारी न कहकर नितान्त

१. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ३२८

चाणक्य—भला अमात्य, आपने यह कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य।

२. ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ में इसकी ओर संकेत हो चुका है।

३. लखौ मुसल सब विधि भारतवासी

...
अपनो देस धरमकुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।

—भारतेन्दु नाटकावली, मुद्राराक्षस नाटक, पृ० ३३५-३३६

भारतीयकरण करने का प्रयास किया है। अण्टोनियो का अनन्त, बसेनियो का बसंत, पोशिया का पुरश्ची कितना स्वाभाविक प्रतीत होता है। विदेशी नाटकों के अनुवाद की जो यह पद्धति भारतेन्दुजी ने चलाई, उसकी आशातीत प्रगति हुई। अनेक नाटक इस पद्धति पर अनुवादित होकर भारतीय बन गए।

अनुवाद की दृष्टि से यह नाटक बहुत सफल और सरल होते हुए भी कई स्थलों पर खटकता है। विवाह की भारतीय पद्धति से यूरोपीय पद्धति नितान्त भिन्न है। कासकेट का दृश्य इटली के लिए जितना ही उपयुक्त है, उतना ही भारतीय वातावरण के अनुप-युक्त। स्वयंवर हमारे देश में वीरता की परीक्षा का सूचक होता था, किन्तु इस प्रकार का विवाह कभी प्रचलित था ही नहीं। यह विवाह तो सम्बन्ध-स्थापना नहीं, प्रत्युत नियति से जुझा खेलना है।

दूसरा स्थल है शैलाक्ष के कार्पण्य का। शैलाक्ष यहूदी नाम शाइलाक का भारतीय-करण है। नाम की संगति तो अनुवाद में ठीक बैठ जाती है, किन्तु गुण और नाम का परस्पर मेल नहीं हो पाता। यूरोप में धनी यहूदी अर्थ-पिशाच नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु भारत में उस भावना का निर्देशक कोई समुदाय-विशेष नहीं है। अतएव शैलाक्ष को जैन बनाने से वह अभिव्यंजना नहीं होती जो यूरोप में यहूदी जाति से होती है। भारतेन्दुजी ऐसी त्रुटि कर नहीं सकते। सम्भव है कि अपूर्ण नाटक को समाप्त करनेवाले विद्वानों ने ऐसी कल्पना कर ली हो।

भारत-दुर्दशा (सं० १६३७)

‘भारत-दुर्दशा’ और ‘अंधेरनगरी’ इन दोनों नाटकों में देश की दयनीय दशा का उद्घाटन करके जन-जागरण का उद्देश्य झलकता है। इन दोनों में भारतेन्दु की पुंजीभूत अतर्वेदना मानो अगणित रूपों में रोदन करने का अवसर पा जाती है। सच तो यह है कि इन अभ्यु-रेखाओं की भाषा में भारतेन्दुजी की क्रान्तिकारी आत्मा घोर परिवर्तन का संदेश सुनाती दिखाई पड़ती है। विन्यास-गुण तो यह है कि यद्यपि दोनों में छः अंक हैं तथापि एक ही संदेश उपर्युक्त दोनों नाटकों में दो विभिन्न शैलियों से जनता के सामने रखा गया है। ‘भारत-दुर्दशा’ में मध्यमवर्ग, कनाविद् तथा पंडित प्रेक्षकों के अनुकूल विचार-शैली का उपयोग किया गया है, और अंधेरनगरी में ग्रामीण नर-नारियों के योग्य सरल ढंग से किसी बात को समझाने के लिए सुगम शैली प्रयुक्त की गई है। एक शैली भावात्मक है, दूसरी प्रभावात्मक। एक में डिसलायल्टी, आशा, निर्लज्जता, सत्यानाश, भारत-भाग्य आदि मानव-रूप में आते हैं, दूसरे में चनेवाला और चूरन-वाला चना-चूरन लेकर आते हैं।

उदाहरण के लिए देखिए ‘भारत-दुर्दशा’ में भारत-भाग्य को। वह खिन्नमना होकर चेतावनी दे रहा है :

सोई बंश रुधिर बही, सोई मन विश्वास ।

बही वासना चित्त बही, आसय बही विलास ॥

कोटि-कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि-कोटि अति सूर ।

कोटि-कोटि बुध मधुर कवि मिले यहां की धूर ॥

सोई भारत की आज यह भई दुर्दशा हाय ॥'

इसकी शब्दावली और इसके विचार पठित-समाज के लिए भावात्मक दिखाए गए हैं । किन्तु दूसरे नाटक अंधेरनगरी में गोवर्धनदास गाता है :

साँच कहूँ ते पनहीं खावें, झूठे बहु विधि पदवी पावें ।

अंधाधुंध मछो सब देसा, मानहु राजा रहत विदेसा ।'

अंधेरनगरी के विषय में विस्तृत विवेचना अलग की जाएगी । यहां भारत-दुर्दशा के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए ।

भारत-दुर्दशा एक प्रतीकात्मक नाटक (Allegorical Play) है । प्रतीकात्मक या भावात्मक नाटक की कई श्रेणियां होती हैं । उनमें तीन श्रेणियां मुख्य हैं । प्रथम श्रेणी में नाटक की स्वाभाविक या प्रस्तुत कथा तो रसात्मक होती ही है, उस कथा से नाम, रूप तथा गुण-साम्य के द्वारा जो रहस्यमय अर्थ आद्योपांत परिलक्षित होता है, वह भी चमत्कारपूर्ण होने से विज्ञानों का आनन्द-विधायक होता है । ऐसे नाटकों में स्थल-स्थल पर दूसरे रहस्यमय अर्थ की ओर संकेत-मात्र होता है, पंक्ति-पंक्ति में उस अर्थ की ओर संगति खोजना ठीक नहीं । इस प्रकार का नाटक विद्यासुन्दर है, जिसमें हम दूसरे अर्थ की ध्वनि पाते हैं ।

दूसरी कोटि में वे नाटक हैं, जिनके प्रस्तुत और स्वाभाविक अर्थ में इतना चमत्कार नहीं होता, जितना प्रतीक का अर्थ समझ लेने पर अप्रस्तुत अर्थ में प्रतीत होता है । 'प्रबोधचन्द्रोदय' ऐसा नाटक है । तीसरी श्रेणी मिश्र प्रतीकात्मक नाटकों की है । इसमें कतिपय पात्र मानवी होते हैं, कतिपय मानवीकरण के रूप में दृष्टिगत होते हैं । इस श्रेणी में कभी अधिक संख्या मानवी पात्रों की होती है और कभी मानवीकरण द्वारा प्रदर्शित पात्रों की । 'चैतन्य-चन्द्रोदय' इसी कोटि का है ।

भारतेन्दुजी का 'भारत-दुर्दशा' नाटक इस तीसरी श्रेणी में रखने योग्य है । इसके आघे से कम पात्र वर्ग या समुदाय के प्रतिनिधि हैं और अधिक पात्र मानवीकरण द्वारा प्रकट किए गए हैं । फटे वस्त्र लपेटे हुए भारत, खुले अंगवाली निर्लज्जता, लड़की के वेश में आधा, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेशधारी भारत-दुर्द्वे, सत्यानाश फौजदार, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार, डिसलायल्टी तथा भारत-भाग्य का मानवीकरण किया गया है किन्तु सभापति, बंगाली, दो देशी कवि, एडिटर, महाराष्ट्री

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ४६५

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६७०

३. डा० सोमनाथ गुप्त इसे प्रबोधचन्द्रोदय की कोटि में रखते हैं, किन्तु यह चैतन्य-चन्द्रोदय की शैली से अधिक मिलता है न कि प्रबोधचन्द्रोदय की ।

—हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ५९

अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आए हैं।

इस नाटक में भारत-भाग्य केवल छठे अंक में दिखाई पड़ता है। भारत की दोन दशा देखकर बह मानो परिहास कर रहा है। अन्त में भारत के जीवन की कोई आशा न देखकर भारत-भाग्य अपनी छाती में कटार भोंक लेता है और अन्तिम पटाक्षेप हो जाता है।

कुछ समालोचकों ने भारतेन्दुजी का सबसे बड़ा दोष इस दुःखांत नाटक की समालोचना में यह दिखाया है कि उन्होंने आशा की कहीं भूलक नहीं दिखाई और भारतीयों को कोई रक्षा का पथ नहीं बताया और भारत-भाग्य का अन्त करके सदा के लिए भारत का उन्नति-पथ बंद कर दिया। एक प्रसिद्ध समालोचक का तो कहना है कि “भारत-दुर्दशा में भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का अच्छा चित्र अंकित किया गया है, पर यह दुःखांत कर दिया गया है। इससे अंत में नैराश्य का भाव उत्पन्न होता है, पर होना चाहिए भारतोदय करने की हृदयता का भाव।”

हमारा कहना यह है कि इस नाटक का सम्यक् विवेचन करने पर उपर्युक्त समालोचनाएं तर्कसंगत नहीं प्रतीत होतीं।

बाबू ब्रजरत्नदासजी^१ ने भारत-भाग्य तथा भारत-दुर्द्व को नायक-प्रतिनायक मानकर इस नाटक को दुःखांत माना है, क्योंकि अन्त में भारत-भाग्य दुःखी होकर आत्म-हत्या कर लेता है और भारत-दुर्द्व विजयी होता है। यही कदाचित् भ्रम का कारण है। विचारणीय बात यह है कि यदि इस नाटक का नायक भारत-भाग्य होता तो भारत-दुर्द्व अपनी सेना—रोग, भ्रालस्य, मदिरा, अंधकार और सत्यानाश फौजदार को भारत को घेरने के लिए क्यों भेजता। वह तो बार-बार यही कहता है :

“कहां गया भारत मूर्ख देखो तो अभी इसकी क्या दुर्दशा होती है।”

“सब लोग मिलकर चारों ओर से हिन्दुस्तान को घेर लें।”

रोग से—

“आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।”

भ्रालस्य से—

“तुम्हारे और साथी सब हिन्दुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ।”

मदिरा से—

१. भारतेन्दु नाटकावली, बा० श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस, १९२७ ई०, पृष्ठ ६६

२. हिंदी नाट्य साहित्य, बा० ब्रजरत्नदास, हिंदी साहित्य कुटीर, काशी, २००४ वि०, पृष्ठ ८४

३. भारतेन्दु ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००७ विक्रमी, पृष्ठ ४७४

४. वही, पृष्ठ ४७८

५. वही, पृष्ठ ४८१

“.....तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ जाओ और हिन्दुओं से समझो तो ।”

उपर्युक्त उद्धरणों से यह तो प्रमाणित हो गया कि भारत-भाग्य नायक नहीं है । इसका नायक वास्तव में भारत है और प्रतिनायक है भारत-दुर्दैव । भारत के सहायक हैं—निरलज्जता और आशा । भाग्य तो उस समय भारत के पास आता है जब वह मूर्च्छित पड़ा होता है । इसके पूर्व उसका कहीं दर्शन नहीं होता । वह तो भारत का प्रच्छन्न शत्रु है, मित्र रूप में अपने को प्रकट करता है । वह प्रच्छन्न शत्रु भारत को विनाश-पथ पर चलाता रहा । इसीकी मैत्री के कारण भारत ने आलस्य, कलह, कुमति और अज्ञान का साथ किया । जब तक भारत के पास वैभव था, यह प्रच्छन्न शत्रु इसे धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करता रहा और भारत को निर्धन, रोगी, आलसी, कलह-प्रिय, अशक्त, अज्ञानी बनाता रहा ।

प्रथम अंक में ही इसकी ओर संकेत कर दिया गया है । योगी गाना गाता हुआ आता है और भारत के वर्तमान की तुलना उसके अतीत के साथ करता हुआ गाता चला जाता है । उसी गान में है :

“दिन-दिन दूने दुःख ‘ईश’ देत हा हा री ।”

भाग्य के भरोसे बैठ आलसी भारत दूसरे अंक में रोता है :

“अरे दैव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया, पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ ।”

कदाचित् कुछ लोगों ने इसी ‘दैव’ को ईश्वर समझ लिया है । इसी कारण भ्रम उठा है, परन्तु भारतेन्दुजी ने इन दोनों, दैव और ईश्वर, का अन्तर स्पष्ट कर दिया है । भारत प्रच्छन्न मित्र ‘दैव’ को तो दोष देता है, किन्तु ईश्वर से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है । वह कहता है :

“सब विधि दुःख सागर में डूबत धाड़ उबारो नाथ ।”

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित हो गया कि भारत ने अब अपने प्रच्छन्न शत्रु को पहचान लिया, किन्तु पहचाना उस समय जब उसकी समस्त शक्ति विनष्ट हो चुकी थी । उसके सारे सहायकों—धन, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि का संहार हो चुका था । भाग्यवादिता के कारण इसे सन्तोष, खुशामद, कायरता, मरी आदि प्राप्त हो चुके थे ।

प्रच्छन्न शत्रु भाग्य का परम मित्र है संतोष । उसने भारत के प्रतिनायक भारत-दुर्दैव की बड़ी सहायता की । वह (भाग्य) भारत का मित्र बनकर आया । उसने राजा-प्रजा सबको अपना चेला बना लिया । इसका परिणाम क्या हुआ ? “अब हिन्दुओं को खाने-मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं । राज न रहा, फैशन ही सही । रोजगार न रहा, सूद ही सही ।.....रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं । उद्यम की ओर देखते ही नहीं । निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी ।.....व्यापार ने

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, नागरा प्रचारिणी सभा, काराँ, सं० २००७, पृष्ठ ४८३

२. वही, पृष्ठ ४७०

इन्हींने मार भगाया।" भाग्य ने भारत को अज्ञान में डाल दिया। विस्फोटक हैजा आदि बीमारियाँ हों तो भाग्य के भरोसे बैठे-बैठे भारतवासी प्राण गंवा देंगे। और यदि रोग के शत्रु डाक्टर और विद्वान इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि करेंगे तो भी शीतला के डर से न मानेंगे।^१

भारत का प्रच्छन्न शत्रु जब भारत का सर्वस्व हरण करके उसको दुर्दैव से पराजित करा चुका और भारत अचेतनावस्था में पड़ा रह गया, तब फिर 'भाग्य' आता है और उसको अचेतनावस्था में देखकर गाता है। अब भारत का पूर्वइतिहास बर्णन करता है और मृत भारत को शव समझकर उसे सरयू, यमुना, गंगा आदि के प्रवाह में विसर्जित कर सदा के लिए मिटा देना चाहता है। वह नदियों से कहता है :

"बोरहु भारत भूमि सवेरे। मिटे करक जिय की तब मेरे।"^२

जब भाग्य ने देख लिया कि अब भारत उठ नहीं सकता तो वह अपने यथार्थ रूप को प्रकट करके कहता है :

"भुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता।"^३

वह जानता है कि भारत के अतिरिक्त इसे प्रश्रय देनेवाला संसार में अन्य कोई देश नहीं, अतएव आत्मघात कर लेता है।

इस विस्तृत विवेचन का प्रयोजन यह था कि 'भाग्य' का स्थान नाटक में निर्धारित हो जाए। भाग्य (fate) के भरोसे बैठने से भारत का सर्वनाश हुआ। भाग्य का संहार ही भारतोदय का श्रीगणेश करता है। भारत अभी अचेतनावस्था में पड़ा था, मृतक नहीं बना था। अतएव यह नाटक दुःखान्त है ही नहीं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि भारतेन्दुजी ने भारत को दो रूपों में प्रदर्शित किया। एक पराधीन भारत, जो भाग्याधीन है, दूसरा स्वाधीन भारत है, जो उनका आदर्श भारत है। स्पष्ट ही है कि भाग्याधीन भारत के उपरत हुए बिना स्वाधीन भारत का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव भाग्याधीन भारत का निधन इस कथावस्तु का अवश्यम्भावी परिणाम है। इसी कारण भाग्याधीन भारत के निधन से स्वाधीन भारत का उदय दिखाया गया है। इसका प्रमाण यह है कि इसका सन्देश नकारात्मक नहीं है। वह तो उस सुख का सन्देशवाहक है, जिसका स्वरूप क्रान्ति है, जो स्वाधीन भारत-सूर्य का अरुणोदय है।

इसी अर्थ का संदेश हमें पंचम अंक में प्राप्त होता है। अब बचा दूसरा आक्षेप। दूसरा आक्षेप यह है कि भारतेन्दुजी ने कोई आशा का सन्देश नहीं दिया। तथ्य तो यह है कि इस संदेश के निमित्त ही उन्होंने पाँचवाँ अंक रखा है। इस अंक में तत्कालीन देश-हितैषियों की सभा होती है। चक्रवर्ती टोपी, चश्मा, छड़ीवाले कदाचित् कांग्रेस

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, बाबू अजरतनदास, ना० प्र० सभा, भाग प्रथम, पृ० ४७१

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, बाबू अजरतनदास, ना० प्र० स० काशी, प्रथम भाग, पृ० ४७८ से ७६ तक

३. वही, पृ० ४६६

के संस्थापक पारसी सर फिरोजशाह मेहता, बंगाली सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, महाराष्ट्री जस्टिस रानाडे, देशी भाई राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द प्रतीत होते हैं। कवि^१ महोदय उस समय के कवियों के प्रतिनिधि हैं जो भारत-दुर्दैव से रक्षा का हास्यास्पद मार्ग बताते हैं।

दूसरे देशी भाई राजा साहब हैं जो कि डरते हैं “हाकिम लोग नाराज हो जायें, और कल ही फाड़बाजी होय।”^२ केवल महाराष्ट्री और बंगाली सभासद सभापति के साथ निर्भय रूप से काम करने को प्रस्तुत हैं और डिसलायल्टी के पकड़ने पर बिपत्तियों का सामना करने को प्रस्तुत हैं; बंदीगृह का दुःख सहने के लिए सन्नद्ध हैं। क्या यह आशा का चिह्न नहीं है? क्या संवत् १९३३ वि० का लिखा नाटक संवत् १९७७ वि० में होनेवाले असहयोग आन्दोलन की भूमिका नहीं है? यह एकनिष्ठ देश-हित-चिन्तक जिस उपाय की ओर संकेत कर गया, क्या वही ४५ वर्ष बाद उपयोग में नहीं लाया गया? इससे बढ़कर सन्देश कोई कवि या नाटककार क्या दे सकता था? उस सत्याग्रही ने सत्यपथ को नहीं त्यागा। उसकी पत्रिकाएं बंद कर दी गईं। उसने आनरेरी मजिस्ट्रेटी त्याग दी, सरकार का सदा कोप-भाजन बना रहा, किन्तु निर्भय होकर देशवासियों को राष्ट्रीयता का सन्देश सुनाता गया। उसने एक सदस्य के मुख से कहलाया: “सब लोग मिलकर एकचित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो।” “सार्वजनिक सभा की स्थापना करो, कपड़ा बीनने की कल मंगाओ, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहनो।” इससे अधिक और क्या चाहिए।

इस विषय में बाबू गुलाबरायजी का मत है कि “भारत-दुर्दशा नाटक के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई गई है कि वह दुःखान्त है, और उसमें आशा का सन्देश नहीं है। यह ठीक है, किन्तु कहीं-कहीं करुणा का आधिक्य लोगों को उद्योगशील बना देता है। करुणा में प्रायः वीररस की ‘भावृत्ति’ हो जाती है, ‘आइ गयहु हनुमान जिमि करुना मेंहु वीररस’। कवि का लक्ष्य जाग्रति उत्पन्न करना था, वह चाहे आशा और उत्साह द्वारा हो और चाहे करुणा के द्वारा।”^३

हम समझते हैं कि बाबू गुलाबरायजी ने “करुणा में वीररस के समान हनुमान” उस वार्तालाप की ओर संकेत करके कहा है जो डिसलायल्टी और सभा के वीर सदस्यों के मध्य हुआ। बाबूजी ने तथ्य को पकड़कर ही उसकी ओर संकेत किया है और आशा का सन्देश-वाहक हनुमान के समान उसी दृढ़ता को बताया है जो

१. कवि—जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकालकर उंगली चमकाकर कहे :
‘मुए शहर न आब्यो, शहर जनाने हैं।’ बस, बस, दुश्मन हट जायेंगे।

—भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ४८६

२. वही, पृ० ४८८

३. साहित्य-संदेह (भारतेन्दु ग्रंथ), वष १२, अंक ४-५, पृ० ३१६-२०

बंगाली, महाराष्ट्री तथा सभापति के संवादों में टपकती है। किन्तु उनका यह कहना कि यह नाटक दुःखान्त है, बिना किसी प्रमाण के आधार पर कैसे मान लिया जाए ?

अंधेरनगरी (सं० १६३८ वि०)

पूर्वलिखित नाटकों में भारतेन्दुजी ने अपनी दृष्टि के सम्मुख उन शिक्षित, अर्ध-शिक्षित, आभिजात्य तथा मध्यमवर्ग के प्रेक्षकों को रखा था, जिनमें कला-प्रेम के साथ-साथ परख की भी कुछ सामर्थ्य होती है; किन्तु जनता का प्रतिनिधि (भारतेन्दु) लक्ष-लक्ष उन अशिक्षित ग्रामीणों को कैसे विस्मृत कर सकता है, जो शताब्दियों से पठन-पाठन की सुविधा, कलामय वातावरण तथा विनोद के उत्तम साधनों से वंचित हैं।

भारतेन्दुजी ने ग्रायजीवन की त्रुटियों को भी समझा था। उन्होंने देखा था कि विवाह आदि उत्सवों के अवसरों पर भांड और स्वांग-मंडलियां किन अवांछनीय अश्लील खेलों से ग्रामीणों को हंसाकर रुपया ऐंठती हैं। इन मंडलियों में इसी बात की होड़ लगती है कि किस मंडनी का घोड़ा अश्लीलता में सबसे आगे छूटता है।^१ जो मंडली जितना ही अधिक अश्लील, भोंडा, भट्टा, वामनोत्तेजक खेल दिखाती है, वह अपने को उतनी ही प्रसिद्ध मानती है। उन मंडलियों का एक ही लक्ष्य होता है, किसी प्रकार निम्नतम स्तर के लोगों को रुचिकर प्रतीत होनेवाला आख्यान अश्लीलतम शब्दों से अधिक भोंडे और भट्टे रूप में प्रदर्शित करना।

जैसा पूर्व कहा जा चुका है कि भारतेन्दुजी किसी भी विनोद-परम्परा का बहिष्कार तथा संहार नहीं चाहते थे, प्रत्युत उसके परिष्कार तथा सुधार के अभिलाषी थे। यह नाटक कदाचित् उन्हीं अनपढ़ लोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, जिनकी शब्दावली अति परिमित होती है, और जिन्हें सीधे-सादे आख्यान के द्वारा प्रहसन देखने का अभ्यास है। भारतेन्दुजी जनता की नाड़ी पहचानते थे। उन्होंने प्रहसन का ऐसा आख्यान निकाला जो ग्रामीण जनता को रुचिकर भी हो और लोगों की रुचि को परिमार्जित भी कर सके। शब्दावली उन्हींके घर की हो, पर सुरुचिपूर्ण हो। घटनाएं उन्हींके मध्य घटित होनेवाली हों, पर कला से वंचित न हों। वही चूरन-वाला चूरन बेचता है और चनेवाला चने। उन्हींके घरों में प्रचलित शब्दावली, उन्हींकी बौली, किन्तु एक विज्ञ कलाकार उन सभी अवयवों का समीकरण जिस कौशल से करता है, वह नाटक में प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है। उन्होंने गानों में से गाली-गलौच के अश्लील शब्दों को हटाकर उन्हींके घरों में बोले जानेवाले कृष्णमुरारी, श्याम-सलोना को रख दिया है।

१. भांड-मंडलियां प्रायः खेल प्रारम्भ होने के पूर्व घोड़ा छोड़ने का अभिनय करती हैं। पूर्व प्रदेश में इसकी विशेष प्रथा है।

चूरन अमल वेद का भारी । जिसको खाते कृष्णमुरारी ।

मेरा पाचक है पचलोना । जिसको खाता श्याम-सलोना ॥^१

चूरनवाला चूरन के बहाने ऐसी झूठी बातें सीधे-सादे शब्दों में कह जाता है कि सरकार की काली करतूतों का खुल्लमखुल्ला भंडाफोड़ हो जाता है और कानून की पकड़ में भी नहीं आता । देखिए :

चूरन साहेब लोग जो खाता । सारा हिंदू हजम कर जाता ।

चूरन पुलिसवाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ।

चूरन हाकिम सब जो खाते । सब पर दूना टिकस लगाते ॥^२

हजम कर जाने में कितनी अभिव्यंजना है । ऐसे स्थलों पर भी भारतेन्दु बाबू की बिलक्षण प्रतिभा का परिचय पाकर विस्मय होता है । पराधीनता की वेदना प्रकट करने का जहां भी अवसर मिला, वे चूके नहीं । ग्रामीण जनता के मध्य इन छोटे-छोटे शब्दों और पदों में हास्य का पुट देकर राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना उन्हींका काम था । आज भी गांवों में चना और चूरन इन्हीं गानों के साथ बेचे जाते हैं । सैकड़ों मनुष्य उनके चतुर्दिक् खड़े होकर इन गानों को सुनते और आनन्द उठाते हैं ।

प्रायः प्रत्येक जाति के प्रत्येक वर्ग के दोषों को इस प्रहसन में दिखाया गया है । उदाहरण के लिए देखिए :

“ब्राह्मण—टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाए और धोबी को ब्राह्मण कर दें,
टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें । टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान,
टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान ।”^३

इस नाटक में ग्रामीण जनता ने आद्योपान्त जितना हास्य-विनोद पाया, उतना ही राष्ट्रीयता का पाठ भी अनजाने सीख लिया । अन्यायी राजा को अन्त में टिकटी पर चढ़ाकर भारतेन्दुजी भविष्य में भारतोद्धार की ओर संकेत भी करते हैं । अकेले इस नाटक ने जितना उपकार ग्रामीण जनता का किया उतना कदाचित् ही अद्यावधि किसी अन्य नाटक ने किया हो । ग्रामीण शब्दों की छटा देखिए टिकस, बोदा, चौपट्ट, नैनुवा, गैया, लकलक, बुंबक-बुंबक, भिच्छा ।

भारतेन्दुजी ने स्वांग-मंडलियों और भांडों को जो मार्ग दिखाया, उसपर चलने से ग्रामीण अनपढ़ जनता की रुचि का परिष्कार भी होता और उनको हास्य-विनोद में भी और अधिक रस मिलता । कुछ काल तक भारतेन्दु के पथ का अनुसरण हुआ । किन्तु आगे चलकर पठित समाज में कोई ऐसा प्रतिभाशाली नाट्यकार न हुआ जो इस प्रकार के अन्य नाटकों द्वारा प्रहसन में विविध विषयों का समावेश करके जनता का

१. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ६६०

२. वही, पृ० ६६१

३. वही, पृ० ६६६

मंगल करता। आज के नाट्यकार यदि इस ओर ध्यान दें तो हिन्दी-साहित्य के एक ओर ग्रंथ की श्री-वृद्धि हो।

नीलदेवी (गीतिरूपक) (सं० १६३८ वि०)

भारतेन्दुजी ने अभी तक मुस्लिम राज्यकाल की कोई ऐतिहासिक घटना लेकर नाटक की रचना नहीं की थी, और न स्त्रियों के वीरत्व का उल्लेख किया था। कदाचित् इन दोनों अभिवाओं ने इस नाटक-सृजन की प्रेरणा दी हो। इस नाटक के प्रारम्भ में 'दुर्गापाठ' के मंत्र हैं। तदुपरांत समर्पण इस प्रकार है :

“मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनागर को।”

ग्रंथ समर्पण करते समय वे अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रकट कर देते हैं, “जिस भाति भंग्रेज स्त्रियां सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने सन्तानगर को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उनमें सहायता देती हैं, उसी भाति हमारी गृह-देवियां भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा-मात्र है और कुछ नहीं है।”^१

इन उद्देश्यों से भारतेन्दु बाबू का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। नारी जाति को उद्बुद्ध कर जाति और देश की विपत्ति निवारण करने के लिए उन्हें कुछ करने की प्रेरणा देना उनका ध्येय जान पड़ता है। किन्तु इस नाटक पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि “जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दुजी ने इसकी रचना की है—उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।”

देखना यह है कि बाबू श्यामसुन्दरदासजी का आक्षेप कहाँ तक उचित है। भारतेन्दुजी ने निज उद्देश्य पूर्ति के लिए उन राजपूत नारियों को पात्र नहीं बनाया है जो पुरुषों के पराजित होने पर हंसते-हंसते जौहर-ज्वाला में भस्म हो जाती थीं और विजेता यवन सुखपूर्वक उनके दुर्गों पर अधिकार कर लेते थे। भारतेन्दु ने अपने युग में इस प्रकार के नारी-वीरत्व को उपयोगी न समझकर एक नया पथ ढूँढ़ा। उन्होंने पंजाब के राजा सूर्यदेव और अमीर अब्दुशरीफख़ाँ सूर के युद्ध को कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया। इस नाटक में रात्रि के समय अचानक धावा बोलकर अमीर के सैनिक राजा सूर्यदेव को बन्दी बना लेते हैं। पिंजड़े में बन्द राजा धर्म-परिवर्तन के लिए आग्रह करनेवाले मुसलमानों पर धूक देता है और कहता है, “तुझ पर धू और तेरे मत पर धू।” जब उसे मारने के लिए सैनिक अस्त्र लेकर दौड़ते हैं तो वह पिंजड़े के छड़

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग पहला, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००७, पृ० ५१७

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग पहला, पृ० ५१६, ना० प्र० सं० काशी, सं० २००७

३. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस प्रयाग, सन् १९२७ ई०, बा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ६८

४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग प्रथम, पृ० ५३५, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००७ वि०

तोड़कर बाहर निकलता है और कई यवनों का संहार कर वीरगति पाता है ।

राजा की मृत्यु के कारण राजपूतों की अधिक संख्या निराश हो युद्धक्षेत्र छोड़कर चली जाती है । ऐसी अवस्था में रानी विजय की कोई युक्ति न देख छद्मवेश में नर्तकी बनती है और अमीर से प्रतिशोध लेकर पति के साथ चिता पर भस्म होने में उत्साह से भर जाती है । राजपूतों की विजय और अमीर की पराजय होती है ।

भारतेन्दुजी का यह मौलिक नाटक है । इसमें उनका हृदय देश की दीन दशा पर घाठ-घाठ आंसू रोता है और अपनी उस व्यथा को वसंत और पंडितजी नामक दो पात्रों के द्वारा प्रकट करते हैं ।

वसंत^१ और पंडितजी के संवाद द्वारा भारतेन्दुजी ने यह बतलाना चाहा है कि राजा धर्मात्मा था और अधर्म-युद्ध में मारा गया । अब देश-रक्षा का कोई उपाय नहीं था । प्रजा भगवान-नामोच्चारण के अतिरिक्त और कोई पथ नहीं पा रही थी । ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ।

नाटक के प्रारम्भ में यह दिखाया गया है कि रानी^२ ने राजा सूर्यदेव से अधर्म-युद्ध में तत्पर मुसलमानों के प्रति सावधान रहने को कहा । राजा को यह विश्वास था कि मुसलमानों को युद्ध में हम अवश्य जीत लेंगे, किन्तु उन्होंने रानी की आशंका पर ध्यान न देकर दूरदर्शिता से काम नहीं लिया । राजा की धारणा थी कि यवन रात्रि के समय सुप्तावस्था में आक्रमण नहीं करेंगे । ऐसा अधर्म-युद्ध असम्भव समझकर वह निश्चिंत शयन कर रहा था । ऐसी अवस्था में आक्रमणकारी यवनों ने राजा को बन्दी बना लिया और उनका वध कर डाला । अब स्थिति विकराल बन गई । अब रानी क्या करे ? उसके सम्मुख तीन मार्ग थे, जिनका अनुसरण वह कर सकती थी । एक मार्ग यह था कि प्रजा की सहस्रों अनाथ अबलाओं को विजेताओं की नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का शिकार बनने के लिए छोड़कर स्वतः जौहर की ज्वाला में जल जाती । अथवा अस्त्र-शस्त्र लेकर अल्पसंख्यक राजपूतों के साथ युद्धक्षेत्र में मर मिटती । उस अवस्था में भी प्रजा असहाय अवस्था में ही छूट जाती । अथवा उस कला के द्वारा, जिसमें वह अत्यन्त प्रवीण थी, अन्यायी शत्रुओं को मुग्ध बनाकर अधर्म-युद्ध का बदला

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५३६ ।

मियां (पंडितजी)—हाय ! अब भारतवर्ष की कौन गति होगी ? अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथासुख दलन करेंगे । अब स्वाधीनता का सूर्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा । हाय ! परमेश्वर तू कहां सो रहा है । हाय ! धार्मिक वीर पुरुष की यह गति ।

कहां करुणानिधि केराव सोए ।

जागत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए ।

...

...

...

सब विधि बूझत लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई ।

२. रानी—सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं ।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग प्रथम, पृ० ५२३

उसी प्रकार लेती, जिस प्रकार छद्मघटा-निवारण होने पर अर्जुन ने कौरवों से अधर्म-युद्ध में आहत अपने पुत्र के वध का बदला लिया था ।

बाबू श्याममुन्दरदासजी कदाचित् एक 'आर्य ललना' का मुसलमानी दरबार में नर्तकी के भेष में जाना भारतीय मर्यादा के विरुद्ध समझकर यह आपत्ति उठाते हैं कि भारतेन्दुजी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए ।

सोचने की बात है कि भारतेन्दुजी का उद्देश्य है क्या ? वे चाहते हैं कि भारतीय ललनाएं भी विविध कलाओं के द्वारा आत्मरक्षा तथा देश-कल्याण में सहयोग दें । हाथ पर हाथ धरकर अकर्मण्य न बनी रहें । परम्परा के मिथ्या बन्धन में अपने को न बांधें । नीलदेवी यदि प्रथम दो मांगों में से किसी एक का अनुसरण करती तो किस प्रकार देशहित, जाति-रक्षा, आत्मरक्षा में सहायक होती । तीसरे पथ के अनुसरण से उसने जाति की स्वतन्त्रता बचाई, अबलाओं का धर्म बचाया और अन्याययुद्ध-कर्ताओं को अधर्म का मजा चखाया । प्रजा को मुखी देखने हुए पति के साथ हमते-हमते अन्त में चिता पर जलकर भस्म हो गई ।

एक विचारणीय बात यह है कि भारतेन्दु इस नाटक में केवल धर्मनीति ही नहीं बताना चाहते, प्रत्युत धर्मनीति और राजनीति का समन्वय करना चाहते हैं । 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' वाली नीति यदि राजनीति में सहायक हो सकती हो तो उस परिस्थिति में साधुता के द्वारा देश और जाति का संहार भारतेन्दुजी को उचित नहीं प्रतीत होता । राजा सूर्यदेव अधर्म-युद्ध करनेवालों से धर्म-युद्ध की अपेक्षा करता था, उसका फल कितना विपला हुआ । अधर्मी के साथ कौशल द्वारा युद्ध ही कन्यागण कर हो सकता है । भारतेन्दु बाबू यही सिद्धांत एक पात्र के मुख से कहलाते हैं :

“आर्य वंश को बधन पुन्य जो अधर्म धर्म में ।

गोभक्षन द्विज श्रुति हिसन नित जामु कर्म में ॥

तिनको तुरतहि हतौ मिले रन कै घर माहीं ।

इन दुष्टन सों पाप किये हैं पुन्य सदा ही ॥”

एक बात को विस्मरण करने से भारतेन्दुजी के साथ हम अन्याय करेंगे । भारतेन्दुजी ने यह आपद्धर्म बताया है । शान्तिकाल में इस नीति का उपयोग अवश्य ही वर्जनीय है । शान्तिकाल में भारतेन्दु बाबू आर्य ललनाओं का लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ गौरांगी युवती के समान घूमना भी निन्द्य समझते हैं । नर्तकी बनकर मुसलमान दरबार में एक आर्य ललना का जाना वे कैसे सहन कर सकते हैं । दूसरी बात यह है कि किसी दरबार में नृत्य और संगीतकला का प्रदर्शन कब वर्जित है ? वर्जित नृत्य-कला-प्रदर्शन नहीं प्रत्युत वह स्वार्थमय निन्द्य उद्देश्य है, जिसकी प्रेरणा से नर्तकियां राजा-नवाबों के विलास और उपभोग की सामग्री बनती हैं । इस नाटक में रानी नीलदेवी का उद्देश्य है अपनी जाति के स्वातन्त्र्य की रक्षा और पति-

वध का प्रतिशोध। इसमें अपवित्रता की गंध कहां। ज्योंही अमीर अम्बुलशरीफ 'जान साहब' सम्बोधित कर मद्यपान देने के लिए निकट पहुंचता है, रानी चंडी के समान उसका रक्त पी लेती है। उसके शब्दों में कितना बल है !' धन्य है रानी के साहस को। दानव रूप शत्रुओं के मध्य में चंडी के सदृश निर्भय जाकर प्रलयनृत्य करनेवाली रानी का साहस जौहर में जलनेवाली क्षत्राणियों तथा युद्धक्षेत्र में लड़नेवाली लक्ष्मीबाई से किस प्रकार कम है !

उपर्युक्त तर्कों को यदि छोड़ दिया जाए और नीलदेवी को रानी न मानकर एक कलाविद् नर्तकी ही समझ लिया जाए तो भी क्या नीलदेवी का शौर्यमय कृत्य निन्द्य है ? एक नर्तकी अपना अभिनय दिखाने के लिए किसी शाही दरबार में जाती है तो क्या शासक का यही कर्तव्य है कि उसके सतीत्व को भंग करने की चेष्टा करे ? प्रत्येक नर्तकी वेश्या नहीं। गायिका नीलदेवी ने दरबार में जिस शर्त पर गाना प्रारम्भ किया था, उसे भी ध्यान से सुन लेना चाहिए।

“अमीर—तुम्हारा क्या नाम है ?

गायिका—मेरा नाम चंडिका है। बड़ी दूर से आपका नाम सुनकर आती हूं।

अमीर—बहुत अच्छी बात है। जल्द गाना शुरू करो। तुम्हारा गाना सुनने को मेरा एस्तियाफ़ हर लहजे बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा।

गायिका—जो हुक्म।”

गायिका गाती है, दरबारी प्रसन्न होते हैं। अमीर गायिका को मद्यपान के लिए बार-बार विवश करता है, किन्तु वह अस्वीकार करती जाती है। वह तब तक प्रार्थना करती है जब तक अमीर मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। जब अमीर शराब का प्याला स्वयं उठाकर पीने को बाध्य करता हुआ उसका शरीर स्पर्श करना चाहता है और ‘लो जान’ कहता है, तभी गायिका प्रहार करने को विवश होती है। भारतेन्दुजी ने कितनी सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है। कोई स्वाभिमानिनी कलाविद् नर्तकी इस हत्या के लिए क्षम्य मानी जाती, रानी का तो प्रश्न ही क्या। इसका यह भी उद्देश्य भलकता है कि भारतीय नारी अबला ही नहीं, प्रत्युत चंडी भी है। आपत्तिकाल में वह चंडी बनकर आत्मरक्षा कर सकती है। इस सम्बन्ध में बाबू गुलाबरायजी का तर्क भी हमारे मत की पुष्टि करता है। बाबूजी कहते हैं, “साध्य के उत्तम होने से साधनों की नीचता क्षम्य हो जाती है। पद्मावती ने भी ऐसा ही किया था। उसने

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५४५

“नीलदेवी—ले चंडाल पापी ! मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले। मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ.....अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।”

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ५४३

अलाउद्दीन के पास विवाह की स्वीकृति भेज दी थी ।”

बाबू श्यामसुन्दरदासजी का निजी मत भी इस नाटक के सम्बन्ध में दो स्थानों पर भिन्न-भिन्न है। दोनों में किसी प्रकार संगति नहीं बैठती। इस नाटक की असफलता का मत पहले उद्धृत किया जा चुका है। दूसरा मत प्रशंसासूचक यह है—
“भारत-दुर्दशा और नीलदेवी में भारतेन्दुजी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है और इनके द्वारा वे पढ़नेवालों अथवा अभिनय देखनेवालों के सामने देश का एक सजीव, आदर्श-पूर्ण तथा अनुकरणीय चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। ये दोनों रचनाएं देश-हितैषिता के भावों से कूट-कूटकर भरी हुई हैं।”

उपर्युक्त दोनों मतों में किसे ठीक माना जाए? एक श्वास में तो बाबूजी इसे ‘अनुकरणीय’ कहते हैं और दूसरे ही क्षण निज मत का खंडन करते हुए कहते हैं, “जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दुजी ने इसकी रचना की है, उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।”

इन्हीं मौलिक नाटकों की समालोचना के आधार पर बाबूजी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि “जो कुछ आक्षेप या दुःख की बात है, वह यह है कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेन्दुजी ने अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया।”

नीलदेवी की समालोचना में भारतेन्दुजी की जो कल्पना ‘प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना’ देनेवाली कहकर लेखक के नाट्यशास्त्र के अज्ञान का प्रमाण मानी गई है, वास्तव में कला की दृष्टि से वही इस नाटक की प्राणविधायिनी है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने केवल कथानक की रूपरेखा के आधार पर अपना मत दिया है, क्योंकि नाटक की संक्षिप्त कथावस्तु का उल्लेख करके अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है। इसके अन्य अवयवों का उल्लेख तक नहीं किया है।

विचारने की बात है कि क्या कथावस्तु ही नाटक में सबसे प्रधान है या उसके और भी अवयव महत्ता रखते हैं। नाटकों को सफल बनाने में ‘पताकास्थानक’ विशेष

१. भारतेन्दु नाटकावली, बाबू श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस प्रयाग, सन् १९२७ ई०, पृ० ६६

२. वही, पृ० ६८

३. वही, पृ० ७१

४. “At the same time, it can never be admitted that the plot is of chief importance in a Drama, or that it is the plot that gives to a great tragedy or to a great comedy its outstanding position. That outstanding position must come from the presentation of character, from the ideas and the atmosphere and the style of the Drama, for all of which the plot but forms the setting.”

—An Introduction to Dramatic Theory by Allardyce Nicoll,

बल प्रदान करता है। नीलदेवी का नर्तकी बनकर दरबार में जाना वास्तव में कला की दृष्टि से विशेष प्रभाव रखता है। यही पताकास्थानक है, जिससे नाटक में चमत्कार बढ़ गया है। इससे रानी के चरित्र का विकास और नाट्यकार की कला का प्रस्फुटन होता है। पताकास्थानक^१ का विशेष महत्त्व वर्णन किया गया है। शकुन्तला, वेणीसंहार, रत्नावली में इसके कारण चमत्कार आ गया है। आज के समालोचक भी पताकास्थानक के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नीलदेवी के दशम दृश्य में उसीकी उत्कृष्ट भांकी भारतेन्दुजी ने प्रेक्षकों को दिखाई है।

पताकास्थानक में सहसा स्थिति-विपर्यय से अर्थ-सिद्धि द्वारा कथावस्तु की धारा-दिशा मोड़ दी जाती है। 'अमीर' दरबारियों के साथ सौंदर्यमयी नर्तकी के मधुर संगीत से मुग्ध होकर शृंगाररस की अनुभूति कर रहा था। अचानक घटना-प्रवाह परिवर्तित होता है और खङ्गधारिणी दुर्गा के सहस्र नीलदेवी का रौद्ररूप देखकर विस्मित प्रेक्षकों का अद्भुतरस का आस्वादन होने लगता है। प्रेक्षक दुरात्मा अमीर को आहत देखकर धर्म की विजय और अधर्म की पराजय पर प्रसन्न होते हैं। इतने ही में और भी विस्मयकारी घटना घटती है। राजकुमार सोमदेव अपने सैनिकों के साथ अमीर का शिविर छिन्न-भिन्न करते हुए शत्रुओं का संहार करने लगते हैं। 'भारतवर्ष की जय'^२, 'आर्यकुल की जय', 'महारानी नीलदेवी की जय' आदि जयकारों से वायुमंडल गूँज जाता है। प्रेक्षकों में स्वभावतः हर्ष का संचार होता है। रानी के सिद्धान्तों की विजय और देश के स्वातन्त्र्य की रक्षा होती है। इस प्रकार सुखान्त नाटक समाप्त होता है।

कृच्छ्र समालोचक^३ इसे नितान्त दुःखान्त नाटक मानते हैं। दुःखान्त तो तब होता जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती, या रानी नीलदेवी को पराजय प्राप्त हो जाती। रानी नीलदेवी का ध्येय पूरा होता है। देश स्वतन्त्र रह जाता है, पति का हत्याकारी परलोकगामी बनता है और रानी का पुत्र सिंहासनासीन होता है। एक आर्य ललना को और क्या चाहिए ? पति युद्धभूमि में अधर्मियों का संहार करते हुए वीरगति पाता है और पुत्र उसके राज्य को सभाल लेता है। रानी स्वर्ग से पति का पुनरागमन कराने में असमर्थ थी अतएव उनसे मिलने को प्रस्थान करती है। इसमें दुःख किसको और क्यों हो ? प्रेक्षक रानी को चित्तारूढ़ नहीं देखते। हां, रानी अन्त में यह कहती हुई अवश्य सुनी जाती है, "मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ.....सो इच्छा पूर्ण हुई। अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।"

भारतेन्दुजी ने अन्तिम वाक्य कहलाकर नीलदेवी के मानव-चरित्र को देवत्व से

१. पताकास्थानक—सहस्रैवार्थ सम्पत्तिगुणबल्युपचारतः

पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥

—साहित्यदर्पण, पृष्ठः परिच्छेदः ॥३०३॥

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००७ वि०, पृ० ५४६

३. डा० सोमनाथ, हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२

सुरभित कर दिया। अन्यथा उसके ऊपर प्राणभीरु होने का आक्षेप लग सकता था। उसने प्राणों के मोह से छषवेश नहीं बनाया था, उसने राज्य-प्रलोभन के कारण यह दुस्साहस नहीं किया, उसने छष दुर्गा का रूप केवल जाति, देश और धर्म की रक्षा की भावना से प्रेरित होकर धारण किया। चरित्र का मूल्यांकन भावना से होता है न कि वेश से।

भारतेन्दु द्वारा संशोधित 'भारतजननी' (संवत् १९३४)

यह नाटक बंगला का अनुवाद है। १५ फरवरी, सन् १८७३ ई० को नेशनल थियेटर कलकत्ता में 'भारतमाता' नामक नाटक 'अमृत बाजार पत्रिका' के संपादक बाबू शिशिरकुमार घोष की प्रेरणा से खेला गया था। बबू ब्रजरत्नदास का कहना है कि भारतेन्दुजी ने स्वतः बंगला से अनुवाद नहीं किया, प्रत्युत उनके एक मित्र ने अपने अनूदित नाटक का इनसे संशोधन कराया। संशोधन में नाटक का सम्पूर्ण रूप ही बदल गया, अतएव उन्होंने अपना नाम मुखपृष्ठ पर देना उचित नहीं समझा। अतः इस नाटक में कितना अंश भारतेन्दुजी का रचित है और कितना अनुवादक का है, यह कैसे निर्णय किया जाय !

डा० सोमनाथ^२ इस नाटक को भारतेन्दुजी की मौलिक रचना मानते हैं और साथ ही साथ यह भी कह जाते हैं कि "इसे नाटक कहना व्यथ है।" नाटक न कहने का कारण बताते हैं कि "इसमें एक ही दृश्य है और सारा कार्य-व्यापार उसीमें आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है।" डा० सोमनाथ जिस कारण से नाटक नाम देने का विरोध करते हैं, वह तो उत्तम एकांकी नाटक कालक्षण है। एक ही दृश्य में आद्योपांत कथावस्तु दिखाई जा सके तो अभिनय में पट-परिवर्तन का भगड़ा ही बच जाए और प्रेक्षकों को सफलता से रसानुभूति कराई जा सके।

इस नाटक को स्वयं भारतेन्दुजी ने मौलिक नाटक नहीं बताया है। आश्चर्य है कि डा० सोमनाथ किस आधार पर इसे मौलिक मानते हैं। भारतेन्दुजी लिखते हैं, "भारत-जननी रूपक जो गत नवम्बर सन् १८७८ ई० से छपता है, उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह रूपक मेरा बनाया नहीं है। बंगभाषा में 'भारतमाता' नामक जो रूपक है वह उसीका अनुवाद है, जो मेरे एक मित्र का किया है, जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया। कवि की कीर्ति का लोभ नहीं करना। अतएव यह प्रकाश करना मुझपर आवश्यक हुआ।"^३

हमारे मत में तो एक दृश्य में समाप्त होवेवाला यह नाटक आधुनिक युग का उत्तम एकांकी है।

१. हिन्दी नाट्य साहित्य, बाबू ब्रजरत्नदास, हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस, पृष्ठ ७६

२. हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ५१

३. भारतेन्दु नाटकावली, संपादक श्यामसुन्दरदास बी० ए० (भूमिका पृ० २), प्रकाशक इंडियन प्रेस, सन् १९२७ ई०, प्रथम संस्करण

नवां अध्याय

भारतेंदु-युग के प्रतिनिधि नाट्यकार

भारतेन्दुजी ने स्वयं तो नाट्यरचना की ही, अपने मित्रों को भी नाट्य-निर्माण और नाट्याभिनय के लिए प्रेरणा दी। उनके व्यक्तित्व और प्रोत्साहन से आकर्षित होकर तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखक उनके सम्पर्क में आए। जो भी एक बार सम्पर्क में आ गया, वह उनके प्रेमपाश में ऐसा आबद्ध हुआ कि आजीवन उनका मित्र बना रहा। जिसमें उन्होंने साहित्य-सृजन की अल्प क्षमता भी पाई, उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। फलतः एक बृहद् साहित्यिक मण्डल निर्मित हो गया, जिसके केन्द्र-रूप भारतेन्दुजी विराजमान थे।

इस साहित्यिक मण्डल का एक उज्ज्वल नक्षत्र भारतेन्दुजी की मृत्यु के दो वर्ष बाद ही अस्त हो गया। मेरा तात्पर्य लाला श्रीनिवासदासजी से है। लालाजी को भारतेंदुजी अपना मित्र कहा करते थे। लालाजी ने प्रह्लाद-चरित, तप्तासंवरण (संवत् १९३१ वि०), रणधीर-प्रेममोहिनी (संवत् १९३४ वि०) और संयोगिता-स्वयंवर (१९४२ वि०) नामक चार नाटक लिखे। इनमें तप्तासंवरण और रणधीर-प्रेममोहिनी के कथानक काल्पनिक हैं। तप्तासंवरण में शकुन्तला नाटक की शैली पर पत्र-लेखन^१, ऋषिशाप^२ और शाप-निवारण^३ विधि आदि बातें पाई जाती हैं। यह नाटक सुखांत बना दिया गया है। इनके दूसरे नाटक रणधीर-प्रेममोहिनी में कथानक का सृजन और चरित्र-चित्रण प्रायः पश्चिमी शैली पर मिलता है। इसमें प्रस्तावना का भी अभाव है। स्वयंवर की रचना भारतीय पद्धति पर की गई है, किन्तु अंत में पश्चिमीय शैली की गंध आती है। प्रेमी नायक रणधीर सब शत्रुओं का संहार कर आहत हो जाता है और अपनी प्रेयसी प्रेममोहिनी की गोद में प्राण-विसर्जन कर देता है और दोनों एक चिता पर जलाए जाते हैं। इस प्रकार रणधीर और प्रेममोहिनी अपने प्रेम-प्रण का पालन करते हैं; रिपुदमनसिंह और रणधीरसिंह मैत्री का निर्वाह करते हैं। रिपुदमनसिंह की सामान्य त्रुटि ने दो परिवारों का सर्वनाश कर दिया। इस प्रकार यह हिन्दी का

१. पत्र-लेखन : शकुन्तला के सहरा तप्ता भी विरह के कारण पत्र लिखती है।

२. ऋषिशाप : दुर्वासा के सहरा गौतम भी संवरण को आप दे देते हैं।

३. शाप-निवारण : मुद्रिका-दर्शन के समान शापनिवारणविधि अंगस्पर्श बताई गई है।

सर्वप्रथम दुःखांत नाटक माना जाता है। एक विद्वान का कहना है कि 'रगुधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही 'रोमियो एंड जूलियट' की ओर ध्यान ले जाता है। कथावस्तु भी इसकी प्रचलित प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है।^१

किन्तु इस नाटक में हमें तीन युगों की सामाजिक स्थिति का चित्र मिलता है। सूरत के महाराज द्वारा अपनी पुत्री की स्वयंवर-योजना प्राचीन युग का दृश्य उपस्थित करती है। सखी मालती के इस कथन से कि "प्रेममोहिनी के स्वयंवर में शस्त्रविद्या की परीक्षा के बीच जो वीर रगुधीर ठहरेगा, उसको उसी समय यह प्रतिमा दी जाएगी"^२ यह मत और भी स्पष्ट हो जाता है।

मध्यकाल की प्रथा का सूचक यह पद है—

“देख्यो प्रेम को पंथ जुदी हो।

जाने प्रीति रीति रस चाख्यो, ताहि न भावत कोई,

दीपक की छवि लख पतंग नें, पंख आपनी खोई।

बेघत मधुप काठ पर हितबस, कमल न छेदत सोई।

जाकी प्रीति लगी काहू सों, याको जानत वोई।”^३

तत्कालीन स्थिति इस प्रकार मिलती है—

“हे भारत-भूमि ! तू अपनी संतान का ये हान देखकर क्यों नहीं फटती। हां ! किसी नदी या समुद्र में भी इतना जल नहीं आता जो हम लोग उसमें डूब जाएं।”^४

लालाजी का तीसरा नाटक 'प्रह्लाद-चरित' है। इस नाटक का प्रारम्भ बैकुंठ के दृश्य से होता है। द्वारपाल जय-विजय एवं सनकादि ऋषियों को रोकने के कारण आपग्रस्त बनते हैं। यहां से कथा प्रारम्भ होती है, और प्रह्लाद का पूरा चरित दिखाकर नृसिंह-अवतार होने के उपरांत समाप्त होती है।

हम पूर्व लिख आए हैं कि रास-नाटकों में भी प्रह्लाद-लीला और नृसिंह-लीला का प्रचार था। प्रह्लाद का सम्पूर्ण चरित्र गीतिनाट्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस प्रकार प्रह्लाद-चरित नाटक रास-नाटकों की परम्परा में आता है और 'रगुधीर-प्रेममोहिनी' नवीन शैली का अनुसरण करता है। इससे सिद्ध होता है कि लालाजी रास से लेकर अंग्रेजी शैली तक की विशेषताओं को समेटे चलते हैं।

भारतेन्दु और लाला श्रीनिवासदास की मृत्यु के उपरांत भारतेन्दु-मंडल न्यूनाधिक चालीस वर्षों तक अपने नेता के पथ पर चलता हुआ नाट्य-साहित्य को विकसित बनाता रहा। इस प्रकार भारतेन्दु-प्रदर्शित नवीन मार्ग नाट्य-साहित्य की

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४१०

२. रणधीर और प्रेममोहिनी, प्रथम अंक, पृ० २

३. रणधीर और प्रेममोहिनी, प्रथम अंक, पृ० २२

४. वही, पृ० ८३

उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करता रहा। इस पथ के पथिक थे—पं० प्रतापनारायण मिश्र (१९१३ से १९५१ वि० तक), राधाकृष्णदास (१९२२ से १९६४ वि० तक), बालकृष्ण भट्ट (१९०१ से १९७१ वि० तक), पं० बदीनारायण चौधरी (१९१२ से १९७६ वि० तक), राधाचरण गोस्वामी (१९१५ से १९८२ वि० तक), अम्बिकादत्त व्यास (१९१५ से १९५७ वि० तक), तोताराम (१९०४ से १९५६ वि० तक)। इनके अतिरिक्त कार्तिकप्रसाद, काशीनाथ खत्री, शालिग्राम, अमानसिंह गोटिया, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, दामोदर शास्त्री, कृष्णदेवशरणसिंह 'गोप' आदि भी कुछ न कुछ नाट्य-साहित्य की वृद्धि कर गए हैं।

यदि भारतेन्दु-युग को चार भागों में विभाजित कर दिया जाए तो एक-एक भाग के प्रतिनिधि नाट्यकार निर्णय किया जा सकता है।

प्रथम भाग (संवत् १९४२ से १९५० वि० तक)

पं० प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३ से १९५१ वि० तक)—मिश्रजी भारतेन्दु-युग के प्रथम भाग के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने भी भारतेन्दुजी के 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शैली पर 'भारत-दुर्दशा' रूपक लिखा। इन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का स्वतंत्र अनुवाद 'संगीत-शाकुन्तल' नाम से किया। यह 'संगीत-शाकुन्तल' गीतिनाट्य कदाचित् स्वांगवालों को लक्ष्य करके लिखा गया। कलियुग के दुर्व्यवहारों को प्रकट करनेके लिए 'कलिकौतुक' नामक नाटक इन्होंने लिखा। यह नाटक भारत की सामाजिक परिस्थिति का यथार्थ चित्रण करता है। इसमें कपटी साधुओं का वितंडावाद, दुराचारियों का दुर्व्यवहार, मांस-भक्षियों तथा मदिरा-सेवियों का अनाचार दिखाया गया है। 'गोसंकट नाटक' में गौओं की दुर्दशा दिखाई गई है। 'कलिप्रभाव' में कलियुग का प्रभुत्व और 'जुआरी-खुआरी' में द्यूतक्रीड़ा के अनर्थों का वर्णन मिलता है। 'जुआरी-खुआरी' एक प्रहसन है। 'हठी हमीर' में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण का वर्णन है और हमीरसिंह की वीरतापूर्ण लड़ाई दिखाई गई है।

मिश्रजी भारतेन्दु-मंडल में विनोद की मीठी गुदगुदी उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध थे। इनकी भाषा में कहीं शुद्ध संस्कृत-पदावली का आनन्द मिलता है तो कहीं सलीस उर्दू की जिन्दादिली। कई भाषाओं पर अधिकार होने के कारण इनके नाटकों में विभिन्न पात्रों की विभिन्न भाषाएं नाटक को रोचक बना देती हैं। मुद्रावरों का जितना अच्छा प्रयोग मिश्रजी के नाटकों में मिलता है, उतना कदाचित् ही अन्यत्र मिले।

हिन्दी में उस काल तक नारी-समस्या के आधार पर कथावस्तु प्रस्तुत करने-वाले नाट्यकारों की संख्या अत्यल्प थी। मिश्रजी इस त्रुटि को समझते थे। अतएव हिन्दी साहित्य को सब प्रकार से पूर्ण करने के अभिलाषी उस कवि ने नाटक लिखने का भी संकल्प किया और 'कलिकौतुक रूपक' में उस पतिव्रता हिन्दू नारी की दुःखद

दशा प्रदर्शित की, जो अपने वेश्यागामी पति के हाथों नाना प्रकार की विपत्ति सहते हुए भी उसके मंगल की कामना करती है। ऐसी ही कथावस्तु के आधार पर भारतेन्दु-युग में अनेक नाटक लिखे गए। अतः मिश्रजी को हम भारतेन्दु-युग का प्रतिनिधि नाट्यकार मानते हैं।

द्वितीय भाग (सं० १६५० से १६६० तक)

राधाकृष्णदास (सं० १६२२ से १६६४ वि० तक)—राधाकृष्णदासजी भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे और प्रायः उन्हींके साथ-साथ रहा करते थे। ये भारतेन्दु-युग के द्वितीय भाग के प्रतिनिधि हैं। इन्होंने 'दुःखिनी बाला' नामक एकांकी नाटक लिखा। इनके 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रतापसिंह' दो ऐतिहासिक नाटक अपने युग के अति प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं। 'धर्मालाप' में केवल संवाद-चमस्कार है। वार्तालाप द्वारा मनातनी, वेदान्ती, वैरागी, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी और थियासोफिस्टों के गुण-दोष दिखाए गए हैं।

राधाकृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' में एक हिन्दू विधवा की दुःख-भरी कहानी नाटक रूप में दिखाई है। यह नाटक भारतेन्दुजी के जीवनकाल में ही लिखा गया था। इसका प्रथम संस्करण सं० १६३७ वि० में प्रकाशित हुआ, जिसमें नायिका श्यामा पति की मृत्यु के उपरांत संयममय जीवन की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिणी बन जाती है और निन्दामय जीवन व्यतीत करती है। दो ही वर्ष बाद दूसरी आवृत्ति प्रकाशित हुई, जिसमें सामाजिक निन्दा के भय से विषपान द्वारा विधवा श्यामा प्राण-विसर्जन कर देती है।

कथावस्तु में परिवर्तन यह संकेत कर रहा है कि सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम दुःखान्त नाटकों में प्रदर्शित करने की रूचि नाट्यकारों में पनप रही थी।

राधाकृष्णदास की प्रसिद्धि 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' दो नाटकों के द्वारा फैली। ये दो ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं और देश पर बलिदान होने को आह्वान करते हैं। 'महारानी पद्मावती' की रचना भारतेन्दुजी के जीवन-काल में हुई थी।

किन्तु 'महाराणा प्रताप' सं० १६५४ में लिखा गया। इस नाटक में दो कथानक साथ-साथ चलते दिखाई पड़ते हैं। यह सहवर्तिनी काल्पनिक घटना ऐतिहासिक वृत्त को अधिक आकर्षक, रोचक और चरित्र-विधायक बनाती चलती है। एक ओर तो महाराणा प्रताप और अकबर की हठता, मानसिंह, सलीम और मुहम्मदशाहों के आक्रमण की विभीषिका और युद्ध का कोलाहल सुनाई पड़ता है, तो दूसरी ओर गुलाब और मालती का मधुर प्रेमालाप, ब्रजवासियों के गीत चित्त को आकर्षित करते हैं। राजनीतिक चालों में अकबर की कूटनीति, मानसिंह का महाराणा के प्रति द्वेष,

ज्ञानलाना द्वारा महाराणा की प्रशंसा और पृथ्वीराज का महाराणा को स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए प्रोत्साहन ऐसे प्रसंग हैं, जो दर्शकों के हृदय-पटल पर नाना भावों को सजीव खड़ा कर देते हैं।

प्रेमाभाष करनेवाले गुलाब और मालती को भी नाट्यकार ने अन्त में वीर नर-नारी के रूप में दिखाया है। युद्ध में आहत गुलाबसिंह का शव ढूँढ़नेवाली मालती को संन्यासिनी के वेश में देखते ही शृंगाररस करुणा-सागर में विलीन हो जाता है। यह वीररस-प्रधान नाटक शृंगार और करुणा के सम्मिलन से मनोरम बन जाता है।

भारतेन्दुजी-विरचित अपूर्ण 'सती प्रताप' नाटक को बाबू राधाकृष्णदासजी ने इस योग्यता से सम्पूर्ण किया है कि पाठकों को दोनों की रचना में भेद प्रतीत होता ही नहीं।

चरित्र-चित्रण

पात्रों के चरित्र-चित्रण में बाबू राधाकृष्णदासजी को अपूर्व सफलता मिली है। स्वतन्त्रता की वेदी पर परिवारसहित हंसते-हंसते बलि होनेवाला प्रताप, धीरता, वीरता, अमाशीलता और दृढ़ता का मानो आदर्श देवता है। मंत्री भामाशाह का संक्षिप्त घन द्वारा राष्ट्रहित में योग देनेवाला जीवन, धनी-मानी अधिकारियों को त्याग की प्रेरणा देता हुआ आदर्श मंत्रित्व का रूप खड़ा कर देता है। इन साहित्यिक सद्गुणों के अतिरिक्त इसकी अभिनेयता का यह प्रमाण है कि न जाने कितने रंगमंचों से इसका अभिनय दिखाया जा चुका है और आज भी इस नाटक की उपयोगिता कम नहीं हुई है।

भाषा

नाटक की भाषा में नाट्यकार ने आद्योपान्त इस बात का ध्यान रखा है कि मुसलमान पात्र सलीस उर्दू का प्रयोग करें। 'दरद्दात', 'दाद गुस्तरी' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। जो पात्र मुसलमान नहीं हैं, उनकी भाषा कहीं साहित्यिक है और कहीं बोलचाल की। पात्रों का ध्यान रखकर भाषा का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि ऐतिहासिक नाटकों में 'महाराणा प्रताप' एक विशेष स्थान का अधिकारी है।

तृतीय भाग (सं० १६६० से १६७० वि० तक)

बालकृष्ण भट्ट (सं० १६०१ से १६७१ वि० तक)—भारतेन्दु-युग के तृतीय भाग का प्रतिनिधि भट्टजी को माना जा सकता है। भट्टजी के निबन्ध जितने पाठित्यपूर्ण और गम्भीर होते हैं, उतने ही इनके नाटक सरस और हास्यरस-संयुक्त होते हैं। इनके नाटकों की संख्या भी तत्कालीन सभी नाट्यकारों से अधिक है। कतिपय

इतिहास-लेखक इनके प्रकाशित तथा अप्रकाशित नाटकों की संख्या १५ तक बताते हैं। किन्तु अभी तक इनके सब नाटक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इन्होंने माइकेल दत्त के दो नाटकों 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' का अनुवाद भी किया है। इनके मौलिक नाटकों में 'दमयन्ती-स्वयंवर', 'वेणु-संहार' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तिम नाटक प्रहसन है, जिसमें वेण्यागामी को जो दुष्परिणाम भेजने पड़ने हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया है।^१

'दमयन्ती-स्वयंवर' संवत् १८५४ वि० में 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित हुआ। भारतीय नाट्यशैली के अनुसार नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना का समावेश किया गया है। प्रत्येक अंक में दो या अधिक गर्भाङ्क हैं। पौराणिक कथानक को लेकर शास्त्रीय पद्धति पर लिखे हुए इस नाटक में कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक मिलते हैं। इस नाटक की संवाद-योजना में इनके अन्य नाटकों से अधिक सौष्ठव दिखाई पड़ता है। आश्चर्य है कि आद्योपांत नाट्यशास्त्र का अनुसरण करते हुए इन्होंने अन्त में 'भरतवाक्य' क्यों छोड़ दिया।

इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना 'वेणु-संहार' सं० १८६६ वि० में प्रस्तुत हुई। इसका भी पौराणिक कथानक अति प्रसिद्ध है। नान्दी,^२ सूत्रधार और प्रस्तावना के साथ नाटक का आरम्भ होता है। इस नाटक में राजा वेणु के अत्याचारों से संतप्त प्रजा का रोदन और ऋषिशाप द्वारा राजा का संहार दिखाया गया है।

यद्यपि कथानक मूलतः पौराणिक है, किन्तु कथावस्तु के संविधान में तत्कालीन रुचि और देश-दशा का सुन्दर चित्र-चित्रण है। ब्रिटिश राज्य के उन खुशामदियों की ओर संकेत मिलता है जो खिताब के प्रलोभन में देशाभिमान को त्याग देते हैं। प्रथम अंक के प्रथम गर्भाङ्क में इसकी एक भांकी देखिए—

नागरिक—जे छूँछे खिताब के लोभी करें जाति अपमान।

स्वारथ-वश नित करें खुशामद त्यागि देश-अभिमान ॥

जो पुरखन के पुन्य भाव ते दुरै कवी भगवान।

पदवी पाय अनादरी ऐहँ ज्यों कूकर को कान ॥

तत्कालीन सामाजिक स्थिति का दृश्य देखिए :

कुप्रवृत्ति नाम की एक तरुणी वेणु के आचार-विचार और राज की प्रशंसा करते हुए कहती है, "ये निपूती के निगोड़े नाहक हमारे राजा को बदनाम किए हैं। सच तो यह है कि ऐसा सुख न पहले कभी रहा न आगे होगा। सब लोग सब भांति आज्ञाद और स्वतन्त्र हैं। यहां तक कि सभ्यता की इस नई चलन में बेटा बाप को मूर्ख और गंवार कहता है।....." इस महास्वतन्त्रता का मूल वाक्य भी लोगों ने सुना ही होगा, 'न मांस-भक्षणो दोषो न

१. प्रहसन के प्रकरण में इस नाटक का विशेष विवरण दिया जाएगा।

२. भट्टजी ने इस नाटक में नांदी संस्कृत श्लोक के रूप में रखी है।

मधे न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् ।'.....

बनै साहब पहन कर कोट पतलूँ,

मज्जा इसमें बड़ा है जिन्दगी का ।

...

...

...

...

हैं कोरे अक्ल के बेदुम के टट्टू,

हुए ऐसे नये फैशन पे लट्टू ।

समय यह खूब आया सम्यता का,

खिला गुल हिन्द में आवारगी का ॥”

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि राजा वेणु की जीवनी को कथावस्तु के रूप में रखने का प्रयोजन तत्कालीन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना है ।

इस नाटक को तीन अंकों और आठ गंभीकों में समाप्त किया गया है । समझाने पर भी सन्मार्ग पर न आनेवाला वेणु ऋषियों के मारणमन्त्र के प्रयोग द्वारा सिंहासन से नीचे गिर गतप्राण हो जाता है ।

इसके अन्त में भरतवाक्य नहीं मिलता । इस नाटक में एक बड़ा दोष है काल-विरोध का । राजा वेणु के समय की राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का वर्णन करते हुए कवि उन्नीसवीं शताब्दी का दृश्य इस रूप में वर्णन करने लगता है कि पाठक अथवा प्रेक्षक को यह दोष स्पष्ट होकर रस-बाधक हो जाता है । एक दृश्य में तो महर्षि अत्रि, वामदेव और भृगु का वर्णन है और दूसरे दृश्य में सूटधारी हिन्दुस्तानी साहबों का मज्जाक और उस मज्जाक में भी राजा वेणु के कामों का उल्लेख । राजा वेणु के समय और अंग्रेजी सम्यता के प्रचार-काल में शताब्दियों का अन्तर है । इस कारण इस नाटक में काल की एकता (unity of time) नहीं है । काल-विरोध दोष पाया जाता है ।

भट्टजी के नाटक

कहा जाता है कि भट्टजी ने निम्नलिखित नाटकों की रचना की—शर्मिष्ठा, पद्मावती, चन्द्रसेन, मृच्छकटिक, किराताजुनीय, पृथु-चरित्र, शिशुपाल-वध, नल-दमयन्ती, दमयन्ती-स्वयंवर, शिक्षा-दान, आचार-विडम्बन, नई रोशनी का विष । उपर्युक्त नाटक अभी तक अप्रकाशित हैं । संवत् २००४ विक्रमी में नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने ‘बृहन्नला’, ‘वेणु-संहार’ और ‘जैसा काम वैसा परिणाम’ नामक तीन नाटकों को प्रकाशित किया है ।

चतुर्थ भाग (संवत् १९७० से १९८० तक)

राजाचरण गोस्वामी (सं० १९१५ से १९८२ तक)—गोस्वामीजी ने १९४४

विक्रमी से नाटक-रचना प्रारम्भ की। ये भारतेन्दु युग के चतुर्थ भाग के प्रतिनिधि हैं। इनके आठ नाटकों का उल्लेख मिलता है। 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', 'श्री दामा' बड़े नाटक हैं। तीन छोटे प्रहसन हैं—'बूढ़ मुंह मुहासे', 'तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण' और 'भंग-तरंग'।

'सती चन्द्रावली' नाटक में चन्द्रावली अपनी सखियों के साथ जल भरने जाती है। शाहजादा अशरफ उसे पकड़ लेता है और उसका पिता औरंगजेब जनता की प्रार्थना को ठुकराकर चन्द्रावली को मुक्त करना अस्वीकार कर देता है। हिन्दुओं के विद्रोह में अशरफ की मृत्यु होती है। औरंगजेब रोषपूर्ण होकर नाना प्रकार के अत्याचार करता है। चन्द्रावली स्वतः अग्नि में भस्म हो जाती है। इस ऐतिहासिक नाटक में एक वीर नारी का चरित्र दिखाया गया है, जो राजमुख को त्यागकर अपने धर्म पर आरुढ़ रहती है और धर्मरक्षा के लिए युद्ध करते हुए शरीर त्याग देती है। इस प्रकार यह दुःखान्त नाटक समाप्त होता है।

'अमरसिंह राठौर' भी वीररस का ऐतिहासिक नाटक है। भारतीय-पद्धति के अनुसार नान्दी के द्वारा इसका आरम्भ होता है। अमरसिंह के वीरत्व-प्रदर्शन से हिन्दुओं में वीरभाव भरना ही इसका उद्देश्य प्रतीत होता है। वीर अमरसिंह युद्ध में अहत होता है। उसकी पत्नी घोड़े पर सवार होकर पति का शव ढूँढ़ती है और साथ-साथ चिता पर जल जाती है। यह दुःखान्त नाटक है। गोस्वामीजी ने अपने प्रहसन 'तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण' में दुराचारी गुरुओं का भंडाफोड़ किया है। इसमें यह दिखाया है कि किस प्रकार मूर्खता ने अन्धभक्त अपनी बहिन-बेटियों की प्रतिष्ठा संकट में डाल देते हैं। रचना-उद्देश्य

गोस्वामीजी ने नाटक-रचना का उद्देश्य प्रत्येक नाटक की भूमिका में दे दिया है। 'सती चन्द्रावली' का उद्देश्य उसकी भूमिका में इस प्रकार मिलता है, "एक दिन मेरी प्राणाधिक प्रियतमा ने कहा कि श्रावण के गीतों में बहुधा उपदेशपूर्ण गीत भी हैं जैसेकि चन्दना, रानी गेंद और चन्द्रावली आदि। तब मैंने उनसे वे गीत सुने और उनमें चन्द्रावली का गीत और इतिहास मुझे बहुत ही आदर्श और उन्नत जान पड़ा। बस, यह नाटिका मैंने उसी सूत्र पर बनाई है।"

उपर्युक्त उद्धरण से तत्कालीन नाट्यकारों की रुचि का पता चलता है। वे लोग अपने नाटकों के लिए जनता में प्रचलित ऐसी कथाएं ग्रहण करते थे, जिनमें जन-जीवन को विकासोन्मुख करने की शक्ति हो।

एक दूसरे नाटक 'अमरसिंह राठौर' की भूमिका में राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं, "भारत में जबकि प्रकृत स्वाधीनता और वीरता का प्राण-वियोग हुए सैकड़ों वर्ष हो गए, तब पुस्तक-पत्रों के द्वारा ही हम स्वाधीनता, वीरता के लिए अभु-विसर्जन करके कृतार्थ होंगे।"

उपर्युक्त उद्धरण यह प्रमाणित करता है कि उस काल के नाट्यकार देश की

परतन्त्रता को देखकर अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। देश को स्वाधीन बनाने के लिए पुस्तक-पत्रों का सहारा ले रहे थे। उनके सामने जीवन का एक ही उद्देश्य था—हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान की उन्नति। इसीकी पूर्ति के लिए वे लोग नाटकों की रचना कर रहे थे। इन नाटकों के द्वारा देश, जाति, भाषा, समाज सभीका सुधार उनका लक्ष्य था। यही कारण है कि भ्रवसर तथा प्रसंग के बिना भी देश-सुधार, समाजोन्नति तथा भाषा की उन्नति के लिए प्रोत्साहन की बातें इनके नाटकों में मिलती रहती हैं।

इन सुधार-प्रेमी नाट्यकारों ने उद्देश्य-पूर्ति में जहाँ-जहाँ नाट्यनियमों को बाधकरूप में पाया, वहाँ इनका बहिष्कार किया। उन्होंने उद्देश्य को नाट्यकला से उच्चतर स्थान दिया था। इनके लिए नाट्यकला का महत्त्व इसलिए था कि वह सुधार-कार्य में सहायक थी। यह युग का प्रभाव था।

भारतेन्दु-युग के अन्य नाटक और उनकी नाट्य-प्रवृत्ति

भारतेन्दुजी की साधना का फल हिन्दी-नाट्य-साहित्य को जितना उनके जीवनकाल में मिला, उससे कहीं अधिक उनके दिवंगत होने पर प्राप्त हुआ। भारतेन्दु का मित्रमण्डल अपने नेता की आकांक्षा-पूर्ति के हित सतत प्रयत्नशील रहा, मानो भारतेन्दुजी की दिव्यात्मा उनको नवशक्ति प्रदान करती हुई निरन्तर प्रेरणा दे रही थी। इन नाटक-रचयिताओं की सत्यनिष्ठा से आकर्षित होकर नये नाट्यकारों ने अपनी लेखनी आजमाई। उन लोगों ने अपनी-अपनी रचि के अनुकूल राजनैतिक, पौराणिक, धार्मिक तथा कल्पित कथानक चुने। वीर, शृंगार, हास्य और कथंगारस के नाटक बनने लगे। दुःखान्त नाटकों का नितांत अभाव दूर हो गया। कितने ही प्रसिद्ध नाटकों की रचना इस काल में हुई। राष्ट्रीय नाटकों की भी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। हास्यरस के नाटकों की रचना बड़े वेग से होने लगी। सामाजिक नाटकों में विवाह की समस्या पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। प्रेमी की विविध अवस्थाओं और प्रेम-तत्त्व-निरूपण का विशद विवेचन इस काल की मुख्य देन है।

इस युग में राम-कृष्ण की लीलाओं को कथावस्तु बनाकर जो नाटक लिखे गए, वे पिछले नाटकों से शैली में नितान्त भिन्न थे। भारतेन्दु के पूर्व राम-कृष्ण-सम्बन्धी नाटक या तो रामलीला और रासलीला के लिए लिखे जाते थे, अथवा शुद्ध साहित्यिक होते थे। शुद्ध साहित्यिक नाटकों में अभिनय की नितान्त उपेक्षा होती और अभिनय-योग्य नाटकों में साहित्यिक शैली का अभाव रहता। इस काल में मनोवृत्ति बदली। यद्यपि कुछ नाटक केवल रासलीला और रामलीला के दृष्टिकोण से लिखे गए, किन्तु अधिकांश आधुनिक रंगमंच का भी ध्यान रखकर लिखे जाने लगे। राम-सम्बन्धी नाटकों का अभिनय इस काल से पूर्व प्रायः तुलसीदासजी की रामायण को नाटक-रूप में बदलकर किया जाता था, किन्तु इस काल में दृष्टिकोण बदल गया। साहित्यिक नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी दूसरे ढाँचे में ढले। दुःखान्त नाटक भी बनने लगे। कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति ने दोनों प्रकार के नाटकों की रचना की। कदाचित् उनका लक्ष्य यह था

कि यदि राम-सम्बन्धी नाटक आधुनिक रंगशाला के अनुकूल न होंगे तो लीलाओं में तो उनकी सहायता से अभिनय कराया ही जा सकेगा। देवकीनन्दनजी का सीताहरण (१८७६) और रामलीला (१८७६) बलदेवजी का रामलीला-विजय, दामोदर सप्रे के सात कांठों में समस्त रामलीला के सात नाटक (१८८३), बन्दीदीन का सीताहरण और सीतास्वयंवर (१८९९), ज्वालाप्रसाद मिश्र का सीता-वनवास (१८९५) और रामलीला रामायण (१९०४), बदरीनारायण प्रेमघन का प्रयाग-रामागमन (१९०४), तथा बामनाचार्य गिरि का बारिदनाद-वध व्यायोग इसी प्रकार के नाटक हैं।^१

उपर्युक्त नाटकों में सप्रेजी के नाटक रामलीला के विशेष उपयुक्त हैं। सीता-वनवास और सीता-स्वयंवर में संगीत का इतना प्राधान्य है कि वे स्वांगवालों के विशेष उपयोगी हैं। संवाद-योजना का शैथिल्य इन्हें अभिनयशाला के योग्य नहीं बना पाता।

कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों में रासलीला और अभिनयशाला दोनों के योग्य प्रचुर रचना हुई। इस युग में माधु-महात्माओं के अनिरिक्त अन्य साहित्यिक नाट्यकारों ने भी रासलीला के उपयुक्त नाटकों की रचना की और महारास की भी नवीन रचना हुई। हरिहरदत्त दुबे और खड्गबहादुर मल्ल ने महारास की रचना की। भारतेन्दुजी की 'चन्द्रावली' की शैली पर अम्बिकादत्त व्यास ने 'ललिता' नामक नाटक रचा। इस काल में कृष्ण की 'वृन्दावनलीला' की ओर किसी-किसी लेखक का ध्यान गया अन्यथा द्वारकाधीश कृष्ण ही की लीला पर नाटकों का सृजन हुआ, जैसे—कृष्ण-मुदामा (१८७०), रुक्मिणी-हरण (१८७६), उषा-हरण (१८८७), उद्धव-वशीठ-नाटिका (१८८७), प्रद्युम्न-विजय (१८९३), रुक्मिणी-परिणय (१८९४), द्रौपदी-वस्त्रहरण (१८९६), इस काल में महाभारत तथा पुराणों की कथा पर अनेक नाटक रचे गए, जैसे—दमयन्ती-स्वयंवर (१८८५), अभिमन्यु-वध (१८९६), ध्रुव-तपस्या (१८८५), सावित्री (१९००), अंजना सुन्दरी (१९०१)।

मोरध्वज और भर्तृहरि दो ऐसे प्रसिद्ध नाटक हैं, जिनका अत्यधिक प्रचार स्वांग-मंडलियों में हुआ। ये दोनों नाटक आज तक स्वांग-मंडलियाँ बड़े उत्साह से खेलती हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में पद्मावती (१८८२), महाराणा प्रताप (१८९७), संयोगिता-स्वयंवर (१८८५), श्री हर्ष (१८८४) और अमरसिंह राठौर (१८८५), अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं।

राष्ट्रीय नाटकों में भारतोद्धार (१८८३), भारत-भारत (१८८५), भारत-सीमाग्य (१८८७), वर्तमान दशा (१८९०), देश-दशा (१८९२), भारत-दुर्दिन (१८९५), भारत-हरण (१८९६), भारत-दुर्दशा (१९०२) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

१. इस पृष्ठ पर विक्रमी संवत् के स्थान पर सन् ई० का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त राष्ट्रीय नाटकों में भारत की दयनीय दशा दिखाकर भारत के पूर्व वैभव से तुलना करने की चेष्टा की गई है। सभी नाटकों में देश-वैश्य-रूपी रोग का निदान पराधीनता और तज्जन्य झालस्य, फूट, प्रमाद और पश्चिमीय सम्यता का अन्धानुकरण बताया गया है।

समस्या-नाटकों में बाल-विवाह और साधु-पाखण्ड को लक्ष्य करके व्यंग्य के द्वारा समाज-सुधार की चेष्टा झलकती है। जैसे अबला-विलाप (१८८४) * बाल-विवाह' (१८७४), दुःखिनी बाला (१८८०), बाल-विवाह' (१८८१), विधवा-विवाह (१८८२), विवाहित-विलाप (१८८३), विवाह विडम्बन (१८८४), बाल्य-विवाह (१८८४), बाल-विवाह-दूषक (१८८५), वृद्धावस्था-विवाह (१८८८) बाल-विवाह' (१८८८)। उपर्युक्त नाटकों में बाल-विवाह और विधवा-विवाह ये दो विषय मुख्यतः कथानक बने।

भारतेन्दुजी के विद्यासुन्दर नाटक का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि इस शैली पर अनेक नाटक रचे गए, जैसे—रणधीर-प्रेममोहिनी (१८७७), तप्तासंवरण (१८८३), मदन-मंजरी (१८८४), चन्द्रप्रभा मनस्विनी (१८८४), विद्या-विलासिनी (१८८४), रति-कुसुमायुध (१८८५), मयंक-मंजरी (१८८१), लावण्यवती-सुदर्शन (१८८२), प्रेम-सुन्दर (१८८२), विद्या-विनोद (१८८२), कमलमोहिनी-भंवरसिंह (१८८८), मालती-बसन्त (१८८८), रूप-बसन्त (१८९१), माधवानलकाम-कंदला (१८९४), चन्द्रकला-भानुकुमार (१८९४)।

उपर्युक्त नाटकों में 'विद्यासुन्दर' की शैली ही प्रायः अपनाई गई है, रणधीर-प्रेममोहिनी की तरह दुःखांत नाटक अल्पसंख्यक रहे। प्रेम-सम्बन्धी नाटकों की सूची तो लम्बी अवश्य बनी किन्तु विद्यासुन्दर के समान अभिव्यंजना-शैली का प्रायः अभाव पाया जाता है। एक भी नाटक उस कौशल को न पा सका। उस नाटक में जितना चमत्कार और रचनाकौशल है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य नाटक में आया हो।

रूप-बसन्त का सबसे अधिक मान स्वांग-नाटक-मंडलियों ने किया। यह नाटक आज भी ग्रामीण जनता का अतिप्रिय बना हुआ है।

इस युग में सबसे अधिक विकास हास्यरस के नाटकों का हुआ है। जय नारसिंह की (१८७६), स्त्री-चरित्र (१८७६), एक-एक के तीन-तीन (१८७६), बैल छः टके को, सैकड़ों में दस-दस, जैसा काम वैसा परिणाम (१८७७), ठगी की चपेट (१८८४), हास्यार्णव (१८८५), कलि-कौतुक (१८८६), बूढ़े मुंह मुंहासे (१८८७), अपूर्व रहस्य (१८८८), तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण (१८८९), भंग-तरंग (१८८२), चौपट

१. बाल-विवाह, शरण-कृत (१८७४)

२. बाल-विवाह, देवकीनन्दन त्रिपाठी (१८८१)

३. बाल-विवाह, छद्मलाल खार्मी-कृत (१८८८)।

* इस पृ० पर ६० सन् का प्रयोग हुआ है।

चपेट (१८६१), दादा और मैं (१८६३), वेश्या नाटक (१८६३), हास्य (१८६३), महाभंभेरनगरी (१८६२), प्रतिभंभेरनगरी (१८६५), देशी कुत्ता विलायती बोल (१८६८)।*

हास्यरस के नाट्यकार

इस प्रकार इस काल में हास्यरस-प्रधान नाटकों के कई लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने समाज की विविध बुराइयों पर नाटक-रूप में व्यंग्य किया। मादक-द्रव्य-सेवन, बहु-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अंग्रेजी फैशन, सूदखोरी आदि का दुष्परिणाम दिखाते हुए हास्यरस का परिपाक किया गया है। इन नाटकों में पंडा-पुरोहितों का कुकृत्य, ठोंगी साधुओं की काली करतूत, अत्यधिक व्याज लेनेवाले महाजनों की दुर्दशा, वेश्यागमन का दुष्परिणाम दिखाया गया है। अन्धविश्वासों तथा रूढ़िगत परम्पराओं की खिल्ली उड़ाई गई है। इस काल में पश्चिमी सभ्यता के उपासक मद्य-माम-प्रेमी सज्जन भी हास्यरस के नाटकों के नायक बने। अंग्रेजी आचार-विचार की वे बातें जो भारतीय वातावरण के प्रतिकूल प्रतीत हुई, ऐसे नाटकों के लिए सुन्दर कथावस्तु बन गई; विविध विषयों के आधार पर इस काल में हास्यरस के जो नाटक बने, उनमें समाज का मनोविनोद ही नहीं अपितु सुधार भी हुआ।

इस काल में हास्यरस-प्रधान नाटकों के अति प्रसिद्ध रचयिता थे—देवकीनन्दन त्रिपाठी और पण्डित बालकृष्ण भट्ट। देवकीनन्दनजी ने सन् १८७० ई० से ही प्रहसन का सृजन प्रारम्भ कर दिया था। अपने सोलह वर्ष के रचनाकाल में उन्होंने निम्न-लिखित प्रहसन लिखे—रक्षाबन्धन, एक-एक के तीन-तीन, स्त्री-चरित्र, वेश्याविलास, बेल छः टके को, जय नारसिंह की, सैंकड़े में दस-दस, कलजुगी जनेऊ।

‘रक्षाबन्धन’ नाटक में मदिरा-सेवन और वेश्यागमन का दुःखद परिणाम दिखाया गया है। ‘एक-एक के तीन-तीन’ में ऋण देनेवाले बेईमान व्याक्तियों की बेईमानी दिखाई गई है। ‘स्त्री-चरित्र’ में कुटिल स्त्रियों का त्रियाचरित्र और ‘वेश्या-विलास’ में वेश्यागामियों का कुत्सित चरित्र दिखाया गया है। ‘बेल छः टके को’ लिखने का उद्देश्य मनोविनोद के साथ यह शिक्षा देना है कि मनुष्य अधिक लोभ में न फंसे, किसी के अनिष्ट की इच्छा न करे, परोपकार की भावना रखता हुआ ‘सांची करे मीठी खादे’। ‘जय नारसिंह की’ नाटक तत्कालीन प्रचलित अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। इस प्रहसन में जादू-टोना करनेवाले, भूत-प्रेत के पुजारी ओझा और सयानों का भंडाफोड़ किया गया है। ‘सैंकड़े में दस-दस’ में उन धनी व्यक्तियों का घृणित जीवन दिखाया गया है जो द्यूत-क्रीड़ा, मद्यपान आदि निन्द्य कर्मों के कारण पुलिस के हथकंडों में फंसकर नाना प्रकार का क्लेश उठाते हैं।

वेश्यागामियों की दुर्दशा दिखाने को एक नाटक बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है,

* इस पृष्ठ पर ईस्वी सन् का प्रयोग हुआ है।

‘जैसा काम वैसा दुष्परिणाम’। इसमें रसिकलाल नामक एक धनी पुरुष की क्रूरता धर्मपत्नी के प्रति दिखाई गई है। रसिकलाल मोहिनी वेश्या के मोह में अपनी धन-सम्पत्ति नष्ट करता है और अपनी धर्मपत्नी मालती को नाना प्रकार का कष्ट देता है। सब प्रकार का अत्याचार सहते हुए वह अपने पति से यही कहती है कि नाथ, ‘इहामुत्र च नारीणां परमा हि गतिः पतिः’ (इहलोक और परलोक दोनों के लिए स्त्रियों को पति ही शरण है)। मालती की सहनशीलता का रसिक पर प्रभाव पड़ता है और वह अन्त में इस प्रकार क्षमा मांगता है, “मालती, निस्संदेह मेरे कारण तुम्हें बड़े-बड़े कष्ट भेलेने पड़े। अब मैं विनयपूर्वक अपने सम्पूर्ण अपराधों की तुमसे क्षमा चाहता हूँ और आज से शपथ करता हूँ कि सिवाय तुम्हारे किसी अन्य स्त्री की ओर दृष्टि न डालूँगा।”

इस नाटक का भरतवाक्य तत्कालीन नाट्यकारों की नाटक-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करता है।

होहि एक पत्नी ब्रत रत सब भारत नरवर ।

तजहि कुपथ, पथ गर्हि धर्म कर दुर्मति तज कर ॥

तजि वेश्या-संग रमन करहि श्रद्धा निज तिय पर ।

जासों सुधरहि दशा दीन भारत की सत्वर ॥’

इस काल की नाट्यशैली

अंक-गर्भांक : इस काल के नाट्यकारों ने महाराज विश्वनाथसिंह द्वारा प्रयुक्त और भारतेन्दु द्वारा प्रशंसित वह शैली अपनाई जो नाट्यशास्त्र के नियमों में देश-कालानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन करने की शक्ति रखती है। इस काल के अधिकांश नाटकों में नान्दी, सूत्रधार और भरतवाक्य का प्रयोग मिलता है। यद्यपि नाटक अंकों और गर्भाङ्कों में विभाजित हैं, किन्तु गर्भाङ्क का अर्थ भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार नहीं लिया गया है। गर्भाङ्क का अर्थ दृश्य मानकर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रमाण के लिए पं० बालकृष्ण भट्ट के ‘बृहन्नला’ और ‘वेणु-संहार’ नाटक देखिए। ‘बृहन्नला’ के प्रथम अंक में तीन गर्भाङ्क, द्वितीय अंक में तीन गर्भाङ्क, तृतीय अंक में एक गर्भाङ्क और चतुर्थ अंक में एक गर्भाङ्क मिलता है।

प्रस्तावना : प्रस्तावना शब्द द्वारा प्रस्तावना का संकेत इस काल के नाटकों में मिलता है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने ‘वेणु-संहार’ में प्रथम अंक के प्रथम गर्भाङ्क में नान्दीपाठ के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश कराया है। संस्कृत नाटकों की शैली पर ही सूत्रधार कहता है, “तो उचित है कि गुण-लोभी इन सुजनों को अपने तौयत्रिक वाद्यनाद्य गान से ऐसा लुभावें कि सब लोग प्रसन्न हो जाएं। अच्छा, तो आज कौन-से नये

१. भट्ट नाटकावली, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० १२४

२. वही, पृष्ठ १२५

३. वही, पृष्ठ १३६

नाटक का अभिनय उचित होगा। (थोड़ा ठहर याद कर) हम तो भूल ही गए थे, अच्छी याद आई, हाल में हिन्दी-प्रदीप के सम्पादक महाशय ने एक नया नाटक तैयार कर हमें दिया है। वह इस समय के लोगों की रुचि के बहुत ही अनुकूल होगा।”

इति प्रस्तावना

प्रस्तावना के अतिरिक्त अपवारित, स्वगत-भाषण, संवादों में कविता-प्रयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव देशव्यापी बन रहा था और पाश्चात्य नाट्यशैली पर नाटक विरचित हो रहे थे, किन्तु इस काल के हिन्दी नाटकों में अल्प परिवर्तन के साथ नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया जा रहा था। भारतेन्दुजी का प्रभाव इस युग के अधिकांश नाटकों पर इसी रूप में पड़ रहा था। भारतेन्दुजी ने वस्तु-संविधान, संवाद-योजना आदि में जिस नाट्यशैली का पथ प्रदर्शित किया, उसपर प्रायः सभी नाट्यकार सुखपूर्वक चलते हुए हिन्दी नाट्य-श्री की अभिवृद्धि करते रहे।

इस काल के अधिकांश नाट्यकार भारतेन्दुजी के पथानुसरण की बात स्वयं स्वीकार करते हैं और भूमिका में श्रद्धा के साथ उन्हें स्मरण करते हैं। हरिऔधजी ने अपने ‘प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग’ में लिखा है :

“मम रचित इस प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में, जिसको मैंने भाषा कविचक्र-चूड़ामणि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गोलोक-निवासी के संस्कृत से अनुवादित धनंजय-विजय-व्यायोग की छाया लेकर निमित्त किया है।”^१ इसके अतिरिक्त इस काल में एक ऐसी प्रवृत्ति की क्षीण धारा मिलती है, जो हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थानकाल से अब तक चली जा रही थी। वह प्रवृत्ति है, नाटक में लोकोत्तर व्यक्ति को नायक बनाने की। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने नाटक ‘रुक्मिणी-परिणय’ की भूमिका में लिखते हैं : “किन्तु हर्ष का स्थान है कि हमने एक लोकोत्तर व्यक्ति की गाथा-गुंफन में अपने समय को व्यय किया है, किसी ऐसे पुरुष का रोमांचकर चरित्र नहीं लिखा है, जिसके नाम-श्रवण से ही आप कान पर हाथ रखें।”^२

उपर्युक्त उद्धरण से प्राचीन हिन्दी नाट्यकारों की प्रवृत्ति-परम्परा का आभास भारतेन्दु-युग में भी मिलता है। एक ओर पं० बालकृष्ण भट्ट वेश्या का चरित्र दिखा रहे थे, दूसरी ओर पं० अयोध्यासिंहजी ऐसे चरित्रों को सुनना भी नहीं चाहते थे। हम देख आए हैं कि हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकार लोकोत्तर व्यक्ति को ही नाटक में नायक बनाकर नाट्य-रचना करते थे और इस कार्य को धर्म-कार्य समझते थे। यही प्रवृत्ति हमें पं० अयोध्यासिंहजी में मिलती है। नाटकों में कविता की रचना भी यत्र-तत्र हिन्दी के प्रथम उत्थान के सदृश मिलती है। अयोध्यासिंह ने अपने नाटक

१. विश्वम्भक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि का प्रयोग बहुत ही कम नाटकों में मिलता है।

२. प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग (भूमिका), पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, सन् १८९३ ई०

३. श्री रुक्मिणी-परिणय नाटक, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृष्ठ २

प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में एक स्थान पर लिखा है :

“बमके कूपानं । कड़के कमानं ।

तड़के तुफंगं । सड़के अभंगं ॥”

इसी प्रकार की रचना हम गुरु गोविन्दसिंहजी के ‘बंड़ी-चरित्र’ में देख आए हैं ।

उपर्युक्त विवेचना से यह सारांश निकला कि यद्यपि भारतेन्दु-युग में नाटक की नई प्रवृत्तियाँ बलवती हो रही थीं, तथापि प्रथम उत्थानकाल की नाट्य-प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान थीं । यह अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन विचारों के प्रवाह में पुराने विचारों का धीरे-धीरे तिरोभाव हो रहा था ।

भारतेन्दु-युग के अनूदित नाटक

भारतेन्दु-युग में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त अनूदित नाटकों की भी रचना होती रही । हिन्दी भाषा में अन्य भाषाओं के अनुवाद-रूप नाटक लिखने की प्रेरणा राजा लक्ष्मणसिंह में प्रथम बार फलवती हुई । संवत् १९१८ वि० में राजा साहब ने खड़ीबोली में ‘शकुन्तला नाटक’ का प्रथम गद्यमय अनुवाद किया । किन्तु संवत् १९४६ वि० में भारतेन्दुजी की अनुवाद-पद्धति के अनुसार पुनः मूल के गद्य-भाग का गद्य में और पद्य-भाग का पद्य में अनुवाद हुआ । भारतेन्दुजी के उपरान्त संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला नाटकों के अनुवाद का क्रम बड़े वेग से बढ़ चला । लाला सीताराम ने महावीर-चरित्र, उत्तररामचरित, मालती-माधव, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, नागानन्द का अनुवाद मूल संस्कृत से किया । अनूदित नाटकों के गद्य-भाग में खड़ी-बोली और पद्य-भाग में ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई ।

लाला सीताराम के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों का अनेक विद्वानों ने अनुवाद किया । बिहार-निवासी दवे नन्दलाल विश्वनाथ ने संवत् १९३९ वि० से सं० १९४३ के मध्य उत्तररामचरित और शकुन्तला का अनुवाद किया । पं० रामेश्वर भट्ट ने रत्नावली का और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने बेणीसंहार का अनुवाद सं० १९५६ वि० में किया ।

संस्कृत से अनूदित नाटकों में विभिन्न शैलियों का अनुसरण होता रहा । अनुवाद में नाट्यकारों का उद्देश्य हिन्दी नाट्य-साहित्य को सम्पन्न बनाना था ।

इस काल में अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी बहुसंख्या में उपलब्ध है । सं० १९३६ वि० में तोताराम बर्मा ने जोसेफ एडीसन कृत ‘केटो’ नामक नाटक का अनुवाद ‘केटो-वृत्तांत’ नाम से किया । इस नाटक में अविकल अनुवाद मिलता है । पात्रों के नाम भी ज्यों के त्यों रख लिए गए हैं । इष्ट के स्थान पर गर्भाक का प्रयोग

किया गया है। यह इस काल की विशेषता है। इसी नाटक का दूसरा अनुवाद बाबू तोतारामजी ने संस्कृत शैली पर प्रस्तावना आदि के सहित किया।

शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद इस काल में अन्य विदेशी नाटकों की अपेक्षा अधिक संख्या में हुआ। मर्चेण्ट आफ वेनिस का अनुवाद 'वेनिस नगर का व्यापारी' नाम से किया गया। गोपीनाथ पुरोहित ने 'ऐन्ड यू लाइव इट' का अनुवाद 'मनभावन' नाम से और रोमियो एंड जूलियट का अनुवाद 'प्रेम-लीला' नाम से किया। इनमें अंग्रेजी का पद्य-भाग भी गद्य में ही अनूदित है। इनके अतिरिक्त सूर्यप्रसाद मिश्र ने अपने अनुवाद में अंग्रेजी कविता का अनुवाद हिन्दी कविता में ही किया है।

संवत् १९५० वि० में मथुराप्रसाद उपाध्याय ने 'साहसेन्द्र-साहस' नाम से 'मैकबेथ' का अनुवाद किया। यह अनुवाद सरस और सफल है।

बंगला नाटकों का अनुवाद-क्रम भी इस काल में चल रहा था। रामकृष्ण वर्मा ने 'पद्मावती',^१ 'वीर नारी',^२ 'कृष्णकुमारी',^३ का अनुवाद किया। मुन्शी उदित-नारायणलाल ने 'सती नाटक',^४ 'दीप-निर्वाण', और 'अश्रुमती' का अनुवाद किया। माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रसिद्ध नाटक 'एकी की बोले सम्यता' का अनुवाद पं० ब्रजनाथ ने 'क्या इसीको सम्यता कहते हैं' नाम से किया। केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद-सुम्नुल' नाम से 'शरत् और सरोजिनी' का अनुवाद किया।

बंगला नाटकों के अनुवाद में एक विशेषता पाई जाती है। कुछ अनुवादकर्ता तो मूल नाटकों के भाव को तद्वत् हिन्दी में प्रकट करते हैं, किन्तु केशवराम भट्ट और ब्रजनाथ ने अनुवाद में अपनी कल्पना से भी सहायता ली है। इनकी रचना में मूल-भाव का और भी विकसित मिलता है। कहा जाता है कि इनकी मौलिकता ने मूल नाटक को और भी विशिष्ट बना दिया है।

उपसंहार

हम रास-प्रकरण में यह प्रमाणित कर चुके हैं कि तेरहवीं शताब्दी में बहुरूपियों के द्वारा गीति-नाट्य का प्रदर्शन हुआ करता था। हम यह भी उल्लेख कर आए हैं कि जायसी के समय इस नाट्यकला में वारवनिताएं अति प्रवीण हुआ करती थीं। वाजिदअलीशाह के समय में भी ये वारवनिताएं परियों के बहुरूपी वेश में 'इन्द्र-सभा' का नृत्य-गीतिमय नाटक करती रहीं। इस प्रकार विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक हम इस गीतिनाट्य-परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास पाते हैं। हमारे आलोच्यकाल के प्रारम्भ में इस 'इन्द्र-सभा' नामक गीतिनाट्य ने नाटक-क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी। 'इन्द्र-सभा' नाटक का प्रभाव इतना व्यापक बना कि विविध रूपों में इसका प्रदर्शन

१. पद्मावती (बंगला नाटक), राज किशोर दे-कृत
२. वीर नारी (बंगला नाटक), द्वारकानाथ गांगूली-कृत
३. कृष्णकुमारी (बंगला नाटक), माइकेल मधुसूदन-कृत
४. सती नाटक (बंगला नाटक), मनमोहन बसु-कृत

होने लगा। कठपुतली का तमाशा दिखानेवाले इन्द्र-सभा का खेल दिखाते फिरते। मेले-ठेले में 'पैसा तमाशा' के रूप में इन्द्र-सभा का खेल होने लगा। इसीकी प्रेरणा से पारसी थियेटर कम्पनियाँ खुल गईं, जो इन्द्र-सभा को आदर्श मानकर नृत्य-गीतिमय नाटक खेलने लगीं। साहित्यकारों ने भी इस शैली पर नाटकों की रचना प्रारम्भ की। स्वतः भारतेन्दुजी ने 'इन्द्र-सभा' के जोड़ पर 'बन्दर-सभा' नामक नाटक लिखा। इस प्रकार पद्यबद्ध नाटक की मौलिक धारा चिरकाल तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है।

पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ने नृत्य-गीतिमय इस नाटक-पद्धति को अपनाया और पौराणिक कथानक लेकर नाटक दिखाना प्रारम्भ किया। उनकी अर्थ-लिप्सा ने नाट्यकला को अपनी दासी बनाया और अर्थपिशाच के हाथों इस ललित कला की हत्या होने लगी। भारतेन्दुजी का सुसंस्कृत हृदय इस अत्याचार को सहन न कर सका। कालिदास की शकुन्तला को पारसी रंगमंच पर निकृष्ट वेश्या की तरह नृत्य करते हुए देखकर उनको अत्यन्त क्लेश हुआ और अभिनय के योग्य उत्तम नाटक लिखने की प्रेरणा उनके हृदय का मंथन करने लगी। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नाटकों का सृजन हुआ और हिन्दी नाट्य-साहित्य की धारा नये पथ पर मुड़कर जनमन-रंजन के साथ जनजीवन का उन्नयन करनेवाली सिद्ध हुई।

भारतेन्दुजी के एक-एक नाटक का हम विस्तृत विवेचन कर आए हैं। उस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सके हैं कि भारतेन्दुजी ने परम्परागत भारतीय नाट्यपद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्यकला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई उसीको स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा—न तो अंग्रेजी नाटकों का अनुमानकरण किया और न बंगला नाटकों की भांति भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की; साथ ही साथ प्राचीन नाट्यशास्त्र के गहन आवर्त में अपनी नाट्य-नौका भी न फँसने दी। तात्पर्य यह कि नाटक का गतिरोध करनेवाले सभी बन्धनों से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। नाटक की सामग्री भी उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों—शृंगार, शौर्य, करुणा आदि से ग्रहण की। इस विषय में उन्होंने अपनी दृष्टि इतनी व्यापक रखी कि जिससे संस्कृत, प्राकृत, बंगला, अंग्रेजी सभी प्रकार के नाटक-रस से रस खींचा जा सके।

मौलिक और अनूदित नाटक

भारतेन्दु के १८ नाटकों में १० मौलिक और ७ अनूदित हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रवास' नामक उनका एक और नाटक था जो अब अप्राप्य है। मौलिक नाटकों की

तर्ह अनूदित नाटकों में भी उनकी उक्त नाट्य-शैली का परिचय मिलता है। 'विद्यासुन्दर', 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय-विजय', 'कर्पूरमंजरी' आदि अनूदित नाटकों में भी पाठकों को मौलिक नाटकों-सा रस आता है। भारतेन्दु की यह अनुवाद-शैली इतनी रुचिकर प्रतीत हुई कि उनके परवर्ती नाट्यकार बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध नाटकों का बड़ा-बड़ा अनुवाद करने लगे। इस प्रकार हिन्दी-नाट्य-मन्दिर में विविध भाषाओं के नाटकों का वातायन बनाकर अभिनव विचार के स्वास्थ्यप्रद वायु-प्रवेश के लिए भारतेन्दु ने मार्ग खोल दिया।

नाटकों का वर्गीकरण

भारतेन्दु के नाटकों को 'वाद' के विचार से पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आदर्शवादी, (२) यथार्थवादी, (३) स्वच्छन्दतावादी, (४) समाज-सुधारवादी, (५) राष्ट्रवादी। भारतेन्दु के समसामयिक एवं परवर्ती नाटककारों ने इन पाँचों प्रकार की धाराओं को अधिक वेगवती बनाया। आगे चलकर आदर्शवादी नाटकों की दो धाराएँ हो गई—पौराणिक और ऐतिहासिक। प्रारम्भ में पौराणिक धारा का वेग प्रबल रहा, किन्तु कालान्तर में ऐतिहासिक धारा अधिक वेगवती बन गई और पौराणिक धारा क्षीणप्राय हो गई। संवत् १९६० वि० तक चन्द्रशरण, लाला श्रीनिवासदास, विश्वेश्वरप्रसाद त्रिपाठी, शालिग्राम वैश्य, कार्तिकप्रसाद वर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बालकृष्ण भट्ट, जगन्नाथशरण देवराज, अनूप कवि तथा रामनाथ की पौराणिक रचनाएँ नाट्य-क्षेत्र में प्रमुख बनी रहीं।

इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक नाटक थे—श्रीनिवासदास का 'संयोगिता-स्वयंवर', राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (१९५२ वि०), रामनरेश शर्मा का 'सिंहल-विजय' (१९५३ वि०) और राधाकृष्ण का 'महाराणा प्रताप' (१९५५ वि०)। ऐतिहासिक नाटकों की शैली आगे चलकर प्रसादजी के हाथों एक नये सन्धि में ढली और इसका सबसे अधिक विकास हुआ।

स्वच्छन्दतावादी धारा में आदर्शवाद और यथार्थवाद

यद्यपि 'चन्द्रावली' आदर्शवादी भक्ति-काव्य है किन्तु स्वच्छन्द-प्रेमधारा-पिपासुओं को इसमें स्वच्छन्दतावादी नाटकों का बीज उपलब्ध हो गया। इसके उपरान्त ही हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक प्रेम की) धारा स्पष्ट होने लगी। वास्तव में सर्व-प्रथम केशवराव के 'संजाद-सुम्बुल' (१९३४ वि०) में स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी दोनों धाराओं का संगम हुआ, जिसमें यथार्थवाद का प्राधान्य रहा। भारतेन्दु के परवर्ती नाट्यकारों ने इस स्वच्छन्दतावादी धारा में अनेक उल्लेखनीय नाटक प्रस्तुत किए, जिनमें यथार्थवाद की प्रधानता रही और आदर्शवाद का स्वर मन्द पड़ गया। इन नाटकों में 'दुःखिनी बाला', 'रणवीर-प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण', 'ललिता', 'मदनमंजरी',

‘सबंगलता’, ‘माधुरी’, ‘मदनलेखा’, ‘मयंकमंजरी’, ‘लावण्यवती सुदर्शन’, ‘मालती बसंत’ आदि का स्थान प्रमुख रहा ।’

प्रहसन

इस युग के नाटकों में सबसे वेगवती और चित्ताकर्षक धारा थी प्रहसन की । कारण यह था कि प्रहसन लिखने के लिए नाट्यकार में जिस जिन्दादिली एवं सहजबोध की अपेक्षा होती है, उसकी भाषा में जिस सहज चटुल शैली ग्रथवा झनझना देनेवाले तीखे व्यंग्य की आवश्यकता पड़ती है, समाज की विषम समस्याओं को सहज ही देख लेने की जो अन्तर्दृष्टि अनिवार्य रूप से अभीप्सित है, प्रायः वे सभी नत्थ इस काल के नाट्यकारों को स्वभावतः प्राप्त थे ।

भारतेन्दु-युग में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, केशवचन्द्र सेन प्रभृति समाज-सुधारकों के प्रयास से जनता का ध्यान सहज रीति से समाज-सुधार की ओर आकृष्ट हो चुका था । प्रहसन अधिकांश में समाज के विकृत अंग का निदान करके उसके निवारण, परिष्कार एवं संस्कार का मार्ग बताने की ओर संकेत करता है । अतः प्रहसन-लेखकों को अनुकूल वातावरण मिलने से कार्य में सुयोग प्राप्त हुआ ।

भारतेन्दुजी युगद्रष्टा के साथ-साथ युगस्रष्टा भी थे । उन्होंने कहीं मीठे व्यंग्य के द्वारा औषध के रूप में और कहीं तीखे व्यंग्य की शल्य-चिकित्सा से समाज के विकृत अंगों का संस्कार किया । सामाजिक कुरीतियों के निवारण के लिए उन्होंने ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’, ‘विषस्य विषमौषधम्’ तथा ‘अन्धेरनगरी’ नामक तीन प्रहसन लिखे । इस प्रकार नाट्यकारों को जन-भाषा में प्रहसन लिखने का मार्ग प्रदर्शित किया । परिणाम यह हुआ कि ‘जय नरसिंह की’, ‘कलियुगी जनेऊ’, ‘कलियुगी विवाह’, ‘कलिकौतुक’, ‘बूढ़े मुंह मुंहासे’ आदि बहुत ही सफल प्रहसनों की रचना हो सकी ।

राष्ट्रवादी विचारधारा : हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय भावना को सर्वप्रथम स्थान देने का श्रेय भारतेन्दुजी को है । भारतेन्दुजी अपने ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक, प्रहसन आदि सभी प्रकार के नाटकों में यथास्थान और यथाभवसर देश की राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करनेवाले दृश्य उपस्थित करते रहे । “कहीं-कहीं तो सामाजिक समस्याएं केवल साधन-मात्र थीं, और नाटक के कथानक तो बहुत कुछ बहाने-मात्र थे, राष्ट्रीय भावना की उत्तेजना का उद्देश्य बहुत स्पष्ट और पुष्ट था, बाकी बातें उसके सामने दब गई थीं ।” उदाहरण के लिए ‘प्रेम-जोगनी’ नाटक देखिए । इस नाटक में सूत्रधार कहता है, “क्या इस कमल-वन-रूप भारतभूमि को दुष्ट गर्जों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया ? क्या जब नादिर, चंगेजखां ऐसे निर्दयों ने लाखों निर्दोष जीव मार डाले तब वह सोता था ? क्या अब भारतखण्ड के लोग ऐसे कापुरुष

और वीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गए ?”

भारतेन्दुजी के ‘भारत-वृद्धशा’ नाटक की शैली पर ‘भारत-सीमाव्य’, ‘भारत-सलना’, ‘भारत-दुर्दिन’, ‘वर्तमान दशा’ और ‘देशदशा’ आदि अनेक नाटक विरचित हुए। यद्यपि इन नाटकों में समस्याएं सामाजिक हैं, किन्तु इनका मूल उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का प्रचार और आत्मगौरव का बोध था। इस काल में यवन शब्द विदेशी अंग्रेजों की ओर संकेत करता था। राष्ट्रीय भावना की यह प्रवृत्ति केवल हिन्दी में ही नहीं, प्रत्युत बंगाली, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं में भी पाई जाती है। इस स्थान पर भारतेन्दु की नाट्यकला की तुलना अन्य भाषाओं के राष्ट्रीय नाट्यकारों के साथ करना अप्रासंगिक न होगा।

बंगला के राष्ट्रीय नाटकों में ‘नीलदर्पण’ नाटक का प्रमुख स्थान है। इस नाटक की रचना संवत् १६१७ वि० में बंगाल के प्रसिद्ध नाट्यकार दीनबन्धु मित्र ने की। इस नाटक में भारतीय जनता के प्रति नील के व्यवसायी अंग्रेजों की क्रूरता दिखाकर राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है।

इस नाटक के अभिनय से समस्त देश में अंग्रेज नीलहों के प्रति विद्रोह की ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि ब्रिटिश सरकार ने अभिनय के संचालकों पर अभियोग चलाया और उन्हें कारावास का दण्ड दिया।

‘नीलदर्पण’ नाटक को नाट्यकला की कसौटी पर कसकर इसकी परख की गई है।^१ एक समालोचक लिखते हैं कि नाट्यकार का उद्देश्य नाट्यकला द्वारा प्रेक्षकों पर प्रभाव डालना नहीं, प्रत्युत सत्य घटना की क्रूरता दिखाकर दर्शकों के हृदय में नीलहों के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न करना है। कुछ लोग कहते हैं कि “एक सत्य घटना को नग्न रूप में नाटक में रख दिया गया है। वास्तविक व्यक्तियों का चरित्र नाटक के पात्रों में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया”—नदिया की एक कुचक बालिका ‘हरमणि’ नाटक में क्षेत्रमणि; फैंटरी के स्वामी अर्चिवाल्ल हिल्स नाटक में छोटा साहब; अमरनगर का मजिस्ट्रेट नाटक में मि० हरकेश; क्रूर कानून नाटक में नवीन माधव के रूप में।” भारतेन्दुजी के नाटक ‘अंधेरनगरी’ में भी पात्रों को पहचाना जा सकता है; किन्तु भारतेन्दुजी में एक विशेषता है, जिसके कारण उनके नाटकों पर सरकार ने कोई आपत्ति नहीं उठाई। भारतेन्दुजी व्यक्तिगत तथा जातिगत वैमनस्य दिखाकर विद्वेष की भावना उदीप्त करना नहीं चाहते। उनके नाटक में सत्य घटना को भी कला के आवरण में सौन्दर्य से इतना मनोहारी बना दिया जाता है कि जिनके क्रूर क्रिया-कलाप इसमें प्रदर्शित हैं, वे भी इसे देखकर रुष्ट नहीं होते। ‘भारत-वृद्धशा’ नाटक के पात्रों को हम पहचान जाते हैं, किन्तु सरकार के जिन कुशामदियों की ओर नाटक में

१. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ६७, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

२. परिशिष्ट ७ (ग) में देखिए

३. दि इंडियन स्टेशन, बाल्यूम २, पृष्ठ ६३

संकेत है, वे भी इसका अभिनय देखकर नाट्यकार के कला-चातुर्य की प्रशंसा ही करते रहे।

‘नीलदर्पण’ की तरह मराठी में ‘कीचक-वध’ नामक नाटक अंग्रेजी राज के विरुद्ध प्रचार के लिए लिखा गया। सरकार ने इस नाटक का अभिनय भी वर्जित कर दिया। इन उदाहरणों के देने का उद्देश्य यह है कि भारतेन्दुजी की नाट्य-प्रतिभा का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सके।

भारतेन्दुजी के समकालीन देश के अन्य प्रतिनिधि नाट्यकार थे—बंगला में रामानन्द तर्करल, गुजराती में रणछोड़दास तथा मराठी में किलोस्कर। इन चारों नाट्यकारों में निम्नलिखित बातों में समानता पाई जाती है : १. देश की दासता से सबका हृदय दुःखी था और सबने देश-वृद्धा और देशोद्धार की समस्या का विवेचन अपने नाटकों में किया है। २. पौराणिक नाटकों में भी देश और समाज की दुःखद परिस्थिति दिखाकर उद्बोधन की प्रेरणा की गई है। ३. बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि कुरीतियों की हंसी उड़ाकर समाज-सुधार का संदेश दिया गया है। ४. नाट्य-कार केवल पौराणिक नाटकों से सन्तुष्ट न होकर सामाजिक और ऐतिहासिक नाटकों की भी रचना करने लगे। ५. अंग्रेजी सभ्यता के अन्धभक्तों की हंसी उड़ाकर भारतीय सभ्यता की विशेषता दिखाई जाने लगी। इस प्रकार स्वदेश, स्वराज्य, स्वधर्म के प्रति ममता उत्पन्न करके नाट्यकार इनकी उन्नति के लिए त्याग का आह्वान करते रहे।

नाट्यकार की इन मनोवृत्तियों का प्रमाण हम स्थान-स्थान पर देते आए हैं। यहां इतना और लिख देना चाहते हैं कि मराठी के प्रसिद्ध समालोचक विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर के निम्नलिखित उद्धरण से भी हमारे मत की पुष्टि होती है :

“याच वेलीं स्वदेश, स्वराज्य, स्वेतिहास इत्यादि कल्पना समाजाच्यामनांत धोछू लागल्या, आणित्याचा म्हणून ऐतिहासिक नाटकें तयार होऊं लागलीं, सामाजिक व ऐतिहासिक नाटक ही सामान्यतः एकाच वेलीं म्हणजे महाराष्ट्राच्या स्वत्व जागृतीच्या लोक जागृतीच्या वेष्टीं निर्माण झालीं।”

भारतीय भाषाओं के नाट्यकारों में भारतेन्दुजी की मान्यता का एक और भी कारण है। भारतेन्दु-काल में प्रत्येक देशी भाषा के नाट्यकार सामाजिक नाटक लिख रहे थे। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक वितंडावाद के विरुद्ध जो घोर आन्दोलन चल रहा था, उसका प्रभाव नाट्यकारों पर पड़ना स्वाभाविक था। रामानन्दजी के ‘कुलीन-कुल-सर्वस्व’ और ‘विधवा-विवाह’ नाटक बंगाल की सामाजिक परिस्थिति में क्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। इन नाटकों का अभिनय अनेक बार अनेक रंगमंचों पर हुआ, किन्तु प्रत्येक अभिनय के समय विरोधी दल का प्रदर्शन भी होता रहा। बंगाल के समाचार-पत्रों,

समाधों और गोष्ठियों में इन नाटकों की कटु आलोचना होती रही। विरोधी प्रवर्तनों का परिणाम यह हुआ कि इन सहेतुक नाटकों के उद्देश्य को बढ़ा धक्का पड़ता। इसी प्रकार का विरोध महाराष्ट्र और गुजरात में भी हुआ। किन्तु भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों के हेतु को कला के आवरण से इस प्रकार आवृत कर दिया कि मधुर शीघ्र के समान स्वादिष्ट प्रतीत होते हुए भी वह गुणकारी सिद्ध हुआ। यही कारण है कि भारतेन्दु के नाटक विधवा-विवाह की उपयोगिता, बाल-विवाह की भयंकरता, हिंसा की नृशंसता और धार्मिक वितर्कवाद की घसरता का उल्लेख डंके की चोट कर जाते हैं, किन्तु किसी वर्ग या समुदाय से विरोध-स्वर सुनाई नहीं पड़ता। भारतेन्दुजी की सूक्ष्म तत्त्वदर्शिता का यह एक प्रमाण है।

इस महान साहित्यिक की एक और विशेषता है जो इसे अन्य भाषाओं के नाट्यकारों से ऊँचा स्थान प्रदान करती है। बंगाल में राजा जोतीन्द्रनाथ जैसे धनी-मानी व्यक्ति बंगला नाट्यकारों को प्रोत्साहन देते एवं अभिनयशाला का सृजन तथा अभिनेताओं का निर्वाचन करते। नाट्यकार को केवल अभिनय के योग्य नाटक रचना होता। इसी प्रकार महाराष्ट्र में सागलो के कलाप्रेमी महाराज नाट्यकारों की आर्थिक सहायता करते और रंगशाला का समस्त प्रबन्ध स्वतः करते, किलॉस्कर महोदय को केवल नाटक-रचना का कार्य करना था। इसी प्रकार गुजरात के धनी-मानी श्रेष्ठ धन द्वारा अभिनयशाला और अभिनय का प्रबन्ध करते। रणछोड़दासजी को केवल नाटकों का निर्माण करना पड़ता। किन्तु भारतेन्दुजी को स्वतः नाटक लिखना, अभिनयशाला का प्रबन्ध करना तथा अभिनेता बनना पड़ता। एक ही व्यक्ति नाट्यकार, अभिनय-प्रबन्धक और नट तीनों ही रूपों में कार्य करता दिखाई पड़ता है और तीनों रूपों में पूर्ण सफल होता है। भारतेन्दुजी जैसे सूक्ष्मदर्शी नाट्यकार थे वैसे ही कुशल अभिनेता और प्रवीण रंग-मंच-प्रबन्धक भी। इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य के अभिनव-मन्दिर का निर्माता, प्रतिमा-प्रतिष्ठापक और पुजारी एक ही व्यक्ति था और वह था भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में जब देशभक्ति को राजद्रोह, हिन्दी-प्रेम को अज्ञान और नाट्यकला को ग्राम्य समझा जाता था, भारतेन्दु ने किस रहस्य के बल पर देश-दशा की ऐसी मार्मिक व्यंजना की, हिन्दी भाषा को इतना गौरवान्वित किया और नाट्यकला को संस्कृति का अंग बना डाला।

इसे सुलभाने के पूर्व इस स्वाभाविक नियम को समझ लेना चाहिए कि प्रतिकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत अनुकूल वातावरण का सृजन व्यक्ति की महानता का द्योतक है। भारतेन्दु का व्यक्तित्व ऐसा ही महान था। उन्होंने निर्भीकता से विरोधों का सामना किया। इस संघर्ष में उनके पास उपकरण थे—अकृत्रिम सीद्धार, सहज शीघ्र और निश्चल सहजभाव। इन्हींके बल पर वे साहित्यकारों के केन्द्र बने थे। देखा जाता है कि “जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण रस को निःशेष

भाव से देता है, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते हैं जो अपनी संपूर्ण सत्ता को हंसते-हंसते लुटा देने में आनन्द पाते हैं।" भारतेन्दु का सहज औदार्य ऐसा अप्रतिम था कि उन्हें अपना सर्वस्व लुटाने में रस मिलता था। सूर्य के समान निरन्तर ज्योति बिखेरते रहने से दीप्यमान ग्रहमण्डली उनके चतुर्दिक् अनायास उपस्थित हो जाती थी।

हजारीप्रसादजी का मत है कि भारतेन्दु के सरल औदार्य और स्वाभाविक सारस्य ने उनके साहित्य को तो महान बनाया ही, उनके सम्पर्क में आनेवालों को भी शक्ति-सम्पन्न कर डाला। उनकी सफलता का यह प्रथम रहस्य था। दूसरा रहस्य था कि वे एक जीवन्त प्राणी के सहस्र सभी वस्तुओं से जीवन का उपादान ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते थे। उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक था और रस-ग्राहिका शक्ति इतनी प्रबल थी कि जहां भी दृष्टि पड़ी वहीं से जीवन का उपादान ग्रहण कर लिया। तीसरा रहस्य यह था कि "भारतेन्दु जीवन-प्राण-धारा के मूर्त विग्रह थे। उनका समूचा काव्य उनकी मूर्तिमती प्राणधारा का उच्छल वेग है।" इस उच्छल वेग के सम्मुख विविध अवरोधक शक्तियां तृण के समान टिक ही नहीं सकती थीं।^१

यहां तक तो हुई उनकी व्यक्तिगत जीवन-साधना की बात, अब उनकी रचना-पद्धति पर भी विचार कर लेना चाहिए। भारतेन्दुजी ने राष्ट्र, धर्म, समाज और भाषा के हित के लिए कभी "क्रान्तिकारी हथौड़ों से काम नहीं लिया। उन्होंने मृदु-संशोधक निपुण वैद्य की भांति रोगी की नाजूक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रूचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की।" उनकी सफलता का यही मूल रहस्य था।

दसवां अध्याय

प्राधुनिककाल (संवत् १९६६-२०१० वि०)

जयशंकरप्रसाद (संवत् १९४६-१९९४)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के दिवंगत होने के तीन वर्ष उपरांत प्रसादजी का जन्म काशी के एक प्रसिद्ध घराने में हुआ। प्रसादजी के बाल्यकाल में भारतेन्दुजी का यश-सौरभ देशव्यापी बन गया था। सरस्वती के इस उपासक के त्याग की कहानियां भारतेन्दु-मंडल द्वारा दूर-दूर तक प्रसारित हो रही थीं। ग्रियर्सन, एडविन ग्रीव्स, एफ० ई० की, सी०ई० बकलेंड आदि विद्वानों के कारण भारतेन्दु की कीर्ति विदेशों में भी फैल रही थी।^१

सामान्यतः देश-विदेश में किन्तु काशी में तो विशेषकर भारतेन्दुजी एवं उनके साथी साहित्यकारों के जीवन की कहानियां घर-घर में पहुंच चुकी थीं। भारतेन्दु-मंडल के उज्ज्वल नक्षत्र परवर्ती साहित्यकारों के आदर्श बन गए थे। अतः यह स्वाभाविक था कि बालक जयशंकर पर उन साहित्यिकों का प्रभाव पड़ता। प्रसादजी अधिक प्रभावित थे भारतेन्दुजी से। उन्होंने प्रारम्भ में भारतेन्दुजी के नाटकों को अपना आदर्श माना।

प्रसादजी के बाल्यकाल में भारतेन्दु-मंडल के उज्ज्वल नक्षत्र एक-एक करके अस्त हो चुके थे। भारतेन्दु-युग की चिंदादिली के साथ नाटक-रचना का जोश मिट चुका था। मौलिक नाटक कहीं विरल दिखाई पड़ जाते, अन्यथा बंगला नाटकों के अनुवाद का साम्राज्य था। कारण यह था कि उत्तरभारत में सर्वत्र इनकी धूम मची हुई थी। माइकेल मधुसूदनदास, गिरीशचन्द्र घोष, दीनबन्धु मित्र, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अभिनय बड़ी सज्जज के साथ बंगाल में हो रहा था। माइकेल ने Blank Verse के समान अनुकान्त छन्दों का प्रयोग नाटकों में प्रारम्भ कर दिया था, जो रंगमंच पर सफलता की दृष्टि से अवांछनीय प्रतीत हुआ था, किन्तु कालान्तर में जनरुचि के अनुकूल बनता गया।^२ रवि बाबू के नाटकों की एक नवीन शैली बंगला में चल रही थी, जिसमें प्रतीक-नाटकों का एक नया रूप दिखाई पड़ रहा था। भारतेन्दु-मंडल के द्वारा नाटकों की जो धारा वेग से प्रवाहित हुई थी, वह अत्यन्त मन्द पड़ चुकी थी।

इस युग में विविध भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी नाट्य-साहित्य में

१. परिशिष्ट ७ (ब) में देखिए

२. परिशिष्ट ७ (च) में देखिए

शक्ति का संचार किया जा रहा था। शेक्सपीयर के नाटकों से हिन्दी नाटकों में भावुकता का संचार हो रहा था। अन्तर्द्वन्द्व और क्लाइमेक्स को रस-प्रतिपादन से अधिक महत्त्व मिल रहा था। द्विजेन्द्रलाल के नाटकों के द्वारा शेक्सपीयर का प्रभाव हिन्दी पर गहरा पड़ रहा था। अतुकांत पद्य में विरचित द्विजेन्द्रलाल राय के नाट्यकाव्य एक नई शैली लेकर आए थे। भावोन्माद और करुणा को प्रमुख स्थान दिया जा रहा था। इस प्रकार प्रसादजी के सम्मुख एक ओर तो नवयुग-प्रवर्तक भारतेन्दुजी प्राचीनता के प्रतिनिधि के रूप में खड़े थे, और दूसरी ओर पश्चिमी नाटकों की अभिनयकला अपनी नवीन मोहिनी शक्ति का जादू डाल रही थी। ऐसे सन्धिकाल में प्रसादजी ने साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया। प्रसादजी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया। उन्होंने भारतीय रस-विधान और पाश्चात्य शील-वैचित्र्य के समन्वय का पथ अपनाया।

परिमाण-काल

प्रसादजी ने साहित्य-सृजन के लिए जब प्रथम बार लेखनी उठाई तो महाभारत का कथानक लेकर भारतेन्दु की नाट्य-परम्परा के अनुसार नान्दी-सूत्रधार को 'सज्जन' नामक नाटक में स्थान दिया। इस नाटक में प्राचीन नाट्य-शैली का पूर्ण निर्वाह है। इसकी कथावस्तु महाभारत की वह चिरपरिचित घटना है, जिसके अनुसार गन्धर्व चित्र-सेन दुर्योधन को उसके मित्रों-सहित बन्दी बनाता है। दुर्योधन द्वारा निर्वासित पांडव उसी वन में निवास कर रहे थे। यह समाचार पाकर धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन को चित्र-सेन से युद्ध करने की आज्ञा देते हैं। चित्रसेन अपने मित्र अर्जुन को पहचानकर युद्ध बन्द कर देता है और दुर्योधन आदि बन्धन-मुक्त कर दिए जाते हैं। दुर्योधन के हृदय पर धर्म-राज की उदार-भावना का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह नतमस्तक हो जाता है।

इस नाटक में हरिश्चन्द्र-काल की नाट्य-शैली अपनाई गई है। इसका प्रारम्भ नान्दी-पाठ से और 'ग्यंबसान भरतवाक्य' के साथ होता है। पद्यात्मक संवादों की अस्वाभाविक प्रणाली भी इसमें पाई जाती है। इससे पारसी थियेटरो का प्रभाव भी झलकता है।

भारतेन्दुजी के सदृश प्रसादजी ने इस एकांकी रूपक में गद्य तो खड़ीबोली में रखा है, किन्तु पद्यों में ब्रजभाषा का व्यवहार किया है। इससे प्रमाणित होता है कि प्रसादजी की प्रथम कृति हरिश्चन्द्र-परम्परा को अपने साथ लेकर चली।

प्रसादजी का दूसरा एकांकी रूपक है 'प्रायश्चित्त'। इसमें न नान्दीपाठ है न सूत्रधार, न प्रस्तावना है, न भरतवाक्य। संवाद-योजना में भी परिवर्तन पाया जाता है। यहीं से प्रसादजी के नाटकों में पद्यात्मक कथोपकथन का पूर्णतया तिरोभाव हो गया है। हां, प्रसादजी ने इस नाटक में दो नवीनताएं परीक्षण के लिए अवश्य जोड़ दी हैं— (१) आकाशभाषित और (२) पात्रों की भाषा में सामाजिक स्थिति के अनुकूल परिवर्तन। यह नाटक प्रसादजी का द्वितीय ऐतिहासिक नाटक है। इसमें जयचन्द की मृत्यु-घटना

को प्रचलित इतिहास से निम्न रूप में प्रदर्शित किया गया है। अपने कुकर्मों पर परचासाप करता हुआ अजयचन्द शाहबुद्दीन मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय गंगाजी में डूबकर संसार से सदा के लिए मुंह छिपा लेता है।

‘प्रायश्चित्त’ से एक वर्ष पूर्व प्रसादजी ने ‘कल्याणी-परिणय’ नामक एकांकी नाटक की रचना की थी। यह नाटक नागरी-प्रचारिणी सभा की पत्रिका में संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ। प्रसादजी का सबसे प्रौढ़ नाटक ‘चन्द्रगुप्त’ इसीका विकसित रूप है। दोनों की तुलना करने पर कहीं-कहीं पदावली में भी पूर्णतया साम्य दिखाई पड़ता है। चाणक्य विदेशी आक्रमणकारी सिल्यूकस को पराजित कर भारत और यूनान में मैत्री स्थापित करने का संकल्प कर रहा है। चन्द्रगुप्त भी अपने व्यक्तित्व के द्वारा सैन्य-संचय करता है और उसे युद्ध में विजयश्री के साथ-साथ जीवन-सहचरी भी प्राप्त हो जाती है।

‘कल्याणी-परिणय’ का कथानक संक्षिप्त और सरल है। इसमें एक ही चटना आद्योपांत ऋजुगति से चलती दिखाई पड़ती है। प्रारम्भ में ही चाणक्य के गुप्तचर सावधानी से कौटिल्य की नीति का पालन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। दृश्य में अहीरी चन्द्रगुप्त रमणी-सौन्दर्य से अभिभूत होते हुए भी सिल्यूकस के आक्रमण की सूचना पाकर युद्ध-कार्य में संलग्न हो जाता है। कार्नेलिया प्रथम बार चन्द्रगुप्त को देखते ही मुग्ध हो जाती है। एंटिगोनस के आक्रमण का समाचार पाते ही सिल्यूकस चन्द्रगुप्त से संधि कर लेता है और अपनी पुत्री का पाणिग्रहण चन्द्रगुप्त के साथ कर देता है। आगे चलकर यही कथानक चन्द्रगुप्त नाटक का एक अंश बन जाता है। इस एकांकी नाटक का प्रारम्भ नान्दीपाठ से और पर्यवसान भरतवाक्य के साथ होता है। इसमें भी ‘सज्जन’ के सदृश पद्यात्मक संवाद-योजना मिलती है।

सज्जन (१९६८ वि०), कल्याणी-परिणय (१९७० वि०), प्रायश्चित्त (१९७१ वि०) के अतिरिक्त ‘करुणालय’ नामक एक गीति-नाट्य भी प्रसादजी ने माघ संवत् १९६६ वि० में लिखा। यह नाटक ‘इन्दु’ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसमें प्रसादजी ने ‘अभिनाक्षर अरित्ल’ छन्द का उपयोग किया है। इसका कथानक यह है—पितृभक्त क्षुण्ण अपने माता-पिता की आज्ञा मानकर नरमेघ-यज्ञ के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत होता है; किन्तु राजकुमार रोहित पिता की आज्ञा अनुचित समझकर स्वतन्त्र मत की स्थापना करता है। इसका विवेचन गीति-नाट्य के प्रसंग में किया जाएगा।

सम्पूर्ण नाटक पांच दृश्यों में विभक्त है और पद्यात्मक कथोपकथन गीतिनाट्य की शैली पर किया गया है। इसमें भी आकाशभाषित को सुनकर अयोध्यापति हरिश्चन्द्र प्रतिज्ञानुसार अपने पुत्र रोहिताश्व को यज्ञ में बलि चढ़ाना चाहते हैं।

इस प्रकार यह नाटक भी प्राचीनता की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाया है, क्योंकि इसका नाटकीय तत्त्व कहानी-तत्त्व के सम्मुख फीका पड़ जाता है। नाटक के अन्त में नरबलि की समस्या सुलझ जाने पर सभी पात्र परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। इस

प्रकार भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

‘कहणालय’ के प्रति एक प्रश्न उठाया जाता है कि इसे नाटक क्यों कहा जाए। इसे तो काव्य कहना चाहिए। प्रसादजी ने इसका उत्तर स्वयं अपने ग्रंथ ‘काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध’ में दिया है। उनका मत है कि गीतिनाट्य हमारे देश में अति प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। अभिनवगुप्त ने जिन ‘राघव-विजय’ और ‘मारीच-वध’ नामक राग-काव्यों का उल्लेख किया है, वे ठक्क और ककुभ राग’ में कदाचित् अभिनय के साथ बाद्यताल के अनुसार गाए जाते थे। वे प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीतिनाट्य कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीनकाल में ही नृत्य-अभिनय-संयुक्त गीतिनाट्य भारत में प्रचलित थे।

राज्यश्री

‘राज्यश्री’ के दो संस्करणों में भिन्नता पाई जाती है। प्रथम संस्करण परीक्षण-काल की नाटिका-शैली पर लिखा गया है, किन्तु द्वितीय संस्करण परवर्ती नाटकों से अधिक मिलता है। प्रथम संस्करण में नान्दीपाठ और भरतवाक्य हैं, किन्तु दूसरे में इनका बहिष्कार। प्रथम संस्करण में अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो दूसरे संस्करण में सुधार ली गई हैं। प्रथम संस्करण का दृश्य-विधान अनगढ़, विश्रुंखल प्रस्तर-राशि के समान प्रतीत होता है, जिनको कारीगर कौशल से सजा नहीं पाया है। इसके घटनाक्रम में न तो नाटकोचित प्रवाह है और न मार्मिक स्थलों को पकड़ने की सामर्थ्य। प्रसादजी ने दोनों संस्करणों का उल्लेख नवीन संस्करण के प्राक्कथन में किया है। वे लिखते हैं, “इस दृश्य-काव्य का पूर्वरूप ‘इन्दु’ में पहले निकला, फिर ‘चित्राधार’ के संग्रह में वह पुनर्मुद्रित हुआ। एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण ही सा था। इसका वर्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है।”

उपर्युक्त उद्धरण में प्रसादजी का यह कथन कि “एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ,” विशेष ध्यान देने योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पूर्व विरचित ‘कल्याणी-परिणय’ और ‘प्रायश्चित्त’ को वे पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रूपक कहना उचित नहीं समझते। इसका कारण यह है कि इन दोनों रूपकों में इतिहास की मर्यादा का उतना पालन नहीं किया गया जितना ‘राज्यश्री’ में। ‘राज्यश्री’ में प्रसाद की दृष्टि इसके नाटकत्व के साथ-साथ ऐतिहासिकता की ओर भी मुख्य रूप से रही है। इस नाटक में विशेष रूप से मालवा, स्थाणेश्वर, कन्नीज और मगध की राज-परिस्थितियों का दिग्दर्शन होता है। अतएव इन राज्यों की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना आवश्यक :

छठी शताब्दी के मध्य (सन् ५४७ ई०) में हूणराज मिहिरकुल का निधन हो गया।

१. ‘प्रसाद’ : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६२ से ६३ तक

यद्यपि मिहिरकुल की मृत्यु के उपरान्त हूणों में कोई शक्तिशाली शासक नहीं था, तथापि उनकी शक्ति का सर्वथा ह्रास भी नहीं हुआ था। एक ओर हूण पराजित होने पर भी भारतीय शासकों से युद्ध को सदा प्रस्तुत रहा करते थे ; दूसरी ओर हूणों को पराजित करने में गुप्त-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होती जाती थी। उनका साम्राज्य-केन्द्र इतना दुर्बल और शिथिल बन गया कि कई अधीनस्थ सामन्त क्रमशः स्वाधीन हो गए।

गुप्त-साम्राज्य के सामन्तों में हूण-हरिण-केशरी प्रभाकरवर्धन और सर्ववर्मन सर्वाधिक शक्तिशाली थे। प्रभाकरवर्धन ने स्थानेश्वर को केन्द्र बनाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और मौखरी सर्ववर्मन ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) में अपनी राजधानी नियत की।

प्रभाकरवर्धन ने अपनी राज्यशक्ति और राज-सीमा की इतनी वृद्धि की कि वह महाराजाधिराज और परम भट्टारक की उपाधि से विभूषित हो गया। इसी प्रकार कन्नौज-राज सर्ववर्मन ने उत्तर-पश्चिम के हूणों और तत्कालीन मगधराज दामोदरगुप्त को पराजित करके शक्ति-वृद्धि के साथ यश अर्जित किया। मगध हाथ से निकल जाने पर महासेनगुप्त (दामोदरगुप्त के पुत्र) ने मालवा में अपनी शक्ति संगठित की। इसी मालवा में उसका पुत्र देवगुप्त राजा बना, जिसने गौड़राज नरेन्द्र शशांक से मैत्री स्थापित की।

छठी शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में स्थानेश्वर और कान्यकुब्ज दो राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली और दृढ़ बन गए। इन दोनों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध द्वारा मैत्री भी स्थापित हो गई थी। अतएव इनकी धाक और भी जम गई। प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र थे—राज्यवर्धन और हर्ववर्धन और एक पुत्री थी राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह कन्नौजराज ग्रहवर्मन से हुआ था।

स्थानेश्वर और कन्नौज की शक्ति का उत्कर्ष देखकर उत्तर भारत के शक्तिहीन राज्य, मालवा और गौड़, ईर्ष्यालु बन गए थे। इन्हीं ईर्ष्यालु राजाओं के कुचक्रों की सीला इस नाटक में देखने को मिलती है।

प्रसादजी के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्रायः समस्त विशेषताएं बीज-रूप से विद्यमान हैं। उनके सभी ऐतिहासिक नाटकों के सदृश इसमें भी राजकीय उथल-पुथल और उत्क्रान्ति की कहानी है। षड्यन्त्र, विद्रोह, रक्तपात तथा संघर्ष इसमें भी विद्यमान है। राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं के ताने-बाने से यह नाटक-पट भी प्रस्तुत होता है। इसमें कहीं राजतन्त्र-सम्बन्धी समस्याएं प्रमुख हो जाती हैं तो कहीं धार्मिक उलझनें हमारा पूरा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं।

प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में बौद्ध धर्म विकसित अथवा पतनशील अवस्था में दिखाई पड़ता है। 'राज्यश्री' में जहां एक ओर सुएनच्चांग शत्रु-मित्र सभीको धर्म और शान्ति बितरित करता है, वहां दूसरी ओर शान्तिभिक्षु (विकटबोध) धर्म और शान्ति का इस प्रकार उपहास करता है, "भूख, शान्ति को मैंने देखा है। कितने शवों में वह

दिखाई पड़ी। शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भील मांगने में। मैं उस शान्ति को विकार-रता हूँ। धर्म को मैंने खोजा जीर्ण पत्रों में। पण्डितों के कूट तर्क में उसे बिलसते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।”

इस प्रकार प्रसादजी दो बौद्ध भिक्षुओं में शान्ति और धर्म की उपादेयता के प्रति विवाद खड़ा करते हैं। शान्ति और धर्म को हेय समझनेवाला शान्तिभिक्षु प्रारम्भ में इस प्रकार संशयात्मक स्थिति में पड़ा था, “मैं क्या चाहता हूँ? यह मैं अभी स्वयं नहीं समझ सका हूँ।” तदुपरांत वह पतन की ओर दृष्टि लगाए सूरमा से कहता है, “पतन की चरम सीमा तक चले सूरमा। बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।” धर्म^२ का निरादर करने के कारण उसके जीवन में एक समय वह स्थिति आ जाती है जब वह हमें पतन की सीमा तक पहुँचता हुआ दिखाई पड़ता है। तीसरे अंक में वह इतना क्रूर बन जाता है कि राज्यवर्धन का रक्त पीकर भी उसकी क्रूरता की राक्षसी भृत्य बन रही है और वह धर्मप्राण सुएण्वांग की हत्या का आयोजन करता हुआ कहता है, “ओह! मेरी प्रतिमा, मेरी क्रूरता की देवी नरबलि चाहती है। तू बहुत स्वस्थ है विदेशी। मैंने राज-रक्त से पहले-पहल हाथ रंगा था। वह कितना लाल था। उनका मनोरंजन कितना ललित था। सूरमा! स्मरण है वह राज्यवर्धन की हत्या। बड़ी उत्साहवर्धक थी वह!” हम पहले कह आए हैं कि धार्मिक समस्याएं प्रसादजी के सभी ऐतिहासिक नाटकों में राजतन्त्र से उल-झती चलती हैं। ‘राज्यश्री’ का शान्तिभिक्षु, ‘विशाल’ का महापिंगल, ‘स्कंदगुप्त’ का प्रपंचबुद्धि कापालिक आदि पात्र पतित भिक्षुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ ही साथ तत्कालीन राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते रहते हैं। ‘राज्यश्री’ में सर्वप्रथम इस पद्धति का बीजांकुर दिखाई पड़ने से भी इस नाटक का विशेष महत्त्व है।

नीलदेवी और राज्यश्री

नीलदेवी और राज्यश्री इतिहास-प्रसिद्ध महिलाएं हैं। दोनों के जीवन में प्रायः साम्य पाया जाता है। दोनों के पति बद्ध्यन्त्र द्वारा मारे जाते हैं। दोनों विधवाएं आपत्ति-काल में वैय से काम लेती हैं। दोनों में प्रशंसनीय वीरता पाई जाती है। किन्तु अन्तर केवल वीरता के आदर्शों में है। नीलदेवी की वीरता शत्रु-शिविर में निर्भय प्रविष्ट होने तथा युद्ध द्वारा देश-स्वातन्त्र्य की रक्षा करने में है। किन्तु राज्यश्री का भोज भ्रातृतायियों के मध्य अकेले जीवन-यात्रा करने और हत्यारों को प्राणदान देने में प्रकट होता है। नील-देवी और राज्यश्री^३ दोनों चिताकूट होती हैं, किन्तु अन्तर यह है कि नीलदेवी जलकर भस्म हो जाती है और राज्यश्री हर्ष के अनुनय-विनय पर चिता से उतर आती है और लोकसेवा करके काषाय ग्रहण करने के उद्देश्य से काल-यापन करने लगती है।

१. राज्यश्री, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य, पृष्ठ ११

२. राज्यश्री, तृतीय अंक, पृष्ठ ५०

३. राज्यश्री, तृतीय अंक, सप्तम संस्करण, पृष्ठ ६१

निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दुजी का लक्ष्य है देश-स्वातन्त्र्य, किन्तु प्रसादजी का आदर्श है भारतीय संस्कृति की महत्ता की ओर विश्व का ध्यान आकषिप्त करना। नील-देवी के बलिदान से देश स्वतन्त्र होता है, किन्तु राज्यश्री के हृदय की महानता से भारतीय संस्कृति विदेशों तक पहुंचती है। नीलदेवी को पति, पुत्र, भाई, सेनापति आदि के कार्य स्वयं करने पड़ते हैं, किन्तु राज्यश्री को अपने भ्राताओं की सहायता प्राप्त है। नीलदेवी में शौर्य और दृढ़ता है, राज्यश्री में करुणा और उदारता। भारतेन्दु-काल में भारत की पुकार थी—नारी को परदे से बाहर लाकर धर्म और जाति की रक्षा के लिए विचमियों को शस्त्र द्वारा पराजित करना। किन्तु प्रसाद-काल में गांधीवाद के प्रभाव से देश की मांग हुई—शस्त्र-युद्ध के स्थान पर अहिंसा का प्रचार करना। इसी कारण भारतेन्दु ने नीलदेवी को और प्रसाद ने राज्यश्री को अपने-अपने लक्ष्य के अनुसार नाटक-रूप में रखा।

विशाख (संवत् १९७८ वि०)

‘राज्यश्री’ और ‘विशाख’ के रचनाकाल में छः वर्ष का अन्तर है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इस दीर्घ काल में प्रसादजी ने नाटक-सृजन से विश्राम क्यों लिया ? चार वर्ष में पांच नाटकों का रचयिता छः वर्ष तक उपराम ग्रहण करे, इसका कोई न कोई कारण अवश्य ही रहा होगा। ‘विशाख’ नाटक का महत्त्व परखने के लिए इस कारण को जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इस दीर्घ विश्राम के पश्चात् विशाख नाटक का कथानक किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही चुना गया होगा। देखना यह है कि वह उद्देश्य है क्या ? आज तक इसपर किसीने प्रकाश नहीं डाला है। अतः निश्चित रूप से हम इस विषय में कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रसादजी के अभिन्नहृदय मित्रों के द्वारा प्राप्त उनकी पारिवारिक तथा आर्थिक परिस्थिति के कुछ विवरण, देश की तत्कालीन राज्यक्रान्ति और ‘विशाख’ के कथा-प्रसंगों का अवलम्ब लेकर हम किसी न किसी परिणाम पर पहुंचने का प्रयास करेंगे।

‘विशाख’ नाटक का प्रथम वाक्य, जिसे नायक स्वतः एकान्त में कह रहा है, यह है—“शैशव ! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहंगमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। जीवन सुख के लिए आता है, यह एक भारी भ्रम है।”^२

‘विशाख’ का यह स्वगत-भाषण होते ही नाटक की नायिका चन्द्रसेखा सामने आती है। इसकी पैतृक सम्पत्ति अपहृत की जा चुकी है। परिवार का भरण-पोषण करने के लिए सेम की फलियां तोड़ती हुई वह दरिद्रता की कूरता को इस प्रकार स्मरण करती है :

१. संवत् १९११ से १९१५ तक के ग्रन्थ ‘संजन’, ‘कल्याणी-परिचय’, ‘कल्याण’, ‘प्रायश्चित्त’ और ‘राज्यश्री’ पांच नाटकों की रचना हुई।

२. प्रसाद, विशाख नाटक, प्रथम अङ्क, प्रथम दृश्य

“सखी री, सुख किसको हैं कहते ।

बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते ।

करुणा, कान्त कल्पना है बस, दया न पड़ी दिखाई ।

निर्दय जगत्, कठोर हृदय है, और कहीं चल रहते ।”^१

इन गान और उपर्युक्त ‘स्वगत-भाषण’ को भली प्रकार समझने के लिए हमें राज्यश्री का यह अन्तिम गान सामने रखना चाहिए—

“करुणा कादम्बिनी बरसे ।

दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे ।

प्रेम-प्रचार रहे जगती-तल दया दान दरसे ।

मिटे कलह शुभ शान्ति प्रकट हो अचर और चर से ।”

जो करुणा-कादम्बिनी प्रसाद के हृदय को सरस बना सकती थी, वह वास्तविक रूप में कहीं न दिखाई पड़ी । वह तो कल्पना-जगत् की कान्त वस्तु ही सिद्ध हुई । उस कादम्बिनी का दर्शन जीवन में न होने से प्रसादजी और कहीं चलकर रहना चाहते हैं । यह ध्वनि उनके तत्कालीन पारिवारिक जीवन की दुःखमय कहानी से भी निकलती है । प्रसादजी को इन छः वर्षों में इस निर्दय जगत् में क्रूरता ही दिखाई पड़ी । ‘राज्यश्री’ की रचना के एक वर्ष बाद ही उन्हें यमराज की क्रूरता का सामना करना पड़ा । उनकी स्त्री का स्वर्गवास प्रसूतिगृह में नवजात शिशु के साथ ही हो गया । तदुपरान्त विषम भाषिक परिस्थितियों की क्रूरता उन्हें सन्तप्त करती रही ।

प्रसादजी का जन्म एक समृद्ध परिवार में हुआ था । इनके पिता देवीप्रसाद का व्यापार-वैभव काशी, कलकत्ता आदि कई प्रमुख नगरों में फैला था । किन्तु प्रसादजी की सात वर्ष की ही अवस्था में पिताजी का स्वर्गवास हो जाने से वह वैभव ह्रासोन्मुख बन गया । पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण परिवार में भी फूट पड़ गई । न्यायालय में अभियोग पर अभियोग चलने लगे । चार वर्ष में लाखों रुपये व्यय हुए । अतः व्यवसाय बन्द हो गया और दुकानों पर ताले लग गए ।^२

इन आपत्तियों का सामना करते हुए प्रसादजी के ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्नजी भी इस संसार से चल बसे । अब प्रसादजी के ऊपर समस्त परिवार के भरण-पोषण का भार आ पड़ा । हम पूर्व कह आए हैं कि उनकी पत्नी का भी स्वर्गवास हो चुका था । ऐसी विकराल परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि शैशव की सुखद स्मृतियाँ प्रसाद के जीवन में कसक पैदा करें ।

आश्चर्य नहीं कि उन्हींको अभिव्यक्त करने के लिए प्रसाद ने विशाख और चन्द्रलेखा आदि पात्रों की सृष्टि की हो ।

१. जयरामप्रसाद, विशाख नाटक, प्रथम अङ्क, प्रथम दृश्य

२. डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा के आधार पर—‘आज’ का प्रसाद विरोधांक, १= फरवरी, १९५१, पृ० ५

‘विशाख’ नाटक की रचना में उस समय के राजनीतिक आन्दोलन का भी हाथ हो सकता है, क्योंकि इसका संकेत हमें इस नाटक की भूमिका में इस प्रकार मिलता है :

“मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और जिनपर कि वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।”

इस काल में महात्मा गान्धी का सत्याग्रह-आन्दोलन देशव्यापी बन रहा था। शासकवर्ग भक्षक हो चला था। जनता में उत्तेजना फैल रही थी। स्वराज्य की धूम मच रही थी। देश की राजलक्ष्मी विधर्मी के पंजे में जा पड़ी है, इसे जनता समझ गई। इस कारण असंतोष फैल रहा था। प्रसाद ने इसी प्रकार की घटना लेकर ‘विशाख’ नाटक की रचना की। नाग जाति की लक्ष्मी चन्द्रलेखा के उपभोग के लिए कामुक किन्नर नरदेव आतुर है और जैसे-तैसे उसका अपहरण भी कर लेता है। फिर तो समस्त नाग जाति विद्रोह का झंडा खड़ा कर देती है और अभीष्ट को प्राप्त कर लेती है। इस नाटक में महात्मा गांधी ही प्रेमानन्द के रूप में इस संदेश को सुना रहे हैं :

निर्बल भी हो, सत्य पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता से इस कुहक जाल को तोड़ना ॥^१

इस उपदेश से नरदेव का हृदय बदल जाता है और वह अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करता है। यह आशा का एक सन्देश था जिसे प्रसाद अवसाद के उस काल में दुःखी भारतीय जनता को प्रेमानन्द के द्वारा समझा रहे थे।

इस नाटक की रचना का तीसरा कारण था—सारनाथ का ध्वंसावशेष। प्रसाद अपने कलाविद् सखा रायकृष्णदास के साथ प्रायः सारनाथ जाते और वहां बौद्ध भग्नावशेषों को देखकर विचारमग्न हो जाते। उनका भावुक हृदय कल्पना के सहारे अतीत के उस युग में पहुँच जाता, जिसमें चैत्यों और विहारों का सम्मान था, फिर कालान्तर में उनके प्रति जनता की श्रद्धा ऐसी विलीन हुई कि एक दिन उनका संहार होकर रहा। प्रसाद के मस्तिष्क में भी प्रत्येक मननशील व्यक्ति की तरह इन चैत्यों और विहारों की संहार-समस्या उठी होगी।^२ रायकृष्णदास का कहना है कि प्रसाद को सारनाथ के कई स्थल इतने प्रिय थे कि उन्हें देखते-देखते वे भाव-मग्न हो जाते। यही काल है जब प्रसाद विशाख नाटक की रचना में संलग्न हुए।

इस नाटक में प्रसाद ने काश्मीर-स्थित बौद्ध-विहारों के भस्मसात् होने का कारण दिया है। उनका मत है कि जब बौद्ध भिक्षुओं का चरित्र पतित हो गया तो राजा और जनता की श्रद्धा उनमें न रही। अतः समस्त बौद्ध-विहार राज-कोषाग्नि में भस्म कर दिए गए। प्रमाण के लिए ‘विशाख’ और राजा नरदेव का वार्तालाप देखिए—“कानीर-विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है, प्रमादी हो गया

१. जयशंकर प्रसाद, विशाख नाटक, प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य, पृ० ३८

२. नई धारा, प्रसाद के संस्मरण, वर्ष १

है। दीन-शुनियों की कुछ नहीं सुनता। मोटे निठलों को एकत्र करके विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़कर अपने मठ में बन्द कर रखा है। उसका बुढ़ पिता दुःखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है।”

राजा नरदेव बिहारों को भस्म करने की आज्ञा देता हुआ बौद्ध-महन्त से कहता है :

“किन्तु सत्यशील, तुम तो अघम कीट हो। तुम्हारे लिए यही दण्ड है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाए, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे। सेनापति, सब बिहारों को राज्य-भर में जलवा दो।”

‘विशाख’ नाटक के द्वारा प्रसाद इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि बौद्ध-बिहारों के भस्म होने से तथागत की महत्ता को किसी प्रकार का धक्का न पहुँचा। बुद्ध तो पूर्ववत् भगवान् के रूप में उपास्य बने रहे। प्रसाद तथागत के उन गुणों को जिनके द्वारा उन्हें भगवान की उपाधि प्राप्त हुई थी, बूढ़ निकालते हैं। उनका सर्वश्रेष्ठ पात्र प्रेमानन्द भगवान के लक्षण देते हुए कहता है :

“मान लूँ क्यों न उसे भगवान।

नर हो या किन्नर कोई हो निर्बल या बलवान,
किन्तु कोष करुणा का जिसका हो पूरा, दे दान।

मान लूँ क्यों न उसे भगवान।

विश्व-वेदना का जो सुख से करता है आह्वान,
तृण से त्रयस्त्रिंश तक जिसको सम सत्ता का भान।

मान लूँ क्यों न उसे भगवान।

मोह नहीं है किन्तु प्रेम का करता है सम्मान,
द्वेषी नहीं किसीका, तब सब क्यों न करें गुणगान।

मान लूँ क्यों न उसे भगवान।

यह चैत्य है। इसमें बुद्ध का शवभस्म है।.....ऐसा सुन्दर परिणाम संसार का है।”

उपर्युक्त विचार प्रसाद के मस्तिष्क में अवश्य आते रहे होंगे। इन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रसाद ने नाटक का कथानक बूढ़ा होगा। उन्हें ‘राजतरंगिणी’ में नरदेव का ऐसा कथानक मिला, जिसके द्वारा वे बौद्ध-विहारों केन्द्र बनाकर देश की तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान सरलता से कर सकते थे। हम आगे विचार करेंगे कि प्रसाद का उद्देश्य इसमें प्रेमकथा को नाटकीय रूप देना नहीं प्रत्युत देश की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाना है। हम उस समालोचक

१. विशाख नाटक, जयशंकर प्रसाद, प्रथम अङ्क, तृतीय दृश्य, पृ० २६

२. विशाख नाटक, प्रथम अङ्क, पंचम दृश्य, पृ० ४०

३. विशाख, जयशंकर प्रसाद, द्वितीय अङ्क, छठा दृश्य, पृ० ६३

से सहमत नहीं, जिसका कहना है कि ऐसी प्रेमकथा किसी भी युग में सम्भव थी। सामान्य प्रेमकथा को इसमें एक प्राचीन आवरण देने का प्रयास-भाज है।

ऐसी प्रेमकथाएं, जिनके केन्द्र बौद्ध-विहार हों और जिनमें राजनीतिक कांति, धार्मिक आन्दोलन और सामाजिक क्रंदन दिखाई पड़े, प्राचीन इतिहास में कठिनाई से प्राप्त होती हैं। प्रसाद यदि किसी 'सामान्य कल्पित कथानक' को लेकर इस प्रकार नाटक लिखते तो उसमें इतिहास की पावनता और अतीत की गम्भीरता कैसे आती ?

बाजपेयीजी का कहना है कि इसमें "एक स्त्री और उसके दो प्रेमियों की कथा है, जो प्रायः सभी प्रेमगाथाओं में रहा करती है।"^१

सम्पूर्ण नाटक को पढ़ने के उपरान्त 'एक स्त्री के दो प्रेमियों की कथा' कुछ महत्त्व नहीं रखती। आखों के सामने एक ऐसे भारत का दृश्य नाचने लगता है, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं का चरित्र पतनोन्मुख हो गया था और बौद्ध धर्म का बड़ी द्रुत गति से ह्रास हो रहा था। इतिहास के उस युग में अर्थात् आज से अठारह सौ वर्ष पूर्व अशोक-काल का प्रति उन्नत बौद्ध धर्म इतना अप्रिय हो गया था कि "भिक्षुओं को देखकर कोई वन्दना भी नहीं करता, भिक्षा की तो कौन कहे।"^२

इस नाटक की प्रायः समस्त घटनाएं चैत्य और विहार को केन्द्र बनाकर निर्मित हैं। कानीर विहार के समीप विशाख और चन्द्रलेखा का प्रथम मिलन होता है। बौद्ध-विहार का स्थविर चन्द्रलेखा को विहार में बन्द करता है। प्रेमानन्द वहीं से उसका उद्धार करता है। नरदेव का सत्ता महापिण्डल चैत्य के पास ही बौद्ध भिक्षु को इस निमित्त भेजता है कि वह चन्द्रलेखा को राजा नरदेव से विवाह करने के लिए प्रेरित करे। इसी प्रकार समस्त कथा के केन्द्र बौद्ध-विहार, बौद्ध धर्म और बौद्ध भिक्षु हैं। यद्यपि बौद्ध-विहार भस्म हो जाते हैं किन्तु बुद्ध की प्यारी करुणा मूर्तिमती हो उठती है। जिस समय चन्द्रलेखा अत्याचारी नरदेव के बच्चे को निज प्राणों की परवाह न कर प्रच्छन्न अग्नि से निकाल राजा के सामने रखती है, उस समय प्रेमानन्द स्त्री-व्याप्ति की प्रशंसा करते हुए कहता है, "मूर्तिमती करुणे, तुम्हारा जीवन सफल हो। स्त्री-व्याप्ति का सुंदर उदाहरण तुमने दिखाया।"^३ नरदेव अन्त में चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करते हुए कहता है, "देवि क्षमा करो। अघम के अपराध क्षमा हों।"^४

ऐसी कितनी ऐतिहासिक प्रेमकथाएं हैं जिनमें कलुषित और अत्याचारी राजा का जीवन प्रायश्चित्त^५ की अग्नि में तपकर इस प्रकार शुद्ध और निर्मल हो गया है।

१. नन्ददुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, प्रथम संस्करण, सं २००७ वि०, पृष्ठ २१०

२. विशाख नाटक, अक्षरंकर प्रसाद, द्वितीय अङ्क, पंचम दृश्य, पृष्ठ ६०

३. अक्षरंकर प्रसाद, विशाख नाटक, तृतीय अङ्क, पंचम दृश्य, पृ० ६१

४. वही, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ७१

५. नरदेव—हाय-हाय—मैंने क्या किया, एक पिशाच-प्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी।...इसीलिए प्रकृति के दास मनुष्य को आत्मसंयम, आत्मरासन की पहली आवश्यकता है।

—वही, तृतीय अङ्क, पृष्ठ ६०

इस नाटक में प्रसाद की मौलिक देन है प्रेमानन्द का चरित्र। यही प्रेमानन्द इस नाटक को आद्योपान्त दार्शनिकता से ओतप्रोत बनाता रहता है। उसीकी महत्ता है कि नाटक के प्रारम्भ में विलुप्त करुणा फिर मूर्तिमती हो उठती है। जीवन की बिपमताओं से व्याकुल प्रसाद करुणा को कल्पनालोक की वस्तु बता रहे थे, किन्तु प्रेमानन्द जैसे मन्यासियों के पावन चरित्र से अन्त में उनमें आशा का संचार हो उठता है और करुणा इसी धरती पर मूर्तिमती हो जाती है।

इस नाटक में प्रसाद पर यत्र-तत्र तत्कालीन थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। क्या कथानक, क्या संवाद, क्या शैली, क्या चरित्र-चित्रण सबमें उसकी गन्ध मिलती है। ऐसे स्थलों पर प्रेमियों का प्रेमालाप नितान्त हलका और तुकांतमय है। उदाहरण के लिए चन्द्रलेखा और विशाख की बातें देखिए :

“अकेली छोड़कर जाने न दूंगी।.....”

हृदय को देह से जाने न दूंगी,

बनाकर आँख की पुतली तुम्हें बस,

तुम्हारे साथ मैं खेला करूंगी ॥”

इसी प्रकार महारानी^१ और महापिंगल का संवाद देखिए :

“महारानी—क्या कहता है पिंगल।

महापिंगल—जंगल में मंगल।”

पर कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद थियेट्रिकल कम्पनी की नाटक-परिधि में दौड़ते-दौड़ते उससे बाहर जाने की चेष्टा कर रहे हैं। महारानी और नरदेव के संवाद में महारानी का एक गीत तो प्राचीन परम्परा की परिधि में है, किन्तु दूसरा गीत प्रसादजी के परवर्ती नाटकों की शैली से अधिक साम्य रखता दिखाई पड़ता है।^२ नाटक के सम्पूर्ण अंगों को मिलाकर देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद की प्राचीन परिपाटी से बाहर भागकर नई शैली के सृजन के लिए छटपटा रहे हैं। वे प्राचीन और नई शैली के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर अभिम पद बढ़ाने को व्याकुल हैं। उनका आगामी नाटक ‘अज्ञातशत्रु’ इसका प्रमाण है। ‘विशाख’ नाटक कथानक की गम्भीरता, चरित्र-चित्रण की सफलता, गीतों की नवीनता तथा संवादों की विदग्धता के दृष्टिकोण से प्रसाद के परवर्ती नाटकों की कोटि में नहीं पहुँचता, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हास्य की जैसी छटा इस नाटक में मिलती है, प्रसाद के किसी अन्य नाटक में उपलब्ध

१. विशाख नाटक :

महारानी—दूर हो गया कहीं मन से

क्या हुआ तन लगा रहे तन से।

२. मधुपान कर चुके मधुप, सुमन मुरझाए, शीतल मलयानिल गया कौन सिंचबाए।

पते नीरस हो गए सुखाकर झाली, चलती उपवन में लह कहां हरियाली।

नहीं। शैशव और यौवन की जितनी अनुभूतियाँ इस नाटक में प्राप्त हैं, उतनी कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध न हों। उनके शैशव की मधुर स्मृति, युवाकाल की कठोर विषमताएं मूर्तिमयी होकर खड़ी हो जाती हैं। छः वर्षों का राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन अनुभव के रूप में इस नाटक में चित्रित हो जाता है। इसी कारण इस नाटक की महत्ता औरों की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं।

इस नाटक में एक विशेषता और है जो अन्यत्र सम्भव नहीं। इसमें सभी बौद्ध भिक्षु पतनशील हैं। सत्यशील कामुक स्थविर है। दूसरा भिक्षु महापिंगल द्वारा प्रलोभन पाकर चैत्य की ग्राह से चन्द्रलेखा का सतीत्व राजा के हाथ बेचना चाहता है। तीसरा भिक्षु तरला का धन अपहृत करने के लिए “इचिलु मिचिलु खिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिविटि खिचिटि फट्” मन्त्र का जाप करता है और उसके समस्त आभूषण चुराकर भाग जाता है। इस नाटक में एक भी बौद्ध भिक्षु ऐसा नहीं है जिसमें बौद्ध धर्म के सात्त्विक गुण विद्यमान हों।

दूसरी विशेषता है नारी-चरित्र की। इस नाटक के प्रायः समस्त स्त्री-पात्रोंके चरित्र प्रशंसनीय हैं। ‘चन्द्रलेखा’ तो मूर्तिमती करुणा है ही, ‘इरावती’ भी पतिपरायणा नारी है। ‘रमणी, निर्भीक, कर्तव्यपरायण और भद्र महिला है। ‘रानी’ के स्वभाव में स्पष्टता, निर्भीकता और पतिपरायणता का पूर्ण मिश्रण है। वह अपने कामुक और दुराचारी पति नरदेव के हाथों विविध यन्त्रणाएं सहते हुए भी उसकी मंगल-कामना करती है।

केवल ‘तरला’^२ की प्रकृति में क्षुद्रता है। वह स्वर्णाभूषण के प्रलोभन में सब कुछ करने को तैयार है। किन्तु नाटक की मुख्य कथावस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसका निर्माण ऐसी स्त्रियों की दुरवस्था प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

अज्ञातशत्रु (सं० १६७६ वि०)

वस्तुविन्यास की दृष्टि से ‘अज्ञातशत्रु’ नाटक प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों से नितान्त पृथक् है। प्रसाद ने पूर्ववर्ती नाटकों में प्रायः एक ही राज्य को कथानक का केन्द्र बनाया है। किन्तु इस नाटक में चार राज्यों (मगध, काशी, कोशल और कौशाम्बी) में घटनाएं स्वतन्त्र रूप से घटती चलती हैं। मगध चारों राज्यों का मेरु है। मगधराज विम्बसार मे काशल, कौशाम्बी और काशी का वैवाहिक सम्बन्ध है। कोशलाधीश प्रसेनजित विम्बसार के साले और कौशाम्बी-नरेश उदयन दामाद हैं। विम्बसार की ज्येष्ठ पुत्री पद्मावती से उदयन का विवाह हुआ है। प्रसेनजित ने विम्बसार को अपनी भगिनी वासवी के विवाह के समय काशी का राज्य देहेज में दिया है। इस प्रकार चारों राज्य एक-दूसरे से इतने

१. जयशंकर प्रसाद, विशाख नाटक, तृतीय अंक, पृष्ठ ८०

२. अभी क्या कहते थे, बैल के भाई। हम लोगों ने तो कर्मा दूसरे की ओर हंसकर देखा कि प्रलय मचा, व्यभिचारिणी हुई, और तुम्हारे घेसे साठ वर्ष के खपटों को प्रेमवाले दूध के दांत जमे।

—जयशंकर प्रसाद, विशाख नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ ४७

सम्बद्ध है कि एक राज्य में घटित होनेवाली घटना का प्रभाव अनिवार्य रीति से क्षेत्र पर पड़ता ही है।

इस नाटक में सर्वत्र क्रान्ति का विकट घोष सुनाई पड़ता है। वह क्रान्ति राज-नीतिक क्षेत्र में राजाओं के विरुद्ध राजकुमारों की है; सामाजिक क्षेत्र में अभिजात के विरुद्ध निम्नवर्ग की है; धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद के विरुद्ध सुधारवाद की है; कौटुम्बिक क्षेत्र में पुरुषों के प्रति स्त्रियों की है। मगधराज बिम्बसार के विरुद्ध अजातशत्रु ने और कोशलराज प्रसेनजित के विरुद्ध विरुद्धक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया है। दोनों अपने-अपने पिता को राज्यच्युत करके स्वयं राजा बनने के अभिलाषी हैं। सामाजिक क्षेत्र की क्रान्ति प्रसेनजित की रानी दासी-पुत्री महामाया तथा उसके पुत्र विरुद्धक के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है:

“रानी—दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक पुरुषार्थ करो। इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूष का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।

विरुद्धक—बस मां! अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। मां, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वन्दना करूँगा।”

उस काल की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति का कारण दिखाने के लिए प्रसाद ने ब्राह्मण-कन्या मागधी को एक वेश्या^१ के रूप में दिखा दिया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में किसी-किसी ब्राह्मण-कन्या का चरित्र पतित हो रहा था और दासी-पुत्रियां शक्ति-बल से राजरानी बन रही थीं। दासकुल में जन्म लेने के कारण प्राप्त अपमान के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था। यह सामाजिक क्रान्ति थी।

धार्मिक क्रान्ति तो मानो गौतम के रूप में भूतिमती हो उठी थी। गौतम का विरोध करनेवाली शक्ति का नेता है देवदत्त। उसे मगधराज अजातशत्रु से सहायता मिलती है। देवदत्त और अजातशत्रु के वार्तालाप से गौतम के नव विचारों का विरोध स्पष्ट झलकता है:

“देवदत्त—सम्राट, कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो। शासन सुखद हो।

अजातशत्रु—कोशल के दांत जम रहे हैं। वह काशी की प्रजा में विद्रोह कराना चाहता है। वहां के लोग राजस्व देना अस्वीकार करते हैं।

१. अजातशत्रु, प्रथम अंक, आठवां दृश्य, पृ० ५६-५७

२. टिप्पणी—ब्राह्मण-कन्या को वेश्या के रूप में दिखाना कवि की कठोर कल्पना है। इसके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि कवि ब्राह्मण धर्म को अशोभित के गर्त में डालकर उसका अधःपतन इसलिये दिखाता है कि बौद्ध धर्म की महिमा विरोध रूप से उदीप्त की जा सके।

देवदत्त—पाण्डवी गौतम आजकल उसी ओर घूम रहा है, इसलिए कोई चिन्ता नहीं। गौतम की कोई चाल नहीं चलेगी। यदि मुनिव्रत धारण करके भी वह ऐसे साम्राज्य के षड्यन्त्रों में लिप्त है तो मैं भी हठवश उसका प्रतिद्वन्द्वी बनूंगा। परिषद् को आह्वान करो।

अजातशत्रु—जैसी आज्ञा।”^१

चौथी क्रान्ति है पुरुषों के विरुद्ध स्त्रियों की। स्त्रियां पति से अपमानित होने पर विद्रोह की भावना से प्रतिशोध लेना चाहती हैं। विवाहिता रानी शक्तिमती को महाराज प्रसेनजित ने दासी-पुत्री कहकर अपमानित किया था। वह पुरुष जाति से इस असह्य अपमान का प्रतिकार चाहती है। सेनापति कारायण और शक्तिमती की बातचीत से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

“शक्तिमती—तुम इतने कायर हो, यदि मैं पहले जानती !

कारायण—तब क्या करती ? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-धोषणा स्वयं सुनाती ?

शक्तिमती—यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है, तो स्त्रियां क्यों न करें ? क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं है ? क्या स्त्रियां अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखती ? क्या उनका जन्मसिद्ध कोई अधिकार नहीं है ? मुझे इस तरह पदच्युत करने का किसीको क्या अधिकार था ?”^२

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह ऐसा क्रान्तिकाल था, जिसमें सद्धर्मियों के विरुद्ध ढोंगी, पिता के विरुद्ध पुत्र, पति के विरुद्ध स्त्री, स्त्री के विरुद्ध पति और अभिजात के विरुद्ध दास प्राणपण से उद्योग में संलग्न थे। इन सबका परिणाम हमें प्रारम्भ में यह दिखाई पड़ता है कि धर्मात्मा गौतम पर चंचा के साथ विलास और श्यामा की हत्या का लांछन लगाया जाता है, अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार और विमाता वासवी को बन्दी बनाता है, शक्तिमती अपने पति प्रसेनजित से प्रतिशोध लेती है, विरुद्धक अपनी प्रेयसी श्यामा की हत्या करता है, विरुद्धक प्रत्येक अभिजात को लूटने का काम करता है।

ऐसे विकट समय में जब करुणा निराश्रित हो बिलख रही थी, क्रूरता, हिंसा, हत्या, विश्वासघात ताण्डव कर रहे थे, मानव दानव बनकर नैतिकता को तिलांजलि दे चुका था, देश को ऐसे तपस्वी की आवश्यकता थी जो करुणा को आश्रय देता और निर्दयता, हिंसा, प्रतिहिंसा और विश्वासघात के स्थान पर दया, क्षमा, उदारता और श्रद्धा को प्रतिष्ठित करता। गौतम बुद्ध ने अपने शुद्ध जीवन के उपदेशों से ऐसा वातावरण निमित्त कर दिया कि समस्त देश में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। उन्होंने आदर्श नारी वासवी, मल्लिका और पद्मावती के चरित्र-बल, सहिष्णुता और औदार्य से वेश्या श्यामा, डाकू

१. अजातशत्रु, दूसरा अंक, पहला दृश्य, पृ० ६३

२. वही, तीसरा अंक, चौथा दृश्य, पृ० १२३-१२४

विरुद्धक, क्रूर अजातशत्रु, निष्ठुर छलना, रक्तप्यासी शक्तिमती के कलुषित जीवन को निर्मल बना दिया। सभी पापी पात्रों का कालुष्य और सन्ताप करुणा-मन्दाकिनी में बह गया। क्रान्ति का उपर्युक्त रूप विस्तार से दिखाने का अभिप्राय केवल यही नहीं है कि प्रसादजी ने राज-क्रान्ति, धर्म-क्रान्ति, समाज-क्रान्ति और नारी-क्रान्ति का चित्रण 'अजात-शत्रु' में सफलता के साथ किया है, प्रत्युत इससे यह भी प्रमाणित करना अभीष्ट है कि प्रसाद एक जटिल कथानक को प्रथम बार ऐसे कौशल के साथ ग्रथित करने में समर्थ हुए हैं कि सम्पूर्ण कथानक पाठक और प्रेक्षक को रसधारा की ओर ही ले जानेवाला प्रतीत होता है। यद्यपि प्रथम अंक में घटनाएं निरपेक्ष रूप से मगध, कोशल और कौशाम्बी में घटित होती हैं किन्तु द्वितीय अंक में सब मिलकर एक धारा बन जाती है और काशी के युद्ध में हम तीन राज्यों की कथा-धाराओं को एकत्र पा जाते हैं। इस स्थल पर प्रत्येक व्यक्ति युद्ध का परिणाम जानने को लालायित हो जाता है।

तीसरे अंक के प्रथम वाक्य से दुश्चरित्र व्यक्तियों में असफलता के कारण मतभेद प्रकट हो जाता है। यहां देवदत्त को दुत्कारती हुई छलना कहती है, "धूर्त ! प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई, पुत्र बन्दी होकर विदेश को चला गया और पति को मैंने स्वयं बन्दी बनाया।" यहाँ से नाटक की कथा-धारा अपना मार्ग मंगल की ओर बदलती है।

यहां पाखण्ड और दुराचार का दुष्परिणाम झलकने लगता है और तृतीय अंक के अन्त में प्रत्येक क्रान्ति का समाधान हो जाता है। राजकुमार अजातशत्रु और विरुद्धक अपने-अपने पिता से क्षमा-याचना करते हैं, और राजक्रान्ति का समाधान मल्लिका के इन शब्दों से हो जाता है :

"क्षमा से बढ़कर दण्ड नहीं है, और आपकी राजनीति इसीका अवलम्बन करे।"

गौतम धर्म-क्रान्ति का समाधान इन शब्दों से करते हैं, "हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है। शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करना चाहिए। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। आनन्द, दूसरों का अपमान सोचने से भी अपना हृदय कलुषित होता है।"^२

अमिताभ की धर्म-क्रान्ति का नया स्वरूप मल्लिका के शब्दों में इस प्रकार है :

"तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की, अपवित्रों को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को प्लावित किया, अमिताभ, तुम्हारी जय हो !"^३

१. अजातशत्रु, तीसरा अंक, प्रथम दृश्य

२. वही, दूसरा अंक

३. वही, दूसरा अंक, पांचवां दृश्य, पृष्ठ ८३

धर्म का सार, स्वर्ग की प्राप्ति को गौतम ने तीन वाक्यों में स्पष्ट कर दिया—
“असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो।
यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हंसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विक-
सित होंगे।”

तीसरी क्रान्ति नारी की है जो पुरुष के अत्याचारों के कारण उठ खड़ी हुई थी।
उसका बोध कारायण और शक्तिमती के निम्नलिखित वार्तालाप से इस प्रकार हो
सकता है :

“देवि, तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का
उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री
करुणा है, जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे
हुए हैं। ‘‘क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस
दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।’’^१

इसी समस्या पर मल्लिका का सुभाव शक्तिमती को इस प्रकार है, “स्त्रियों का
कर्तव्य है कि पाशववृत्तिवाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर
पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है, उस स्नेहशीलता, सहनशीलता
और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा। हमारा यह कर्तव्य है। व्यर्थ
स्वतन्त्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना
चाहिए। चलो, आज अपने स्वामी से क्षमा मांगो...”^२

प्रसाद के ये सुभाव मनोवैज्ञानिक हैं और उन सद्वृत्तियों के मूलाधार पर निर्मित
हैं, जिनकी छटा कभी मलीन नहीं होती। इस दृष्टि से भी प्रसाद का ‘अज्ञातशत्रु’ नाटक
अमर है, क्योंकि इसमें एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित होती है जो संतप्त मानव-जीवन
को शान्ति प्रदान करती है।

हम कह चुके हैं कि प्रसाद ने इस नाटक का वस्तु-विन्यास इस कौशल से किया
है कि कथानक का कोई भी अंग असंबद्ध नहीं प्रतीत होता। कथानक के संगठन में जो
नाट्यकला झलकने लगती है, वह चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व की ज्योति पाकर चमक
उठती है। चरित्र के पतन और उत्थान की दृष्टि से अज्ञातशत्रु और श्यामा की सृष्टि
प्रसाद-साहित्य में अद्वितीय है। गौतम, मल्लिका, वासवी और पद्मावती में संस्कारगत
इतने अधिक गुण विद्यमान हैं कि उनमें विकास का अवकाश ही नहीं। किन्तु अज्ञातशत्रु
और श्यामा के चरित्र में अवरोह और आरोह होता रहता है। अज्ञातशत्रु में पतन और
उत्थान की पांच स्थितियां दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम वह निर्दय कुमार के रूप में एक ऐसे
उदारचेता अनुचर की चमड़ी उबेरता हुआ दिखाई पड़ता है जो मृगी की करुणाद्रं दृष्टि से
द्रवित होकर उसके शावक को बन्धन-मुक्त कर देता है। इससे कुमार के क्रूर, कठोर और

१. अज्ञातशत्रु, तीसरा अंक, सातवां दृश्य, पृष्ठ १३७

२. वही, तीसरा अंक, पृष्ठ १३७

निर्दय होने का संकेत मिलता है।

दूसरी बार भजातशत्रु काशी के विद्रोह में हमारे सामने आता है। वह अपनी निरपराध विमाता वासवी पर इस प्रकार व्यंग्य करता हुआ दिखाई पड़ता है, “इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य स्वर है, इस प्रकार भजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता।” क्रूर भजात को इस दर्प-भरी स्थिति तक पहुँचानेवाला है पाण्डु देवदत्त। वह क्रूर कर्म में भजातशत्रु की सहायता करता है। इसलिए वह द्रुत गति से पतन की ओर दौड़ता हुआ दिखाई पड़ रहा है।

तीसरी स्थिति में हम उसको प्रतिहिंसा की चरम सीमा तक जाते देखते हैं। प्रसेनजित को न पाकर भजातशत्रु मल्लिकादेवी से पूछता है, “कहाँ गया ? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना कोशल-सम्राट् कहां गया ?”

मल्लिका जैसी देवी के दर्शन से क्रोधी और अहंकारी भजातशत्रु के चरित्र में परिवर्तन दिखाकर प्रसाद ने दोनों का चरित्र-चित्रण प्रशंसनीय ढंग पर किया है। किसी दिव्य शक्ति के सम्मुख झुक जाना सुसंस्कार का लक्षण है। यद्यपि भजातशत्रु देवदत्त और छलना की कुमंत्रणा से पतनशील बन गया है, किन्तु संस्कारगत सद्गुण का अंकुर उसके हृदय में अभी विनष्ट नहीं हुआ है। वह मल्लिका से कहता है, “देवी, आप कौन हैं ? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है।”^१

इसी स्थल से उसका चरित्र सुधारोन्मुख हो जाता है। वह युद्ध से विरत होकर जब छलना के पास लौटता है और छलना उसे युद्ध-विमुख होने के कारण डाँटती-फटकारती है तो वह निरुत्साह भाव से कहता है, “मां, युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं !” विकास की ओर भजातशत्रु का यह दूसरा पग है।

जब अनिच्छा से भजातशत्रु युद्ध में सम्मिलित होता है और पराजित होकर बंदी-रूप में बाजिरा से मिलता है तो उसकी सुकुमार मनोवृत्ति को उत्तेजना मिलती है और वह कह उठता है, “सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है, आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया।”

विकासोन्मुख चौथी अवस्था उस स्थल पर दिखाई पड़ती है, जहाँ वासवी उसे बन्दीगृह से मुक्त कराके अंक में लिपटा लेती है। भजातशत्रु के मुख से सहसा निकल पड़ता है, “मां ! इतनी ठंडी गोद तो मेरी मां की भी नहीं है।..... मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, मां ! क्या तुम क्षमा करोगी ?” अन्तिम अवस्था नाटक के अन्त में उस स्थल पर दिखाई पड़ती है जहाँ भजातशत्रु अपने पिता के पैर पकड़कर इस प्रकार क्षमा-याचना करता है, “नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वंचित किया। अक्षय्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है ?”^२

१. भजातरात्र, दूसरा अंक, पृ० ६४

२. वही, तीसरा अंक, पृ० ११५

३. वही, तीसरा अंक, आठवाँ दृश्य, पृ० १६३

इसी प्रकार वरिद्ध-कन्या भागन्वी का राजमहिषी रूप, पुनः स्वाभा^१ का वार-विधासिनी रूप और अन्त में अम्बपाली का उपासिका-रूप प्रसाद के नाट्य-कौशल का सूचक है।

चरित्र-चित्रण के प्रतिरिक्त अन्तर्द्वन्द्व भी नाटक की सफलता का परिचायक होता है। इस नाटक में अन्तर्द्वन्द्व कई स्थानों पर मिलता है, किन्तु सबसे अधिक मनोहारी अन्तर्द्वन्द्व उस स्थल पर प्राप्त होता है, जहां पदच्युत बिम्बसार अपने पुत्रवान पुत्र को क्षमा मांगते देखता है :

“बिम्बसार—कुणीक कौन ? मेरा पुत्र या मगध का सम्राट... नहीं, नहीं, मगध-राज भजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए। मेरे दुर्बल चरण आप छोड़ दो।”

उपर्युक्त शब्दों में बिम्बसार के मानस में द्वन्द्व मचानेवाले वास्तव्य, अभिमान, व्यंग्य, व्याकुलता आदि विविध मनोभावों का संघर्ष स्पष्ट झलकता है। इसने मनोभावों का एक स्थल पर प्रसंग उपस्थित करना कुशल नाट्यकार का ही कार्य है।

तात्पर्य यह है कि प्रसाद ने विविध घटनाओं को शृंखलाबद्ध करने का जो प्रथम प्रयास किया, उसमें उन्हें सफलता मिली। इसी कारण वे आगे चलकर समग्र उत्तरी भारत के विविध राज्यों की अनेक घटनाओं को एक सूत्र में ग्रथित कर स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नामक नाटक लिखने में सफल हुए। भजातशत्रु नाटक इस नये प्रयोग की प्रथम कृति होने से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

प्रसाद नाट्यकला के जिस रूप की खोज में अब तक चिन्तन कर रहे थे वह भजातशत्रु में उन्हें प्राप्त हो गया, क्योंकि उनके परवर्ती नाटक इसी शैली पर विरचित हैं।

जनमेजय का नागयज्ञ (१६८३ बि०)

इस नाटक का कथानक महाभारत से लिया गया है। महाभारत में एक कथा है, जिसमें जनमेजय के सर्पयाग के साथ-साथ तक्षशिला-विजय और नाग जाति के संहार का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्म-हत्या के प्रायश्चित्त-स्वरूप राजा जनमेजय ने जो अश्वमेध यज्ञ किया, उसका भी विवरण उक्त ग्रन्थ में मिलता है।

इस काल में कतिपय ब्राह्मणों के षड्यन्त्र से नाग जाति ने पुनः विद्रोह का ऋण्डा खड़ा किया, किन्तु जनमेजय ने ऐसा पराजित किया कि उन्हें विवश होकर सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि आर्य और नाग जाति (अनार्य) विशेष झूलकर परस्पर मित्र-भाव से व्यवहार करने लगीं। प्रश्न यह उठता है कि महाभारत की इस कथा में क्या विशेषता थी, जिसके कारण इसे प्रसाद ने नाटक का कथानक बनाया ? उन्होंने अपने पूर्वविरचित सभी नाटकों—प्रायश्चित्त, राज्यभी, विद्यालय और भजातशत्रु—का इतिवृत्त इतिहास से ग्रहण किया है, किन्तु इस नाटक के कथानक के लिए महाभारत की

१. टिप्पणी—स्वाभा का चरित्र कौरी-बाजों के साथ उपसंहार में विस्तार से दिखाना चाह है।

उक्त घटना को मूलाधार बनाया। यह परिवर्तन क्यों ?

इस नाटक में एक ऐसी योजना विद्यमान है, जिसका अभाव प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों में पाया जाता है। पूर्ववर्ती नाटकों में माण्डलिक आर्य राजाओं का पारस्परिक संघर्ष दिखाया गया है, किन्तु इस नाटक के उपरान्त प्रसाद का ध्यान आर्यों और अनायों के युद्ध की ओर आकर्षित होता है। प्रमाण के लिए देखिए—‘राज्यश्री’ में कन्नौज, बानेश्वर, मालवा के माण्डलिक राजाओं का संघर्ष है; ‘विशाख’ में विशाख (ब्राह्मण) और आर्य राजा नरदेव का; ‘अज्ञातशत्रु’ में कोशल, कौशाम्बी और मगधराज का; किन्तु ‘जनमेजय’ में आर्यों और नागों का ‘स्कन्दगुप्त’ में आर्यों और हूणों का, ‘चन्द्रगुप्त’ में आर्यों और ग्रीकों का, ‘ध्रुवस्वामिनी’ में आर्यों और शकराज का युद्ध दिखाई पड़ता है।

इस नवीन योजना का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। आश्चर्य नहीं कि तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को देखकर प्रसादजी को इस समस्या के सुलझाने का विचार मन में आया हो। इस नाटक की रचना के समय हमारे देश में आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुसलमान कलह की ज्वाला प्रचण्ड रूप धारण कर रही थी। यद्यपि उसे शान्त करने के लिए कितने नवयुवकों ने प्राणाहुतियां दीं किन्तु कलहाग्नि की लपटें उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थीं। इस विषम समस्या को देखकर सहृदय प्रसाद का कोमल हृदय विक्षुब्ध और विकम्पित हो उठा और उन्होंने नाट्य-रचना के द्वारा इस संघर्ष की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में उनका पहला प्रयास ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ में झलकता है। हम देखते हैं कि नाटक के प्रारम्भ और मध्य में आर्य और अनार्य जातियों का कलह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

कलह का कारण यह है कि नाटक के नायक जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या नागों ने की थी। अतः पितृ-वध को स्मरण कर सम्राट के हृदय में नाग जाति के विरुद्ध परम्परागत द्वेषाग्नि सुलगती रहती है। इस द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिए उन्हें नाग जाति का विनाश अभीष्ट है। अतः नाग-विध्वंस के लिए कृतसंकल्प होकर वे कहते हैं, “अश्वमेध पीछे होगा, पहले नागयज्ञ करूंगा।”

आर्य-सम्राट जनमेजय की तरह नागराज तक्षक के हृदय में आर्य जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना उद्दीप्त होती रहती है। एक स्थान पर वह अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए कहता है, “प्रतिहिंसे ! तू बलि चाहती है तो ले, मैं दूंगा। छल, प्रवचना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियां बनेंगी।” इस संकल्प की सिद्धि के लिए वह नागों को सुसंगठित कर आर्य-जनपदों में हत्या और लूट के द्वारा आतंक फैलाता है। वह यज्ञ के बोड़े को बलपूर्वक पकड़वा लेता है और नाग जाति को आर्यों के विरुद्ध युद्ध के लिए आह्वान करता है।

आर्य और नाग जाति (अनार्य) के परम्परागत इस संघर्ष को निर्मूल करने के लिए प्रसाद ने उदारचेता आस्तीक, सरमा और मणिमाला आदि पात्रों की सृष्टि की। आस्तीक के पिता हैं आर्य ऋषि और माता है नाग-कन्या। आस्तीक के जीवन का उद्देश्य

है निर्मल बुद्धि द्वारा आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य का उन्मूलन करना। वह एक स्थान पर कहता है, “किन्तु भाई, हम लोगों का कुछ कर्तव्य भी है। दो भयंकर जातिमां क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।” जनमेजय जब ऋषि-पुत्र आस्तीक के व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसे अपना रक्त देने को भी तैयार हो जाता है तो वह ऋषिकुमार आत्मसुल की कोई वस्तु नहीं चाहता अपितु कलहशील दो जातियों में शान्ति स्थापित करने के लिए कहता है, “मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट, शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिए यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है।”

आस्तीक के सदृश ही नागकुलोत्पन्न वासुकी और नागपत्नी सरमा में भी विश्व-मैत्री की भावना है। वे दोनों शत्रु का—अपकार से नहीं प्रत्युत उपकार के द्वारा—हृदय परिवर्तित करने में संलग्न हैं। सरमा कहती है, “धर्म का ढोंग करके एक निर्दोष आर्य-सम्राट को अपने चंगुल में फँसाकर उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिसमें वह राज्य-च्युत कर दिया जाए, क्या उचित है?”

नाटक की नायिका है मणिमाला। वह जनमेजय के प्रतिपत्नी तक्षक की कन्या है। अपने शील-सौजन्यादि सद्गुणों के कारण आर्य-सम्राज्ञी का पद पाती है। इस प्रकार उसकी विश्वमैत्री के बल से आर्य और अनार्य जातियों की कलहाग्नि इतनी शान्त हो जाती है कि आर्य जाति के नेता सम्राट जनमेजय को बाध्य होकर यह कहना ही पड़ता है, “नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।” इस प्रकार न केवल राजनीतिक प्रत्युत सांस्कृतिक दृष्टि से भी आर्य-अनार्य जाति का सम्मिलन उभयपक्ष के लिए कल्याणप्रद होता है। दोनों जातियों में राजनीतिक ऐक्य स्थापित हो जाता है और आर्य-संस्कृति तथा नाग-संस्कृति के समन्वय से भारतीय संस्कृति समृद्ध बन जाती है।

नाटक का उपर्युक्त कथानक संवत् १६=३ में होनेवाले भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगे की ओर संकेत करता है। उस काल में महात्मा गांधी दोनों जातियों में पुनः सौमनस्य स्थापित करने का आन्दोलन चला रहे थे।

प्रसादजी महात्मा गांधी द्वारा संचालित आन्दोलन में यद्यपि सक्रिय भाग नहीं लेते थे, किन्तु उनके सिद्धान्तों से सहमत होने के कारण अपने सुसंस्कृत नाटकों में उनके विचारों को सन्निविष्ट करते जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिए अतीत की शरण लेते हैं और उस काल की घटनाओं को अपने नाट्य-कौशल से ऐसा संवार देते हैं, जिससे हमारा अतीत हमारी श्रद्धा का पात्र बन जाता है। ‘विशाख’ नाटक में हम इसका उल्लेख पूर्व कर आए हैं।

कला-संविधान

कला-संविधान की दृष्टि से यह नाटक प्रौढ़काल की रचना होने पर भी शिथिल प्रतीत होता है। इसका वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण परवर्ती नाटकों के समान नहीं

हो पाया है। जाति-संबन्ध के निवारण तथा दार्शनिक चिन्तन में नाटककार इतना तन्मय हो गया है कि उसे कार्य-भवस्था, अर्थ-प्रकृति और पंच-सन्धियों के निर्वाह का ध्यान ही नहीं रह जाता। घटनाओं की विभिन्न शृंखलाओं के जोड़ने में व्यस्त होने से वे कथानक में आरोह-अवरोह लाने का प्रवकाश ही नहीं पा सके हैं।

इस नाटक में प्रसादजी ने दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना की है, जो कला की दृष्टि से अस्वाभाविक है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में मनसा मन्त्र पढ़कर रात्रि के तमिस्र पटल पर खाण्डव वन प्रत्यक्ष दिखा देती है।^१ उसमें कृष्ण और अर्जुन वातलाप करते दिखाई पड़ते हैं; खाण्डव-दाह होता है और नाग जाति आतंकवश भागती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार एक दृश्य के अन्तर्गत दूसरा दृश्य संयुक्त कर दिया गया है। वस्तु-विन्यास की ऐसी योजना प्रसाद के अन्य किसी नाटक में नहीं दिखाई पड़ती। कहा नहीं जा सकता कि प्रसाद ने कला-संविधान में ऐसी भूल क्यों की।

सामाजिक स्थिति

इस नाटक के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद का ध्यान पतनशील बौद्ध भिक्षुओं के साथ ही साथ अर्थ-लोलुप और देशद्रोही ब्राह्मण पुरोहितों की ओर गया। उन्होंने देखा कि जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों में आत्मनिग्रही उदात्त भावनापूर्ण महात्मा और इन्द्रिय-दास, अर्थ-लोलुप दुरात्मा दोनों हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण पुरोहितों में भी दो वर्ग हैं : एक वर्ग में शौनक, सोमश्रवा और उत्तंक जैसे सदाचारी और निर्भीक ब्राह्मण विद्वान हैं तो दूसरे वर्ग में काश्यप जैसे प्रकृति-सिद्ध नीच मनोवृत्तिवाले पुरोहित। प्रथम वर्ग को अपने आत्मबल और ब्रह्म-बल का आधार है और दूसरे को अर्थ-लिप्सा और कुटिल नीति का। प्रसादजी इस मत को स्थान-स्थान पर स्पष्ट करते चलते हैं। प्रमाण के लिए उत्तंक और काश्यप का उदाहरण लीजिए। जब तक्षक उत्तंक को एकाकी पाकर वध करने को उद्यत होता है तो वह (उत्तंक) निर्भीकतापूर्वक ललकारता है—

“यदि ब्राह्मण हूंगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्म-तेज पर हाथ चला सके। पाण्डवी, तेरा पतन समीप है।”

उत्तंक की यह कोरी धमकी नहीं थी। प्रतिज्ञा पर अटल रहनेवाला वह ब्राह्मण नागयज्ञ के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाता है कि ‘पाण्डवियों का पतन समीप था’।

इसी प्रकार शौनक उदार और सहिष्णु पुरोहित है। उसका मत है कि “सहनशील होना ही तो तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है।”

ठीक इनके विपरीत चरित्र है काश्यप का। वह ऐसा अर्थलोलुप है कि किसी अन्य ब्राह्मण को जनमेजय से सहायता पाते देखकर ईर्ष्या करने लगता है। महाराज जनमेजय ने जब उत्तंक को मणिकुण्डल प्रदान किया तो वह ईर्ष्या से जल-भुन गया और

भनायों (नाग) से गुप्त अभिसन्धि करके मणिकुण्डल अपहरण करने का प्रयास करने लगा ।

शत्रु-पक्ष में सम्मिलित होने से जब वह पुरोहित-पद से च्युत होता है तो नागों के साथ मिलकर जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा के अपहरण का षड्यन्त्र करते हुए मानवता के स्तर से भी कहीं नीचे उतर आता है । उसके हृदय में ब्राह्मणोचित सात्त्विक भाव इतना विलुप्त हो जाता है कि घोर से घोर पापाचरण से भी उसे कभी आत्मग्लानि नहीं होती । ब्राह्मण-वर्ग के पतन से देश का ह्रास होता है । देश और राज्य को घोर आपदा का सामना करना पड़ता है । देश में क्रान्ति मच जाती है । कतिपय ब्राह्मण पुरोहितों के जघन्य कृत्यों से उद्विग्न होकर जनमेजय सम्पूर्ण ब्राह्मण-वर्ग को अभिमुख में भस्म कर देना चाहता है । किन्तु अनेक अनुनय-विनय करने पर देश-निर्वासित करते हुए कहता है, “जाओ, तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ । आज से कोई क्षत्रिय अवबोध यज्ञ नहीं करेगा । तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं । जाओ, तुम सब निर्वासित हो ।”^१

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि समस्त ब्राह्मणों के निर्वासित होने पर देश और समाज की कैसी दुर्गति होती ! यदि ऐसे संकटकाल में महात्मा व्यास आविर्भूत न हुए होते तो समाज विभ्रंश हो गया होता । प्रसाद इस विकराल स्थिति को बचाने के लिए एक ऐसे तपोपुंज महात्मा को रंगमंच पर लाते हैं जो ब्राह्मण-मंडली और जनमेजय में पुनः सौमनस्य स्थापित करते हैं और जिनकी प्रेरणा से नाटक के अधिकांश पात्र कल्याण-मार्ग के पथिक बनते हैं ।

इसी व्यास के ब्राह्मण-धर्म का विकास हम प्रसाद के परवर्ती नाटक ‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ में पाते हैं ।

दार्शनिकता

इस नाटक में प्रसाद बार-बार किसी अदृष्ट शक्ति की ओर संकेत करते चलते हैं । साधारण पात्रों की कौन कहे, ब्राह्मणों के नेता शौनक और महात्मा वेदव्यास भी मनुष्य को अदृष्ट शक्ति का दास मानते हैं ।^२ सुना जाता है कि अदृष्ट शक्ति में प्रसाद

१. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ १०१

२. (क) शौनक—अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है । —जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ ४३

(ख) शौनक—मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है । —पृष्ठ ४४

(ग) जनमेजय—सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है । —पृष्ठ ४४

(घ) जनमेजय—(स्वगत) मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, या उसकी क्रीड़ा का उपकरण ? —पृष्ठ ४७

(च) जनमेजय—किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है । —पृष्ठ ४६

(छ) वेदव्यास—दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति का क्रीड़ा-कन्दुक है । अन्य नियति कर्तव्य-मदरे मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है । —पृष्ठ ७३

की घटल आस्था थी।

प्रसाद इस नाटक में जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, उसका निरूपण भरतवाक्य में इस प्रकार किया गया है—

“पूर्वानुभव कराता है जो ‘अहमिति’ से निज सत्ता का।

‘तू मैं ही हूँ’ इस चेतन का प्रणव मध्य गुंजार किया।”^१

उपर्युक्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसादजी जीवन की समस्याओं को यहां एक नये दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ करते हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद इसी कारण नाटक में प्रविष्ट कराया गया है कि जीवन की वास्तविकता से मानव मुक्त न हो सके। कृष्ण सर्वव्यापिनी चैतन्य-शक्ति का ज्ञान कराते हुए कहते हैं, “उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती। वही एक अद्वैत है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी।”^२ कठिनाइयों का सामना करने के लिए कर्मशील बनने का उपदेश देते हुए कहते हैं, “विश्व-मात्र को एक रूप में देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझकर करो, तुम मुक्त हो। दुर्वृत्त प्राणियों का हटाया जाना ही अच्छे विचारों की रक्षा है।”^३ इसी सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने के लिए सम्भवतः ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में चाणक्य की सृष्टि हुई। दुर्वृत्त नन्द का विध्वंस करना मानव-कल्याण के लिए आवश्यक था। इसका विस्तृत विवेचन हम ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में करेंगे। इस स्थल पर हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों में एक विशेष परिवर्तन देखते हैं। ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ लिखने के पूर्व वह बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तों पर बल दिया करते थे। सर्वशक्तिमान विभु में इतनी गहन आस्था कदाचित् ही कहीं परिलक्षित हो। किन्तु इस नाटक में वे लोक-सेवा को भगवान का कार्य समझकर करने को आह्वान करते हैं।

इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य रहा होगा। प्रसादजी देश और समाज की तत्कालीन दुर्दशा देखकर व्यथित हो जाते थे। उन्होंने राजनीति में प्रत्यक्ष भाग न लेकर साहित्य-सृजन के द्वारा देश-सेवा का मार्ग पकड़ा था। उनकी यह धारणा थी कि देशोद्धार के लिए जनता का नैतिक स्तर ऊंचा करना अनिवार्य है। सम्भवतः इस कारण भी

(ज) वेदव्यास—नियति, केवल नियति। जनमेजय, और कुछ नहीं। —पृष्ठ ७५

(झ) वेदव्यास—अष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिए भी एक बड़ा भारी कार्य कर छोड़ा है। —पृ० ७८

(ञ) वेदव्यास—अखंडनीय कर्मलिपि ! तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता। —पृ० ७८

(ड) उत्तक—नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा-ऊंचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जाएगा।

—पृ० ८२

(ड) व्यास—देखा नियति का चक्र ? यह महाचर्य आप ही अपना कार्य करता रहता है। —पृ० १०८

१. जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृष्ठ १०६

२. वही, पृष्ठ १२-१३

३. वही, पृष्ठ १४-१५

उन्होंने बौद्धकालीन इतिहास को कथानक के रूप में ग्रहण किया।

बौद्ध धर्म के द्वारा नैतिक उत्थान से ही उन्हें सन्तुष्टि नहीं हुई। बौद्ध धर्म की नास्तिकता के स्थान पर आस्तिकता का समावेश करना उन्होंने जन-मंगल के लिए परमावश्यक समझा। इस नाटक में प्रसादजी यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि आस्तिकता-रहित नैतिकता जीवन को पूर्ण नहीं बना सकती। हां, आस्तिकता का मूलाधार नैतिक-सा अवश्य है।

प्रसादजी की आस्तिकता केवल पूजन-अर्चन तथा मानसिक आराधना तक ही सीमित नहीं है, वह ईश्वर की सेवा में तन-मन-धन अर्पण करने को आह्वान करती है। उनके विचार से आस्तिकता का शुद्ध प्रस्फुटन कर्तव्यपरायणता में होता है। वे कर्तव्य को उतना ही असीम मानते हैं, जितना अनन्त सर्वशक्तिमान ईश्वर को। मानव-कर्तव्य की रेखा पारिवारिक जीवन को स्पर्श करती हुई देश-सेवा और विश्व-सेवा में विलीन हो जाती है। इसी सिद्धांत के अनुसार प्रसादजी की कर्तव्यपरायणता राष्ट्रीयता में परिणत हो जाती है। प्रसादजी की राष्ट्रीयता में संकीर्णता को स्थान नहीं। उनकी राष्ट्रीयता महात्मा गांधी की राष्ट्रीयता के सदृश विशाल है, जिसका मूलाधार आस्तिकता और बाह्य रूप देश-सेवा है।

प्रसादजी ने इस नाटक में जीवन की एक गम्भीर समस्या आवागमन पर भी विचार किया है। नेपथ्य में संगीत होता है—

“जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है।

मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है।”

इसका उत्तर भी उसी गीत के अन्त में इस प्रकार मिलता है—

“तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है।

जो कुछ आवे, करता चल तू, कहीं न आता-जाता है।”

इस प्रकार स्वच्छ और निर्मल बनकर सांसारिक कार्य करते-करते मनुष्य विभु की शक्ति को पहचानने में समर्थ बन जाता है। उस परम विभु की शक्ति पहचान लेने पर कृष्ण द्वारा कथित वाक्य ‘वही एक अद्वैत है’ बोधगम्य हो जाता है।

प्रसादजी को इस नाटक में आर्य जाति की विजय और विश्वात्मा के जय-जयकार का सामंजस्य करना अभीष्ट है। यदि एक स्थान पर जनमेजय की दिग्दिगन्तर-विजयिनी सेना जयघोष करती है—

“जय आर्य भूमि की, आर्य जाति की जय हो।

अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय हो।”

तो दूसरे स्थान पर विश्व-नियन्ता के गुणगान का सन्देश इस प्रकार सुनाई पड़ता है—

१. जनमेजय का नागयज्ञ, जयशंकरप्रसाद, सं० २००७ वि०, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ ६८

“जय हो उसकी, जिसने अपना विषय-रूप विस्तार किया।

आकर्षण का प्रेम नाम से सबमें सरल प्रचार किया।”^१

कामना (संवत् १९८४ वि०)

‘अजातशत्रु’ के उपरान्त प्रसादजी का ध्यान उन दार्शनिक विचारों को मूर्तरूप देने की ओर गया जो उनके मन में उथल-पुथल मचा रहे थे। अतः उन्होंने मनोवृत्तियों को पात्र बनाकर इस नाटक की रचना की। इसके पुरुष पात्र हैं—सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्ति, दम्भ, दुर्वृत्त आदि और स्त्री पात्र कामना, लीला, लालसा, करुणा, महत्वाकांक्षा इत्यादि। यह नाटक ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ की शैली पर रचा गया है, जिसका एक रूप ‘देवमाया-प्रपञ्च’ वा ‘पाखंड-विडम्बन’ में देख आए हैं। पाखंड-विडम्बन में केवल एक अंक है और ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ के आधार पर है। ‘कामना’ प्रसादजी का सर्वथा मौलिक नाटक है। इसमें उनकी कल्पना को कथावस्तु के निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्रता मिली है, क्योंकि उनके अन्य नाटकों की भांति इसमें इतिहास का बन्धन नहीं।

देखना यह है कि इस नाटक-रचना की प्रेरणा प्रसाद को कहां से मिली होगी। इस नाटक का रचनाकाल है संवत् १९८०-८१ वि०। यह समय भारत में महात्माजी के उपदेशों द्वारा नवजागरण का युग था, जिसमें रुई का झोटना, चर्खा कातना, कृषि-कार्य में हाथ बढ़ाना आवश्यक कार्यक्रम माना जाता था। त्याग और तपस्या, संयम और परिश्रम का महत्त्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता था। धनी-मानी व्यक्ति कामिनी, कांचन और कादम्बरी से विरत हो राष्ट्र-निर्माण के कर्मठ सेनानी बन रहे थे। सबके हृदय में यही कामना काम कर रही थी कि हम स्वतन्त्र और सुखी हों और विदेशी बन्धन से सर्वथा मुक्त हो प्रकृत जीवन-यापन करें। इस नवजागरण का प्रभाव कवि, कहानीकार और नाट्यकार पर पड़ना स्वाभाविक था। ‘कामना’ नाटक से प्रतीत होता है कि महात्माजी आधुनिक सभ्यता के जिस कृत्रिम जीवन से मानव-जाति को सावधान कर रहे थे, वह प्रसादजी को भी अप्रिय प्रतीत हो रहा था। उन्होंने इस नाटक को मानव-जाति के उस जीवन से प्रारम्भ किया है, जिसमें लोगों को प्रकृति से प्रेम था। समुद्र के किनारे फूलों के द्वीप में “हरे-भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढलकते हुए झरने, फूलों से लदे वृक्षों की पंक्ति, मोली गड्ढों और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड, धवल धूम और तारों से जगमगाती रात” को छोड़कर अन्यत्र जाने की उन्हें इच्छा भी न होती थी। उस द्वीप के लोग ‘यथालाभ संतुष्ट’ रहते थे, कोई किसीका मत्सर नहीं करता था। प्रकृति से मिली हुई-सी इस जाति में “महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं था।” यह जाति कपास झोटती, चर्खा चलाती और कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न से परिवार का पालन और अतिथि का सत्कार करती। समस्त जाति परिवार के सदृश सप्रेम निवास करती हुई उपासना-मन्दिर में पूजा करती। इस मन्दिर की व्यवस्थापिका थी ‘कामना’।

कालान्तर में विलास नामक एक परदेशी विदेश से आता है और द्वीप-निवासियों को स्वर्ण के प्रकाश में मानिक-मदिरा दिखाकर विलासी जीवन की प्रेरणा देता है। व्यय की प्रचुरता से अभाव का अनुभव होता है, जिसकी पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक समझी जाती है। वन-लक्ष्मी इसका विरोध करते हुए कहती है, “भाग, लोहे और रक्त की वर्षा की प्रस्तावना न करो।” इसी प्रकार वृद्ध विवेक भी बीच-बीच में विलास के प्रस्तावों का विरोध करता रहता है, किन्तु वन-लक्ष्मी और विवेक की बातें कोई नहीं सुनता। उन्हें पागल समझा जाता है। मद्यपान, जीवहिंसा और व्यभिचार का सर्वत्र प्रचार हो जाता है। शान्तिदेवी की हत्या की जाती है। करुणा व्याकुल हो वन में शरण लेती और जंगली फलों पर निर्वाह करती है। वह आधुनिक सम्म्यता का विवेचन करते हुए कहती है, “जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य है। मैं दूर से उन धनियों के परिवार का दृश्य देखती हूँ। वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गए हैं कि उसके बिना उनके बच्चे उन्हें प्यारे नहीं लगते।... मैं अपनी निर्धनता के आंसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटी में पड़ रहती हूँ।” सब सुख स्वर्ण के अधीन हो गए। हृदय का सुख सो गया। स्त्रियाँ वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हैं। सर्वत्र क्रूर, दम्भ, दुर्वृत्त अपने मत का प्रचार करते हैं। विवेक नगर-रूपी अपराधों के घोंसले से भाग जाता है। भागने से पूर्व जनता को चेतावनी देता जाता है कि “लौट चलो उस नैसर्गिक जीवन की ओर; क्यों कृत्रिम के पीछे दौड़ लगा रहे हो।”

फूलों के उस सुखी द्वीप में सर्वत्र अभाव, अशान्ति और दुःख ही दुःख है। उस द्वीप पर शासन करनेवाली रानी कामना का हृदय चंचल है। चांदनी के समुद्र में उसका मन मछली के सदृश तैरता है, किन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। सन्तोष के पूछने पर कामना कहती है, “मेरे दुःखों को पूछकर और दुःखी न बनाओ।” जहाँ की रानी इतनी खिन्नमना है वहाँ की प्रजा की क्या दशा होगी ! सेनापति विलास अपने एक सैनिक की स्त्री को बलात् पकड़कर ले जाता है। विलास की स्त्री लालसा एक सैनिक के साथ यह कहती हुई चल पड़ती है, “तुम्हारे सदृश पुरुष के साथ चलने में किस सुन्दरी को शंका होगी।” विलास अपनी स्त्री की दुर्वसना का समाचार सुनकर क्रुद्ध होता है और उसका वध करने को उत्सुक होता हुआ कहता है, “ओह, अविश्वासिनी स्त्री, तूने मेरे पद की गर्वादा, वीरता का गौरव और ज्ञान की गरिमा सब डुबा दी। जो चाहता है इस अतृप्त हृदय में छुरा डालकर नचा दूँ।”

शान्तिदेवी की मृत्यु के उपरान्त कई दुर्वृत्त मद्यप करुणा का पीछा करते हैं। वह अबला धर्म बचाने के लिए भागती जाती है, किन्तु मद्यप कब माननेवाले ! विवेक उसको बचाता है और भूकम्प के कारण मद्यपों का नगर विनष्ट हो जाता है। नाटक के अन्त में कामना अपने दुःखी राज्य से व्याकुल हो जाती है और अपने पिता विवेक की गोद में आश्रय लेती है। जनता विवेक का यह उपदेश ध्यान से सुनती है, “अनुष्यता की रक्षा के लिए, पाशवी वस्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गई, परन्तु उसकी

आइं में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब अपना दायित्व कम करेगी, जनता को, व्यक्ति को आत्मसंयम, आत्मशासन सिखाकर विश्राम लेगी।”

नाटक समाप्त होते-होते विलास और लालसा के अत्याचारों से पीड़ित जनता उन्हें अपने देश से निकाल देती है और वे एक नौका पर आरुढ़ होते हैं। जनता मदिरा के पात्र तोड़ डालती है और स्वर्ण की राशि फेंक-फेंककर नाव पाट देती है। लालसा क्रन्दन करती है कि “सोने से नाव डूबी, अब नहीं, बस।”

इस प्रकार फूलों के द्वीप से विलास की नई सम्यता भाग जाती है और द्वीपवासी विवेक के कथनानुसार कृत्रिमता से नैसर्गिकता की ओर मुड़ जाते हैं।

विचारणीय बात यह है कि जिस प्रकार ‘कामना’ नाटक में प्रसादजी ने आधुनिक विलासमयी सम्यता के प्रति विवेक का विद्रोह दिखाया है, उसी प्रकार रवि बाबू ने भी इसी वर्ष ‘रक्त करबी’ नाटक में उस विषाक्त सम्यता और शासन-प्रणाली के दोषों का दर्शन कराया है। प्रसाद का नाटक फूलों के द्वीप में प्रारम्भ होता है और रवीन्द्रनाथ का उस यक्षपुरी में, जिसका राजा स्वर्ण-संग्रह में अत्यन्त व्यस्त है। राज्य-प्रबन्ध का उसे अवकाश नहीं मिलता। प्रजा दासता में पड़ी है। दासता से मुक्त कराने के लिए नाटक की नायिका नन्दिनी अपने प्रियतम रंजन से प्रतिज्ञा करती है। नंदिनी एक प्रकार का लाल आभूषण अपनी बांहों, छाती और गले में पहनती है। किशोर एक दास-पुत्र है जो नित्य फूल एकत्र करता है, जिन्हें नंदिनी राजा के दरबार में ले जाती है और उसे प्रजा-रक्षा के लिए चेतावनी देती रहती है। राजा उसका प्रेम-भिलारी बनता है, किन्तु नंदिनी अस्वीकार करती है। राजा युक्तिपूर्वक रंजन का वध करवा देता है, किन्तु अन्त में पश्चात्ताप करता है और नन्दिनी से क्षमा मांगकर वर्तमान शासन-प्रणाली को परिवर्तित करता है।

इस नाटक का उद्देश्य बताते हुए एक समालोचक का कहना है :

“The rather severe satire in the play on the tyranny of a materialistic order of society, with all its ugliness and inhumanity is relieved by an exquisitely delicate sensibility and imaginative beauty. If the author has lashed materialism and worldly greed, it is with a silken whip.”^१

सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि भारत के दो प्रमुख नाटककारों ने एक ही समय में, एक ही लक्ष्य से, एक ही विषय को अपनी-अपनी भाषा में, अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी रचि के अनुसार प्रतीकात्मक रूप दिया है। अन्तर उनमें केवल इतना ही है कि प्रसाद ने पात्रों को मनोवृत्तियों, जैसे—लीला, वासना, करुणा आदि का नाम दिया है, किन्तु रवीन्द्रनाथ ने नन्दिनी, किशोर, रंजन आदि प्रचलित नामों से उनका उल्लेख

१. प्रवासी में यह नाटक सन् १९२४ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

२. दि बंगाली बुद्धा : पी. गुहा थाकुर्टा, पृ० २११-२१२।

किया है। प्रसाद का नाटक इस प्रकार के नामकरण के कारण तुरन्त ही प्रतीकात्मक प्रतीत होता है, किन्तु रवीन्द्रनाथ के नाटक को ध्यानपूर्वक मनन करने पर दूसरा अर्थ प्रतीयमान होता है। रवीन्द्रनाथ की रचना व्यंग्य होने के कारण काव्य-भर्मजनों की उम्ब-कोटि की प्रतीत होती है तो प्रसाद की रचना स्फुट होने के कारण सामाजिक के हृदय में सद्यःस्थान बना लेती है। दोनों के पात्र प्रतिदिन के परिचित प्राणी जान पड़ते हैं।

प्रसाद ने इसके पूर्व इतिहास की भित्ति पर व्यक्ति का चरित्र-चित्रण किया था, किन्तु इस नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों की चरित्र-भित्ति पर मानव-जाति की सम्यता और संस्कृति के विकास और ह्रास का इतिहास अंकित किया है। अन्य नाटक चरित्र-प्रधान हैं किन्तु 'कामना' संस्कृति-प्रधान है। अन्य नाटकों में इतिहास का बन्धन था, किन्तु इसमें प्रसाद की कल्पना को उड़ान का पूर्ण अवकाश था। इसी कारण इसकी कल्पना में प्रसाद का हृदय मुक्त रूप से मुखरित हो उठा है तथा सम्यता और संस्कृति का निखरा रूप प्रस्फुटित हो उठा है। इसके गानों में, इसके कथोपकथन में, प्रसाद का संयत मन रम गया है। भरतवाक्य में मानो उन्होंने अपना हृदय उड़ेलकर रख दिया है :

खेल लो नाथ विश्व का खेल ।

... ..

कहां रही प्यारी मानवता, बढ़ी फूट की बेल ॥

रुदन, दुःख तमनिशा निराशा,

इन द्वंद्वों का मिटे तमाशा ।

स्मित आनन्द उषा ओ' आशा एक रहें कर मेल ॥

इसके विषय में बाबू गुलाबराय का मत है कि "कामना में विचार-गम्भीरता है। सफल चरित्र-चित्रण है। भाषा में माधुर्य और कल्पना में कोमलता है। कामना का स्थान प्रसाद-साहित्य में और भी ऊंचा होना चाहिए।"

हमारा मत है कि इसमें संगीत है, विचार-गम्भीरता है, भाषा में माधुर्य है, किन्तु सफल चरित्र-चित्रण नहीं है। प्रतीक-नाटकों में मानवी चरित्र का चित्रण पूर्ण सफलता से कैसे दिखलाया जा सकता है ! जहां अन्तःकरण की प्रवृत्तियां पात्र के रूप में अभिनय करें, वहां क्रियात्मक रूप में मानव-चरित्र का चित्रण किस प्रकार सम्भव है ! दर्शक का ध्यान बार-बार मनोवृत्तियों की ओर जाता है और उसे ऐसा आभास होता है कि यह कथोपकथन स्वाभाविक नर-नारी का नहीं प्रत्युत मनोवृत्तियों का है। ऐसी भावना रस-परिपाक में बाधक होती है। हां, विशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन का यह उत्तम साधन अवश्य है। किन्तु इसमें दोष यह भी जाता है कि पात्रों का क्रिया-कलाप और वार्तालाप स्वाभाविक न होकर उपदेश-प्रधान बन जाता है। उदाहरणस्वरूप कामना में विवेक और विलास का वार्तालाप देखिए—“खेल था और खेल ही रहेगा। रोककर खेलो चाहे हंसकर। इस विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि,

सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वंद्व । तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फँलेगा । हंसने का काम भूल गए । पशुता का आतंक हो गया.....।”^१

उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उपदेशक मंच पर बैठकर उपदेश दे रहा हो । इन लम्बे उपदेशों से नाटक के रस-परिपाक में बाधा उपस्थित होती है । यही कारण है कि कुछ विद्वान इन प्रतीक-नाटकों को उत्तम नाटक न मानकर केवल नाटकीय साहित्य कहते हैं । रवि बाबू के प्रतीक-नाटकों के सम्बन्ध में मि० एडवर्ड थ्याम्पसन का कहना है कि “a tiresome insistence on the tremendous significance of the trivial.”

इसी प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय भी रवीन्द्रनाथ के प्रतीक-नाटकों की समालोचना करते हुए उसमें नाना प्रकार की अस्पष्टता का दोष दिखाया करते थे । द्विजेन्द्रलाल राय के निम्नलिखित लेखों से उक्त मत की पुष्टि होती है :

“Expressionism in literature.” “The enjoyment of literature.”^२ “Ethics in literature.”^४

‘कामना’ में जिस प्रतीकात्मक शैली का सूत्रपात हुआ है, वह आगे चलकर ‘आँसू’ (काव्य), ‘प्रतिध्वनि’ (कहानी) और ‘एक घूंट’ (नाटक) में विकसित हुई है और वही कामायनी में पूर्ण प्रस्फुटित हो उठी है ।

स्कन्दगुप्त (सं० १६८५ वि०)

नाटक की प्रेरणा

प्रसादजी ने ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ के उपरान्त ऐतिहासिकता की दृष्टि से ‘स्कन्दगुप्त’ की रचना की । दोनों नाटकों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ‘स्कन्दगुप्त’ का बीज ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ में ही विद्यमान है । प्रसाद ‘नागयज्ञ’ का अन्त व्यासजी के इस अन्तिम वाक्य से करते हैं, “सामगाम की मीड़ें लहरा उठें”^५ । हम ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक में व्यास की इस अभिलाषा को पूर्ण होते पाते हैं । ‘स्कन्दगुप्त’ के तीसरे अंक में जूनों को पराजित करने पर भीमवर्मा कहता है, “लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छदतापूर्वक सामगान होने लगा ।”^६

उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रमाणित होता है कि व्यास-वाणी के सत्य होने का एक

१. जयशंकर प्रसाद, कामना नाटक, अङ्क ३, दृश्य ८

२. Prabasi, Kartik 1312

३. Bang Darshan, Magh 1313 B. S.

४. Sahitya Jyoti, 1326

५. जनमेजय का नागयज्ञ, जयशंकर प्रसाद, पृ० १०८

६. स्कन्दगुप्त, जयशंकर प्रसाद, पृ० १०५

अबसर भारत देश में आया। इस अबसर को लाने में प्रकृति के वे नियम सहायक हैं, जिनकी ओर स्वतः व्यासजी ने संकेत किया है, “किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम-विकास है।”

इसी प्राकृतिक नियम के आधार पर प्रसादजी के नाटकों में दार्शनिक विचार-धारा सदा अबसर होती रही है। प्रसाद को व्यास की भविष्यवाणी को चरितार्थ करने का अबसर गुप्तकाल में मिल गया और इस काल के इतिहास के सम्यक् आलोड़न से स्कन्दगुप्त जैसा पात्र उनके हाथ लगा। गुप्त-वंश में भागवत धर्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चला था। अतः प्रसाद ने व्यास की कामना-पूर्ति के लिए स्कन्दगुप्त को इसका प्रतीक बनाया।

नाटकत्व का विवेचन

‘स्कन्दगुप्त’ में प्रसाद के अन्य नाटकों से कई विशेषताएं मिलती हैं। ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक के वस्तु-विन्यास में प्रसाद की प्रतिभा सजीव हो उठी है और उनकी नाट्यकला ने अपना अपूर्व कौशल दिखाया है। इस नाटक में भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य-कलाओं का सहज समन्वय है। पाश्चात्य नाट्यकार कथावस्तु में वैचित्र्य को प्रधान स्थान देते हैं। प्रसाद के इस नाटक में भी कथा-वैचित्र्य का पूर्ण विधान है। कथा-प्रवाह चलते-चलते एक ऐसा आकर्षक उत्पन्न कर देता है कि विश्वासघात के कारण स्वयं नायक स्कन्दगुप्त भी सहसा उसमें ग्रस्त हो जाता है। वह भट्टार्क के विश्वास में पड़ कुंभा की लहरों में बह जाता है। सामाजिक को ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी नाटकों की तरह स्कन्दगुप्त का भी पर्य-वसान शोकांत ही होगा। यदि नाटक यहीं समाप्त हो जाता तो अंग्रेजी नाट्य-शैली की भांति यह एक हृदयद्रावी शोकांत बन गया होता, किन्तु उस दशा में भारतीय पद्धति का निर्वाह न हो पाता। इसी कारण प्रसादजी ने दो और अंकों की योजना करके इसे कल-सुखान्त (‘ट्रैजिकोमिडी’) का रूप दे दिया है। प्रथम तीन अंकों में क्रिया-कलाप जिस वेग से गतिमान होता रहता है, वह चौथे और पाँचवें अंक में धीरे-धीरे शिथिल हो जाता है। यदि अन्त तक उसी रूप में उसका निर्वाह हो गया होता तो इस नाटक की हृदयप्राप्ति और भी बढ़ जाती।

भारतीय लक्षण-अंशों की कसौटी पर भी यह नाटक खरा उतरता है। इस नाटक में कार्यविस्था, अर्थ-प्रकृति तथा संधियों का निर्वाह एवं रस का परिष्कार सम्यक् रीति से हुआ है। नाटक में प्रत्येक अंक का प्रारम्भ आकर्षक और मनोहारी तो है ही, प्रत्येक अंक की परिसमाप्ति भी ऐसे प्रभावशाली स्थलों पर होती है जो लक्ष्य की ओर बढ़ने में स्वाभाविक विश्रामगृह का कार्य करते हैं। प्रत्येक अंक के अन्त में पाठक को ऐसी क्षांति मिलती है मानो वह जीवन-यात्रा के एक ऐसे पड़ाव पर पहुँच जाता है, जहाँ किसी न किसी दिव्य रूप का दर्शन उसे मिल जाता है। ‘स्कन्दगुप्त’ के दो अंक प्रारम्भ और प्रयत्न नामक कार्या-वस्था तथा अंग्रेजी शैली के प्रारम्भ और विकास को सूचित करते हैं। तीसरे अंक की

परिसमाप्ति तक लक्षण-ग्रंथों के अनुसार प्राप्यावस्था स्थापित हो जानी चाहिए, किन्तु इस नाटक में प्राप्यावस्था स्पष्ट न करके प्रसाद ने पाश्चात्य शैली की चरम सीमा (Climax) ही का निर्वाह किया है। इस स्थल पर स्कन्दगुप्त कष्ट, विरोध और अनिष्ट की पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। इसी प्रकार चौथे अंक में फल-प्राप्ति को सुदृढ़ निश्चय की ओर प्रेरित हो जाना चाहिए, किन्तु इस अंक के अन्त तक एकाकी स्कन्दगुप्त को निस्सहाय रूप में ही दिखाया गया है। उसकी समस्त शक्तियाँ विश्रुंखल पड़ी हैं, प्रबल विरोधी संघदल विदेशी हूणों से अभिसंधि द्वारा गुप्त-साम्राज्य की जड़ हिला देने को सन्नद्ध है। यद्यपि विजया और अनन्तदेवी में परस्पर मनोमालिनी की सृष्टि से कलह के कारण विरोधी दल की शक्ति के क्षीण होने का संकेत मिलता है, और इस प्रकार नियताप्ति का प्रच्छन्न प्रतिपादन किया गया है, किन्तु पाश्चात्य शैली की नियति भारतीय नियताप्ति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट झलक उठती है।

नाटक के पंचम अंक में विरोधी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। समस्त विरोधी वर्ग क्षमा-याचना करता है और भारत का अन्तर्विद्रोह एवं बाह्य विद्रोह शांत हो जाता है। बंदी खिगिल मुक्त कर दिया जाता है और वह सिन्धु नद के इस ओर न आने की प्रतिज्ञा करता है। गुप्त-साम्राज्य सुरक्षित हो जाता है। त्यागवीर स्कन्द युद्ध में ही पुरगुप्त को रक्त का तिलक देकर सम्राट घोषित करता है। इस प्रकार 'फल-प्राप्ति' की स्थिति प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से प्रसाद के इस नाटक में यूरोपीय और भारतीय नाट्यकलाओं का सहज समन्वय है।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त 'स्कन्दगुप्त' की सर्वप्रियता का एक और कारण है। इस नाटक में हमें मनुष्य का पूर्णता पर पहुँचने का एक मार्ग दिखाया गया है, जिसे हम भागवत धर्म कहते हैं। यह शाश्वत प्रश्न है कि सम्पूर्ण मनुष्यता है क्या ? प्रसाद एक पात्र से कहलाते हैं, "जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही सम्पूर्ण मनुष्यता है।" वह काल्पनिक देवत्व-प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। एक पात्र कहता है, "इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसीपर देवताओं का निवास हो सकता है।" गौतम और कृष्ण ईश्वर के अवतार मान लिए गए हैं। उन्हें मानव-रूप में सोचना कठिन हो गया है, किन्तु स्कन्दगुप्त को उस पूर्ण मानव की स्थिति तक हम उसके कर्मों द्वारा पहुँचते हुए देखते हैं। पूर्ण मनुष्य है कौन ? जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।

नाटक के प्रारम्भ का एक कर्मभीरु उदासीन युवक, स्कन्दगुप्त, देवत्व की इस भूमि पर किस प्रकार पहुँच जाता है, यह विचारणीय विषय है।

नाटक के प्रारम्भ में हम स्कन्दगुप्त को एक उदासीन व्यक्ति के रूप में पाते हैं। 'उसे अधिकार-सुख मादक और सारहीन' प्रतीत होता है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या यह उदासीनता उपनिषद्-काल की मैत्रेयी की उदासीनता है, 'येनाहमनामृतं स्यात्

तेनाहं किं कुर्याम्'। स्कन्दगुप्त के ही वाक्यों से इसका उत्तर मिल जाता है कि मैंनेयी की तरह उसकी विरक्ति नहीं। स्कन्दगुप्त कहता है, "इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति; केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है कि सबकी, विश्व-भर की शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ। यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता।"

इस प्रकार स्कन्दगुप्त प्रारम्भ में एक साधारण सुन्दर युवक के रूप में दिखाई पड़ता है, जिसको अपने हृदय में अशान्ति, परिवार में अशान्ति और राज्य में अशान्ति देख-कर विराग-सा हो रहा है। यह ठीक वही स्थिति है जो अर्जुन की युद्ध-क्षेत्र में हुई थी। अर्जुन के सदृश स्कन्दगुप्त भी पर्णदत्त से कहता है, "अधिकार का उपयोग किसलिए?" पर्णदत्त उत्तर देता है, "वस्तु प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए।"

पर्णदत्त के प्रोत्साहन का स्कन्दगुप्त पर प्रभाव पड़ा। उसने निःस्वार्थ भावना से युद्ध-क्षेत्र में भाग लिया। उसने अत्याचारी हूणों से देश की रक्षा की, नारी का सतीत्व बचाया और आतंक व्यक्तियों की रक्षा की। उसकी सदाशयता से विपक्षी भट्टार्क, पुरुगुप्त, अनन्तदेवी और खिंगिल अपने-अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप कर उसके भक्त बन गए। क्षात्र-धर्म की इससे बढ़कर विजय दूसरी क्या हो सकती है?

इसमें दूसरा क्षत्रिय-प्रवर वीर पर्णदत्त है। इस महाबलाधिकृत को कर्तव्य-पालन करते हुए नियति ऐसा अपेड़ा लगाती है कि इसे सूखी रोटियों द्वार-द्वार भिक्षा के रूप में मांगनी पड़ती है, किन्तु वह अधीर नहीं होता। कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि पर टहलता हुआ कहता है, "नहीं पर्ण, रोना मत, एक बूंद भी आंसू आंखों में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था।"^१

सच्चे हृदय से कर्तव्य-कर्म करते चलना और ईश्वर को न भूलना यही तो वर्णाश्रम धर्म है। इस धर्म में कभी-कभी आपद्धर्म भी आ जाता है। क्षत्रिय-धर्म भिक्षा मांगना नहीं है, किन्तु वह भिक्षा मांगता है दुर्दशाग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए। वह कहता है कि "मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रखना भगवान।"^२

पर्णदत्त ने अभिलाषा प्रकट की थी कि "गरुडध्वज की छाया में आर्य-साम्राज्य की रक्षा करते-करते प्राण विसर्जन करूँ।" उसकी यह इच्छा पूर्ण हुई और खिंगिल से युवराज स्कन्दगुप्त की रक्षा करते-करते वह वीर युद्धक्षेत्र में दिवंगत हुआ। इससे बढ़कर एक आदर्श क्षत्रिय का चरित्र क्या होगा।

इस नाटक में युद्ध के लिए प्रोत्साहन देनेवाला एक बौद्ध भिक्षु प्रपंचबुद्धि है, सद्धर्म-

१. स्कन्दगुप्त, पंचम अंक, पृष्ठ १४६

२. वही, पृष्ठ १४७

रक्षा के नाम पर लोगों को हिंसा के लिए प्रेरित करता है। कर्म की आवश्यकता बताते हुए कहता है, “तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नमन रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्धक्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र समर्पण करके जीने से क्या लाभ ! तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म। मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है। यही न ?”

प्रपंचबुद्धि के लिए कर्म की कसौटी परिणाम है। वह कहता है, “हम कर्म की जांच परिणाम से करते हैं।” इस प्रकार स्वर्णसिद्धि के लिए हत्या और युद्ध में शत्रु-संहार को एक समझकर प्रपंचबुद्धि अन्तर्विद्रोह का केन्द्र बनता है और हूणों से मिलकर देश पर बाहरी आक्रमणकारियों को निमन्त्रित करता है। प्रपंचबुद्धि के पथ के अनुगामी हैं— पुरगुप्त, भट्टार्क, अनन्तदेवी, सर्वनाग, विजया और खिगिल। पर्णदत्त के मार्ग पर चलने-वाले हैं—स्कन्द, बन्धुवर्मा, चक्रपालित, पृथ्वीसेन, देवकी, देवसेना, कमला और रामा। इस प्रकार नाटक की कथा जीवन के दो भिन्न-भिन्न कर्म-सिद्धान्तों से आद्योपान्त संचालित होती है। पर्णदत्त और उसके सहयोगी गीता-विहित ‘मामनुस्मर युध्य च’ की धारणा लेकर युद्ध में संलग्न हैं और प्रपंचबुद्धि और उसके अनुयायी परिणाम को ही लक्ष्य बनाकर नाना प्रकार के मनमाने कर्म करते हैं। प्रथम वर्ग उदारता, पवित्रता और ईश्वर में विश्वास करता चलता है तो दूसरा संकीर्णता, कालुष्य और षड्यन्त्र के बल पर सबको प्रतारणा देता चलता है। प्रथम पक्ष को पर्णदत्त जैसे वीर, देवकी जैसी सती और पुत्रवत्सला माता का बलिदान करना पड़ता है, तो दूसरे पक्ष को अन्त में पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। द्वितीय पक्ष के सभी व्यक्तियों को पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्षमा मांगनी होती है। इस प्रकार परिणाम की कसौटी पर परखने से भी त्यागमय बुद्धि से किए गए कर्म की महत्ता प्रमाणित हो जाती है और वर्णाश्रम धर्म के प्रति आस्था जागरित हो जाती है। परम भागवत धर्म का पालन करके इसकी महत्ता स्थापित करनेवाले स्कन्दगुप्त तभी तो ‘परम भागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः, तत्पादानुध्यातो परम भागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्तः’^१ नाम से प्रसिद्ध हुए।

अन्य नाटकों से इस नाटक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें गुप्तकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ समसामयिकता की गहरी छाप झलकती है। नाटक-रचनाकाल में भारत स्वातन्त्र्य-युद्ध के विरोधियों को प्रबल बनानेवाले धार्मिक कलह और संकीर्ण भावों की ओर जैसा संकेत इस नाटक में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र नहीं। पृथ्वीसेन, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा जैसे रत्नों के बलिदान के कारण ही किसी काल में देश का गौरव बढ़ता है। देश-रक्षा का सबसे आकर्षक स्वर इस नाटक में सुनाई पड़ता है। भारत का गौरव-गान घातुसेन जिन शब्दों में करता है, वे इसकी महत्ता के प्रमाण हैं।

१. Bihar Stone Pillar Inscription of Skandgupta—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III, Plate 12, p. 20

इस नाटक में नारी-पात्रों का विशेष महत्त्व है। इसमें पुरुष की पथ-प्रदर्शिका प्रायः नारी ही है। रामा सर्वनाग को, कमला भट्टार्क को सत्पथ दिखाती है। देवसेना स्कन्दगुप्त को क्षणिक दुर्बलता से ऊपर उठाती है। मानव की कोमल कल्पनाओं तथा सत्प्रवृत्तियों की साक्षात् भूति देवसेना नारी जाति को गौरवान्वित करनेवासी है। नाट्य-साहित्य में नारी की इतनी उच्च कल्पना प्रसादजी की सबसे बड़ी देन है।

विशेषताएं

‘स्कन्दगुप्त’ में प्रसाद ने पहले-पहल इस तथ्य को अपनाया है कि ऐतिहासिक नाटकों में राजनीतिक घटनाओं के साथ-साथ पारिवारिक घटनाएं भी जीवन पर प्रभाव डालती चलती हैं। इसके पूर्व विरचित नाटकों में कथानक का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है। ‘भजात-क्षत्रु’ और ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ में राजनीतिक कार्यों का प्रसार उतना विस्तृत नहीं है, जितना ‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ में। ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक में समस्त उत्तर भारत स्कन्दगुप्त की और आशा-भरी दृष्टि से देख रहा है। उसका कार्य-क्षेत्र कुंभा-तट से लेकर सुदूर पूर्व तक बन जाता है। इतने विस्तृत प्रदेश में कार्य करते हुए उसे देवसेना और विजया का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार बाह्य कोलाहल के साथ आन्तरिक द्वन्द्व का भी उसे सामना करना पड़ता है। यह प्रेम की धारा अन्तःसलिला सरस्वती के समान कभी प्रकट और कभी गुप्त रूप से निरन्तर बहती रहती है। इस प्रकार भाजीवन कौमारव्रत पालन करनेवाले इस आदर्श वीर देवदत्त में वीरता और प्रेम, राज्य-प्राप्ति और त्याग, दोनों का साथ-साथ मिलन अत्यधिक आकर्षक बन जाता है।

चन्द्रगुप्त (संवत् १९८८ वि०)

प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में प्रकट होता है। इसमें उनकी ऐतिहासिक शोध-शक्ति जितनी प्रस्फुटित हुई है, उतनी ही उनकी काव्य-प्रतिभा भी प्रखर हो उठी है।

‘चन्द्रगुप्त’ का रचनाकाल संवत् १९८८ वि० है। इससे पूर्व इस कथानक को लेकर इनकी ‘कल्याणी-परिणय’ नाटिका का प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में संवत् १९६९ वि० में हुआ था। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इसी प्रसंग पर पुनः नाटक लिखने की प्रेरणा प्रसाद को क्यों हुई? इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह है कि उक्त नाटिका को उन्होंने देश-काल के अनुसार अब अपर्याप्त समझा हो, अथवा दूसरा यह कि १९ वर्ष की इस दीर्घ अवधि में अन्य नाटकों की रचना के उपरान्त, इस नाटक की रचना में संशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। प्रसाद की ‘राज्यश्री’ के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि उन्होंने दूसरी भावृत्ति में इसका आमूल परिवर्तन कर दिया था। जिस प्रकार प्रथम विरचित ‘राज्यश्री’ से वर्तमान ‘राज्यश्री’ नितान्त भिन्न है, उसी प्रकार ‘कल्याणी-परिणय’ से ‘चन्द्रगुप्त’ सर्वथा पृथक् है। ‘चन्द्रगुप्त’ में प्रसाद की सबसे बड़ी देन है

चाणक्य । 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य न 'कल्याणी-परिणय' का चाणक्य है न 'मुद्राराक्षस' का । 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य न 'पुरुविक्रम'^१ का चाणक्य है न द्विजेन्द्रलाल के 'चन्द्रगुप्त' का ।

यह चाणक्य वस्तुतः वह ब्राह्मण है, जिसकी भविष्यवाणी व्यासजी ने 'जनमेजय का नागयज्ञ' में इस रूप में की थी, "महात्मा ब्राह्मणों की विबुद्ध ज्ञानधारा से यह पृथ्वी अनन्तकाल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा ।"^२

उपर्युक्त उद्धरण में व्यासजी ने तीन बातों की ओर संकेत किया है : (१) लोगों को परमात्मा की उपलब्धि, (२) ब्राह्मण के द्वारा लोक में कल्याण और (३) लोक में शान्ति । हम देखते हैं कि प्रसाद का चाणक्य अत्याचारी नन्द तथा विदेशी यूनानियों के अत्याचार और आक्रमण से राष्ट्र का उद्धार करके लोक में शान्ति की स्थापना करता है । यह है उसका बुद्धि-वैभव । लोक-मंगल की कामना वह अपने त्याग और तप के बल से इस प्रकार करता है, "[आँख खोलता हुआ] कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है ! भगवान् सविता ! तुम्हारा आलोक जगत् का मंगल करे । मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ । आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है । चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है ।"^३

अब तक प्रसाद बौद्धों के विहार-जीवन से पर्याप्त परिचित हो गए थे ।^४ उन्होंने यह भी देख लिया था कि संयमी और कठोर ब्राह्मणों में धर्म-व्यवस्था के प्रति जो आस्था है वह अत्याचार के निवारण और लोक के कल्याण के निमित्त ही है । उसके बिना वास्तव में मानव को सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती । ब्राह्मणों का जो ह्रास उनके चारों ओर दिखाई देता था और उसके कारण राष्ट्र का जो अमंगल हुआ अथवा हो रहा था, उसका निदर्शन उन्होंने नागयज्ञ में कर दिया था । अब उनके हृदय में फिर उस ब्राह्मणत्व की भावना जगी, जिसके द्वारा उन्हें लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार सम्भव दिखाई पड़ा । आश्चर्य नहीं, चाणक्य उसी ब्राह्मणत्व का प्रतीक हो ।

चन्द्रगुप्त की प्रेरणा का जो भी कारण रहा हो, यह तो स्पष्ट ही है कि चाणक्य के ब्राह्मणत्व को जो रूप प्रसाद ने दिया वह न तो विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में उपलब्ध होता है न राय बाबू के 'चन्द्रगुप्त' में पाया जाता है । यह तो प्रसाद की वह अनुपम सूक्ष्म है, जिसकी सफलता पर सहृदय स्वतः मुग्ध हो उठता है ।

१. 'पुरुविक्रम' बंगला का प्रसिद्ध नाटक है । इसकी रचना संवत् १९३२ विक्रम में हुई । नाट्यकार ज्योति-रिन्द्रनाथ ठाकुर हैं । इस नाटक का अभिनय ग्रेट नेशनल थियेटर में ३ अक्तूबर, सन् १८७५ ई० को हुआ ।

२. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० १०८

३. चन्द्रगुप्त नाटक, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २०८

४. कहा जाता है कि सारनाथ की मूलगन्ध कुटीर में, प्रसादजी उद्घाटन के समय गए थे ।

‘प्रसाद’ और द्विजेन्द्रलाल राय

हम पूर्व लिख आए हैं कि ‘प्रसाद’ का चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से पृथक् होने पर भ्रन्तनिहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि करता है, किन्तु द्विजेन्द्रलाल राय का चाणक्य चन्द्रगुप्त से बिलग होने पर पागल जैसा इस प्रकार प्रलाप करता है :

“चाणक्य—बुद्धि, बुद्धि, सुनते-सुनते बहरा हो गया हूं……।

कात्यायन—तुम क्या पागल हो गए हो चाणक्य ?

चाणक्य—(कुछ देर रहकर) कैसा सुन्दर प्रातःकाल है ! पृथ्वी विवाह के लिए तैयार हुई कन्या की तरह ऐसी सजी हुई है ।……और केवल मैं ही द्वार पर भिक्षु के समान खड़ा हुआ उसे देख रहा हूं ।

कात्यायन—चाणक्य ! चाणक्य ! !

चाणक्य—संसार में अमृत-समुद्र का ज्वार आ रहा है और मैं पंगु के समान तापित तृषित हृदय से किनारे पर खड़ा हुआ छटपटा रहा हूं, तपोवन की भूमि में शूकर के समान तलैया की कीच में लोट रहा हूं ।”^१

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से चाणक्य के चरित्र-चित्रण में अन्तर स्पष्ट हो जाता है । प्रसाद का चाणक्य प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर रहा है । वह राज-सुख के साथ ही अपनी परम प्रेयसी सुवासिनी को भी त्यागकर सन्तुष्ट है, किन्तु द्विजेन्द्रलाल का चाणक्य राजसुख से वंचित होने के कारण इतना विकल और व्याकुल है कि अपने को ‘तलैया की कीच में लोटनेवाला शूकर’ समझने लगता है । प्रसाद ने चाणक्य को देवत्व तक प्राप्त करा दिया है, जैसा उनका सिद्धान्त है कि ‘मनुष्य निष्काम कर्म करने से देवत्व प्राप्त करता है ।’ प्रसाद के चाणक्य ने जो कुछ किया, राष्ट्रहित की प्रेरणा से प्रेरित होकर निष्काम बुद्धि से । इसी प्रकार कर्म करने से वह ब्राह्मणत्व अर्थात् देवत्व की प्राप्ति करता है ।

‘प्रसाद’ और ‘राय’ दोनों के चाणक्य अपमान के कारण नन्द से रुष्ट हैं, किन्तु प्रसाद का चाणक्य व्यक्तिगत द्वेष को राष्ट्रहित में विलीन कर देता है । वह नन्द की हत्या करनेवाले नगरवासियों को रोककर नन्द से कहता है, “हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिए भिक्षा मांगकर तुम्हें जीवन-दान दे सकते हैं ।……नागरिकबन्ध ! आप लोग आज्ञा दें, नन्द को जाने की आज्ञा दें ।” इसके विरुद्ध राय का चाणक्य चन्द्रकेतु के रोकने पर भी कात्यायन को नन्द-वध के लिए प्रेरित करता है । इतना ही नहीं, उसकी निष्ठुरता उस समय सीमा को पहुंच जाती है, जब वह मृतक नन्द के रक्त से रंगकर अपनी चोटी बांधता है । शत्रु के मृतक होने पर साधारण व्यक्ति भी प्रतिहिंसा की भावना त्याग देता है, चाणक्य जैसे ब्राह्मण का यह कृत्य क्या प्रशंसनीय हो सकता है ?

१. चन्द्रगुप्त नाटक, तृतीय अंक, पृ० १४३

२. चन्द्रगुप्त नाटक, पृ० १४६

प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के मध्य एक स्थल पर चाणक्य में दुर्बलता दिखालाई है, जहाँ वह वासना के बश हो जाता है। चाणक्य सुवासिनी की ओर इस दृष्टि से देखता है कि सुवासिनी को कहना पड़ता है, “यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने बश में करने का संकल्प रखते हो, फिर अपने को नहीं। देखो दर्पण लेकर, तुम्हारी छाँवों में तुम्हारा यह कौन-सा नवीन चित्र है।”^१

ब्राह्मण चाणक्य इस क्षणिक दुर्बलता से मुक्त हो पुनः अपने राष्ट्रहित के कार्य में संलग्न हो जाता है। यह दुर्बलता यदि नाटक में न दिखाई गई होती तो हम उसे मनुष्य कैसे कह पाते ! वह तो अलौकिक शक्ति का अवतार ही समझा जाता। निश्चय ही सुवासिनी के इस प्रसंग में हम चाणक्य के हृदय का साक्षात्कार करते हैं और यह प्रत्यक्ष देख लेते हैं कि इसमें कितनी कोमलता है, क्योंकि प्रसाद ने इस कथन के द्वारा स्पष्ट करा दिया है, “वह क्रूर है केवस वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं।”

प्रसाद की दृष्टि से ब्राह्मण का आदर्श है, “भेष के समान मुक्त वर्षा से जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना।” प्रसाद का चाणक्य सम्पूर्ण नाटक में इस आदर्श का पालन करता हुआ माया-स्त्रुपों को ठुकराता चलता है।

इसके प्रतिकूल ‘राय’ का चाणक्य षड्यन्त्रों में तल्लीन और ईर्ष्या-द्वेष से जर्जरित क्रूरकर्मा ही रह जाता है। अन्त में अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप अवश्य करता है, किन्तु ब्राह्मणत्व की उपलब्धि नहीं कर पाता।

इसी प्रकार ‘प्रसाद’ का चन्द्रगुप्त ‘राय’ के चन्द्रगुप्त से कहीं अधिक स्वावलम्बी, धीर और पराक्रमी है। रुष्ट होकर चाणक्य के चले जाने पर वह व्याकुल नहीं होता। सिंहरण भी जब चाणक्य को ढूँढ़ने चला जाता है तो चन्द्रगुप्त कहता है, “पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला चिर-सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ा, और रहेगा।”^२

इसके विरुद्ध ‘राय’ का चन्द्रगुप्त मानो चाणक्य के आधार पर ही टिका है। रुष्ट होकर उससे विलग होने पर शत्रुओं से घिरने पर कहता है, “मैं युद्ध नहीं करूँगा। स्वयं अपने से बदला लूँगा। मैं आत्महत्या करूँगा।”^३

प्रसाद और राय दोनों ने सिल्यूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। प्रसाद ने उसका नाम कार्नेलिया और राय ने हेलेना रखा है। प्रसाद की कार्नेलिया में राय की हेलेना से कई विशेषताएँ हैं—कार्नेलिया भारत की दार्शनिकता के साथ-साथ चन्द्रगुप्त के रूप-गुण पर भी मुग्ध है; उसकी प्रेम-परीक्षा के लिए सुवासिनी का वार्तालाप

१. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, चतुर्थ अंक, पृ० १६१

२. चन्द्रगुप्त, प्रसाद, चतुर्थ अंक, पृ० १७१

३. चन्द्रगुप्त, द्विजेन्द्रलाल राय, चतुर्थ अंक, पृ० १०४

इसका प्रमाण है कि वह चन्द्रगुप्त से विवाह करने को साक्षात् है। इसके विपक्ष राय की हेलेना में यूनान और भारत को सम्मिलित करने की भावना इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रगुप्त के साथ अपने विवाह को विश्व-मंगल के लिए अपना बलिदान समझती है। सिल्यूकस उसके इस कार्य से इतना रुष्ट है कि वह विवाहोत्सव में सम्मिलित नहीं होता। इसके विपरीत प्रसाद का सिल्यूकस कहता है, “तब आओ बेटी……आओ चन्द्रगुप्त।”

राय बाबू ने छाया और हेलेन के वार्तालाप^१ द्वारा बहुपत्नीत्व के नए रूप को प्रदर्शित किया है। कदाचित् इसी कुप्रथा को बचाने के लिए प्रसाद ने मानविका का भूक बलिदान करा दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि द्विजेन्द्रलाल राय का ‘चन्द्रगुप्त’ कुछ नवीन विचारों को लेकर अवतरित हुआ था, तथापि ‘प्रसाद’ को उससे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने उसको कुछ और ही भावार्थ दे दिया। ‘प्रसाद’ ने ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय-वंशी प्रमाणित किया। राय महोदय ने इतिहास के अनुसन्धान की चिन्ता न करके उसके अनुरूप अपना नाटक बना दिया। ‘राय’ ने अपने नाटक के द्वारा विश्व-प्रेम का प्रदर्शन किया है तो ‘प्रसाद’ ने राष्ट्र-प्रेम और विश्व-प्रेम का सच्चा सामंजस्य किया है। दोनों का अपना-अपना दृष्टिकोण है।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त की तुलना

हम पूर्व कह आए हैं कि प्रसाद के ये दो नाटक उनकी नाट्यकृतियों में विशेष महत्त्व रखते हैं। अब इन दोनों की तुलना करके यह देख लेना चाहिए कि इनमें श्रेष्ठतर कौन है ?

शास्त्रीय दृष्टि से ‘स्कन्दगुप्त’ ‘चन्द्रगुप्त’ से अधिक सफल इसलिए भी है कि चन्द्रगुप्त के चार अंकों में दृश्य-संख्या उत्तरोत्तर इस प्रकार बढ़ती गई है कि चतुर्थ अंक में सोलह दृश्य बन जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिए। यदि यह नाटक पांच अंकों में समाप्त किया गया होता और पांचवां अंक सिल्यूकस के अभियान की नई घटना से प्रारम्भ किया गया होता तो उपर्युक्त दोष दूर हो जाता। कहा जाता है कि प्रसादजी के मन में इसे पांच अंकों द्वारा समाप्त करने का विचार था, किन्तु किसी कारण-वश वे ऐसा कर न सके।

‘चन्द्रगुप्त’ में दूसरा दोष यह है कि इसकी नायिका की समस्या अन्त तक जटिल बनी रहती है। कार्नेलिया प्रथम अंक में एक बार रंगमंच पर दर्शन देकर चली जाती है और पुनः चतुर्थ अंक के सातवें दृश्य में सामाजिकों के सम्मुख आती है। इस प्रकार नायिका नाटक में जितने प्रमुख स्थान की अधिकारिणी होती है, उतना उसे प्राप्त नहीं होता।

१. “आओ बहिन, हम दोनों नदियां एक ही सागर में जाकर लीन हों।……काहे का दुख है बहिन एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते हैं ?”

—चन्द्रगुप्त, द्विजेन्द्रलाल राय, पंचम अंक, पृ० १३३

इसके प्रतिकूल स्कन्दगुप्त में देवसेना आखोपान्त समय-समय पर अपने अलौकिक गुणों तथा अद्वितीय आकर्षणसहित सामाजिकों के सम्मुख आती रहती है।

कथानक की दृष्टि से भी 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' की अपेक्षा अधिक सफल है। स्कन्दगुप्त की घटनाओं में चन्द्रगुप्त की अपेक्षा कहीं अधिक आरोहावरोह विद्यमान है। चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना शिथिल है और उसमें काल-संकलन का अभाव खटकता है। पन्चीस वर्षों की दीर्घ अवधि की घटनाओं को संकलित करती हुई चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना काल-संकलन की दृष्टि से अधिक सफल नहीं प्रतीत होती। इस कारण भी 'स्कन्दगुप्त' की सन्धि-योजना 'चन्द्रगुप्त' की अपेक्षा अधिक रम्य हो गई है।

ध्रुवस्वामिनी (संवत् १६६० वि०)

यह नाटिका प्रसादजी की अन्तिम कृति है। इसकी रचना में पूर्ववर्ती नाटकों की पद्धति परिवर्तित प्रतीत होती है। इस नाटिका में इतिहास-प्रसिद्ध गुप्तवंश की वह घटना कथावस्तु बनाई गई है, जिसमें स्त्री का पुनर्विवाह कराया गया है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—महाराज समुद्रगुप्त के दो पुत्र हुए, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त के शौर्य पर प्रसन्न होकर महाराज समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त को युवराज-पद प्रदान करना चाहते हैं, किन्तु चन्द्रगुप्त अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त के लिए यह वंशव त्याग देता है। इसी प्रकार उस काल की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी के वाग्दत्ता होने पर भी उसका परिणय रामगुप्त के साथ स्वीकार करता है। रामगुप्त ऐसा विलासी, कायर और कुल-कलंकी निकलता है कि आक्रमणकारी शकों से युद्ध न करके हिजड़ों, कुबड़ों और सुन्दरियों के मध्य जीवन व्यतीत करने लगता है और शकों से सन्धि करने के लिए अपनी धर्मपत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के हाथों में समर्पित करने को प्रस्तुत हो जाता है। चन्द्रगुप्त कलंक-सागर में गुप्तकुल-यश को निमग्न होते देख स्त्री-वेश में ध्रुवस्वामिनी के साथ शकराज के पास जाता है, और उसका वध करके लौटता है। ध्रुवस्वामिनी की अोज-स्विता से प्रभावित होकर सामन्तवर्ग रामगुप्त का विरोध करता है। परिणाम यह होता है कि एक सामन्त रामगुप्त का वध कर देता है और पुरोहितों की शास्त्रविहित सम्मति से विधवा ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होता है। चन्द्रगुप्त सम्राट और ध्रुवस्वामिनी महादेवी बनती है।

उपर्युक्त कथानक से दो बातें स्पष्ट होती हैं : (१) इसका वस्तु-संविधान पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न, एक ही कथा-सूत्र में ग्रथित है। (२) इसका उद्देश्य स्त्री के पुनर्विवाह की समस्या पर प्रकाश डालना है।

भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न है। इसकी भाषा परिमार्जित होते हुए भी बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। उपर्युक्त गुणों के कारण यह नाटिका 'प्रसाद' के अन्य नाटकों की अपेक्षा अभिनेय मानी जाती है।

प्रश्न उठता है कि प्रसादजी ने इस नाटक की रचना नये प्रयोग की शैली पर क्यों

की ? चन्द्रगुप्त तक वस्तु-विन्यास में कई कथासूत्रों का ताना-बाना होता था, किन्तु इसमें एक ही कथा क्यों रह गई ? पूर्ववर्ती नाटकों की काव्यमयी भाषा के स्थान पर इसके कथोप-कथन की भाषा सरल और स्वाभाविक बोलचाल की भाषा के समीप क्यों आ गई ? 'प्रसाद' ने अपनी निजी शैली त्यागकर नवीन शैली का प्रयोग क्यों प्रारम्भ किया ?

प्रसादजी के मित्रगण^१ इसका कारण यह बताते हैं कि प्रसादजी नाटक की नवीन प्रवृत्तियों से अपरिचित नहीं थे। विविध समालोचकों तथा उनके मित्रों ने जब उनपर यह दोषारोपण किया कि आप नाटक-रचना में आदर्शवादिता का समर्थन इस सीमा तक करते हैं कि आज की वास्तविक समस्याओं की यथार्थवादिता से सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं, तब प्रसादजी ने इसपर विचार किया और उन्होंने विवाह-समस्या को लेकर इस ऐतिहासिक नाटक की रचना की।

इस नाटक की रचना का एक और भी कारण हो सकता है। प्रसादजी ने 'अजात-शत्रु' में नारी के जन्मसिद्ध अधिकार के प्रश्न को केवल यह कहकर सुलझाने की चेष्टा की थी कि स्त्रियों का कर्तव्य क्रूरकर्मा पुरुषों के हृदय को कोमल तथा करुणापूर्ण बनाना है।^२ किन्तु इस युग में यह कल्पना प्रसादजी की आदर्शवादिता को ही प्रमाणित कर रही थी। वस्तुतः समाज में विधवा नारी नितान्त उपेक्षित हो रही थी। मोक्ष और विधवा-विवाह की जटिल समस्या खड़ी हो गई थी। सम्भव है कि 'अजातशत्रु' नाटक की आदर्शवादिता से वास्तविक समस्या का समाधान न देख परिस्थिति-विशेष में विधवा-विवाह को इति-हास-सम्मत तथा शास्त्रविहित सिद्ध करने के लिए इस नाटक की रचना की गई हो। नारी की उपेक्षा का भीषण दृश्य इस नाटक में देखिए। शकराज के पास जाने की आज्ञा पाकर जब रामगुप्त की धर्मपत्नी ध्रुवस्वामिनी पति के पैरों को पकड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहती है, "मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो..." तब विलासी और कायर रामगुप्त कहता है, "तुम मेरी रानी ! नहीं, नहीं। जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उप-हार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो !"^३ किस सती का रक्त ऐसे विलासी पति की उपर्युक्त वाणी सुनकर न खौल उठेगा। सब और से निस्सहाय होने पर नारी का आत्मविश्वास ही उसकी रक्षा करता है। ध्रुव-स्वामिनी कृपाण निकालकर आत्महत्या करना चाहती है तो निर्लज्ज रामगुप्त कृपाण देखकर कहता है, "किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जाएगा ?"^४ यह कहता हुआ भयभीत रामगुप्त भाग जाता है। इस समय चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या से बचाता है। तदुपरान्त शकराज के अपमान से उसकी रक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी विवाह से पूर्व चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी। वह अब रामगुप्त से

१. आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २४६

२. अजातशत्रु, पृ० १२७

३. ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २७

४. वही, पृष्ठ २७

पूबक् होकर धर्मरक्षक से विवाह करना चाहती है। रामगुप्त जब उसे महादेवी कहकर सम्बोधित करता है, उस समय दोनों का बातलाप नारी की तेजस्विता और बिलासी पुरुष की निर्लज्जता का सूचक है :

“रामगुप्त—तो तुम महादेवी नहीं हो न ?

ध्रुवस्वामिनी—नहीं, मनुष्य की दी हुई उपाधि मैं लौटा देती हूँ।

रामगुप्त—और मेरी सहर्षामिणी ?

ध्रुवस्वामिनी—धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

...

...

...

रामगुप्त—ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरी निर्लज्जता का दायित्व एक कापुरुष पर है।”^१

धर्म का निर्णय करने के लिए निर्भय और सत्यनिष्ठ पुरोहित बुलाया जाता है। वह इस विवाह की समस्या को इस प्रकार सुलझाता है।

“पुरोहित—विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्ति-पूर्ण बन्धन में बांध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पदविलित नहीं किया जा सकता।” यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीब है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।”

शिखर स्वामी—निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीब शब्द का प्रयोग कर रहे हो।

पुरोहित—(हंसकर) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीब किसलिए कहा था ? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की भ्रंशगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीब नहीं तो और क्या ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आशा देता है।”^२

क्लीब रामगुप्त ज्योंही घोखे से चन्द्रगुप्त का वध करने चलता है, त्योंही एक सामन्तकुमार उसपर प्रहार करता है और रामगुप्त गिर पड़ता है। राजाधिराज चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जयजयकार होती है।

इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त और नायिका ध्रुवस्वामिनी है। नायक को राज्य और स्त्री दोनों की प्राप्ति होती है। विलासी और क्लीब प्रतिनायक रामगुप्त सामन्तकुमार द्वारा परलोकवासी बनता है।

प्रसाद और कन्हैयालाल मुन्दा

श्री कन्हैयालाल मुन्दा का ‘ध्रुवस्वामिनी’ नाटक ‘प्रसाद’ की ध्रुवस्वामिनी के १६ वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ। दोनों नाटककारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से नाटक का संविधान किया है। प्रसाद ने मोक्ष और पुनर्विवाह की समस्या को लेकर यह नाटक लिखा

१. जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५६

२. वही, पृष्ठ ६३

है, किन्तु मुन्शी ने इस समस्या को महत्त्व न देकर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रधानता दी है। प्रमाण यह है कि 'प्रसाद' ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के पास भेजते हैं, किन्तु मुन्शी का चन्द्रगुप्त कतिपय सरदारों के साथ लड़ने जाता है तो उनकी ध्रुवस्वामिनी अन्तःपुर में बैठी है और उसके अन्तःकरण में आत्मा-निराशा, जीवन-मरण का द्वन्द्व मच जाता है। वह सोचती है, "गए, सब गए। वापस आए, जब तक...तब तक कैसे प्रतीक्षा कर सकूंगी। इन सबमें एक ही नरवीर, एक ही पुरुष है। उसका क्या होगा क्या होता होगा।"^१

'प्रसाद' ने मोक्ष (तलाक) के लिए विद्वान धर्मशास्त्री ब्राह्मणों की व्यवस्था दिलाई है, किन्तु मुन्शी ने पुनर्विवाह को प्रथा का रूप दे दिया है और इसके लिए याज्ञवल्क्य का वचन पर्याप्त समझा है। शास्त्र का प्रमाण उन्हें अपेक्षित ही नहीं है।

'प्रसाद' ने इस नाटक में राजमाता दत्तदेवी और सम्राट समुद्रगुप्त को पात्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है, किन्तु मुन्शी ने समुद्रगुप्त का विरोध दिखाया और सबको हरानेवाले चन्द्रगुप्त की वीरता प्रदर्शित की है।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त के चरित्र में जितनी सदाशयता और महानता दिखाई है उतनी मुन्शी के चन्द्रगुप्त में नहीं मिलती। 'प्रसाद' के रामगुप्त का वधकर्ता एक सामन्तकुमार है, किन्तु 'मुन्शी' के रामगुप्त की हत्या स्वयं चन्द्रगुप्त करता है। 'प्रसाद' की दृष्टि समस्या-नाटक की ओर है, किन्तु मुन्शी को इतिहास की रक्षा अभीष्ट है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहास की एक ही घटना को दो नाट्यकारों ने दो प्रकार से कथानक का रूप दिया है। यदि हम निर्णय करना चाहें कि दोनों में कौन इतिहास की मर्यादा अधिक मानता है तो हमें ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है। इतिहास में रामगुप्त का उल्लेख न तो किसी अभिलेख अथवा मुद्रा में प्राप्त है और न गुप्त सम्राटों की वंशावली में उसका नाम मिलता है। किन्तु रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की वार्ता 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटिका, बाण-लिखित 'हर्षचरित', भोज के 'शृङ्गारप्रकाश', अमोघवर्ष के 'पत्रलेख' तथा 'मृगमत्तल तवारीख' में उपलब्ध है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि सम्भवतः रामगुप्त को अति अयोग्य और कमपुरुष समझकर इतिहास में कहीं भी स्थान देना उचित न समझा गया हो।

अभिलेखों, मुद्राओं तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उपलब्ध सामग्री के आधार पर रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का जो उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार घटना इस प्रकार है :

अपनी कायरता और अकर्मण्यता के कारण शक-सेना से पराभूत रामगुप्त सन्धि के लिए लालायित हो उठा। अपनी राजमहिषी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास पत्नी-रूप में जाने को बाध्य करने लगा। चन्द्रगुप्त ने इसका विरोध किया और ध्रुवस्वामिनी

के देश में स्वतः शकराज के पास उपस्थित हुआ। शकराज का वध करके लौटने पर वह स्वभावतः राजमहिषी और प्रजा के सम्मान का अधिकारी हुआ। इस अवसर से लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त का वध करके सिंहासन पर अधिकार जमाया और ध्रुव-स्वामिनी को राजमहिषी के रूप में ग्रहण किया।

उक्त घटना में 'प्रसाद' ने अपने कथानक के लिए परिवर्तन आवश्यक समझा, किन्तु मुन्शी ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया।

अब प्रश्न यह है कि 'प्रसाद' ने इस परम्परागत घटना में परिवर्तन और परिवर्धन क्यों किया? क्या इस परिवर्तन से उनके नाटक में कोई विशेषता आती है? यदि नाटक की दृष्टि से कोई सौष्ठव आ जाता है तो 'प्रसाद' को इसका श्रेय मिलना चाहिए या नहीं?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व हमें उन स्थलों को पकड़ना चाहिए जहां परिवर्तन विद्यमान है। परिवर्तन मुख्यतः दो स्थलों पर भलकता है—एक तो शकराज के शिविर में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों का साथ जाना, दूसरे रामगुप्त की हत्या किसी सामन्त द्वारा कराना।

देखना यह है कि ध्रुवस्वामिनी को शकराज के शिविर में ले जाना कहां तक नारी-मर्यादा का पालन करना है। जब चन्द्रगुप्त स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश बनाकर जा रहा है तो ध्रुवस्वामिनी को साथ ले जाना क्यों आवश्यक था? 'प्रसाद' ने ऐसी कल्पना क्यों की?

हमारा मत है कि 'प्रसाद' ने ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में ओजस्विता लाने के लिए यह योजना बनाई। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्रुवस्वामिनी शकराज के शिविर में युद्ध के लिए लैस होकर जाने को उद्यत है, किन्तु क्रीत दासी के रूप में जाना उसे किसी प्रकार भी वांछनीय नहीं। योद्धा के रूप में अपने प्राणरक्षक के साथ रणक्षेत्र में ग्राह्य अथवा मृतक होना उसे अभीष्ट है, किन्तु स्वतः राजप्रासाद में सुरक्षित बैठना और चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी बनाकर भेजना उसकी रुचि के विरुद्ध है। इस स्थल पर हम देखते हैं कि यदि चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी है तो ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त। युद्धोपरांत जब चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त बनता है तो ध्रुवस्वामिनी ध्रुवस्वामिनी। इस परिवर्तन से ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में ओजस्विता निखर आती है और नाटक में रमणीयता आ जाती है। सामाजिक जब युवा चन्द्रगुप्त को युवती ध्रुवस्वामिनी के रूप में देखता है तो उसे एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।

'प्रसाद' ने दूसरा परिवर्तन रामगुप्त के वध के सम्बन्ध में किया है। 'प्रसाद' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्याभिषेक ज्येष्ठ भ्राता के रक्त से नहीं कराना चाहते। 'प्रसाद' का उद्देश्य है भारत के स्वर्णिम भूतल की ज्योति को दीप्त रूप में रखना। भ्रातृ-हत्या के द्वारा राज्य-प्राप्ति चन्द्रगुप्त की यश-चन्द्रिका को धूमिल कर देती है। अतएव विक्रम के आदित्य को कलंक की घटा से आच्छादित कर देना उन्हें अभीष्ट नहीं। हम ऊपर

विवेचन कर आए हैं कि भ्रातृ-हत्या की यह घटना इतिहास-सम्मत भी नहीं है, केवल जनश्रुतियों के आधार पर प्रचलित और काव्य तथा नाटक के बल पर जीवित है। अतः-एव इसको परिवर्तित करके 'प्रसाद' ने नाटक को अधिक रमणीय बना दिया है।

'प्रसाद' के नाटकों में कथावस्तु

प्रसादजी ने अपने नाटकों की कथावस्तु के लिए वैदिककाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के इतिहास को आलोडित किया है। 'करुणालय' में वैदिककाल का, 'सज्जन' में महाभारत-काल का, 'जनमेजय के नागयज्ञ' में उपनिषद्-काल का, 'अज्ञातशत्रु' में बुद्ध-काल का, 'विशाख' में बौद्धों के पतन-काल का, 'चन्द्रगुप्त' में यूनानियों के आक्रमण-काल का, 'स्कन्दगुप्त' में हूण-विद्रोह-काल का, 'राज्यश्री' में हर्ष-काल का तथा 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द-काल का ऐतिहासिक प्रसंग लेकर कथावस्तु निर्मित की गई है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटकों में भारत का दीर्घकालीन इतिहास समाविष्ट है। कोषोत्सव-स्मारक-ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि इन्द्र की ऐतिहासिकता प्रमाणित करके वे एक नाटक लिख रहे थे, जो असामयिक मृत्यु के कारण पूर्ण न हो पाया।

प्रारम्भकाल की रचनाएं 'करुणालय', 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' इतनी छोटी और साधारण कोटि की हैं कि इनका महत्त्व 'प्रसाद' की नाटककला के केवल विकास-क्रम को समझने के लिए है, अन्यथा आलोचना की दृष्टि से इनकी उपयोगिता बहुत कम है। प्रसादजी के शेष नाटक महाभारत-काल से महाराज हर्ष तक की महान घटनाओं को समेटे चलते हैं। इस काल के महापुरुष व्यास, गौतम, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्द और हर्ष हमारे इतिहास और हमारी संस्कृति के निर्माता हैं। उनकी कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत का अतीत अपनी गरिमा के साथ साहित्य के रूप में हमारे सामने आ जाता है। इन ऐतिहासिक नाटकों में दो प्रमुख सूत्र आदि से अन्त तक परस्पर मिलते-जुलते और कहीं-कहीं उलझते चलते हैं। उनमें से एक तत्कालीन राजनीतिक इतिवृत्तों को आबद्ध करता चलता है और दूसरा सांस्कृतिक विचारों को उसमें ग्रथित करता रहता है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटक दो प्रमुख घटना-सूत्रों का ताना-बाना करते चलते हैं।

प्रारम्भिक नाटकों में राजतन्त्र का एक ही प्रवाह बहता दिखाई पड़ता है। अतः इनका कथानक सरल है। उदाहरण के लिए 'विशाख'^१ को ले लीजिए। विशाख की चन्द्रलेखा पर प्रथम बौद्ध महन्त आसक्त है, फिर राजा नरदेव। राजा नरदेव बौद्ध महन्त से छीनकर चन्द्रलेखा पर बलात्कार करने को प्रस्तुत होता है, किन्तु जनता के विद्रोह और प्रेमानन्द की उदारता से उसकी रक्षा हो जाती है। सम्पूर्ण कथा का प्रवाह इस प्रकार एक और ही शृङ्खला बनाता चला जाता है।

१. विशाख को प्रसाद का प्रथम नाटक मानना चाहिए क्योंकि नाटकीय कला-सम्बन्धी उनकी स्वतन्त्र विशेषता तो पहले-पहल इसी विशाख द्वारा हिन्दी-संसार में प्रकट हुई।

—विशाख नाटक, प्रकाशक का वक्तव्य, पंचम संस्करण, संवत् २००४ वि०

‘राज्यश्री’ में दो कथासूत्र हैं। एक कथासूत्र में राज्यश्री, हर्ष, गृहवर्मा और देवगुप्त बंधे हैं; दूसरे में शान्तिदेव, सुरमा और चीनी यात्री सुयेनज्वांग। भागे चलकर दोनों कथा-प्रवाह एक में मिल जाते हैं।

‘अज्ञातशत्रु’ में कथानक जटिल हो गया है। प्रथम अंक में मगध, कोशल, कौशाम्बी तीन स्थानों पर पृथक्-पृथक् घटना-प्रवाह चलते हैं। दूसरे अंक में काशी भी सम्मिलित हो जाती है। ये घटनाएं कभी पृथक्-पृथक् रूप से और कभी दो-दो, तीन-तीन एकसाथ उलझती चलती हैं।

‘स्कन्दगुप्त’ में एक सूत्र युवराज और उसके सहायकों को आबद्ध करता चलता है; दूसरा प्रपंचबुद्धि, पुरगुप्त, अनन्तदेवी और भट्टार्क को; तीसरा मातृगुप्त और मालिनी को; चौथा देवसेना और विजया को; पांचवां धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति को; छठा सूत्र सर्वनाग और रामा को लेकर भागे बढ़ता है। सभी सूत्र एक-दूसरे से उलझते-सुलझते इस प्रकार चलते हैं कि अन्त में सब बटकर एक बन जाते हैं।

स्कन्दगुप्त के उपरान्त ‘चन्द्रगुप्त’ की रचना है। इसमें सात कथासूत्र इस प्रकार हैं : (१) चन्द्रगुप्त और कल्याणी, (२) चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया, (३) चन्द्रगुप्त और मालविका, (४) राक्षस और सुवासिनी, (५) सिंहरण और अलका, (६) शकटार और नन्द, (७) पर्वतेश्वर और कल्याणी।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि प्रसादजी के वस्तु-विन्यास में उत्तरोत्तर जटिलता आती गई है। कुशल कलाकार ‘प्रसाद’ ने विभिन्न इतिवृत्तों को इस प्रकार सम्बद्ध किया है कि कतिपय नाटकों में शास्त्रीय विवेचन से इनकी कार्य-प्रवस्थाएं, अर्थप्रकृतियां, सन्धियां यहां तक कि सफ्यंग भी ठीक-ठीक बैठते चलते हैं।

वस्तु-विन्यास में भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला

पाश्चात्य नाट्यकार कथानक में संघर्ष तथा क्रियाशीलता को मुख्य स्थान देते हैं। हम देख आए हैं कि प्रसादजी के ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक में इन गुणों का समावेश कितने कोशल के साथ हुआ है। ‘प्रसाद’ के सभी मुख्य नाटकों में यूरोपीय ढंग का संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व देखने में आता है। घटनाएं पूर्वनिर्दिष्ट पथ पर नहीं चलतीं, प्रत्युत परिस्थिति और प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक मार्ग बनाती चलती हैं। उनमें आरोहावरोह होता है। अतः धारा कभी वेगवती हो जाती है और कभी मन्थर गतिवाली। घटनाओं में कहीं युद्ध का कोलाहल है तो कहीं शान्ति; कहीं संकीर्णता, क्रोध, ईर्ष्या और हत्या है तो कहीं औदार्य, क्षमा, प्रेम और सेवा।

इस प्रकार भारतीय पद्धति के अनुसार लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उद्योग का, और पाश्चात्य शैली के अनुसार विरोध की चरम सीमा, निगति और समाप्ति का अवलम्बन लेकर ‘वस्तु’ की सृष्टि की गई है।

विभिन्न नाटकों की विवेचना और उपर्युक्त कथासूत्रों के संक्षिप्त विवरण से यह

भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रसादजी ने ऐतिहासिक पुरुष-पात्रों के साथ-साथ काल्पनिक स्त्री-पात्रों का सृजन करके नाटक को सरस बना दिया है। प्रायः समस्त राजतन्त्र-संचालकों तथा प्रसिद्ध दार्शनिक नेताओं की सृष्टि तो ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर होती है, किन्तु नारी-पात्रों की रंगीन कल्पना प्रसाद की मौलिक सृष्टि है। इसका नामकरण दो सिद्धान्तों पर किया गया है—कुछ स्त्री-पात्र तो गुणानुसार पुकारे जाते हैं, जैसे कल्याणी, विजया, श्यामा इत्यादि। कुछ का उल्लेख पुराण और इतिहास के संकेत पर किया गया है—जैसे स्कन्दगुप्त की प्रेयसी का नाम देवसेना^१ रखा गया है, जो स्पष्ट ही स्कन्द देवता के संकेत पर हुआ है। ऐसे ही अम्बपाली का उल्लेख बौद्ध-ग्रंथों में उपलब्ध होता है। नामकरण में प्रसादजी का लक्ष्य चाहे जो भी रहा हो, किन्तु इनकी कृतियों से स्पष्ट झलकता है कि विशिष्ट स्त्री-पात्रों के द्वारा वह प्रेम का स्वरूप दिखाना चाहते थे। लक्ष्य यह है कि अन्तर्विद्रोह तथा बाह्यक्रमण से देश-रक्षा के कार्य में संलग्न एवं राजतन्त्र-चक्र के निरन्तर परिचालक वीर युवक 'घने प्रेम-तरु तले' बैठकर इन रमणियों के साथ स्फूर्ति और नवीन शक्ति का अर्जन करें, और प्रेक्षकगण वीर के साथ ही शृंगार का भी रसास्वादन कर सकें। इस प्रकार 'प्रसाद' के प्रमुख नाटकों की कथा-त्रिवेणी में वीर, शृंगार और शान्तरस का प्रवाह पाया जाता है। इनमें शान्त की सरस्वती का साक्षात्कार अन्तःकरण में ही होता है।

चरित्र-चित्रण

प्रसादजी के सम्पूर्ण पुरुष-पात्रों को हम तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं—देवता, दानव और मानव। 'प्रसाद' के प्रत्येक नाटक में एक न एक ऐसे महात्मा, साधु, ब्राह्मण या बौद्ध भिक्षु अवश्य मिलेंगे जो उस समय के तत्त्व-चिन्तन के प्रतीक हैं। 'विशाख' में प्रेमानन्द, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में वेदव्यास, 'राज्यश्री' में सुयेनच्चांग, 'अज्ञातशत्रु' में भगवान बुद्ध, 'चन्द्रगुप्त' में दांड्यायन देवता और महात्मा-कोटि में आ जाते हैं। इन महात्माओं का चरित्र पूर्ण विकसित है और ये सिद्धरूप में हमारे सामने आते हैं। इनका प्रथम दर्शन ही दर्शकों को मुग्ध कर देता है। ये महात्मा रंगमंच पर पूर्ण सुसंस्कृत और परिपक्व होकर आते हैं। अतएव इनके चरित्र के विकास के लिए स्थान ही नहीं रहता। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में ऐसे पूर्ण दानव पात्र हैं जो प्रारम्भ से ही दानवता की चरम सीमा तक पहुँचे हैं और अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं। जैसे—काश्यप, देवदत्त, विजया, शान्तिभिक्षु आदि।

दानव-वर्ग में कतिपय ऐसे पात्र रहते हैं जो पतनोन्मुख हैं और सदा पतन की ओर ही बढ़ते चले जाते हैं। इनके जीवन-विकास का भी कोई प्रश्न नहीं है। ये किसी प्रकार अपना अर्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस वर्ग के पात्र संस्कृत तथा असंस्कृत, सुधार के

१. देवसेना प्रजापति ब्रह्मा की कन्या थी। इसका विवाह देवसेनापति स्कन्द के साथ हुआ था। कुछ लोगों का मत है स्कन्द देवासुर-संग्राम में देव-सेना का स्वामी था।

अनुकूल तथा प्रतिकूल कौसी ही परिस्थिति में क्यों न रख दिए जाएं, अपने सुधार का कभी प्रयास करते ही नहीं। वे परिस्थिति को भी अपनी उद्दाम वासनाजन्य प्रवृत्ति के अनुकूल बनाते चलते हैं।

तीसरा वर्ग इन दोनों के मध्य का है, जिसमें अजातशत्रु, पुरगुप्त, भट्टार्क, जनमेजय, नरदेव आदि की गणना की जा सकती है। इनके अन्तःकरण में देव और दानव-प्रवृत्तियों का सदा संघर्ष रहता है। देवत्व और दानवत्व के इस संघर्ष में इन्हें अपना-अपना विकास करना होता है। इस प्रकार इनमें कभी देव-प्रवृत्ति की विजय होती है तो कभी दानव की। किन्तु अनुकूल परिस्थितियों के आ जाने पर इनका उद्धार हो जाता है और इनके हृदय से दानवता का लोप हो जाता है। इन पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने में 'प्रसाद' की कला प्रसादत्व को प्राप्त होती है।

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त शेष पात्र या तो देवप्राय प्रतीत होते हैं अथवा दानव-प्राय, किन्तु वे हैं मानव ही। बासवी, मल्लिका, चाणक्य, प्रस्थातकीर्ति, सुयेनच्चांग, देवसेना, मालविका आदि की गणना इसी वर्ग में की जानी चाहिए। इसी प्रकार विरुद्धक, मागन्धी (श्यामा), अनन्तदेवी, सुरमा, सर्वनाग आदि ऐसे पात्र हैं, जिन्हें विश्वासघात या नरहत्या करने में आरम्भ में संकोच होता ही नहीं। किन्तु अनुकूल परिस्थिति पाने पर इन सभी पात्रों का क्रमशः संस्कार होने लगता है और ये पुनः मानव-कोटि में आ जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक में जीवन-विकास की आशा बनाकर चले जाते हैं। वेदया मागधी को अम्बपाली के रूप में भगवान् तथागत की उपासना करते देख दर्शकों को आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि प्रसादजी ने श्यामा में संस्कारजन्य गुणों का सर्वथा अभाव आरम्भ में कहीं नहीं दिखाया है। श्यामा और विरुद्धक के वार्तालाप से दूसरे दृश्य के दूसरे अंक में यह बात इस प्रकार स्पष्ट कर दी गई है :

“विरुद्धक—विश्वास करनेवाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है।तुम रमणी हो और वह भी वारविलासिनी, मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियां डाकुओं से भी भयानक हैं।

श्यामा—क्या मेरी प्रणय-भिक्षा असफल होगी ? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का बनिज करते-करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है ? क्या वारविलासिनी प्रेम करना नहीं जानती ? क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में चेतनालोक की गुदगुदी और कोमल स्पन्दन नाम को भी अवशिष्ट नहीं है ? क्या तुम्हारा हृदय केवल मांस-पिंड है ? उसमें रक्त का संचार नहीं ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं प्रियतम.....।”

दर्शक श्यामा को इसके पूर्व रानी मागन्धी के रूप में उदयन के साथ वार्तालाप करते हुए देख चुके हैं। वह गौतम को अच्छी आंखों नहीं देखती। वह उदयन के हृदय को हाला से तृप्त करने का अनुरोध करती है। उदयन को देवी पद्मावती के विरुद्ध भड़काने

के लिए बीणा में सर्प का बच्चा दिखाने का षड्यन्त्र रचती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कौशाम्बी-राजभवन में रहनेवाली रानी मागन्धी का वारविलासिनी श्यामा-रूप और वैश्या श्यामा का तथागत की उपासिका श्रम्बपाली का दिव्य स्वरूप दर्शकों को अस्वाभाविक न प्रतीत हो, इसके लिए 'प्रसाद' ने उस नारी के संस्कारजन्य भावों की ओर स्थान-स्थान पर संकेत कर दिया।^१ जब वह एक दीन कन्या थी और बेलों को चारा देते-देते उसके हाथ नहीं थकते थे, तभी उसने जीवन के प्रथम वेग में भगवान तथागत को पाने का प्रयास किया था। उसकी यह धारणा उसके संस्कारजन्य सद्गुण को स्पष्ट करने को यथेष्ट है। पैतृक दीनता को वह इस सत्कार्य की असफलता का कारण समझती है। अतः राजभवन में उदयन की प्रेयसी बनती है। वहां अपने को दीन कन्या समझ भगध-कुमारी पद्मावती से विद्वेष करने लगती है, वहां से भी भागकर वैश्या बन जाती है। जीवन की विविध विषमताओं में पतन का कारण वह स्वतः बताती है, "परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग करना, काल्पनिक सुख-लिप्सा में पड़ना और स्त्री-सुलभ स्निग्धता सरलता की मात्रा को कम करना ही स्त्री के पतन का कारण है।"

वारविलासिनी श्यामा को जब हम पश्चात्ताप की ज्वाला में तपकर गौतम की उपासिका श्रम्बपाली के रूप में देखते हैं, तो उसकी संस्कारजन्य प्रवृत्ति और गौतम की उदार प्रकृति के कारण हमें उसके जीवन की विषमता नितान्त स्वाभाविक प्रतीत होती है और यह विश्वास हो जाता है कि एक वारविलासिनी का जीवन भी 'अग्नि से तपे हुए हेम की तरह' शुद्ध हो सकता है।

विजया का चरित्र—जन्मजात संस्कार के कारण भिन्न परिस्थितियों में किसी-का कैसा अपकर्ष और उत्कर्ष होता है, इसे हम कृषक-कन्या मागन्धी में देख चुके हैं। अब एक समृद्ध बालिका विजया का चरित्र लीजिए। यह बालिक जन्म से समृद्धिशालिनी और संस्कार से विलासिनी है। विलास-तृप्ति के लिए कभी स्कन्दगुप्त की ओर झुकती है और कभी भट्टार्क की ओर। स्कन्दगुप्त की प्राप्ति में देवसेना को बाधक समझकर उसका वध करने को श्मशान पर ले जाती है। स्कन्दगुप्त से हटकर वह चक्रपालित के 'प्रशस्त वक्ष और उदार मुखमण्डल' से रीझ जाती है, किन्तु उसे भी अप्राप्य समझ भट्टार्क का वरण करती है। भट्टार्क के साथ रहती हुई पुरगुप्त के भोग-विलास में सहायक होती है। पतन के पथ पर निरन्तर बढ़ती हुई विलासिनी नारी एक बार सर्वनाग के प्रभाव से अपने चरित्र में उस समय कुछ सुधार करती दिखाई पड़ती है, जब देशवासियों को जगाने के कार्य में वह मातृगुप्त की सहायता करती है; किन्तु संस्कारजन्य कालुष्य में यह क्षणिक उज्ज्वलता

१. मागन्धी कौशाम्बी के मङ्गल में आग लगाकर जल मरी, अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और भ्रेष्टी इसी चरणों को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं, राजरानी होकर और क्या मिलना था, केवल सापत्न्य-ज्वाला की पीड़ा।

अचिरात्पूर्व ही विलीन हो जाती है। अब वह पुनः ब्रजक मनोवृत्ति से प्रेरित हो सुन्दर राजकुमार स्कन्दगुप्त को धन द्वारा कन्या करना चाहती है। तब स्कन्दगुप्त कहता है, “विजया ! पिशाची ! हट जा। नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।” इस एक वाक्य से विजया का यथार्थ चरित्र-चित्रण हो जाता है।

अन्त में निराश होकर वह अपने विलास-वासनामय अतृप्त जीवन को आत्म-हत्या द्वारा समाप्त कर देती है। विजया के अन्तःकरण में तमोगुण इतना शक्तिसाली है कि किसी सात्त्विक गुण को किसी परिस्थिति में कभी उद्बुद्ध नहीं होने देता। इसी कारण विजया अन्त तक सुधार नहीं कर पाती। इसके प्रतिकूल मागन्धी में संस्कारजन्य सद्भाव-नाएं अनुकूल परिस्थिति में परिपुष्ट होकर आसुरी वृत्तियों का सामना करती हैं और उन्हें पराजित करके बारविलासिनी श्यामा को भगवान् तथागत का कृपापात्र बना देती हैं। और अन्त में मागन्धी को तथागत से यह आशीर्वाद प्राप्त होता है :

“मागन्धी, तुम्हें शान्ति मिलेगी। जब तक तुम्हारा हृदय उस विशृङ्खला में था, तभी तक यह विडम्बना थी।”^१

इस स्थल पर इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि वेद्याओं के प्रति ‘प्रसाद’ ने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अब तक साहित्य में बारविलासिनी प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थी। नाटकों में भी इसका उपयोग किसी न किसी पात्र के विलास या संघर्ष को व्यक्त करने के लिए होता था। ‘प्रसाद’ ने पहले-पहल इसके चरित्रोत्कर्ष को देखा है और उसका उपयोग भी नाटक में शील-निर्माण के रूप में किया है।

इन दोनों नारियों के चरित्र-चित्रण से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि ‘प्रसाद’ चरित्र-चित्रण में उस नवीन मत को अपनाते हैं, जो नाटकीय पात्रों के चरित्र में आरोह के सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

गार्हस्थ्य जीवन—साध्वी परिणीता के दो वर्ग होते हैं—सधवा और विधवा। पतिपरायणा सधवाएं निज गृहस्थी से सन्तुष्ट मन, वाणी और कर्म से पति की सेवा में संलग्न हैं, उन्हें संसार से सरोकार नहीं। उनके लिए उनका घर ही स्वर्ग है। इस स्वर्ग में यदि पतिदेवता अकारण रुष्ट भी होते हैं तो उनके कटु आदेशों को सादर शिरोधार्य कर उन्हें सन्तुष्ट करने की चेष्टा ही की जाती है। भगवान् गौतम में श्रद्धा रखनेवाली पद्मावती को मारने के लिए उद्यत होकर उदयन कहता है :

“उदयन—दुराचारिणी ! तेरी छलना का दाब मुझपर नहीं चला, अब तेरा अन्त है, सावधान !” प्रार्थना कर ले।

पद्मावती—मेरे नाथ ! इस जन्म के सर्वस्व और परजन्म के स्वर्ग ! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो तो प्रार्थना किसकी करूं !”^२

उदयन पद्मावती का वध करने के लिए खजू उठाना चाहता है पर हाथ ही नहीं

१. अज्ञातशत्रु, तीसरा अंक, पृ० १३७

२. अज्ञातशत्रु, जयशंकर प्रसाद, पृ० ५६-६०

उठता । तब पद्यावती उदयन-से निवेदन करती है :

“मेरे स्वामी ! मेरा अपराध क्षमा हो, नसँ चढ़ गई होंगी ।”

ये भारतीय नारियाँ एकमात्र पति के मंगल में ही अपना मंगल समझती हैं । उनकी मनोमिलावा वपुष्टमा के मुख से स्पष्ट सुनाई पड़ती है । वपुष्टमा उत्तक से आशी-वाद मांगती है, “आर्य, आशीवाद दीजिए कि पतिदेवता के कार्य में मैं सहकारिणी रहूँ, और मरण में भी पश्चात्सद न होऊँ ।”^१

इस वर्ग की परिणीता नारियाँ पति के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त कष्ट को भी अपनी करुणा, उदारता और क्षमा के बल पर सहन कर लेती हैं । वासवी को सपत्नीज भजातशत्रु तथा छलना द्वारा अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, किन्तु अपनी प्रशंसनीय सहिष्णुता के बल पर वह सभी प्रकार के अत्याचारों को ऐसे धैर्य से सहती रहती है कि अत्याचारियों के अत्याचार का अन्त हो जाता है, किन्तु उसका धैर्य अनन्त ही बना रहता है । वासवी की उदारता से पराभूत छलना और पराजित भजात जब बिम्बसार से क्षमा-याचना करने आते हैं, उस समय वासवी मानवी से देवी बन जाती है :

“छलना—नाथ ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उड़ता थी । वह मेरी कूट-चातुरी थी, दम्भ का प्रकोप था ! ... अब मैं भोग चुकी, अब उबारिये ।

बिम्बसार—छलना, दंड देना मेरी सामर्थ्य के बाहर था । अब देखू कि क्षमा करना मेरी सामर्थ्य में है कि नहीं ।

वासवी—(प्रवेश करके) आर्यपुत्र ! अब मैंने इसको दंड दे दिया है, यह मातृत्व-पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है । एक राजमाता को इतना बड़ा दंड कम नहीं है, अब आपको क्षमा करना ही होगा ।

बिम्बसार—वासवी ! तुम मानवी हो कि देवी !”

परिणीता वर्ग की साध्वी विधवा नारी वैधव्य की पीड़ा धैर्यपूर्वक सहन करती हुई अपनी करुणा की धारा से तप्त हृदयों को शान्ति पहुंचाने के लिए ही जीवित रहती है । इस वर्ग में राज्यश्री और मल्लिका की गणना की जा सकती है । चितारुद्र राज्यश्री देश-सेवा के लिए जीवित रहकर वैधव्य-वेदना सहती है । इस स्थान पर चरित्र-चित्रण-कला में प्रसाद भारतेन्दुजी से एक पग आगे दिखाई पड़ते हैं । इस वैधव्य-वेदना की निरर्थक ज्वाला में चिता की ज्वाला से अधिक दाहकता है । दिवाकरगुप्त राज्यश्री से कहता है, “देवी, यह धर्म नहीं, आत्महत्या है । सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता ।” ... उस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसीमें तो झलकती है । प्राणी दुःखों में भगवान के समीप होता है !”^२

लोकसेवा करते-करते राज्यश्री इतनी निर्मल और उदारहृदया हो जाती है कि वह अपने भाई के हत्यारे को भी इस प्रकार क्षमा प्रदान करती है, “भाज हम लोगों ने

१. जनमेजय का नागयज्ञ, तीसरा अंक, दूसरा दृश्य, पृ० ८२

२. जयशंकर प्रसाद, राज्यश्री, पृष्ठ ६२

सर्वस्व-दान किया है भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाए, इसे प्राणदान दो भाई।”^१

इसी प्रकार मल्लिका भी जगमंगल की कामना से प्रेरित होकर वैधव्य-वेदना सहन करती है। विधवा मल्लिका में उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता आदि गुण चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। जब वह अपने पतिघातक विरुद्ध को युद्धभूमि से उठा लाती है तो वह इसका कुछ और ही आशय समझता है। वह विवाह का प्रस्ताव करता है। तब मल्लिका कहती है, “राजकुमार ! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। जब इसमें मैं उत्तीर्ण हो गई तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ। विरुद्ध, तुम्हारा रक्त-कलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती।”^२

मल्लिका में उदारता, क्षमा, करुणा आदि सद्गुणों के अतिरिक्त विश्वमैत्री की भावना चरम-कोटि तक पहुँची हुई है। उसका हृदय स्वर्ग है, इसे श्यामा जैसी नारी भी स्वीकार करती है। मल्लिका के विषय में वह स्वतः कहती है, “जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है। मागन्धी, धिक्कार है तुम्हें !

‘स्वर्ग’ है नहीं दूसरा और।

सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर।”^३

मल्लिका को विभिन्न पात्रों ने विभिन्न उपाधि दी है। अजातशत्रु उसके कृत्यों को देव-कर्तव्य^४ कहता है। श्यामा उसे ‘सम्पूर्ण मनुष्यता’^५ कहती है। प्रसेनजित ‘पतित-पावनी’^६ कहता है। तथ्य तो यह है कि उस पतित-पावनी के सम्पर्क में जो भी आया वह पावन बन गया। यह विधवा नारी इसी कारण चिता पर नहीं जलती कि ‘असंख्य दुःखी जीवों को उसकी सेवा की आवश्यकता है।’ उसको परदुःख-निवारण में ही आनन्द मिलता है। विश्व-भर उसको अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ता है। असंख्य आहें उसके उद्योग से अट्टहास में परिणत हो जाती हैं।

‘प्रसाद’ के नाटकों में एक वर्ग उन नारियों का है जो पति-कामना से पार्वती के सदृश तपस्या में तल्लीन दिखाई पड़ती हैं। उन तपस्विनियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक विभाग में वे नारियाँ हैं, जिनका तप इसी जन्म में सफल होता है, जैसे अलका, कार्नेलिया और सुवासिनी। दूसरे वर्ग में वे नारियाँ हैं जो मनोनीत पतिदेव के संकट-निवारण तथा आराधना में अपने प्राण समर्पण करती हैं, जैसे मालविका

१. जयशंकरप्रसाद, राज्यश्री, पृष्ठ ७४

२. जयशंकरप्रसाद, अजातशत्रु, पृ० ११६

३. वही, तीसरा अंक, तीसरा दृश्य, पृ० १२१-१२२

४. वही, दूसरा अंक, पृ० ६५

५. वही, तीसरा अंक, पृ० १२१

वही, तीसरा अंक, पृ० १२८

और कल्याणी। तीसरी कोटि में एक ऐसी नारी है जिसकी तपस्या सफल होते-होते असफल हो जाती है। असफल होने पर भी वह निराश नहीं होती और कहती है, “इस जीवन के देवता, उस जीवन के प्राप्य।” वह है देवसेना। देवसेना का चरित्र ‘प्रसाद’ के नाटकों में वह उज्ज्वल रत्न है जिसकी प्रभा कभी मन्द नहीं पड़ेगी। तपस्या के द्वारा प्राप्त प्रणय की सफलता को भी आराध्य के हित के लिए त्याग देनेवाली नारी के विषय में क्या कहा जाए। जगमंगलकारी कार्यों को त्यागकर एकान्त में गार्हस्थ्य सुख की कामना करनेवाला स्कंद देवसेना की ही प्रेरणा से साम्राज्य के उद्धार का संकल्प करता है। अतः बर्बर हूणों से भारतीय जनता की रक्षा करनेवाले स्कंद को भीष्म के सदृश दृढ़ बनाने का श्रेय उस अबला को है, जिसने अपने तप के फल को भी आराध्यदेव के चरणों में अर्पण कर दिया। आचार्य चन्द्रबली पाण्डे का यह कथन यहां सत्य प्रतीत होता है कि “प्रसाद के नाटकों में कथासूत्र प्रायः स्त्री के हाथ में रहता है क्योंकि शैव ‘प्रसाद’ की दृष्टि में वस्तुतः वह ‘शक्ति’ है।”

पुरुष-पात्रों का विस्तृत चरित्र-चित्रण हम अलग-अलग नाटकों में कर आए हैं, अतएव यहां उनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं। प्रमुख स्त्री-पात्रों के विषय में उपसंहार-रूप में इतना इसलिए निवेदन कर दिया गया कि वास्तव में ‘प्रसाद’ ने नारी-जीवन को व्यापक दृष्टि से देखा है और स्त्री-चरित्र-निर्माण में ‘त्रिया-चरित्र’ को भी प्रधानता न देकर उसके शील-निर्देशन का प्रयत्न किया है, जिसको स्पष्ट कर देना आवश्यक था।

कथोपकथन

नाटक के मूल तत्त्वों तथा विविध उपकरणों में कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तथ्य तो यह है कि रंगमंच-निर्देशों को यदि नाटक से निकाल दिया जाए तो कथोपकथन के अतिरिक्त अवशिष्ट रहता ही कुछ नहीं। कारण यह है कि नाट्यकार को अभीष्ट-सिद्धि तक पहुंचाने का एकमात्र वाहन संवाद ही तो है। पात्रों के चरित्र-विकास, कथावस्तु के विन्यास और विभिन्न रसों की निष्पत्ति का उत्तम से उत्तम साधन संवाद-योजना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

सफल नाटककार का कथोपकथन उस बाधुदान के सदृश युगपत् त्रिविध कार्य करता है, जो कभी जल पर संतरण, कभी स्थल पर संचरण और कभी आकाश में विचरण करता हुआ दृष्टिगत होता है। जिस कथोपकथन में जितनी अधिक चरित्र-चित्रण की क्षमता, व्यापार-प्रसार की योग्यता और रस-परिपाक के लिए भावोद्बोधन की तीव्रता होगी, वह उतना ही उत्तम माना जाएगा। संवाद की उपादेयता पर नाटक की अधिकांश सफलता अवलम्बित है।

संवाद की भाषा—संवाद-योजना को सफल बनाने के विविध उपाय पश्चिमी और पूर्वी आचार्यों ने बताए हैं। भरिस्टाटल ने संवाद-योजना पर विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि संवाद की भाषा असाधारण होते हुए भी स्पष्ट, सुगम होते हुए भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए। सामान्यतः असाधारण भाषा में स्पष्टता

और सरलता नहीं होती और सुगम सुबोध भाषा में व्यंग्य-चमत्कार नहीं होता। किन्तु नाटकीय संवाद की यही विशेषता है कि उसमें इन दो विरोधी तत्त्वों का समुचित सामं-जस्य पाया जाता है। सामान्य जनसमुदाय में प्रचलित भाषा को कलाकार अपनी प्रतिभा के विमान पर बिठाकर कला के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता है।

‘प्रसाद’ की संवाद-योजना क्रमशः कला के उच्च शिखर की ओर उन्मुख होती गई है। ‘विशाख’ में विनोदी महापिंगल की भाषा एक सामान्य-जन की नित्य-प्रति की बोलचाल की भाषा है, उसमें मुहावरों की भरमार है, जो उपन्यास के सर्वथा उपयुक्त है, किन्तु नाटक के लिए उपयोगी नहीं। कारण यह है कि वह चरित्र-चित्रण में असमर्थ, कथा को गतिशील बनाने में अक्षम और मुख्य रस के परिपाक में बाधक होती है। ‘प्रसाद’ ने इस प्रकार की सामान्य भाषा का प्रयोग भविष्य के किसी नाटक में नहीं किया। ‘स्कन्द-गुप्त’ का मुद्गल भी विनोदशील है किन्तु उसकी भाषा कलापूर्ण है। उसमें व्यंग्य का चमत्कार है।^१

पूर्वी आचार्यों ने संवाद-योजना में यह नियम बनाया है कि विद्वान् ब्राह्मण, राजा तथा उच्चवर्ग के व्यक्ति संस्कृत तथा अन्य जन प्राकृत-अपभ्रंश में वार्तालाप करें। हिंदी नाट्यकारों में विश्वनाथसिंह तथा हरिश्चन्द्र ने बंगाली, मराठी, द्राविड़ आदि अनेक लोक भाषाओं का समावेश इसी सिद्धान्त पर किया। भारतेन्दु ने विविध बोलियों को ही ग्रहण किया है, अन्य देशी भाषाओं को नहीं। उन्होंने ‘हरिश्चन्द्र नाटक’ में चाण्डाल के मुख से ठेठ बनारसी बोली का प्रयोग कराया है।^२

‘प्रसाद’ ने उपर्युक्त दोनों शैलियों में से एक का भी अनुसरण नहीं किया। उन्होंने अपनी एक नई शैली निकाली। उनके सभी पात्र खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी भाषा में परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रान्त की विभिन्नता के कारण नहीं। एक ही पात्र नरदेव न्यायासन पर बैठकर न्याय करते समय व्यवहारोपयोगी सरल भाषा का प्रयोग करता है किन्तु प्रव्रज्याग्रहण के उपरान्त गहन दार्शनिक भाषा बोलता है।^३

‘प्रसाद’ ने प्रायः सभी नाटकों में कुछ अंशों तक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि वे पूर्णतया इसका निर्वाह कर सके होते तो एक महान् दोष से सर्वथा मुक्त हो

१. इस बार की आवाज तो पालन करता हूँ, परन्तु, यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी आवाज मिली कि इस ब्राह्मण ने साध्यांग प्रणाम किया। (स्कन्दगुप्त, पृ० ३७) परन्तु यदि हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं, इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है। मैं तो ध्वरा जाता, भला वे तो कुछ सुनते हैं ! (स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ३८)

२. “अरे हरिजनवा, मोहर की थैली ले आवा है न ?” “तो से का काम पूछे से !”

३. एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी। गर्व के उद्वेग में मैंने सोचा था कि उस नदी में अपने बाहुबल से संतरण कर जाऊँ, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है, परमात्मा की सुन्दर शान्त सृष्टि को व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और अहिंसा से किसी अधिकारी को भी आलोकित करने का अधिकार नहीं है।

जाते। कई समालोचक कहते हैं कि 'प्रसाद' के सभी पात्रों की भाषा में प्रायः एक-वाक्यता एवं एकात्मकता है, विविधता नहीं। कई समालोचकों का तो मत है कि उनके सभी पात्र—कवि से लेकर दीवारिक तक—प्रायः कवित्वमयी भाषा बोलते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से उक्त दोनों बातें दोष के अन्तर्गत ही हैं। हमारा मत है कि 'प्रसाद' प्रायः इन दोनों से मुक्त हैं।

प्रमाण के लिए एक अशिक्षित उड़ड़ भिक्षु और और सुश्रवा नाग के संवाद में 'प्रसाद' की भाषा-योजना देखिए :

“भिक्षु—भरे मूर्ख ? भूमि किसकी हुई ? यदि तेरे बाप-दादों की थी तो मेरे भी लकड़दादा, नकड़दादा, या किसी खपड़दादा की रही होगी।”^१

इस भाषा से ही भिक्षु की योग्यता का ज्ञान हो जाता है। दूसरे भिक्षु की भाषा देखिए :

“अभिताभ, यह कैसा जनपद है, जहाँ भिक्षुओं को देखकर कोई वन्दना भी नहीं करता, भिक्षा की तो कौन कहे।”^२

वही भिक्षु धर्म के उत्थान-पतन पर विचार करता हुआ नागरिक से कहता है :

“धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है ? प्रणय क्या पाप में परिवर्तित होता है ? भगवान, यह तुम्हारे धर्म-राज्य की कैसी व्यवस्था है। क्या धर्म में भी प्रतिघात होता है ? उसका भी पतन और उत्थान है ?”^३

इसी प्रकार कृषक-कन्या चन्द्रलेखा जब अपने बृद्ध पिता सुश्रवा को युवा भिक्षुओं के द्वारा बन्दी-रूप में देखती है तो भीरुतावश दो-दो, तीन-तीन शब्दों के वाक्य इस प्रकार बोलती है :

“जाने दो। क्षमा करो। मुझे मार लो। मेरे बूढ़े पिता को छोड़ दो।”^४ इत्यादि।

किन्तु वही चन्द्रलेखा बन्दिनी-रूप में इस प्रकार चिन्तन कर रही है—“प्रेम का विकास और विपत्ति-परिहास साथ ही साथ दोनों उबल पड़े; हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, उसीमें प्रणय-सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी।”^५ इन उद्धरणों में कहाँ हैं उपर्युक्त दोष !

संवाद, व्यापार और भाषण—‘राज्यश्री’ और ‘ध्रुवस्वामिनी’ में ‘प्रसाद’ की धारणा सम्भवतः इनकी अभिनेयता की और सदा बनी रही। प्रमाण यह है कि इन दोनों नाटकों की संवाद-योजना में शब्दों का चयन, भाषा का प्रभाव, भाषण का लाघव जनता की योग्यता और नाटक के व्यापार पर आश्रित है। इसके प्रतिकूल ‘अज्ञातवाग्नु’,

१. विशाख, जयशंकर प्रसाद, प्रथम अंक, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ ६०

३. वही, पृष्ठ ६०

४. वही, पृष्ठ २०

५. वही, पृष्ठ ३६

‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ में क्लिष्ट शब्द, दीर्घ वाक्यावली, बृहद् भाषण कहीं-कहीं इस रूप में आ जाते हैं कि उनमें आमूल परिवर्तन बिना अभिनय सफल हो ही नहीं सकता।

नाटक में संवाद और व्यापार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कहीं व्यापार संवाद के लिए नियोजित होता है और कहीं संवाद व्यापार-प्रसार के लिए प्रयुक्त। दोनों साथ-साथ मिलकर कभी रस-निष्पत्ति की ओर और कभी चरित्र-चित्रण की ओर दर्शकों को ले जाते हैं। इसी कारण संवाद का महत्त्व है।

हम पूर्व कह आए हैं कि संवाद के द्वारा युगपत् त्रिविध प्रयोजन की सिद्धि होती है। जिस संवाद में वार्तालाप करनेवालों को उत्तर पाने की उत्कंठा बनी रहती है, वही संवाद रोचक होकर त्रिविध प्रयोजन की पूर्ति करता है। जिस संवाद में लम्बे भाषण होते हैं और व्यापार का अभाव रहता है, वह अप्रिय और असफल होता है। संवाद में जहां एक ओर वाणी विचार की प्रेरणा से मस्तिष्क को पुष्ट करती है, वहां दूसरी ओर हाव-भाव तथा मुख-मुद्राओं की सहायता से हृद्गत कोमल भावों को उद्बुद्ध करती है। विचार की प्रौढ़ता से चरित्र-विकास का अभिनव स्वरूप सामने आता है तो भावों की उद्बुद्धता से रसास्वादन होता है।

कथोपकथन में शास्त्र-चर्चा एवं लम्बी वक्तृता—धर्मग्रंथों में कथोपकथन द्वारा तत्त्व-निरूपण एवं आत्मचिन्तन की परम्परा अति प्राचीन है। हिन्दी के प्राचीन नाटकों में भी यह शैली प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। विश्वनाथसिंह के नाटक में इसका हम विस्तार-पूर्वक विवेचन कर आए हैं। ‘प्रसाद’ के प्रायः सभी नाटकों में तत्त्व-निरूपण और आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, किन्तु निरूपण-शैली प्राचीन पद्धतियों से सर्वथा भिन्न है। ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ के तीसरे अंक, प्रथम दृश्य में वेदव्यास और जनमेजय के कथोपकथन में प्रारम्भ में धार्मिक ग्रंथों के तत्त्व-निरूपण की शैली की छाया प्रतीत होती है, किन्तु आगे घटनाओं का क्रम इस कौशल से सजाया जाता है कि धर्मग्रन्थ की संवाद-शैली विलुप्त हो जाती है और नाटकीय शैली प्रकट हो जाती है। जहां जनमेजय विविध प्रश्न करते हैं और व्यास उनका उत्तर देते हैं, वहां प्रश्न एक-एक पंक्ति के हैं, जिनका उत्तर रोचक ढंग से दिया जाता है। प्रश्न ये हैं—(१) भगवान बादरायण के रहते हुए भीषण कांड क्योंकर हुआ ? (२) मनुष्य का कोई दोष नहीं, वह निष्पाप है। (३) तो प्रभु, मैं यज्ञ न करूं ! इसके उत्तर में व्यासजी तत्त्व-निरूपण करते हैं। जनमेजय उन दार्शनिक तत्त्वों को श्रवण कर प्रस्थान करता है। तुरन्त ही शीला, सोमश्रवा, आस्तीक तथा मणिमाला का प्रवेश होता है।

प्रकृति के उस एकान्त प्रांगण आश्रम में आस्तीक एक लम्बी वक्तृता देता है—
“बुला लो, बुला लो, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय में बुला लो। जो पतझड़ करके नदी कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा

देता है, जो कोकिल के सदृश सस्नेह सकरुण आवाहन करता है, जिसमें विश्व-भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को, लौटा लो। कांटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्व-मात्र एक कुसुमस्तवक सदृश किसी निष्काम के करो में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे, विश्व-भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाए।” तदुपरांत समाधि से उठकर व्यास नवागन्तुकों से वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं। इस वार्तालाप में तत्त्व-चिन्तन की अपेक्षा कर्तव्य-पालन पर बल दिया जाता है। शीला और मणिमाला को सबका कल्याण करने के लिए शुद्धबुद्धि की शरण में जाने का उपदेश मिलता है। इस प्रकार संवाद के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन, उसके द्वारा तत्त्व-निरूपण की व्यवस्था और इस व्यवस्था के आधार पर उस कर्तव्य-कर्म की प्रेरणा की गई है, जिसका नाटक के कार्य से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार संवाद में प्राकृतिक वर्णन, तत्त्व-निरूपण, कर्तव्य-पालन, तीनों का एकीकरण एक स्थान पर उपलब्ध होता है। ‘प्रसाद’ से पूर्व ऐसी संवाद-योजना कदाचित् ही कहीं मिले।

इसी प्रकार ‘अज्ञातशत्रु’ के दूसरे अंक, छठे दृश्य में भूतपूर्व सम्राट विम्बसार और सम्राज्ञी मल्लिका का वार्तालाप दार्शनिक मीमांसा से प्रारम्भ होता है। जिस समय पूर्ण शान्तिमय वातावरण में बवंडर का प्रसंग छिड़ता है, बवंडर के सदृश ‘छलना’ का प्रवेश होता है और नाटक की स्थिर कथा गतिवती बनने लगती है। ऐसी दशा में दार्शनिक मीमांसा और नाटकीय मुख्य कथा का संगम मनोहारी बन गया है। ज्योंही दार्शनिक मीमांसा के कारण कथा-प्रवाह में शिथिलता दृष्टिगत होने लगती है, ‘प्रसाद’ ऐसे वेग के साथ एक नया प्रसंग उपस्थित कर देते हैं, कि दर्शक शैथिल्य की नीरसता से सद्यः निकलकर चमत्कृत हो उठता है। एक क्षण पूर्व दूरागत नीरसता विस्मृति के आवरण में विलीन हो जाती है।

‘प्रसाद’ सभी प्रकार के कथन को अलंकृत करने के पक्ष में हैं, चाहे वह यथार्थ-वाद और स्वाभाविकता से पूर्ण बद्ध भले ही न हो। यही कारण है कि उनकी संवाद-योजना में जितना कवित्व है, उतना वाग्वैदग्ध्य नहीं; जितनी गम्भीरता है, उतनी तरलता नहीं; जितना चमत्कार है, उतनी स्वाभाविकता नहीं; जितनी भावात्मकता है, उतनी सम्भाषण-पटुता और क्षिप्रता नहीं। संवाद में वे उक्ति-वैचित्र्य को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना अलंकारों को।

इनके प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे की सम्पूर्ण वक्तृता को धैर्यसहित अन्त तक सुनने का प्रयास करते हैं। उनमें प्रश्नों का उत्तर देने और प्रश्न करने की व्यग्रता प्रायः होती ही नहीं। कुछ सीमा तक यह धैर्य प्रशंसनीय हो सकता है, किन्तु जहां लम्बे-लम्बे भाषणों का तांता लग जाता है, वहां दर्शक और पाठक का धैर्य पात्रों का धैर्य देखकर भागने का प्रयास करता है। ‘अज्ञातशत्रु’ में कारायण और शक्तिमती का विवाद इसका प्रमाण है। एक स्थान पर तो कारायण न्यूनाधिक दस मिनट तक निरंतर वक्तृता भाड़ता ही जाता

है, शक्तिमती को बोलने का अवसर ही नहीं देता। ऐसे स्थल नाटकों में दोष उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार शास्त्र-वर्णन, आत्मचिंतन तथा दार्शनिक विवेचन व्यापाररहित होने के कारण कहीं-कहीं सर्वथा अनुपयुक्त बन जाते हैं, उसी प्रकार दीर्घ भाषण उत्तर-प्रत्युत्तर की क्षिप्रता के अभाववश रस के अवरोधक हो जाते हैं।

कहा जाता है कि 'प्रसाद' ने संवाद-सम्बन्धी उपर्युक्त त्रुटियों को स्वीकार किया और अपने अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' को इस दोष से सर्वथा मुक्त रखा। अतः कथोप-कथन की स्वाभाविकता के कारण यह नाटक अभिनय के सर्वथा उपयुक्त बन गया।

स्वगतोक्ति—'प्रसाद' के नाटकों में स्वगतोक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। स्वगतोक्ति की व्यवस्था प्राचीन नाटकों में प्रायः मिलती है, किन्तु आधुनिक नाटकों में इसको अनावश्यक ही नहीं, दोष समझा जाता है। यह दोष भी कथोपकथन के अन्तर्गत ही मानना चाहिए, क्योंकि स्वगतोक्ति को सुनकर कोई न कोई पात्र रंगमंच पर आ जाता है और संवाद प्रारम्भ हो जाता है। अतः स्वगतोक्ति स्वतः में पूर्ण नहीं, वह तो किसी व्यक्ति की अवस्था की सूचक होती है, अथवा किसी भावी घटना की भूमिका-मात्र, या किसी पात्र का चरित्र प्रकट करने के लिए होती है। जो स्वगतोक्तियाँ सूचना-मात्र के लिए प्रयुक्त होती हैं, वे अनिवार्य रूप से नीरस और नाट्यकला के प्रतिकूल मानी जाती हैं। जब नाटककार किसी ज्ञातव्य विषय की क्रमानुसार सूचना संवाद द्वारा देता है तो उसकी प्रक्रिया स्वाभाविक होने के कारण सामाजिक को रस की ओर ले जाती है, किन्तु जब वही घटना स्वगतोक्ति के रूप में सहसा प्रकट करने की चेष्टा की जाती है, तब नाटक-कार वर्णनात्मक शैली का अनुसरण करने से नाट्यकला से दूर हटता-हटता उपन्यास-कला के समीप जा पहुँचता है।

'प्रसाद' के स्वगत भाषण पात्र की अवस्था को प्रकट करते हुए भावी घटना की भूमिका भी प्रस्तुत करते हैं। 'विशाख' नाटक में नायक सर्वप्रथम एक शिलाखण्ड पर बैठा यौवन में प्राप्त असंतोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं के थपड़े खाता हुआ अपने हृद्गत भावों को स्वगतोक्ति के रूप में प्रकट करता है। इतने में चन्द्रलेखा आ जाती है। इस प्रकार सामाजिक को स्वगतोक्ति और चन्द्रलेखा के आगमन के सहारे विशाख के गुरुकुल-जीवन के साथ-साथ भावी घटना की भूमिका का भी परिचय सद्यः प्राप्त होता है। 'जन-मेजय का नागयज्ञ' में उत्तंक गुरुकुल के उपवन में अग्निशाला की परिचर्या के विषय में स्वगत भाषण करता है, इतने में दामिनी आ जाती है। दोनों का वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है।^१ यहाँ स्वगत भाषण उत्तंक की अतीत और वर्तमान अवस्था को प्रकट करता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में कमला की कुटी में स्कन्दगुप्त अपनी दुर्दशा पर विचार करता हुआ ईश्वर को स्मरण करता है, इसी समय सर्वनाग आ जाता है। वह भी स्वगत भाषण करके प्रस्थान करता है और स्कन्दगुप्त पुनः पतनोन्मुख आर्य-साम्राज्य के अपकर्ष के

कारणों पर विचार करता हुआ स्वगत भाषण करता है। इसी प्रकार तीन-तीन स्वगत भाषण एक स्थल पर दिखाई पड़ते हैं। उद्देश्य केवल आर्य-साम्राज्य की दुर्दशा का श्रोता को ज्ञान कराना है।

स्वगतोक्ति का तीसरा रूप उन स्थलों पर पाया जाता है, जहाँ कोई पात्र रंग-मंच पर उपस्थित अन्य पात्रों के सम्मुख खड़ा होकर हृद्गत भावों को स्वगत रूप में और व्यवहारोपयोगी बातों को प्रकट रूप में अभिव्यक्त करता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में मालविका और चाणक्य के वार्तालाप से यह बात स्पष्ट हो जाती है।^१ यहाँ स्वगतोक्ति मालविका के हृदय में द्रव्य मचानेवाले चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम को प्रकट करती है। इसका उद्देश्य है मालविका के चरित्र की एक भाँकी सामाजिक को दिखाना।

स्वगतोक्ति का यह तृतीय रूप किसी प्रकार भी नाटक के लिए उपयोगी नहीं। यह कैसे सम्भव है कि रंगमंच पर एक पात्र का वक्तव्य श्रोता तो सुन लें किन्तु पार्श्ववर्ती पात्र उसे न सुनें, क्योंकि भरत मुनि का शाप है। संस्कृत नाटकों की यह जनान्तिक शैली आज नितान्त असंगत मानी जाती है। सफल आधुनिक नाटककार इसका उपयोग करना अनुचित समझता है।

स्वगतोक्ति के शेष दो प्रकार भी अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी हैं। अतीत घटना की सूचना और निकट-भविष्य की सम्भावना के उद्देश्य से जिन स्वगतोक्तियों का प्रयोग होता है, वे प्राचीन नाटकों के प्रवेशक और विष्कम्भक का काम करती हैं।

नाटक का विधान यह है कि पात्र अपना तथा चरित्र का परिचय अपने व्यापारों से कराए न कि केवल वाणी से। दर्शक नाट्यशाला में श्रवण का उपयोग उतना ही करना चाहता है जितना अनिवार्य हो। जिस विषय का ज्ञान चक्षु द्वारा सम्भव है उसको श्रवण द्वारा सूचना-मात्र के रूप में पाकर वह सन्तुष्ट नहीं होता। अतः जो स्वगतोक्तियाँ प्रवेशक और विष्कम्भक का कार्य करती हैं, वे भी सराहनीय नहीं। 'प्रसाद' ने जहाँ सूचना के लिए स्वगतोक्ति के स्थान पर संवाद की योजना की है, वह स्थल अत्यन्त रम्य बन गया है। कौशाम्बी-राजपरिवार की गार्हस्थ्य परिस्थिति जीवक वैद्य और बसन्तक विदूषक के वार्तालाप द्वारा अनुक्रम से पाठकों के सम्मुख आती है, जो अभिनय की दृष्टि से बड़ी मनोरम प्रतीत होती है।

पात्रों का जो चरित्र-विकास उनके स्वाभाविक कार्य और पारस्परिक संवाद द्वारा क्रमशः अभिव्यक्त होना चाहिए, वही जब नाट्यकार स्वगतोक्ति के द्वारा पूर्वापर की संगति न रखते हुए कारण-कार्य की शैली के बिना ही सद्यः अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करने लगता है, तो वह सफल नहीं होता, क्योंकि इस कृत्रिम परिपाक के कारण दर्शकों को रसानुभूति नहीं हो पाती।

यद्यपि सिद्धान्त-रूप से प्रसाद स्वगत भाषणों को अस्वाभाविक मानकर उनपर

१. मालविका—(स्वगत) क्या ? असत्य बोलना होगा ? चन्द्रगुप्त के लिए सब कुछ करूँगी। (प्रकट) अञ्छा।

व्यंग्य^१ करते हैं, किन्तु अन्य साधनों के अभाव में कहीं-कहीं अन्ततोगत्वा इसीकी शरण में जाते हैं। यह तो निर्विवाद है कि स्वगत भाषण का प्रयोग कलाकार की विवशता का सूचक है। जब उसकी कलात्मकता पराजित होकर हाथ टेक देती है तो स्वगत भाषण उसे अपनी शरण में रखने को हाथ बढ़ाता है। अतः जो नाटककार स्वगतोक्ति की शरण-भूमि पर ही उतर आता है, वह कलालोक से दूर हो जाता है। उसका प्रमाण यह है कि स्वगतोक्तियों के रूप में लम्बे भाषण वास्तविक जगत् में स्वाभाविक रूप में कहीं नहीं सुने जाते। विक्षुब्ध और व्यग्र व्यक्ति भले ही चिन्ताकुल दशा में निश्वास लेता, आहें भरता दृष्टिगोचर होता हो। ऐसे विक्षिप्त व्यक्ति की वाणी से अकस्मात् दो-चार शब्द भी फूट पड़ते हैं, किन्तु लम्बे भाषण की सामर्थ्य उसमें नहीं हुआ करती। हां, भावोद्धेलित व्यक्ति एकान्त गीत गाता हुआ प्रायः देखा जाता है। 'प्रसाद' के एकान्त गीत स्वगत-रूप में समयोपयोगी और स्वाभाविक हैं।

नृत्य-गीत

प्रसादजी ने अपने प्रथम नाटक 'सज्जन' में भारतेन्दुजी की शैली के अनुसार गीतों की रचना की। इसके उपरान्त वे किसी अभिनव नाट्यकला का अनुसन्धान करने में दत्तचित्त हुए। उस समय हिन्दी में एक ओर तो भारतेन्दु-शैली पर प्रचुर गीत-साहित्य प्रस्तुत हो रहा था, दूसरी ओर पारसी रंगमंच के अटपटे गानों की धूम मची थी। 'प्रसाद' के चिन्तनशील मन को ये दोनों पद्धतियां सन्तुष्ट न कर सकीं। उनकी व्यापक दृष्टि से बंगाल का नूतन नाट्य-साहित्य भी अदृश्य कैसे रहता। बंगीय रंगमंच पर गिरीशचन्द्र घोष, रवीन्द्रनाथ प्रभुति नाट्यकारों के नवीन गीतिनाट्य सफलतापूर्वक अभिनीत हो रहे थे। रवीन्द्रनाथ के 'वाल्मीकि-प्रतिभा', 'काल मृगया', 'मायार खेला' नामक गीति-नाट्य एक नये रूप में अपनी छटा दिखा रहे थे। उनका 'चित्रा' (सं० १९४९ वि०) नामक गीतिनाट्य चतुर्दिक् ख्याति प्राप्त कर रहा था।

अनेक साहित्यिकों के सदृश 'प्रसाद' को भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गीति-नाट्य का अभाव खटक रहा था। लोचनप्रसाद पांडेय ने बंगला के नूतन गीतों की शैली पर संवत् १९६७ वि० में कई चतुर्दशपदियों की रचना की थी। हिन्दी के साहित्यकारों में इन नवीन काव्यों पर विविध टीका-टिप्पणी हो रही थी। 'प्रसाद' ने 'इन्दु' पत्रिका में चतुर्दशपदियों का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था।

इन्हीं दिनों शारदीय अवकाश में बंगला के प्रसिद्ध नाटककार और अभिनेता गिरीशचन्द्र घोष, जिन्होंने अतुकान्त छन्द में बीसियों गीतिनाट्य लिखे हैं, काशी आए हुए थे। 'प्रसाद' गीतिनाट्यकला की खोज में उनसे भी मिले। उनसे बंगला के गीति-

१. "जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, दर्शक-समाज वा रंगमंच सुन लेता है, पर पास खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है।"

नाटकों से छन्द-विधान के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। गिरीश बाबू का उत्तर गोल-मोल-सा था, “मैं किसी विशेष छन्द का प्रयोग नहीं करता, जब जो चरण जैसा-जैसा जुटता है, वैसा-वैसा लिख देता हूँ।”

इस उत्तर से ‘प्रसाद’ को शान्ति कहां मिलनेवाली थी। वे गीतों के नवविधान के अनुसन्धान में पुनः तल्लीन हुए और ‘करुणालय’ नामक गीतिनाट्य में २१ मात्रा के अरिल्ल छन्द का प्रयोग प्रारम्भ किया।

करुणालय

‘करुणालय’ के गीतों से भी वे सन्तुष्ट न हुए। ‘करुणालय’ की रचना के उपरान्त दो वर्ष के अन्तर्गत ‘राज्यश्री’ का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। ‘प्रसाद’ को स्वतः यह नाटक इतना अप्रिय प्रतीत हुआ कि इसके द्वितीय संस्करण में उन्होंने गीतों में आमूल परिवर्तन कर दिया। इससे स्वतः सिद्ध है कि प्रथम संस्करण के गीत ‘प्रसाद’ की अभिरुचि के अनुकूल न बन सके।

विशाख

‘राज्यश्री’ के छः वर्ष उपरान्त ‘विशाख’ की रचना हुई। इस नाटक में २५ कविताएं हैं, किन्तु अन्त में केवल १५ गीतों की स्वरलिपि विद्यमान है। इससे यह प्रमाणित होता है कि ‘प्रसाद’ रंगमंच पर गेय-रूप में इन्हींका उपयोग करना चाहते थे। इन १५ गीतों में निम्नलिखित केवल दो ही गीत ‘प्रसाद’ की वास्तविक गीति-काव्य-शैली के परिचायक हैं—(१) आज मधु पी ले यौवन बसन्त खिला।^१ (२) नदी नीर से भरी।^२

शेष गीतों की शैली प्राचीन ढंग की है। केवल इन्हीं दोनों गीतों में लाक्षणिक प्रयोग की नवीनता है।

उपर्युक्त दोनों गीत नाटक की पात्रगत विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण ससंदर्भ हैं और स्वतन्त्र रूप से भी गाने योग्य हैं। इनमें ‘प्रसाद’ के छायावाद का आभास मिलता है। ‘विशाख’ के शेष १३ गीत पद्यात्मक गीत हैं, इनमें गेयत्व है किन्तु काव्यत्व नहीं। अतः इन्हें गीति-काव्य^३ नहीं कह सकते।

अजातशत्रु

‘अजातशत्रु’ के बारह गीतों में दो पुरुषों द्वारा गाए जाते हैं। एक गान समवेत स्वर में भिक्षुगण गाते हैं और दूसरा नेपथ्य से गाया जाता है। शेष दस गीतों में सात मागन्धी गाती है, एक पद्मावती, एक बाजरा और एक नर्तकियां। बारह गीतों में मागन्धी के सात गीत इस बात के प्रमाण हैं कि ‘प्रसाद’ के मस्तिष्क में किसी एक पात्र को संगीत के लिए निर्धारित करने की योजना अवश्य रही होगी। मागन्धी श्यामा के गीतों में एक प्रकार का तारतम्य भी विद्यमान है। उसके गीत उसके जीवन के पतनोत्थान के

१. विशाख, जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण, सम्बत् २००४ वि०, पृष्ठ २६

२. विशाख, जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण, सम्बत् २००४ वि०, पृष्ठ ६६

३. गीति-काव्य के सम्बन्ध में अन्त में विचार किया जाएगा।

परिचायक हैं। केवल गीतों के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह जीवन का किस स्थिति में गायन कर रही है। प्रमाण के लिए मागन्धी का प्रथम गीत देखिए :

“अली ने क्यों भला अवहेला की।

चम्पक कली खिली सौरभ से उषा मनोहर बेला की।

विरस दिवस, मन बहलाने को मलयज से फिर खेला की।”

इस गीत के समय खिली चम्पक-कली के सदृश मागन्धी गीतम से की गई अवहेला को स्मरण कर रही है। वह मलयज के रूप में महाराज उदयन के साथ मनोविनोद के निमित्त ही क्रीड़ा कर रही है। ऐसी काल्पनिक सुख-लिप्सा में व्यस्त रहनेवाली मागन्धी जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में व्यर्थ महत्त्व का ढोंग रचने के कारण मन को संयत न कर सकी। अन्त में भगवान बुद्ध की शरणागत होने के लिए अपने पूर्व जीवन पर पश्चात्ताप करने लगी। ठोकरें खाते-खाते उसके मन का गर्व विलीन हो गया। उसका अन्तिम गीत उसके विगत जीवन के समग्र इतिहास का इस प्रकार सूचक है :

“पलट गए दिन सनेह वाले, नहीं नशा, अब रही न गर्मी।

न नींद सुख की, न रंगरलियां, न सेज उजला बिछाय सोई॥

बनी न कुछ इस चपल चित्त की, अखर गया झूठ गर्व जो था।

असीम चिन्ता चिता रही है, बिटप कँटीले लगाय रोई॥

क्षणिक वेदना अनन्त सुख बन, समझ लिया शून्य में बसेरा।

पवन पकड़ कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई॥”^१

उदयन से क्रीड़ा करनेवाली मागन्धी की यह स्थिति सहसा नहीं हो गई। इससे पूर्व उसके संस्कृत मन की दशा एक गीत में प्रकट हो चुकी है। तपस्या की अग्नि में उसका मन शुद्ध हो चुका है। जब मागन्धी आम्र-कानन में भगवान बुद्ध के आगमन की प्रतीक्षा करते दिखाई पड़ती है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका निराश्रित हृदय भगवान बुद्ध के अतिरिक्त और किसी सांसारिक व्यक्ति के आश्रय में जाने को लालायित नहीं। वार-वधू-सा जीवन व्यतीत करनेवाली एक नारकीय नारी के हृदय में इतना महान परिवर्तन सत्संगति के बिना सहसा नहीं हो सकता। मागन्धी इसके पूर्व मल्लिका के संसर्ग में आने पर करुणामय सज्जन-हृदय को स्वर्ग मान चुकी थी। ‘प्रसाद’ ने उसकी इस मनःस्थिति को इस गीत से प्रकट कर दिया है :

“स्वर्ग है नहीं दूसरा और।

सज्जन-हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर॥”^२

इससे यह प्रमाणित होता है कि ‘अज्ञातशत्रु’ में गीतों की योजना गायक के चरित्र-विकास के आधार पर निर्मित है।

१. अज्ञातशत्रु, जयशंकर प्रसाद, तेरहवां संस्करण, सं० २००८ वि०, पृष्ठ १३६

२. अज्ञातशत्रु, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १२२

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक में केवल छः गीत हैं, जिनमें दो स्वातन्त्र्य-युद्ध का आह्वान करते हैं और दो नेपथ्यगीत के रूप में हैं। शेष दो सरमा और सखियों के हैं। इन गीतों में मनसा और सैनिकों का भोजपूर्ण गीत राष्ट्रीय भावना का उद्बोधक है। गीतिकाव्य की दृष्टि से इस नाटक का कोई भी गीत उच्चकोटि का नहीं। इस नाटक में गीतों की अपेक्षा गद्य में काव्यत्व अधिक है।

कामना

‘कामना’ के गीत कोमलता में अद्वितीय हैं। जिस नाटक में सुकुमार मनोवृत्तियाँ ही पात्र बन जाएं, उसमें गीतों की सुकुमारता के विषय में क्या कहा जाए। इस नाटक के एक गीत में ऐसी विशेषता है जो ‘प्रसाद’ के किसी अन्य नाटक में उपलब्ध नहीं। इसमें वह गीत^१ ऐसा है जिसकी एक पंक्ति कामना गाती है और दूसरी एक सखी और तीसरी दूसरी सखी। ‘प्रसाद’ के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में इस प्रकार कई गायकों द्वारा आंशिक रूप में गाया जानेवाला यही एक गान है। पारसी रंगमंचों पर यह शैली किसी समय अत्यन्त प्रचलित थी। अन्तर यह है कि पारसी रंगमंचीय गीतों की हृदयहीन भावुकता और कलारहित मादकता के स्थान पर इसमें हृदय की महानता और कला की सुकुमारता पाई जाती है।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त

‘स्कन्दगुप्त’ में तेरह गीत हैं, जिनमें छः की गायिका देवसेना है और एक गीत उसकी सखी उसीके प्रति गा रही है। एक गीत विजया का है और दो हैं नर्तकियों के। पुरुष पात्रों में केवल एक पात्र है, कवि मातृगुप्त, जो गीत सुनाता है। एक गीत नेपथ्य से सुनाई पड़ता है।

‘चन्द्रगुप्त’ में भी तेरह गीत हैं। इनमें भी ग्यारह गीत स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। एक नेपथ्य से सुनाई पड़ता है और एक गीत राक्षस गाता है। स्त्रियों के ग्यारह गीतों में तीन सुवासिनी, तीन अलका, तीन मालविका, एक कल्याणी और एक कार्नेलिया गाती है। भाव की दृष्टि से दो राष्ट्रीय गान हैं और एक अतीत स्मृति का। शेष आठ शृंगार, प्रेम, सौन्दर्य-सम्बन्धी हैं।

राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी

राज्यश्री में सात गीत हैं जिनमें चार की गायिका सुरमा है, एक की राज्यश्री। एक नेपथ्यगान है और अन्तिम गान भरतवाक्य सदृश समवेत स्वर में गाया जाता है।

‘ध्रुवस्वामिनी’ में चार गीत हैं—दो का गान मन्दाकिनी करती है, एक कोमा गाती है और एक गान नर्तकियों द्वारा होता है।

उपर्युक्त तालिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ‘प्रसाद’ ने प्रायः

प्रत्येक नाटक में नृत्य-गीत को स्थान दिया है। यद्यपि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कोई नर्तकी रंगमंच पर नृत्य नहीं दिखलाती तथापि 'प्रसाद' ने कई बार संकेत अवश्य किया है कि सुवासिनी व्यावसायिक अभिनेत्री^१ है। वह नन्द की रंगशाला में अभिनेत्री का व्यवसाय करती है। अतः 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी नर्तकी की योजना स्वीकार करनी ही होगी। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास में नृत्य-गीत को महत्त्व देते हैं। अब विचारणीय यह है कि नृत्य के संकेत और गीत के निर्माण में उनकी निश्चित योजना क्या है ?

नृत्य

प्रसाद के नाटक में दो प्रकार की नर्तकियां हैं—राजा के विलास-भवन में मनोरंजन करनेवाली रमणियां और राजकुमारी की सखियां। विलास-भवन की नर्तकियां नृत्य-गीत द्वारा आगामी घटना के अनुकूल वातावरण का निर्माण एवं नृत्य का आदेश देनेवाले व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करती हैं। नर्तकियां अथवा सखियां वर्तमान वातावरण को मादक और उत्तेजक बनाकर मुख्य पात्र के हृदय में उत्पन्न प्रेमांकुर को शक्ति देती हैं। तात्पर्य यह है कि नृत्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं प्रत्युत चरित्र-विकास और वातावरण-निर्माण भी है।^२

नर्तकियों के गीत

अन्य गीतों के सदृश नर्तकियों के गीतों का कलापक्ष भी काल-क्रमानुसार विकसित होता गया है। 'विशाख' और 'स्कन्दगुप्त' की नर्तकियों के गीत एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि वे एक नाट्यकार की रचना प्रतीत होते ही नहीं। 'विशाख' का नर्तकियों का गीत स्वच्छन्द छन्द में प्रेम की कसक को इस प्रकार प्रकट करता है :

“हिये में चुभ गई,

हां, ऐसी मधुर मुसकान।

लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान।”^३

इस गान से यह स्पष्ट हो जाता है 'प्रसाद' छन्द की प्राचीन परिपाटी त्यागकर एक नवीन शैली के अन्वेषण में संलग्न हैं। 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' में उन्हें नर्तकियों के योग्य गीत का स्वरूप प्राप्त-सा हो गया है। इन गीतों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य में

१. (क) सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—सम्भवतः पेट की ज्वाला से।

—चन्द्रगुप्त नाटक, प्र० अङ्क, पृ० १७

(ख) वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा हुआ।

—चन्द्रगुप्त नाटक, प्र० अङ्क, पृ० १८

२. अजातशत्रु नाटक में जब मागन्धी को उदयन विस्मृत कर रहा था और मागन्धी उनका हाथ पकड़कर बातलाप करने जा रही थी, नर्तकियां रङ्गमंच पर इस प्रकार गाती आती हैं :

‘ध्यारे, निर्मोही होकर तू हमको भूलना रे।’

—अजातशत्रु, प्र० अङ्क, पृ० ४३

३. विशाख, जयशंकरप्रसाद, अङ्क २, पृ० ४५

चमत्कार है। लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता है। प्रमाण के लिए भट्टार्क के शिविर में नर्तकी का गीत देखिए। इस दृश्य का आशय है भट्टार्क को उसकी भूलें बताकर सत्य पर लाना। यह गीत भट्टार्क के सुप्त चेतना-सागर को जागरित करने के निमित्त निमित्त किया गया है :

“भाव-निधि में लहरियां उठतीं तभी
भूलकर भी जब स्मरण होता कभी।
उधर मुरली फूंक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।”^१

नेपथ्यगीत

नर्तकियों के अतिरिक्त ‘प्रसाद’ ने नेपथ्यगीत को भी नाटकों में स्थान दिया है। देखना यह है कि नाट्यकार नेपथ्यगान की योजना क्यों बनाता है? नाटक में इसकी क्या उपयोगिता है? यदि गान की ही आवश्यकता है तो ‘प्रसाद’ रंगमंच पर उपस्थित किसी पात्र को ही गायक क्यों न बना देते?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि नेपथ्यगान की आवश्यकता नाटक में कहां प्रतीत होती है। जब रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के द्वारा किसी विशेष तथ्य का उद्घाटन सम्भव नहीं होता, तब नेपथ्य का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। ‘प्रसाद’ को भी इस आपद्धर्म का सहारा कहीं-कहीं लेना पड़ा है। यहां उनके कतिपय नेपथ्यगीतों का अवलम्ब लेकर हम उनके आपद्धर्म के निर्वाह पर विचार करेंगे।

शत्रुओं से घिरी हुई राज्यश्री जीवन का अन्त करने जा रही है। उस निरवलम्ब अबला को इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं सूझता। उसके रक्षक दिवाकरमित्र को सहसा रंगमंच पर न लाकर ‘प्रसाद’ उसके दूरागत गीत को नेपथ्यगान^२ के रूप में उपस्थित करते हैं। इससे चार प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(१) नेपथ्य-गान से राज्यश्री को आश्वासन मिल जाता है; (२) दस्युदल किसी अनिष्ट की आशंका से अपने कलुषित कर्म से विरत होने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है; (३) नाट्यकार इस दोष से बच जाता है कि पूर्व-सूचना बिना सहसा एक व्यक्ति रंगमंच पर आ जाता है; (४) दिवाकरमित्र को रंगमंच पर पहुंचाने का समय मिल जाता है।

इसी प्रकार कुटीर में लेटे एकाकी बिम्बसार को जीवन-मीमांसा का एक रहस्य

१. स्कन्दगुप्त, जयशंकर प्रसाद, अङ्क ४, पृ० १२०

२. अब भी चेत ले तू नीच !

दुःख परितापित धरा को स्नेह जल से सींच ॥

× × ×

स्नान कर कल्याण-सरोवर, धुले तेरा कीच ॥

—राज्यश्री, अंक ३, दृश्य २

समझाना कवि को अभीष्ट है। इस रहस्य का उद्घाटन कौन कैसे करे ? सम्राट के अन्तः-करण में साम्राज्य-त्याग—“किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में अध-खिला फूल होकर पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे-से उस थाले में चू पड़ने”—की अभिलाषा उत्पन्न करने का अन्य क्या साधन था ? इसी कारण एकाकी सम्राट के उद्बोधन के लिए नेपथ्यगान की आवश्यकता पड़ी ?^१

‘प्रसाद’ के नेपथ्यगान की एक और उपयोगिता है। रंगमंच पर केवल एक ही पात्र उपस्थित हो और वह भी विचारमग्न होकर मौन धारण कर ले तो दर्शक क्या करें। ‘प्रसाद’ ने ऐसे आपत्काल में नेपथ्यगान का सहारा लिया है। सुवासिनी के प्रस्थान के उप-रान्त एकाकी राक्षस अचेतन-सा पड़ा है। उसमें चेतना-संचार करने के पूर्व रूप-ज्वाला की शक्ति, रागमयी हाला की तीव्रता का परिचय नेपथ्यगान के द्वारा कराया गया है। यह गान राक्षस भी गा सकता था, किन्तु वह गान में संलग्न हो जाता तो मौन चिन्तन द्वारा हृदय में जिस दृढ़ संकल्प की प्रेरणा उसे हुई है वह सम्भव न थी। अतः इस नेपथ्यगान के द्वारा राक्षस को चिन्तन का अवकाश मिलता है; उसके भावानुरूप वातावरण की सृष्टि होती है। दर्शकों को रूप-मादकतः का ज्ञान होता है। इस प्रकार नेपथ्यगान तीन कार्य एकसाथ सिद्ध करता है।

‘प्रसाद’ ने अपने नाटकों में गीतिकाव्य का उपयोग दो रूपों में किया है—गेय और पाठ्य। कतिपय पात्र गीति-काव्य को गानरूप में नहीं पाठ्यरूप में उपस्थित करते हैं। गीतम और प्रेमानन्द गाते नहीं हैं। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त कभी गाता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। वह गीतिकाव्यों का स्वर उच्चारण करता है, उन्हें राग-रागिनियों में बांधता नहीं। इसके प्रतिकूल देवसेना जब भी भावावेश में होती है, गायक बन जाती है।

स्वरलिपि-रहित गीत

‘प्रसाद’ जिन गीतों को रंगमंच पर वाद्य-यन्त्रों की सहायता से संगीत-रूप में उप-स्थित करना चाहते हैं, उनकी स्वरलिपि नाटक के अन्त में संयुक्त कर देते हैं। वे तो गीति-काव्य कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु जो काव्य स्वरलिपि-रहित हैं, क्या

१. चल बसन्त बाला अन्वले से किस घातक सौरभ में मस्त,
आती मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त।

×

×

×

कुम्हलाए, सूखे, पेंडे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के वृन्तों से।

—अजातशत्रु, अंक ३, दृश्य ६

२. कैसी कभी रूप की ज्वाला !

पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवरा।

सन्ध्या गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला !

—चन्द्रगुप्त, अंक ४, दृश्य २

छन्हें भी गीतिकाव्य कहा जा सकता है ? इसका निर्णय करने के पूर्व हमें गीतिकाव्य के लक्षण पर प्रकाश डालना चाहिए ।

गीति-काव्य के लक्षण

(१) जिस छन्दबद्ध रचना में भावातिरेक की धारा इस रूप में प्रवाहित हो कि उसमें स्वर-लहरियां स्वभावतः तरंगित हो उठें । (२) जिसमें कवि या पात्र की रागात्मकता उसके व्यक्तित्व के साथ मिलकर आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट हो । (३) जिसका आकार इतना ही बड़ा हो कि कवि की रागात्मकता का प्रवाह शिथिल न पड़ सके । (४) जिसमें घटना तथा वर्णन को निम्नतम किन्तु भावना को उच्चतम स्थान प्राप्त हो । जिस काव्य में एक तथ्य या भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो वह गीतिकाव्य है । गीति-काव्य में संगीतात्मकता अथवा प्रवाहमयी कोमल-कान्त पदावली की ध्वन्यात्मकता, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है), संश्लिष्टता और भाव-प्रबणता का होना आवश्यक है । इसमें कवि बाह्य वर्णन की अपेक्षा स्वानुभूति को अधिक महत्त्व देता है ।

महादेवी बर्मा के शब्दों में इसे इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं कि “साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके ।” इससे यह सिद्ध हुआ कि गीति-काव्य का ध्वन्यात्मकता में गेय होना आवश्यक है न कि संगीतशास्त्र के अनुसार राग-रागिनीबद्ध होना ।

अंग्रेजी के गीति-काव्य

बंगला और हिन्दी-गीति-काव्य अंग्रेजी की जिस लिरिक पोइट्री^१ (Lyric Poetry) से प्रभावित हैं, उसके लक्षण में काव्य की गेयता अनिवार्य नहीं । जो छन्दबद्ध रचना बाह्य प्रकृति अथवा घटना से अधिक कवि की स्वानुभूति पर अवलम्बित हो, वह अंग्रेय होने पर भी गीतिकाव्य है । तथ्य तो यह है कि सभी काव्य संगीतात्मक हैं ।^२

गीतों का भाव-पक्ष

प्रसाद के गीति-काव्यों की विशेषता पर विविध दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है । संगीतज्ञ के लिए इनमें रागों की विविधता है तो काव्यशास्त्री के लिए अनुपम काव्यत्व । कल्पना-प्रेमी के लिए इनमें उदात्त कल्पना है तो कला-प्रेमी के लिए कला की सुकुमारता । संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावाद की प्रायः सम्पूर्ण विशेषताएं ‘प्रसाद’ के गीतों में विद्यमान हैं । इन गीति-काव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त

१. Lyric poetry which is actually sung or not is generally composed in stanzas and, as distinguished from epic and dramatic poetry, is expressive of the poet's feeling rather than of outward incident or events, and may take a special form as ode, sonnet, hymn, roundal or any of numerous verse schemes.

२. All poetry is musical. —Walter Pater

नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, अड्डालु का वृद्ध विश्वास, संन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्मसमर्पण, मातृभूमि का ममत्व, देशप्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोह-अवरोह, अध्यात्म का चिन्तन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पड़ता है।

गीतों का कला-पक्ष

हम पूर्व कह आए हैं कि जब कोई पात्र व्यापार अथवा वार्तालाप द्वारा अपने भावोच्छ्वास को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है तो वह गीतों का आश्रय ढूँढ़ता है। जब सभी पात्र एक ही विचारधारा में निमज्जित होते हैं तो समवेत स्वर में गीत फूट पड़ता है। अतः 'प्रसाद' को जहाँ एक जनसमूह की भावना का आरोह और अवरोह दिखाना अभीष्ट होता है, वहाँ उनकी भाषा वैयक्तिक गान की भाषा से भिन्न होती है।

'प्रसाद' के दो सामूहिक गीत 'हिन्दी-साहित्य की अमरनिधि बन गए हैं। प्रथम गान तो 'वन्देमातरम्' गायन के समान ही राष्ट्रीय जीवन-प्रदायक बन गया है। इस गीत में संयुक्ताक्षरों, अनुस्वारों, ढ, ण, ज, झ आदि व्यंजनों के कारण प्रयाण-गीत का सोष्ठव चमक उठा है। इसका छन्द भी शब्दों की ध्वनि के अनुरूप है। उनका यह गीत "स्वर और लय पर नृत्य करता है और छन्द वीरभावों के साथ अकड़कर चलता है।" इसमें जातीय गर्व और शालीनता है, ओज और कोमलता है। प्रसाद के राष्ट्रीय गीत के समीप संकीर्णता फटकने नहीं पाती। कार्नेलिया को भारतवर्ष की प्राकृतिक सुन्दरता तो प्रिय है ही, इससे अधिक प्रिय है यहाँ का अध्यात्मवाद। उसे इस देश का वैयक्तिक जीवन इतना करुणाद्र और विश्वव्यापी प्रतीत होता है कि व्यष्टि और समष्टि में भेद दिखाई ही नहीं पड़ता। इस गम्भीर आशय को 'प्रसाद' लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इस प्रकार प्रकट करते हैं :

“बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणाजल,
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।”

सादृश्य-सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा बरसाती 'आँखों' का अर्थ हृदय का करुणाद्र होना एवं 'अनन्त को किनारा' मिलना का भाव सीम और असीम का मिलन स्पष्ट करना

१. (क) हिमाद्रि तुरु शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला, स्वतन्त्रता पुकारती—
“अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिष्ठ सोच लो,
प्रास्त पुण्य पथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।”

- (ख) पैरों के नीचे जलधर हो, बिजली से उनका खेल चले।
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत भरने बै-मेल चलें।

—चन्द्रगुप्त, अंक ४, दृश्य ६

—भुवस्वामिनी, पृष्ठ ३३

‘प्रसाद’ को अभीष्ट है। ‘प्रसाद’ के राष्ट्रीय गीत देशानुराग उत्पन्न करते हुए ‘जगत् की अपूर्णताओं, कठोरताओं एवं कर्कशताओं को मंगलमय भगवान की मंगलविधायिनी शक्तियों के सहारे स्निग्ध और सुढील बनाने की कामना प्रकट करते हैं।’^१ ‘भ्रमण यह मधुमय देश हमारा,’ यह गीत इस बात का प्रमाण है।

‘प्रसाद’ के नाटकों में सबसे अधिक संख्या सौन्दर्य-प्रेम-सम्बन्धी गीतों की है। उनके सौन्दर्य-वर्णन में स्थूलता के स्थान पर वायवी दिव्यता है। उनकी दृष्टि सुन्दर वस्तुओं के बाह्य रूप की भांकी देखती हुई अन्तरात्मा में प्रविष्ट होती है। वहीं उसे विश्रान्ति मिलती है। वे सौन्दर्य के अन्तस्तल में निवास करनेवाली रहस्यमयता को प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें लाक्षणिक प्रयोग और सांकेतिक अभिव्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। इस शैली का उनका प्रसिद्ध गीत है—

“तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों।

हे लाज-भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?”

यहां उपादान लक्षणा के द्वारा लाज-भरे सौन्दर्य का वर्णन है, आधार के स्थान पर आधेय कथित है।

‘प्रसाद’ ने प्रेमी के जीवन को विविध दृष्टिकोणों से देखा है। प्रेमी-हृदय का कोना-कोना वे भांक आए हैं। उन्होंने नाटकों में दर्जनों गीत प्रेमी की आशा-निराशा, मिलन-विरह, सुख-दुःख, उल्लास-कसक आदि को प्रकट करने के लिए लिखे हैं। इन गीतों में मादकता के साथ शान्ति है, ज्वाला के साथ शीतलता है। उपमाएं और रूपक नितान्त नवीन हैं। उनका ‘प्रेम-तरु’ तापित और दग्ध को छाया प्रदान करता है। ‘कामायिनी’ की श्रद्धा यहां सरिता है^२ और विश्वास प्रेम-तरु की छाया है। इस गीत के द्वारा देवसेना अपनी सखी विजया को प्रेम-रहस्य समझा रही है। यह गीत संदर्भसहित होने पर नाटक का वातावरण निर्मित करता है और स्वतन्त्र रूप से प्रेम की व्याख्या भी करता है। ‘प्रसाद’ के गीतों की यह विशेषता है।

‘प्रसाद’ ने प्रेमी-जीवन के सुख का वह चित्र खींचा है, जिसे देखकर ‘स्वर्ग की कल्पित अप्सराएं और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी आश्चर्यचकित हों।’ किन्तु उस विलक्षण सुख की प्राप्ति के लिए जिस तपस्या की आवश्यकता है उसमें ‘तीखे

१. काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय, पृष्ठ १५०

२. घने प्रेम तरु तले,

बैठ छाँह लो भव आतप से तापित और जले।

छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,

सिन्धु आंसुओं से सृजित है परागमय धूल,

यहां कौन जो छले !

मिलो स्नेह से गले।

घने प्रेम तरु तले।

तिरस्कार से लाञ्छित होने पर भी अनुनय-सहिष्णु बना रहता है। दुर्बल दीनता निष्ठुरता के चरणों से ठुकराए जाने पर भी मौन रहती है और उसकी यही कामना रहती है कि ठुकरानेवाली निष्ठुरता किसी प्रकार सुखी रहे।^१

इसमें तिरस्कार, अनुनय, दीनता, निष्ठुरता आदि मनोभावों का मानवीकरण किया गया है। अमूर्त की तुलना मूर्त से करते हुए विविध अलंकारों का विधान करना 'प्रसाद' की कला का मुख्य अंग है। वे बाह्य प्रकृति पर मानवी भावों का आरोप करते हैं और आन्तरिक भावों का मानवीकरण लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा करते हैं। कहीं-कहीं वे द्वितीय लाक्षणिक प्रयोग द्वारा गीतों को अत्यन्त दुरूह बना देते हैं। जब पाठक या दर्शक को गीतों का अर्थ समझने के लिए दुहरे लाक्षणिक प्रयोगों का आवरण बेधकर तथ्य तक दृष्टि ले जानी पड़ती है तो वह कभी-कभी निराश हो जाता है और कह उठता है कि 'प्रसाद' के गीत प्रसादगुण-रहित हैं।

सौन्दर्य-बोध

गीतों की दुरूहता का एक कारण और है। 'प्रसाद' ने सौन्दर्य-बोध की नवीन व्याख्या की है। उनके गीत सौन्दर्यानुभूति के तारतम्य की ओर निर्देश करते हैं। जैसे एक ही चित्र^२ शिक्षा और सामर्थ्य के अनुसार दर्शकों को आनन्द की भिन्न-भिन्न स्थिति तक पहुँचाता है, उसी प्रकार एक ही सुन्दर पदार्थ दर्शकों को दृष्टि-सामर्थ्य के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न स्तर तक पहुँचाता है। दृष्टि-सामर्थ्य से अभिप्राय है—(१) चर्म-चक्षुओं की सामर्थ्य (२) बुद्धि-दृष्टि की सामर्थ्य (३) आत्मदृष्टि की सामर्थ्य।

इन दृष्टियों के अनुसार सौन्दर्य-बोध के तीन रूप हुए। प्रथम रूप कामुक एवं संयमहीन व्यक्ति के गीतों में पाया जाता है। विलासियों को रूप में कड़ी ज्वाला दिखाई पड़ती है।^३ उन्हें पवित्र सुनहली उषा मद्य पिलाती है।^४ उनकी स्वासों में चिनगारी उड़ती

१. अनुनय उलझ रहा हो तोखे तिरस्कार से लाञ्छित हो।

यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से जिसमें तुम भी सुख पाओ।

२. जो व्यक्ति विचारशील हैं, वे चित्र में रंगों की छटा को देखकर ही मुग्ध नहीं होते, वे मुख्य के साथ गौण के, बीच के साथ चारों ओर के और आगे के साथ पीछे के सामंजस्य का पता लगाते हैं। रंग तो आँखों को आकर्षित करता है, परन्तु सामंजस्य की सुषमा को देखने के लिए मन की आवश्यकता होती है। उसको गम्भीर रूप से देखना पड़ता है, इसलिए उसका आनन्द भी गम्भीरतर होता है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

३. कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।

पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला।

—चन्द्रगुप्त नाटक, चतुर्थ अंक, दृश्य २

४. उषा सुनहला मद्य पिलाती। रयामा

—अजातशत्रु, अंक, २, ४

है।^१ उनकी पलकों से मादकता की लाली के डोरे फंसते हैं।^१ भोगासक्त और विलास-प्रमत्त पात्र अपनी तुच्छ प्रवृत्ति की क्षुधा-तृप्ति को ही सौंदर्य-बोध की इतिश्री समझ बैठता है। इससे अधिक समझने की उसमें सामर्थ्य नहीं। ऐसे पात्रों के गीत अति सामान्य होने के कारण अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं।

दूसरे वर्ग के गायक हैं संयमी साधक। 'प्रसाद' ने कतिपय ऐसे तपस्वी पात्रों की रचना की है, जो 'सौंदर्य के अन्तःपुर में निवास करनेवाली जगत् की आलोकवसना सती लक्ष्मी का दर्शन' करने में समर्थ हुए हैं। इस अन्तःपुर के चतुर्दिक् दूर-दूर तक उन लोलुपों का प्रवेश वर्जित है, जो नशे के उन्माद को सौंदर्य-सुख मानकर मस्त रहना चाहते हैं। कृष्ण-सौंदर्य देखने की शक्ति दिव्य चक्षु में हुआ करती है। चक्षु को दिव्य बनाने के लिए साधन-सम्पन्न बनना पड़ता है। जिन पात्रों के चर्म-चक्षुओं की सहायता कल्याणी बुद्धि करती है, उन्हें सौंदर्य-लक्ष्मी का दर्शन निरन्तर सुलभ हो जाता है। ऐसे साधकों के कंठ से अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में जो संगीत फूट पड़ता है, वह सुधारस की वर्षा करता है। इस प्रकार के गायक हैं—कल्याणी, मालविका, देवसेना इत्यादि। प्रमाण के लिए दो-एक गीत देखिए। कल्याणी चन्द्रगुप्त की स्मृति में गाती है कि हे कुमुदबन्धु (चन्द्र) ! अपने अमृत-कर्णों से वसुधा को स्नान करा दो, जिससे अन्धकार दूर हो जाए और सर्वत्र आलोक छा जाए ! आंसुओं के कण उस अमृत-कर को प्राप्त कर मोनी बन जाएं। वेदना-बोझिल हृदय-रूपी समुद्र में आनन्द की लहरियां उठने लगें। हंसी-रूपी हंसमाला की मधुर ध्वनि के बहाने वसन्त की पूर्णिमा का आगमन हो जाए।^२

संयमी की प्रेम-साधना-पद्धति निराली है। नारी अपने प्रियतम के सौन्दर्य में अनुरागदेवता का सौन्दर्य देखती है, उसका हृद्गत राग उस प्रियतम को पूर्णतया समर्पित है, जिसका मनोराग विश्वमंगल में सन्निहित है। जो अनुरागदेवता विश्वव्यापी है, वही उसके हृदय को प्रियतम के हृदय से मिलाने में समर्थ है। उसीकी आराधना से प्रणयी और प्रणयिनी के हृदय एक बनते हैं। उसकी सबसे बड़ी आराधना तन्मयता की स्थिति-प्राप्ति है। तन्मयता की यह स्थिति उपनिषद्विहित तन्मयता के सदृश ही है, किन्तु इसका साधन

१. चिनगारी श्वासों में उड़ती। श्यामा

विकल हैं इन्द्रियां, हां देखने इस रूप के सपने। श्यामा

२. मादकता लाली के डोरे इधर फंसे हों पलकों से। विजया

३. सुधा सीकर से नहला दो।

—अनांतरानु, अंक २, ८

—अजातरानु, अंक २, ८

—स्कन्दगुप्त, अंक ५

× × ×

अंधकार उजला हो जाये,

हंसी हंसमाला मंडराये,

मधु राका आगमन कलरवों के मिस—

कहला दो !

उससे कुछ भिन्न है।^१ इसमें ओंकार के स्थान पर प्रियतम के सौन्दर्य को मन-रूपी शर का आधार बनाना पड़ता है। प्रियतम की निरन्तर स्मृति ही शर-सन्धान का अभ्यास है। इस अभ्यास के द्वारा अनुरागी मन अनुरागदेव में एकाकार बन जाता है। उस स्थिति में हृद्गत राग मानव-प्रेम के प्रतीक अनुरागदेव के साथ तादात्म्य धारण कर लेता है और चित्त शांत हो जाता है। फिर, विश्व-मंगलकामना में प्रणयी-प्रणयिनी की समस्त कामनाएं विलीन हो जाती हैं। कल्याणी, मालविका, देवसेना की यही सौन्दर्यानुभूति है। इसमें चेतनसागर आनन्द की हिलोरे लेंने लगता है, प्राण पुलकित हो उठते हैं। अनुरागदेव इस अनन्तनिधि संसार-सागर का नाविक बन जाता है। वह अनंग होते हुए भी जगत् की विपत्तियों से साधक की रक्षा करता है।^२ उस देवता की प्रसन्नता की सूचक है प्रियतम की अनुकूलता, और प्रियतम की प्रसन्नता उस देवता की अनुकूलता का बोध कराती है। प्रियतम एवं अनुरागदेव की प्रसन्नता से सौन्दर्य शिव बन जाता है और शिव सुन्दर। इनका भेद मिट जाने से साधक की प्रगति शाश्वत सत्य की ओर स्वभावतः होने लगती है। साधक ज्यों-ज्यों सत्योन्मुख होता है, त्यों-त्यों प्रणयी-प्रणयिनी और प्रणय के भेद-भाव का उसी प्रकार निराकरण होने लगता है, जिस प्रकार ब्रह्मवादियों की साधना के क्षेत्र में साधक, साध्य और सिद्धि का। विरागी ब्रह्मवादी की ब्रह्ममयता अनुरागी की तन्मयता है। उपनिषद् जिस तत् का अर्थ ब्रह्म बतलाता है, कवि उसका तात्पर्य अनुरागदेव समझता है और 'शरवत्तन्मयो भवेत्' का अर्थ मन का अनुरागदेवमय होना मानता है।

भक्त भगवान की शोभा को अपने हृत्प्रदेश और राम-कृष्ण की मूर्ति में देखता हुआ समस्त विश्व में व्यापक मानता है। प्रणयिनी हृद्गत राग को अपने प्रियतम के सौन्दर्य के साथ विश्व में व्यापक मानती है। भक्त भगवान की सेवा के लिए जीता है; प्रणयी और प्रणयिनी विश्वमंगल के लिए जीवित रहते हैं। दोनों के दुःख-सुख अपने नहीं, विश्व के हैं। वहां स्वार्थ की गन्ध नहीं, पूर्ण आत्मोत्सर्ग है।

'प्रसाद' की यह प्रणय-साधना भक्त कवियों से भिन्न है। सगुणोपासक कवियों ने धार्मिक भाव से सीता-राम एवं राधा-कृष्ण के प्रेम को प्रमुखता दी। 'प्रसाद' ने धार्मिकता का आश्रय न लेकर आधुनिक मनोविज्ञान को ग्रहण किया और ब्रह्म-माया, राधा-कृष्ण एवं सीता-राम के स्थान पर देश-कल्याण में सतत निरत स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य,

१. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यं मुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

'प्रसाद' ने उपनिषद् के प्रणय को अनुराग में बदल दिया है। जिस प्रकार ब्रह्म और प्रणव एक होते हुए भी पृथक् हैं, उसी प्रकार समष्टिगत और व्यक्तिगत अनुराग वास्तव में एक हैं। भेद केवल प्रमाद के कारण है।

२. चेतन सागर उर्मिल होता, यह कैसी कम्पनमय तान ।

यों अधीरता से न भीड़ लो, अभी हुए हैं पुलकित प्राण ।

इस अनन्तता निधि के नाविक, हे मेरे अनंग अनुराग !

देवसेना, कल्याणी, मालविका, ध्रुवस्वामिनी के सौन्दर्य का आधार लिया। धार्मिक देव-ताओं में भौतिक सौन्दर्य और अप्रतिम शक्ति के कारण तात्किक व्यक्ति पूर्ण विश्वास नहीं प्राप्त करता, किन्तु 'प्रसाद' के पात्रों में ऐतिहासिक होने के कारण संशय के लिए स्थान नहीं रहता। इस पद्धति में ब्रह्मवाद और भक्तिवाद के स्थान पर मानवतावाद की स्थापना है।

तीसरी कोटि में उन अध्यात्मवादियों के गीत आते हैं, जिन्होंने विश्व-व्यापक प्रेम को अध्यात्म-दृष्टि से देखा है। गीतम को गोधूली के समय ग्रहण पटल में करुणा स्नेहांचल फहराती दिखाई पड़ती है। उसीका हास-विलास स्निग्ध उषा में, मधुर बालक के मुखचन्द्र पर, ओस के कणों में दिखाई पड़ता है। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में उसीका सौन्दर्य व्याप्त हो रहा है। उन्हें सौन्दर्य के शिवरूप में चिरन्तन सत्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार सौन्दर्य शिव और सत्य से मिलकर परिपूर्ण बन जाता है।

सन्देश

ऐसे गीतों की संख्या अत्यल्प है, क्योंकि पूर्ण मानव को ही सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति हो सकती है और पूर्ण मानव शताब्दियों में कभी-कभी अवतरित हुए हैं। 'प्रसाद' जिन लोगों के द्वारा मानव-प्रेम-साधना का सन्देश देते हैं वे दूसरी कोटि में ही आते हैं। सात्त्विक जीवन बिताते हुए रागात्मिका वृत्ति से आत्मोत्सर्ग की स्थापना इनका उद्देश्य है। कल्याणी बुद्धि की सहायता से सौन्दर्य-बोध होने पर सुन्दर-असुन्दर का, मुख्य-गौण का भेद-भाव विलीन हो जाता है। धैर्य, क्षमा, शान्ति के बल से प्रेम का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण होने लगता है और साधना सफल होने पर पार्वती^१ के समान सती कल्याणी के मुख से निकल पड़ता है—

लहरें डूब रही हों रस में
रह न जायँ वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय सागर की—
बहला दो।

मण्डन-शिल्प

'प्रसाद' के गीतों का मंडन-शिल्प प्राचीन गीति-काव्यों से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन गीतों में "जिन विभागों की योजना केवल उद्दीपन के रूप में होती थी और जिन अनुभवों का वर्णन केवल मानवीय मनोरंगों की अपेक्षा में ही होता था, वे विभाग 'प्रसाद' के गीतों में आलम्बन के रूप में योजित हुए हैं।" काव्य के इस मंडन-शिल्प में लाक्षणिक प्रयोग

१. छत्रवेशी महादेव ने तपस्विनी उमा से शंकर की निन्दा की तो उमा ने कहा था 'ममात्र भावैकरसं मन स्थितम्' (उनके प्रति मेरा हृदय एकमात्र भावों के रस में अवस्थित है)। हृदय की ऐसी स्थिति में सुन्दर-असुन्दर का भेद कहाँ!

अनिवार्य बन जाते हैं। इस कारण 'प्रसाद' के गीतों में लाक्षणिक, द्वित्व लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता मिलती है।

'प्रसाद' ने गीतों में स्थान-स्थान पर एक दार्शनिक कवि की भांति पात्र से सम्बन्धित जड़ प्रकृति को आलम्बन बनाकर उसमें हावों और अनुभावों की योजना की है। ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का प्रयोग विवश होकर करना ही पड़ता है।

'प्रसाद' के गीत विषय-प्रधान नहीं विषयी-प्रधान हैं। अतः कवि की नई कल्पना, नवीन उद्भावना, चिन्तन की नवीन वैज्ञानिक पद्धति और सान्द्र अनुभूति के कारण भी ये गीत दुरूह और अस्पष्ट प्रतीत होते हैं।

'प्रसाद' के गीतों में दुरूहता केवल शैली की नवीनता के ही कारण नहीं है, विचार की सूक्ष्मता भी उनमें ऐसी है कि सहसा बुद्धि उन्हें पकड़ नहीं पाती। कवि अनुभूतिकाल में ऐसे लोक में पहुँच जाता है, जहाँ सम्पूर्ण कलाएं मौन धारण कर लेती हैं। केवल सहृदय ही अपने निर्मूल मन-मुकुर में उनकी प्रतिछवि निहार सकता है और कोई साधन उस छटा को देखने का नहीं रह जाता। इसी कारण रवि बाबू कहते हैं—“आर कौनों पथ नाई। एई आनन्देर प्रकाश बाक्येरनाई जेइ व्याख्या कोरितो पारी।”

कवि 'प्रसाद' अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में कवि से चित्रकार और गायक भी बन जाते हैं। उस काल में ये तीनों कलाएं पृथक् नहीं रह पातीं। सब मिलकर एकाकार हो जाती हैं। शब्द तूलिका बन जाते हैं और तूलिका में स्वर-लहरियाँ उठती हैं, जहाँ रंग गाने लगता है। “यही कला का अन्तिम स्वरूप है जहाँ सौन्दर्य अंगों में नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। 'प्रसाद' की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है कि वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा संगीत के सम पर ही खड़ा है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है, जहाँ कलाएं मूक होकर एक-दूसरे का आलिंगन करती हैं। 'प्रसाद' की यह जीत है। इसी जीत में उनकी महानता है।”

नृत्य-गीत की आवश्यकता

यद्यपि 'प्रसाद' इस तथ्य से परिचित थे कि आधुनिक अंग्रेजी नाटकों से गीतों का सर्वथा बहिष्कार हो चुका है तथापि उन्होंने अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (समस्या-नाटक) में भी गीत को स्थान दिया है। 'प्रसाद' ने पश्चिमी नाट्यकला को अपने नाटकों में निस्संकोच भाव से ग्रहण किया है, किन्तु भारतीय विशेषताओं की उन्होंने कभी अवहेलना नहीं की। हमारे नाट्याचार्य भरत मुनि ने नाटकों में गीत और नृत्य को प्रमुख स्थान देने का आदेश किया। अभिवनगुप्त भी कहते हैं कि इनकी उपयोगिता है, क्योंकि नाटकों में नृत्य-गीत अहृदय व्यक्ति में भी सहृदयता उत्पन्न कर देते हैं। उनका

कथन है :

“अपने सुखादि भावनाओं में लीन व्यक्ति अपने से भिन्न व्यक्ति में विद्यमान अनुभूति का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार की बाधा को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में साधारण रूप से विद्यमान और प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द देने में समर्थ शब्दादि विषय-स्वरूप—वाद्यगान, आकर्षक रंगमंच, प्रवीण गणिकादि के द्वारा—मनोरंजन किया जाता है, जिससे हृदयहीन व्यक्ति भी सहृदय के समान निर्मलता को प्राप्त करके सहृदय बन जाता है।”^१ ऐसा प्रतीत होता है कि ‘प्रसाद’ को नृत्य-गीत के सम्बन्ध में इन आचार्यों का आदेश मान्य था।

कतिपय साहित्यिकों ने ‘प्रसाद’ के गीतों को अमरातीय घोषित किया। ऐसे आलोचकों में सबसे ऊंचा स्वर प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र का है। उनका कथन है कि ‘प्रसाद’ के गीति-काव्यों में प्रणय की जगह छिछले रोमांस की बाढ़ आ गई है, वे भास और कालिदास की परम्परा में न होकर शेक्सपियर की परम्परा में ढल चुके हैं।^२

मिश्रजी से इस विषय पर घंटों वार्तालाप करने के उपरान्त उनके मत के निम्न-लिखित आधार ज्ञात हुए :

(१) प्रेम की अभिव्यंजना में जो भाव-भंगिमा, हाव और मुद्राएं स्वाभाविक रीति से पाई जाती हैं, उनका गीतों में सर्वथा अभाव है।

(२) गीतों में प्रेम की प्राकृतिक विकृति के स्थान पर पात्रों की मानसिक विकृति मिलती है।

(३) इनमें जीवन का पर्यवेक्षण काल्पनिक ढंग से किया गया है।

(४) गुप्तकाल के प्रतिनिधि कवि कालिदास की जीवन-मान्यताएं इन गीतों से भिन्न हैं।

(५) गीतों में उन्मादग्रस्त व्यक्तियों का प्रलाप है। प्रेमी और प्रेमिका किसी स्थिति-विशेष में किस प्रकार के गीत गाते हैं, उनका कहीं पता ही नहीं।

(६) यदि सम्पूर्ण गीतों को नाटक से निकाल दें तो भी नाटक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(७) गीतों की भाषा के घटाटोप में पाठक के मन को आवृत करने की चेष्टा की गई है, इनमें रस-स्थिति तक पहुँचाने का प्रयास नहीं पाया जाता।

मिश्रजी के ये आरोप ऐसे हैं, जिनका उत्तर स्वतन्त्र लेख के रूप में ही दिया जा

१. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूप प्रत्युद्भव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोषगानविचित्र मण्डपविदग्ध गणिकादिभिः उपरंजनं समाश्रितं, येन ब्रह्मदयोऽपि सद्ब्रह्मैवैतत्प्रपत्त्या सहृदयीक्रियते।

—अभिनव भारती, गायकबाह, संस्करण १, पृष्ठ २८२-२८३

२. बत्सराव, लक्ष्मीनारायण मिश्र, संवत् २००६ वि०, पृष्ठ ११

सकता है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि इस धारणा के मूल में तीन बीज हैं :

(१) 'प्रसाद' ने सौन्दर्य-बोध की जो पद्धति अपनाई, वह साहित्य में परम्परा-समर्थित न होने के कारण सहज बोधगम्य न हो सकी।

(२) गीतों का मण्डन-शिल्प नवीन होने के कारण अपरिचित प्रतीत हुआ।

(३) जिस मानवतावाद के सिद्धान्त को भारतीय रूप देने का प्रयास 'प्रसाद' ने किया, वह हिन्दी-साहित्य में सर्वथा नया था।

प्रसंगवश यहाँ इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि इन्हीं नवीनताओं के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रबल विरोध बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने किया था। कहा जाता है कि उन्होंने रवि बाबू की खिल्ली उड़ाने के लिए नाटक लिखा और कलकत्ता में उसका अभिनय कराया, किन्तु अन्त में राय बाबू को इसका पश्चात्ताप हुआ।

हमारा विश्वास है कि 'प्रसाद' की नाट्यकला का ज्यों-ज्यों परीक्षण होगा त्यों-त्यों उनके गीतों का अर्थ स्पष्ट होता जाएगा और ज्यों-ज्यों उनके गीतों का रहस्य खुलता जाएगा, उन्हें अभारतीय कहने का स्वर मन्द पड़ता जाएगा।

ग्यारहवां अध्याय

व्यवसायी रंगमंचीय नाटक

पारसी थियेट्रिकल कम्पनी को रंगमंचीय नाटक कम्पनी नाम से पुकारा जाता है। इस कम्पनी की उत्पत्ति की कहानी 'इन्द्र-सभा' के साथ जोड़ी जाती है। कहा जाता है कि बाज़िदअलीशाह के प्रोत्साहन से अमानत कवि ने यह नृत्य-संगीतमय गीतिनाट्य प्रस्तुत किया और रंगमंच पर स्वतः बाज़िदअलीशाह ने इन्द्र का अभिनय किया। इस नाटक की इतनी ख्याति हुई कि विभिन्न देशी और विदेशी भाषाओं में इसका रूपान्तर हुआ। इसका संगीत सुनने और अभिनय देखने को जनता इतनी लासालित रहती थी कि मेले-ठेले में इसका तमाशा 'पैसा तमाशा' के नाम से दिखाया जाने लगा। इसी व्यवसाय को देखकर कतिपय उत्साही पारसी सज्जनों ने एक थियेट्रिकल कम्पनी खोलने का संकल्प किया। उन्होंने सर्वप्रथम सोहराब और रस्तम की कहानी को नाटक का रूप देकर अति साधारण रंगमंच पर अभिनय दिखाना प्रारम्भ किया। पेस्टनजी केमजी ने संवत् १९२७ वि० के आसपास 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' नाम से एक कम्पनी खोली और उसमें खुरशेदजी बल्लीवाला, कावसजी खटाऊ, सोहराबजी और जहाँगीरजी आदि अभिनेता अभिनय करने लगे।

प्रारम्भ में जो नाटक इस कम्पनी में खेले जाते थे, उनका निर्माण 'इन्द्र-सभा' के आदर्श पर किया जाता था। संवत् १९३६ में 'इन्साफ-ए-महमूदशाह' नामक नाटक अति प्रसिद्ध समझा जाता था। इस कम्पनी ने सात वर्षों में निम्नलिखित नाटकों का अभिनय कराया—'नतीजए अस्मत', 'बुदा दोस्त', 'चांद बीबी', 'तोहफ़ा दिलकुशा', 'बुलबुले बीमार', 'तोहफ़ा दिलपजीर', 'शीरी-फरहाद', 'अलीबाबा', 'सैना-बख़्श', 'गुलबकावली', 'हवाई मजलिस', 'हातिमताई', 'गुल सनोबर', 'बदरे कुमीर', 'तमाशए अलाउद्दीन', 'नक़्शए सुलेमान', 'अकसीरे आज़म', 'इशरत सभा', 'हुस्न ज़क़रोब', 'बुदा-बाद' इत्यादि।

संवत् १९३४ वि० में दिल्ली में विक्टोरिया नाटक कम्पनी खोली। इस कम्पनी का सबसे प्रसिद्ध अभिनेता बल्लीवाला था। हास्यरस का इतना बड़ा अभिनेता

१. ज़ैम भाषा में सन् १८६२ ई० में इसका अनुवाद लिपजिग नगर में हुआ।

में दूसरा नहीं था। इस कम्पनी के अन्य अभिनेता थे—रुस्तमजी, मिस खुरशेद, मिस मेहताब और अंग्रेज महिला मिस मेरी फेण्टन। बनारस-निवासी विनायकप्रसाद 'तालिब' इस कम्पनी के नाटककार थे। इन्होंने निम्नलिखित नाटकों की रचना की—'विक्रम-विलास', 'दिलेर दिलशेर', 'निगाहे गफलत', 'गोपीचन्द' और 'हरिश्चन्द्र'।

इस कम्पनी की सफलता देखकर कावसजी खटाऊ ने अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी प्रारम्भ की। इसके प्रसिद्ध अभिनेता थे—मंशेरशाह, गुलजारखां, माधोराम, मास्टर मोहन, मास्टर मंशेरजी, मिस जोहरा, मिस गीहर। इस कम्पनी के प्रसिद्ध खेल हैं—'हिमलेट', 'गुलनार फिरोज', 'चन्द्रावली', 'दिलफरोश', 'भूल-भुलैया', 'बकावली', 'चलता पुर्जा'।

इस कम्पनी ने जब पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' को अपना नाटककार नियुक्त किया तो नाटक की भाषा और कथावस्तु में सुधार होने लगा। बेताबजी ने 'शेक्सपियर' नामक एक पत्रिका प्रकाशित की और निम्नलिखित नाटक लिखे—'कत्ले नज्दीर', 'जहरी साँप', 'फरेबे-मुहब्बत', 'महाभारत', 'रामायण', 'गोरख-धंधा', 'पत्नी-प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा'।

थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों में हिन्दी को स्थान देने का श्रेय बेताबजी को है। उन्होंने हिन्दी गानों का समावेश इस कौशल से किया कि कम्पनी के संचालक तथा प्रेक्षक उनके माधुर्य पर आकर्षित हो उठे और उन्होंने हिन्दी गानों को नाटक में स्थान देना स्वीकार किया। उर्दू-साहित्य के इतिहासकार इस बात को मानते हैं कि हिन्दी गीतों में अधिक माधुर्य है। बेताब के गीतों के विषय में लिखते हैं :

"He uses his Hindi with conscious command and the effect is instantaneous for in songs or lyrics Hindi is infinitely superior to Urdu."

'बेताब' ने थियेट्रिकल कम्पनी के लिए 'कत्ले-नज्दीर' नाटक एक सत्य घटना के आधार पर लिखा। उस काल में दिल्ली की एक वेश्या 'नज्दीर' का वध हो गया था। उसीका कथानक लेकर 'बेताब' ने इस नाटक की रचना की थी।

थियेट्रिकल कम्पनियों के लिए नाटक लिखनेवालों में 'आगा हश्म' अति प्रसिद्ध नाटककार हुए। इनमें नाटक-रचना की प्रतिभा थी और सम्भवतः इन्होंने 'मॉरलो' के नाटकों को पढ़ा भी था। इन्होंने निम्नलिखित नाटकों की रचना की—'शहीदे नाज़', 'मुरीदे शक', 'मीठी छुरी', 'ख्वाबे हस्ती', 'ठंडी भाग', 'असीरे हिंस', 'तस्वीरे बफा', 'नाराए तौहीद', 'सफेद खून', 'खूबसूरत बला', 'खुदपरस्त', 'सिलवर किंग', 'शमए जवानी', 'तुर्की हूर', 'हिन्दुस्तान', 'कदीम व जदीद', 'आख का नशा'। हिन्दी के नाटक—'सूरदास', 'गंगावतरण', 'बनदेवी', 'सीता-बनबास', 'माधो मुरली', 'श्रवणकुमार'।

इतिहास-लेखकों ने आगा हश्म को 'हिन्दुस्तानी मॉरलो' की उपाधि दी है।

मॉरलो के पात्रों के सदृश आगा हश्न के पात्रों में करुणा, प्रेम आदि मनोभावों के वेग को सीमा तक पहुँचा दिया गया है। रोमांचकारी घटनाओं के आधार पर इनके नाटक निर्मित हुए हैं। एक इतिहासकार लिखते हैं :

“His defects are precisely those of Marlowe, intensity rather than delicacy, deep colours and strong contrasts more than fine shades are the rule. This tells on refined or sensitive nerves particularly when the most horrible crimes are allowed by the author to be represented on the stage.”¹

इस उद्धरण से आगा हश्न के दोषों के साथ-साथ तत्कालीन नाटक के कथानक पर भी प्रकाश पड़ता है। नाटकों में अधिक से अधिक सनसनी पहुँचानेवाले कथानक प्रयुक्त होते थे। आगा हश्न के अतिरिक्त राघेश्याम कथावाचक ने भी कई नाटकों की रचना की, जिनमें ‘वीर अभिमन्यु’, ‘परिवर्तन’, ‘मशरिकी हूर’, ‘कृष्णावतार’, ‘रुक्मिणी-मंगल’, ‘श्रवणकुमार’, ‘ईश्वर-भक्ति’, ‘द्रौपदी-स्वयंवर’, ‘परम भक्त प्रह्लाद’ प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना सं० १६७१ और सं० १६८६ के मध्य की गई। ये नाटक पृथक्-पृथक् कम्पनियों द्वारा अभिनीत हुए। पं० राघेश्याम के नाटकों में अश्लीलता को कहीं भी स्थान नहीं मिलता। इनके कथानक प्रायः पौराणिक हैं। इनके नाटकों में गीतों की संख्या अधिक है।

थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों की कोई निश्चित नाट्यशैली नहीं थी। प्रारम्भ में शेक्सपियर के नाटकों का अनुकरण करके ऐसे प्रेमोपाख्यान चुने गए जो भारतीय वातावरण के अनुकूल हों। भारतीय वातावरण का अनुमान कम्पनीवाले उन लोगों की बाज़ारू रूचि से लगाते थे, जो प्रायः नाटक देखने जाया करते थे। वे लोग अधिक संख्या में समाज के निम्न स्तर से सम्बन्ध रखते थे, अतएव उनकी रूचि भी असंस्कृत होती थी। अश्लीलता पर बाह-बाह करनेवाले इन प्रेक्षकों को सन्तुष्ट करने की मनोवृत्ति ने नाट्यकला को उन्नत न होने दिया।

उस काल की जनरूचि नाटकों में कथानक-वैचित्र्य को मुख्य स्थान देती थी। उस समय नाटक का उद्देश्य रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचना नहीं, प्रत्युत निकृष्ट ड्रामा की तरह कथा-वैचित्र्य देखकर कौतूहल के बशीभूत होना माना जाता था। जो नाटक जितना अधिक रोमांचकारी तथा सनसनीदार कथानक लेकर उपस्थित किया जाता, वह उतना ही अधिक प्रशंसनीय माना जाता।

इनकी दूसरी विलक्षणता थी गीतों की। इनमें गज़ल-ठुमरी के रूप में कुरुचिपूर्ण गाने गाए जाते थे। कहा जाता है कि भारतेन्दुजी ने जब शकुन्तला की सखियों के मुख से

“गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय
लचक न जाय गोरी मुरक न जाय,
गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय।।”

गाना सुना तो वे असंतुष्ट होकर अभिनयशाला से बाहर आ गए। इसी प्रकार जब जयशंकर प्रसाद ने रंगमंच पर सत्राट भूषोक को कुत्सित गान गाते देखा तो वे रायकुण्ड-वास के साथ अभिनयशाला से बाहर आ गए। इन नाटकों में चरित्र-चित्रण को कोई स्थान नहीं था। जब कथानक अव्यवस्थित हो तो चरित्र-चित्रण के लिए क्षेत्र कहाँ ?

जब संस्कृत रचिवाले विद्वानों ने ऐसे नाटकों की समालोचना की, तो कम्पनी-वालों का ध्यान इनके सुधार की ओर गया। संवत् १९७० वि० के उपरांत थियेट्रिकल नाटक सुधारोन्मुख होने लगे। बेताब ने कथावस्तु और भाषा दोनों का परिमार्जन किया। उर्दू के स्थान पर हिन्दी गीतों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। कथावस्तु के लिए पौराणिक कथाएं ग्रहण की गईं, किन्तु कौतूहलप्रिय जनता को प्रसन्न करने के लिए रोमांचकारी दृश्य भी संयुक्त किए गए। विस्मयोत्पादक घटनाएं इस काल के नाटकों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। उद्धरण के लिए राधेश्याम का 'भक्त प्रह्लाद' नाटक लीजिए—हिरण्यकशिपु के सिर का ताज गायब होकर प्रह्लाद के सिर पर आ जाता है। हिरण्यकशिपु की तलवार टूट जाती है और उसका टूटा भाग बैकुण्ठ में भगवान् विष्णु के हाथों में दिखाई देता है।

दूसरे स्थल पर अनायास आवाज का होना, अग्नि की लपट निकलना और काम का भीष्म के सामने आना आदि घटनाएं विस्मय उत्पन्न करने के लिए जोड़ी गईं।

तृतीय उत्थान में एक और परिवर्तन हुआ। आगा हश्र ने नाटकों में दो स्वतन्त्र कथानकों की योजना की, जिनमें एक तो गम्भीर होता और दूसरा हास्यमय। इस पद्धति का इतना प्रचार हुआ कि नाटकों में एक प्रहसन रखना आवश्यक बन गया। 'महात्मा विदुर' जैसे गम्भीर नाटक में भी कलियुगी साधु का प्रहसन जोड़ना पड़ा।

आगा हश्र के उपरांत राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की धूम मची। कथावाचक की दृष्टि सदा उन दर्शकों की ओर रही जो साहित्यिक नाटकों को समझने में प्रायः असमर्थ थे। अल्पशिक्षितों और अशिक्षितों में कथावाचक के नाटक लोकप्रिय बने। गांवों में विवाह आदि अवसरों पर इनका अभिनय अब भी होता है। इन्होंने नवीन नाटक 'महर्षि वाल्मीकि' १९८९ वि०, 'सती पार्वती' २००१ वि० में लिखे। कथावाचक की भाषा आगा हश्र और बेताब की अपेक्षा साहित्यिक हिन्दी के अधिक निकट थी। नाटकों के कथानक चरित्र-गठन और मनोरंजन दोनों का ध्यान रखकर प्रस्तुत किए जाते थे। ये सभी आख्यान प्रायः महाभारत अथवा पुराणों से लिए जाते थे। वर्तमान समाज के दैनिक जीवन से प्रायः उनका सम्बन्ध नहीं रहता था।

आधुनिक व्यवसायी नाटक

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का व्यवसाय सबाक् चित्रपट से मन्द पड़ने लगा। बम्बई में एक नई कम्पनी खुली जिसमें मुख्यतः भारत-विभाजन के समय की स्थिति के नाटक खेले जाते रहे। हमारा अभिप्राय पृथ्वी थियेटर से है। इस कम्पनी ने १. दीवार,

२. गहार, ३. पठान, ४. आहुति आदि नाटक प्रस्तुत किए। इनमें देश की वर्तमान अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। इनकी भाषा परिभाषित है। कथानक यथार्थानुसृत होते हुए भी अश्लीलता से दूर है। 'आहुति' नामक नाटक का कथानक देखिए। पश्चिमी पंजाब से एक हिन्दू बालिका जानकी माता-पिता से पृथक् हो जाने पर एक मुसलमान के घर में कुछ दिन रहकर भारत आ जाती है। उसके माता-पिता उसका विवाह एक हिन्दू से करना चाहते हैं, किन्तु कोई प्रतिष्ठित पंजाबी हिन्दू भी विवाह करने को प्रस्तुत नहीं। जानकी नामक बालिका को जब वस्तुस्थिति ज्ञात होती है तो वह पहाड़ी से कूदकर आत्म-हत्या कर लेती है। उसका पिता अपनी पुत्री को गोदी में उठाकर दिखाता है और कहता है, "यह है समाज के अग्निकुण्ड में आहुति।"

नाटक की भाषा

नाटक की भाषा जनसाधारण की बोलचाल की भाषा होते हुए भी परिष्कृत है। उदाहरण के लिए देखिए :

“मेहता—हरि ओम्, भगवान् न करे।

रामकृष्ण—(भुंझलाकर), भगवान् ! कहां है भगवान् ? हज़ारों प्रह्लाद घरों में बन्द करके जीते-जी जला दिए गए, मगर उसने एक के लिए भी नृसिंह-अवतार न लिया, एक भी प्रह्लाद न बचाया। हज़ारों द्रौपदियों की लाज लुट गई, उन्हें भरे बाज़ारों में नग्न किया गया, मगर उसने एक की लाज न रखी, एक के लिए भी साड़ी न लाया। मगर लाता कौन, भगवान् होता तो लाता न। भगवान् तो है ही नहीं, अगर है तो कल्पित।”^१

एक और विशेषता इस नाटक की यह है कि इसमें आद्योपान्त एक भी गाना नहीं। सम्पूर्ण नाटक गद्य में अंग्रेज़ी पद्धति के अनुसार लिखा गया है। पृथ्वीराज के अभिनय की स्वाभाविकता के कारण उपर्युक्त नाटकों की ख्याति सारे देश में फैल गई है।

अव्यवसायी रंगमंच

व्यवसायी रंगमंचों के द्वारा कला की हत्या होते देख भारतेन्दु ने अपने मित्रों के सहयोग से कई नाटक खेले थे। उनके प्रोत्साहन से देश में स्थान-स्थान पर शिक्षालयों में रंगमंच तैयार होने लगे थे। नगरों और गांवों में कला-प्रेमी विद्वान् नाटकों का निर्माण और उनका अभिनय करने लगे थे। ऐसे नाटकों में 'जानकी-मंगल' का उल्लेख भारतेन्दु ने 'अपने नाटक' नामक पुस्तक में किया है। भारतेन्दुजी के मित्र पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर के विद्वानों द्वारा अभिनीत नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत-दुर्दशा', 'गोरक्षा' का उल्लेख किया है।

काशी में 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली' की स्थापना हुई। इस मण्डली के संस्थापक भारतेन्दुजी के परिवार के उत्साही युवक बाबू बृजचन्दजी थे। आगे चलकर

१. लालचन्द बिरिमल, आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् १९५० ई०, दूसरा एकट, पृ० ६५

यह मण्डली दो भागों में बट गई और उनका नाम 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' तथा 'काशी नागरी नाटक मण्डली' पड़ गया। ये मण्डलियां देश के सुसंस्कृत समाज को साहित्यिक नाटकों का रसास्वादन कराती रहती हैं। इन्होंने 'महाराणा प्रताप', 'अत्याचार', 'सम्राट अशोक', 'महाभारत', 'वीर बालक अभिमन्यु', 'भीष्म पितामह', 'बिल्वमंगल', 'सूरदास', 'कलियुग', 'संसार स्वप्न', 'पाप का परिणाम' आदि नाटकों का अभिनय किया।

योग्य साहित्यिकों ने कानपुर और काशी के अतिरिक्त प्रयाग में भी एक नाटक-मण्डली स्थापित की, जिसका नाम 'श्री रामलीला नाटक-मण्डली' रखा गया। प्रसिद्ध साहित्यिक पं० माधव शुक्ल ने 'सीय-स्वयंवर' नामक नाटक इसके लिए लिखा। इस नाटक में नाट्यकार ने ब्रिटिश सरकार की राजनीति का उल्लेख किया^१, जिससे माल-वीयजी हष्ट हो गए थे।

इस मण्डली का रूपान्तर संवत् १९६५ वि० में हुआ। नवीन नाटक मण्डली का नाम 'हिन्दी नाट्य-समिति' रखा गया। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन और 'प्रेमघन' जी के पुत्र आदि प्रसिद्ध साहित्यिक इसका संचालन करते रहे। पं० माधव शुक्ल-विरचित 'महाभारत' के अभिनय से इस नाट्य-समिति की ख्याति फैल गई।

दिल्ली के प्रसिद्ध कलाप्रेमी लाला श्रीराम के परिवार ने देश के सुसंस्कृत समाज के सहयोग से एक नाटक-मण्डली स्थापित की है। यह मण्डली प्रतिवर्ष साहित्यिक नाटक खेलती है, जिसमें दिल्ली के अति उच्च परिवारों की स्त्रियां भी अभिनय करती हैं। इस मंडली ने रामलीला के अवसर पर राम का सम्पूर्ण चरित्र नृत्य तथा संगीत द्वारा प्रदर्शित किया था।

इस नाटक-मण्डली का उद्देश्य है—भारतीय संस्कृति को नृत्य-संगीतमय नाटकों के माध्यम से विदेश के सुपठित समाज के सम्मुख रखना। नई दिल्ली के कलाप्रेमी और कलाविद् वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, भास, भवभूति आदि की रचनाओं के आधार पर भाव-नाट्य का आयोजन करते हैं। इनका प्रदर्शन विदेश के राजदूत भी देखने आते हैं। इस दृष्टि से यह मण्डली भारतीय संस्कृति एवं कला की उन्नति के साथ प्रचार-कार्य भी कर रही है।

प्रयाग आदि स्थानों में भी इसी प्रकार कला-संस्कृति के केन्द्र खुलते जा रहे हैं, जहां विद्वत्समाज में संगीत-नाट्य, भाव-नाट्य आदि विविध नाट्य-शैलियों का प्रयोग किया जा रहा है। भारत सरकार ने नई दिल्ली में एक कलाकेन्द्र की स्थापना की है। आशा है इसके द्वारा हिन्दी नाटकों का विकास होगा।

१. ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे उस से मस भी न कर सके, यह अत्यन्त दुःख का विषय है, हाय ! —सीय-स्वयंवर नाटक से

बारहवां अध्याय

प्राधुनिककाल के अन्य नाट्यकार

(सम्वत् १९६० वि०-२०१० वि०)

प्राधुनिककाल के सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार 'प्रसाद' के नाटकों का विवेचन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। नाट्यकला-विकास के लिए इस काल के अन्य नाट्यकारों की कृतियों को भी समझ लेना आवश्यक है। इस काल के नाटकों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है : १. नृत्त-नाट्य (Ballet), २. नृत्य-नाट्य, ३. भाव-नाट्य, ४. गीति-नाट्य (Lyric Drama), ५. ऐतिहासिक नाटक, ६. सामाजिक नाटक, ७. पौराणिक या धार्मिक नाटक, ८. एकांकी, ९. स्वोक्ति (स्वगत) नाटक, १०. रेडियो रूपक।

गीतिनाट्य

हम गीतिनाट्यों पर सर्वप्रथम विचार करेंगे, क्योंकि यह हमारी नितान्त मौलिक शैली न्यूनाधिक आठ सौ वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। रास के प्रकरण में हम इसकी उत्पत्ति पर विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं।

'प्रसाद' ने 'करुणालय' में गीतिनाट्य की जो शैली प्रचलित की, उसका विकास इस काल के अन्य गीतिनाट्यों में दिखाई पड़ता है। गीतिनाट्य में बाहरी क्रियाशीलता और संघर्ष के स्थान पर मानसिक भावों का एक-दूसरे के साथ संघर्ष दिखाया जाता है। नाटक में भौतिक युद्ध आन्तरिक संघर्ष को उद्दीप्त करने के लिए रखा जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि गीतिनाट्य का सम्पूर्ण कथानक गेय होता है और उसका अभिनय संगीत-मय होता है। गेय पदों का उपयोग नृत्त नाटक (Ballet) में भी होता है, किन्तु गीति-नाट्य, नृत्तनाट्य, भावनाट्य से पृथक् होता है। नृत्तनाट्य में पात्रों की वेशभूषा, रंगमंच की सजावट और प्रकाश के पटु प्रबन्ध पर ही बल दिया जाता है, किन्तु गीतिनाट्य में कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्वपूर्ण होता है।

'करुणालय' का कथानक यह है—आकाशवाणी सुनकर राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को यज्ञ में बलि देना चाहते हैं, किन्तु रोहित इस प्रस्ताव का विरोध करता है। वह सोचता है :

“ग्रहा स्वच्छ नभ नील, ग्रहण रवि रश्मि की
 सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
 नभ प्रभात का दृश्य सुखद है सामने,
 उसे बदलता नील तमिस्रा रात्रि से
 जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
 कैसा दुःखदायक है.....”

देश-विदेश भ्रमण करता हुआ रोहित उस स्थान पर पहुंचता है, जहां अजीगर्त और तारिणी क्षुधा से व्याकुल हैं। रोहित सौ गायें अजीगर्त और तारिणी को देकर उनके पुत्र शुनःशेष को बलिदान के लिए उनसे ले लेता है। शुनःशेष बलिदान होने को प्रस्तुत होता है, उसी समय विश्वामित्र आ जाते हैं। यह भेद खुल जाता है कि शुनःशेष विश्वामित्र का पुत्र है, अजीगर्त और तारिणी का नहीं। इसके उपरांत बलिदान बन्द हो जाता है और शुनःशेष की रक्षा हो जाती है। इस गीतिनाट्य में स्थल-स्थल पर भावनाओं का संघर्ष दिखाई पड़ता है। राजा हरिश्चन्द्र के मनोभावों में उस समय कितना संघर्ष है जब वे अपने पुत्र से बलिदान के लिए कहते हैं। उसी प्रकार क्षुधा से पीड़ित अजीगर्त अपने पुत्र शुनःशेष को बलिदान के लिए बेचते समय कहता है :

“जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
 एक-एक दाने का आश्रय खोजती।
 वह बीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
 जब अपना ही मांस।.....”

इस स्थल पर एक और क्षुधा के कारण परिवार के प्रत्येक सदस्य की मृत्यु का प्रश्न है, दूसरी ओर निज पुत्र का बलिदान। इस स्थल पर नाट्यकार ने माता-पिता को ऐसी परिस्थिति में रख दिया है, जहां मन की विविध भावनाओं का घोर संघर्ष हो सके।

‘प्रसाद’ ने गीतिनाट्य की एक शैली निर्मित की। मैथिलीशरण गुप्त का ‘अनघ’, सियारामशरण गुप्त का ‘उन्मुक्त’, ‘प्रेमी’ का ‘स्वर्णविहान’ और उदयशंकर भट्ट के गीति-नाट्य इसी शैली पर विरचित हुए।

गुप्तजी ने ‘अनघ’ को दृश्यों में न विभाजित कर रवीन्द्रनाथ टैगोर के ‘अचला-यतन’ की शैली पर स्थानों के नामानुसार निर्दिष्ट किया है। दृश्यों के नाम हैं—अरण्य, चौपाल, उद्यान, वटच्छाया, मघ का घर, चबूतरा, ग्राम भोजक का घर, मधुवन, मुखिया और चौपाल, उद्यान का एक भाग, एकान्त, मेंड, दग्धगृह, कारागार, मगध राजधानी और न्याय-सभा।

‘अनघ’ की रचना गीतिनाट्य की शैली पर की गई है और इसमें मानसिक संघर्ष गहराई तक पहुंच जाता है। उदाहरण के लिए एकान्त में बैठे मघ को जब हम संसार की विषम समस्याओं में चिन्तित कुछ सोचते हुए पाते हैं तो वह जनसाधारण की भाषा में कर्म-विपाक के गहन सिद्धान्त को मुचाह रूप से इस प्रकार प्रकट करता है :

“पर क्या यह झूठी रटना है,
इति भीति देवी घटना है।
उसका बैसा ही कटना है,
जिसका जैसा बोना है।
विषम विश्व का कोना है।”^१

मघ विचार में मग्न था कि चोरों ने उसे घेर लिया, किन्तु वह ऐसे कौशल से निकल भागा कि चोरों की लाठियां आपस में ही टकराती रह गईं। भ्रवसर पाते ही मघ चोरों की गर्दन पकड़-पकड़कर उन्हें नीचे गिरा देता है।

ये घटनाएं इतनी शीघ्रता से घटती हैं कि नाटक में क्रियाशीलता को प्रमुख स्थान मिल जाता है। एक ही दृश्य में उपर्युक्त दो घटनाओं का वर्णन है—एक मघ के मानसिक संघर्ष को सूचित करती है और दूसरी चोरों के साथ युद्ध को। सम्पूर्ण घटना को मिलाकर देखने से युद्ध का वर्णन और संघर्ष दोनों मिलकर मनोरम हो जाते हैं।

इसी प्रकार जहां संवाद-योजना का भ्रवसर आता है, वहां भी मन की भावनाओं के संघर्ष और बाह्य संघर्ष का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। भोजक और भार्या^२ तथा शोभन और मघ के साथियों^३ का वार्तालाप इसका प्रमाण है। इस संवाद में दोनों के हृद्गत भाव और मानसिक संघर्ष स्फुट हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकार क्रियाशीलता और चरित्र-चित्रण के साथ मानसिक संघर्ष भी प्रकट करना चाहता है। हम इस आलोचना से सहमत नहीं हैं कि ‘अनघ’ में गीतितत्त्व और नाट्यतत्त्व दोनों की परिक्षीणता है। हम ऊपर सिद्ध कर आए हैं कि ये दोनों तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों की परस्पर समविधानता भी पाई जाती है।

सियारामशरणजी ने ‘उन्मुक्त’ नामक एक गीतिनाट्य लिखा है। इस नाटक में भी मैथिलीशरणजी के ‘अनघ’ नाटक के समान स्थान से दृश्य की सूचना मिलती है; जैसे शयन-कक्ष, शुश्रूषालय, संचालन-शिविर इत्यादि। इसमें रंगमंच के संकेत भी ‘अनघ’ के सदृश मिलते हैं। यह नाटक भी गीतिनाट्य की दृष्टि से सफल नाटक कहा जा सकता है।

‘प्रेमी’ का गीतिनाट्य ‘स्वर्णविहान’ है, जिसमें अहिंसा के द्वारा हिंसा पर विजय दिखाई गई है। इसमें प्रेम की महत्ता दिखाते हुए नाट्यकार कहता है :

“जाने कब, किस ओर बैठकर, प्रेम छोड़ता अपने बाण
जाने कब, कैसे छिद जाती किसी अपरिचित की मुस्कान।

जाने कब किसकी वीणा का गूंज मधुरतम मादक गान

अन्तर के पर्दे छू छू कर पागल कर देता है प्राण।”

इस नाटक में मानसिक संघर्ष के कई सुन्दर स्थल हैं और नाट्यकार ने उन स्थलों

१. अनघ, मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ७, पंचम आवृत्ति, २००५ वि०

२. अनघ, पृष्ठ ६५, ७१

३. अनघ, पृष्ठ ४१, ५०

की गम्भीरता को समझा है। इस प्रकार इसकी गणना उत्तम गीतिनाट्यों में की जा सकती है।

उदयशंकर भट्ट आज के सबसे सफल गीतिनाट्यकार माने जा सकते हैं। उन्हें अपनी कृतियों के प्रयोग के साधन भी उपलब्ध हैं। रेडियो स्टेशन से उनके गीतिनाट्य प्रसारित किए जाते हैं। 'कालिदास', 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' चार गीतिनाट्यों में उनकी काव्यकला और नाट्यकला दोनों झलकती हैं। 'विश्वामित्र' में तो 'करुणालय' का भरिल्ल छन्द ही प्रयुक्त हुआ है।

मत्स्यगंधा

प्रथम दृश्य में यौवन के मद से उन्मत्त मत्स्यगंधा के सामने आकर अनंग इस प्रकार अपना परिचय देता है :

“यौवन में तृप्ति हीन तृष्णा, प्ररोहलोम।

सैकड़ों बसन्त हास !

शत शत उद्गार, शत हाहाकार !”

अनंग अपना परिचय देकर मत्स्यगंधा को वरदान देना चाहता है, किन्तु मत्स्यगंधा उसे अस्वीकार कर देती है :

दूसरे दृश्य में पाराशर ऋषि मत्स्यगंधा की नाव पर नदी पार करना चाहते हैं। पाराशर के उद्दीप्त काम और मत्स्यगंधा की उन्मत्त यौवन-अभिलाषा का मिलन होता है। यह स्थिति गीतिनाट्य के बहुत ही उपयुक्त है। नाट्यकार ने उक्त स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है :

“एक आवाज—नाथ यह कन्यकात्व

दूसरी आवाज—वह भी कलंकहीन,

पहली आवाज—नाथ, वह इष्ट मुझे।

दूसरी आवाज—एवमस्तु एवमस्तु

पहली आवाज—एवमस्तु प्रियतम।”

यही मत्स्यगंधा जब सत्यवती के रूप में विधवा हो जाती है और अपने अतीत का पर्यवेक्षण करती है तो उसका हृदय विक्षुब्ध हो जाता है और वह अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार करती है :

“धूमता शरीर यन्त्र, धूमते नगर धाम,

धूमता है नील नभ, जगत अलात-सा।”

इसी समय अनंग की यह कटूक्ति सुनाई पड़ती है—

“पियो कंठ तक पियो ओठ तक डाल-डाल,

यौवन महान है, अलम्य है जगत में।”

इस गीतिनाट्य में मानसिक द्वन्द्व चरम उत्कर्ष तक पहुँचता दिखाई देता है।

भट्टजी का दूसरा नाटक 'विश्वामित्र' है। इस पौराणिक कथा को प्रतीक-नाटक के रूप में दिखाया गया है। इस नाटक में पुरुष और नारी का संघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार के और मेनका कोमलता की प्रतीक हैं। इन दोनों का संघर्ष नर-नारी का संघर्ष है, जो प्रादिकाल से चला आ रहा है।

नारी क्या है, इसका ज्ञान कराने के लिए मेनका के मुंह से कहलाया गया है :

“नारी प्राण विहीन चेतना से रहित,
एक भावना पुंज पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य की,
सुख हीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।”

विश्वामित्र अथवा अहंकार को बारह वर्ष के उपरान्त अपनी भूल ज्ञात होती है और वह सोचता है :

“नारी को निज सुख का साधन मान कर,
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
हम सब सुख से रहें समान विभाग से,
जीवन का सुख भोगें.....।”

उदयशंकर भट्ट पौराणिक कथाओं द्वारा आधुनिक नारी-समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इस नाटक में उक्त समस्या को सुलझाया गया है और गीतिनाट्यों के नियमों का भली भांति पालन भी हुआ है।

राधा

‘राधा’ एक भाव-नाट्य है। सम्पूर्ण नाटक मधुर गीतों में विरचित है। राधा को हम यमुना के किनारे मूक, अर्द्धचेतन-सी, केवल स्वप्न की मूर्ति-सी, अर्द्धजागरित, यमुना के जल में पैर डाले, लहरों पर हाथ थपथपाते अपस्मार की दशा में पाते हैं। वह गा रही है :^१

“हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों,
मैं तिमिर में खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों।”^१

इतने में सखी विशाखा आ जाती है। कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में इन दोनों में वार्तालाप होता है। राधा कह रही है :

“क्या हुआ मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गए वे क्या कहूँ री।
वज्र-कीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय में।

क्या करूं, कैसे करूं, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
 कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
 पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट।
 क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है।”^१

विशाखा भी कृष्ण-प्रेम में विभोर है। वह अपनी स्थिति तथा जग-स्थिति का वर्णन इस प्रकार करती है :

“क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम बन्धन,
 छोड़ जग आचार ‘लज्जा’ धूमती ले हृदय विह्वल
 रात दिन, संध्या सवेरे, दुपहरी इस कुंज वन में।
 गूँजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
 नेत्र में सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।”^२

राधा से विशाखा कहती है कि कृष्ण की छवि निरखने और ध्वनि सुनने को ‘मैं ही नहीं यह जगत् सारा हुआ पागल।’

इस नाटक में राधा को विवाहिता नारी के रूप में दिखाया गया है। राधा ने बचपन से ही अविवाहिता रहने का संकल्प किया था, किन्तु उसका विवाह कर दिया गया है। उस दाम्पत्य-जीवन से उसे सुख-प्राप्ति नहीं होती। वह अपनी स्थिति इस प्रकार बता रही है :

“दम्पती के धर्म का पालन न मैं कर पा रही हूँ,
 नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री।”^३

राधिका जब कृष्ण से अपने हृदय की प्रेम-वेदना प्रकट करती है तो कृष्ण पृथ्वी पर अवतार लेने का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं :

“और वास्तव धर्म की संस्थापना का सुनिश्चय ले,
 तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को,
 यहां आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे !”

कृष्ण इतना कहकर देश की राजनीति और धर्म-नीति के संस्कार में तल्लीन हो जाते हैं और राधा पर्णकुटीर में कृष्ण को ‘अनिर्वचनीय भाव’ और जग का ‘ब्रह्म रूप’ मान-कर साधना करती है। कृष्ण उसे कितना समझाते हैं, किन्तु वह अपने संकल्प में दृढ़ है। जब राधा कृष्ण-विरह में मूर्छित हो जाती है तो कृष्ण दर्शन देते हैं। तब राधिका प्रसन्न होकर नृत्य-गान करने लगती है। कृष्ण भी प्रसन्न होकर गाने लगते हैं :

“राधिके ! मेरे हृदय की श्वास भाषा कल्पना तुम,
 कृष्ण राधामय हुआ, आज राधा कृष्ण मय सब।”

१. विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य, पृ० १०२-१०३

२. वही, पृ० १०५

३. वही, पृ० १०८

अन्त में कृष्ण और राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है।

इन गीतिनाटयों का आशय विस्तार से लिखने का यह उद्देश्य है कि इस प्रकार की नाट्य-परम्परा स्पष्ट की जा सके। ये सम्पूर्ण नाटक नृत्य और गीति के आधार पर विरचित हैं। रास-शैली की जो परम्परा 'चन्द्रावली' और 'करुणालय' से होती हुई आधुनिक काल में पहुंची है, वह आज की विशेषताओं को समेटे हुए इस नाटक में परिलक्षित होती है। 'राधा' नाटक में राधिका को विवाहिता दिखाया गया है। वर-निर्वाचन में राधिका का कोई अधिकार न होने तथा बाल्यकाल से अविवाहित रहने के संकल्प के कारण उसका दाम्पत्य-जीवन सुखमय नहीं बनता। वह बाल्यसखा कृष्ण के प्रेम में विभोर रहती है और अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती है। यह कथानक रास-नाटकों में नहीं मिलता। शेष सम्पूर्ण बातें रासलीला-शैली में ही प्रदर्शित की गई हैं। रासलीला के कथानक में जो परिवर्तन किया गया है, वह आज की विवाह-समस्या की ओर संकेत कर रहा है।

सांस्कृतिक नाटक

हम पूर्व विवेचन कर आए हैं कि भारतेन्दु ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना की ओर भी संकेत किया है। 'नील-देवी' में एक हिन्दू विधवा सती की प्रचलित प्रथा की उपेक्षा करती हुई, नर्तकी का वेश बनाकर शत्रु-शिविर में प्रविष्ट होती है और युक्तिपूर्वक शत्रु-संहार के द्वारा अनेक हिन्दू नारियों के सतीत्व की रक्षा करती है। हिन्दी नाटकों में सांस्कृतिक चेतना की यह भावना इतनी क्रांतिकारिणी प्रतीत हुई कि बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे समालोचकों को भी अद्भुत और अभिनव ज्ञात हुई।

भारतेन्दु को मुस्लिमकाल की संस्कृति कुछ ऐसे परिवर्तन के साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में पग बढ़ाते मिली थी, जिसमें भारतीय संस्कृति के सच्चे रहस्य को समझने-समझने की प्रवृत्ति दबती जा रही थी। हम पूर्व देख आए हैं कि राधाकृष्ण के रास को रसिया कन्हैया बाज़िदअलीशाह ने किस प्रकार विलासमय 'इन्दर-सभा' में परिवर्तित करने की चेष्टा की थी और इसका प्रभाव भारतेन्दु-काल के नाटकों पर क्या पड़ा था।

भारतेन्दु को 'इन्द्र-सभा' में परम्परागत भारतीय संस्कृति का विकृत रूप देखकर ऐसी वितृष्णा हुई कि उन्होंने इसका उत्तर सम्य सम्राज के सम्मुख 'चन्द्रावली' के रूप में और साधारण जनता के सामने 'बन्दर-सभा' के रूप में रखना नितान्त आवश्यक समझा।

भारतेन्दु के दिवंगत होने पर उस युग के नाट्यकार भारतीय संस्कृति की रक्षा का ध्यान रखते हुए नाटक लिखते रहे। वे नाट्यकार भारतीय संस्कृति के प्रवाह को अवरोध करनेवाली बालविवाह, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, बहुविवाह आदि कुप्रथाओं को बाहर निकालने का सतत प्रयास करते रहे। इस कारण उस काल के नाटकों में कहीं-कहीं राष्ट्रीय पुकार का स्वर मन्द पड़ जाता है और भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा विजातीयों के सम्पर्क से प्राप्त दोषों के निवारण का स्वर प्रभविष्णु हो उठता है।

भारतेन्दु-युग की समाप्ति होते-होते रूस जापान से पराजित हो गया और कर्जन की कूटनीति के कारण उद्बुद्ध भारत में स्वदेशी आन्दोलन छिड़ गया। इस आन्दोलन में आगे चलकर हिंदू-मुसलमान सभी सम्मिलित हो गए और भारतमाता की उपासना के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगे। मुसलमान और ईसाई भी अपने निराकार देव की वन्दना के साथ-साथ 'सुहासिनी, सुमधुर भाषिणी, सुखदा, वरदा' भारतमाता की उस भूति की ओर आकृष्ट हुए, जिसका चरण सागर धोता है और जिसका उन्नत मस्तक (हिमालय) आकाश छूता है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध आ पहुँचा था। भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच रही थी। प्रतिभाशाली नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने जनता की इस नई मनोवृत्ति को समझकर ऐतिहासिक नाटक लिखने आरम्भ कर दिए थे।

राय बाबू के नाटकों में सांस्कृतिक विचारों का परिष्कृत रूप स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ा। उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विवेचन किया। उनके नाटकों में मुस्लिमकालीन प्रवृत्तियों का भी चित्रण प्रति मनोरम रूप में हुआ। इस काल की विशेषता थी—द्वेष और देशानुराग का संघर्ष। पारस्परिक कलह और द्वेषवश हिंदू-मुस्लिम शासक के सहायक बनते थे, किंतु अपनी आँखों अपनी जन्मभूमि का उत्पीड़न भी नहीं देख सकते थे। वे चाहते थे कि किसी प्रकार इसका कल्याण हो। इसीसे एक ओर जहाँ वीर प्रताप से शत्रुता करके छोटे भाई शक्तिसिंह द्वेष के कारण मुसलमानों का साथ देते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी कन्या सत्यवती को देशोद्धार और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए वन-वन भटकते देख गद्गद हो उठते हैं और अपने कृत्यों के प्राबलचित्तस्वरूप मृत्युदण्ड के लिए भी प्रस्तुत हो शाहजादा जहांगीर से कहते हैं—
“दुनिया में दो बादशाहतें हैं, उनमें से एक का नाम खुदगरजी और दूसरी का नाम जान-निसारी है। एक की पैदाइश दोजख से है और दूसरी की बहिश्त से। एक का मालिक शैतान है और दूसरी का मालिक परमेश्वर या खुदा। मैं अब तक खुदगरजी के मुल्क में रहता था, पर उस दिन मैंने जान-निसारी का मुल्क देखा। उस मुल्क के मालिक बुद्ध, ईसा और गौरांग हैं, उस मुल्क का कानून मुहम्बत, भक्ति और रहम है।”^१

मुसलमान धर्म स्वीकार करने पर एक हिंदू की मनोवृत्ति महावतखाँ और गज-सिंह के वार्तालाप से प्रकट होती है :

“महावत—मुझे इसलिए फख् हो रहा है कि मुसलमान होने पर भी मैं इसी राजपूत कौम का हूँ और इन्हीं अमरसिंह का भाई हूँ। अपने मुल्क के लिए ऐसी जान-निसारी, ऐसी बेखौफी और ऐसी हिम्मत का काम राजपूत ही कर सकते हैं और मैं भी उन्हीं राजपूतों में हूँ।”^२

राय बाबू के नाटक मूल अथवा अनुवाद रूप से प्रायः प्रत्येक भारतीय साहित्य-

१. मेवाड़-पतन, द्विजेन्द्रलाल राय, हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, संवत् १९७३ वि०, पृष्ठ ७६

२. मेवाड़-पतन, द्विजेन्द्रलाल राय, हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, संवत् १९७३ वि०, पृष्ठ ६२

कार पर प्रभाव डाल रहे थे। हिंदी भाषा के नाट्यकार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' इस प्रभाव से सबसे अधिक प्रभावित हुए।

'प्रेमी' ने अपने नाटकों में दो भिन्न प्रतीत होती हुई हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को संयुक्त करने की चेष्टा की। उन्होंने भी 'राय' महोदय के सदृश प्रायः मध्यकाल की ऐतिहासिक घटनाओं को अपने नाटकों का कथानक बनाया।

इस काल में 'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग' तथा 'माहुति' नामक सांस्कृतिक नाटक 'प्रेमी' द्वारा रचे गए। इन नाटकों में हमें उनका एक दृष्टिकोण यह दिखाई पड़ता है कि राष्ट्रीय एकता सांस्कृतिक एकता के बिना सम्भव नहीं; और सांस्कृतिक एकता तब तक दृढ़ नहीं बन सकती, जब तक हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति का रहस्य उदार दृष्टि से समझने की चेष्टा नहीं करते। 'प्रेमी' इन ऐतिहासिक नाटकों द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मुस्लिमकाल में कई बार सांस्कृतिक एकता के प्रयास हुए किन्तु हर बार कट्टरता सफलता में बाधक बनती रही।

'रक्षाबन्धन' में यह दिखाया गया है कि स्वर्गीय महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती मुगलों के अन्याय और वैर-भाव को विस्मृत कर हुमायूँ के साथ भ्रातृ-भगिनी का सम्बन्ध स्थापित करती है। उदार हुमायूँ बादशाह बहादुरशाह के आक्रमण से बहिन कर्मवती की रक्षा के लिए विविध विपत्तियों की ज्वाला में कूदकर चित्तौड़ प्रस्थान करना चाहता है। उस समय उसका सेनापति तातारखां उसे वर्जित करते हुए कहता है :

“तातारखां—एक काफिर कौम को मुसलमानों के खिलाफ मदद दे रहे हैं, क्या यही खुदा की हिदायत है ?

हुमायूँ—तुम भूलते हो। तुम सब एक ही परवरदिगार की औलाद हो। हिंदुओं के अवतारों ने और तुम्हारे पैगम्बरों ने एक ही रास्ता दिखाया है। कुरान शरीफ में साफ लिखा है कि, 'हमने हर गिरोह के लिए एक खास रास्ता मुकर्रर कर दिया है, जिसपर वह भ्रमल करता है। इसलिए उसपर भगड़ा न करो।'...नेकी की राह तो उसकी राह है, जो खुदा पर, सारी खुदावाद किताबों पर और सारे पैगम्बरों पर ईमान लाता है।'... यह बात हिंदुओं की मजहब की किताबें कहती हैं। फिर मजहब दोनों की दोस्ती के बीच में दीवार कैसे बन सकता है ?

तातारखां—वे हमारे पैगम्बर को नहीं मानते।

हुमायूँ—और तुम उनके पैगम्बर को मानते हो ?...खुदा की साफ हिदायत होते हुए भी तुम हिंदुओं के धर्म और अवतारों की इज्जत न करते हुए उनसे लड़ते हो। राज-पूत इस वक्त सच्चाई पर हैं और बहादुरशाह गुमराह है। सच्चे मुसलमान का काम सच्चाई का साथ देना है, फिर चाहे उसे मुसलमान के खिलाफ क्यों न लड़ना पड़े।'।

इस प्रकार सेनापतियों का विरोध होते हुए भी हुमायूँ चित्तौड़ को प्रस्थान करता

है, किन्तु उसके पहुँचने के पूर्व ही कर्मवती जौहर की ज्वाला में भस्म हो चुकी होती है। चित्तौड़ पहुँचने पर उसे मामिक वेदना होती है। इस राजपूत नारी की प्रशंसा करते हुए हुमायूँ कहता है—“यह खाक इन्सानियत की आँखों का भ्रंजन है।” “महाराणा ! बहिन कर्मवती की चिता की यह भाग मजहबी तअस्सुब की जलन पैदा न करे।” “सारे ही मुसलमान बुरे हैं, यह न समझना। इन्सान और शैतान सब जगह होते हैं।” “मैं तो हिंदुओं के कदमों में बैठकर मुहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।

विक्रम—हिंदू और मुसलमान, ये दोनों ही नाम घोखा हैं, हमें अलग करनेवाली दीवारें हैं। हम हिंदुस्तानी हैं।

हुमायूँ—हिंदुस्तानी ही नहीं इन्सान हैं। हमें अब दुनिया की हर किस्म की तंग-दिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है। बहिन कर्मवती ने इस दरिया के दो बड़े हिस्सों, हिन्दू और मुसलमानों, को जिस मुहब्बत के घागे में बांध दिया है, वह कभी न टूटे, मैं खुदा से यही चाहता हूँ।”

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के सम्मिलन का जो प्रयास मुस्लिम-काल में किसी न किसी रूप में शताब्दियों से चला आ रहा था, वह शाहजहाँ-काल में दारा के रूप में मूर्तिमान हो उठा था, किंतु औरंगजेब के क्रूर हाथों ने उसका विनाश कर दिया। ‘स्वप्न’ में दारा की मृत्यु के समय भारतीयता की प्रतीक जहाँनारा कहती है :

“आज एक महान स्वप्न भंग हो गया।” “क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान वलिदान को भूल जाएंगी।” “हिंदू संतान ! क्या तू इस आवाज़ को सुनेगा ? सुनकर कुछ करेगा ?”

इसी प्रकार ‘शिवा-साधना’ में हमें समर्थ गुरु रामदास का यह उपदेश मिलता है कि स्वतन्त्रता के युद्ध में भारतीय संस्कृति के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयास होना चाहिए।

‘प्रतिशोध’ में छत्रसाल की वीरता और प्राणनाथ के विचारों का आभास मिलता है। प्राणनाथ कहते हैं :

“स्वार्थी मत बनो भैया। तुम्हें अन्तःचक्षु प्राप्त हुए हैं। बाहरी प्रकाश पर निर्भर होना छोड़ो।”

‘आहुति’ नामक नाटक में बादशाह अलाउद्दीन नलहारगढ़ के समीप एक ग्रामीण युवती पर मुग्ध होकर मीर माहिम से कहता है :

“उस धानी साड़ीवाली लड़की को देखते हो ? बोलो, तुम मेरा काम करोगे ? उस लड़की से.....

मीर माहिम—मीर माहिम ऐसी बात सुनना पाप समझता है, जहाँपनाह ! एक

बहादुर सिपाही किसी औरत की इज्जत और शान के खिलाफ कोई बात नहीं सुन सकता।'

अलाउद्दीन की जघन्य मनोवृत्ति को तिरस्कृत करता हुआ मीर माहिम हिन्दू बालिकाओं के धर्म की रक्षा करता है, किन्तु इसके परिणास्वरूप उसे बादशाह की कृपा खोनी पड़ती है। अनाश्रित अरण्यवासी मीर माहिम को हम्मीर अपनी छत्रछाया में स्थान देता है, जिसका अर्थ होता है अलाउद्दीन के आक्रमण की धमकी। मीर माहिम हम्मीर से निवेदन करता है :

“महाराज, इस नाचीज़ के लिए इतनी बरबादी और तबाही क्यों न्योतते हैं। मुझे जाने दीजिए।

हम्मीर—मीर साहब, रणथम्भोर में जब तक एक भी राजपूत जीवित है, वह आपका अंग-रक्षक बनकर रहेगा।

मीर माहिम—यह है इन्सानियत का सच्चा नमूना। दिल चाहता है अपनी हस्ती को मिटाकर आपके कदमों के नीचे बिछा दूं। अपने-आपको जलाकर आपकी आंखों का सुरमा बना दूं।”

अलाउद्दीन के आक्रमण के समय राजपूतों के साथ-साथ मीर माहिम दुश्चरित्र अलाउद्दीन का सामना करता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए महात्माजी सतत प्रयत्नशील थे, उसी सांस्कृतिक ऐक्य को साहित्य का विषय बनाकर नाट्यकार रचना कर रहे थे।

‘प्रेमी’ का संस्कृति-प्रधान नवीन नाटक है ‘उद्धार’ (संवत् २००६ वि०)। इस नाटक में हम्मीर का विवाह कमला नामक विधवा के साथ दिखाया गया है। हम्मीर स्वयं भी दरिद्र किसान का दौहित्र है। इसकी माता सुधीरा एक दरिद्र कृषक-कन्या है।

हम्मीर ऊंच-नीच, धनी-निधन के भेद-भाव को मिटाकर देश को समृद्ध बनाना चाहता है। उसका मत है कि नीच जातिवाले उच्चवर्ग की अपेक्षा मनुष्यता के अधिक निकट हैं, क्योंकि ‘विधवाओं के प्रति वे उच्च जातिवालों की भांति निर्दय नहीं।’ इस नाटक में देश को जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊंचा माना गया है, और यदि राजा भूल करे तो जनता-जनार्दन को अधिकार प्राप्त है कि वह राजा को दंड दे। देश-प्रेम को पति-प्रेम से ऊंचा धर्म माना गया है और प्रान्तीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना पर बल दिया गया है। इसमें मुस्लिम शक्ति को विदेशी घोषित किया गया है।

इस काल में ‘प्रेमी’ के अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना-प्रधान नाटकों के मुख्य रचयिता हैं—चन्द्रगुप्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, उग्र, सेठ गोविन्ददास, सिया-रामशरण गुप्त।

हम पूर्व कह आए हैं कि प्रेमीजी ने राष्ट्रीयता के लिए हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के अभिन्न अंगों को मानवता के नाम पर एक में संयुक्त करने की चेष्टा की। इसके

लिए उन्होंने मुस्लिम-काल की घटनाओं को कथानक का रूप दिया । अन्य नाट्यकारों ने भारतीय इतिहास के अन्य युगों से भी सामग्री ली और भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करने में उसका उपयोग किया । चन्द्रगुप्त ने कम्बोज के युवराज यशोवर्मा की जीवन-घटना ली । युवराज यशोवर्मा पशुबल के द्वारा एक विशेष संस्कृति के प्रचार में संलग्न हैं । उस समय आशाद्वीप-निवासियों को इस बात का अहंकार है कि उनकी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है । इस कारण वे लोग संसार की अन्य संस्कृतियों के स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर अपने ही विचारों में निमग्न रहते हैं । इस आशाद्वीप की राजकुमारी रेवा है । रेवा अपने द्वीप की सम्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में कहती है :

“हमारे इस अत्यन्त छोटे आशाद्वीप के समान सम्पन्न, सुसंस्कृत, सम्य और सुखी द्वीप इस धरती पर दूसरा नहीं है । इसकी तुलना स्वर्ग ही से की जा सकती है, पृथ्वी पर के किसी अन्य उपद्वीप, द्वीप या महाद्वीप से नहीं ।”^१

ठीक इसके विपरीत चोलराज और इन्दिरा भारत के बाहरी देशों से सम्बन्ध जोड़कर अपनी सम्यता और संस्कृति का प्रचार और सुधार करना चाहते हैं । इस नाटक में एक तीसरा मत है जो अपनी संस्कृति का प्रचार और प्रसार शस्त्र-बल से करना चाहता है । यशोवर्मा कहता है—“आचार्य पुंडरीक शस्त्र-विजय के विरुद्ध हैं । वे शस्त्र-विजय की अपेक्षा हृदय की विजय को अधिक महत्त्व देते हैं । यह सांस्कृतिक विजय विश्व-भर का कल्याण करेगी, यही तो उनका सन्देश है ।”^२ इस प्रकार तीन संस्कृतियों का संघर्ष नाटक में दिखाया गया है । ‘रेवा’ एक दुःखान्त नाटक है, जिसमें रेवा अपना बलिदान स्व-संस्कृति की रक्षा-हित करती है ।

इसी प्रकार ‘अशोक’ नाटक में शीला का आत्मबलिदान दिखाकर राजा का हृदय-परिवर्तन स्नेह और सेवा के बल पर किया गया है ।

सेठ गोविन्ददास के ‘हर्ष’ नाटक में भी हृदय-परिवर्तन के लिए स्नेह और सौजन्य को ही आवश्यक माना गया है । इस नाटक में हर्ष, राज्यश्री और सुएनच्यांग सेवा-मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं । हर्ष और भण्डि का संवाद इसको स्पष्ट कर देता है कि वास्तविक विजय हृदय-परिवर्तन में है न कि शस्त्र द्वारा देश-विजय में ।

‘उग्र’ का ‘ईसा’ भी इसी कोटि में आता है । ईसा की प्रसिद्ध कहानी में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके नाटक लिखा गया है । इस नाटक में ईसा पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव दिखाया गया है । ईसा जिस संस्कृति का प्रतिपादन करते हैं, उसका मूलमन्त्र यह है :

“पशुबल को यदि पशुबल दबाएगा तो वह महा पशुबल हो जाएगा, जिससे किसी-को भी सुख न मिल सकेगा । अत्याचार के प्रतिकार के लिए धैर्य, आत्मदमन और अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ साधन हैं ।”

१. रेवा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, खन्ना पब्लिशर्स, लाहौर, सन् १९३८ ई०, पृष्ठ ३

२. रेवा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृष्ठ १३-१४

इस युग का एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक नाटक है 'पुण्य पर्व'। सियारामशरणजी ने इस नाटक में सत् और असत् के प्रतीक-रूप में सुतसोम बोधिसत्व और ब्रह्मदत्त नरनाथक को रखा है। इन दोनों का संघर्ष ही इस नाटक का प्राण है। इस नाटक को यदि प्रतीक मान लिया जाए तो इसमें वह संघर्ष समझना चाहिए जो मानव के अन्तःकरण में देवता और राक्षस के मध्य होता रहता है।

विक्रमद्विसहस्राब्द उपरान्त लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा आदि ने कई सांस्कृतिक नाटकों की रचना की है। इनमें 'गरुडध्वज', 'नारद की वीणा', 'दशाश्वमेध', 'वत्सराज', 'वितस्ता की लहरें', 'शक-विजय', 'हंसमयूर' प्रसिद्ध हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध जैन-गुरु कालकाचार्य की जीवन-घटना को लेकर कई नाटक लिखे गए, जिनमें तीन प्रमुख नाट्यकारों की रचनाएं प्रसिद्ध हैं—पं० उदयशंकर भट्ट का 'शक-विजय' (वि० २००६), वृन्दावनलाल वर्मा का 'हंसमयूर' और पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुडध्वज' (संवत् २००५ वि०)। तीनों नाट्यकारों ने इतिहास-अन्वेषों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में इस जैन-गुरु का चरित्र-चित्रण किया है।^१

'गरुडध्वज' में विदिशा के शुंग सेनापति विक्रममित्र नायक के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं, किन्तु नाटक का नायक सर्वशक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपनी महत्ता से अधिक अपने राष्ट्रध्वज (गरुडध्वज) को गौरव देता है। इसी कारण मिश्रजी ने नाटक का नाम विक्रममित्र न रखकर प्रसिद्ध राष्ट्रध्वज के अनुरूप 'गरुडध्वज' रखा। यह वही राष्ट्रध्वज है, जिसकी मान-रक्षा के लिए गुप्त-राज्य के बड़े-बड़े सम्राट, सेनापति और योद्धा अपना प्राण समर्पण करते रहे हैं। भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग लानेवाला यह गरुडध्वज केवल राष्ट्र-पताका ही नहीं, प्रत्युत राष्ट्र-प्रतीक के रूप में हमारे गौरव का स्रोत बन गया है। जिस पराक्रमी विक्रममित्र को नायक बनाकर नाटक लिखा गया है, वह नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर पूजा, यज्ञ और अनुष्ठान के बाद गरुडध्वज को अपनी आंखों से लगाता है।

नाट्यकार ने विक्रममित्र को द्वितीय देवव्रत भीष्म के सदृश चित्रित किया है। इसका कारण यह दिखाया है कि गरुडध्वज की छाया में जिस धर्म, समाज और राजनीति का निर्माण हुआ था, वह उन्हींके वंशज के गृह-कलह के कारण नष्ट न हो जाए। इस बालब्रह्मचारी योद्धा ने सारे जीवन में यह जाना ही नहीं कि रमणी का आकर्षण क्या वस्तु है। इसने नारी जाति की रक्षा के लिए देशी और विदेशी अत्याचारियों से युद्ध किया, अशरण को शरण दी। इसके लिए नारी जाति अभिवन्द्य है, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी। यवन-कन्या कौसुदी को भगानेवाले अन्तिम शुंग शासक कुमार देव-भूति को विक्रममित्र बन्दी बनाता है, यवन-बालिका के अपहरणकर्ता देवभूति को आश्रय

१. तीनों नाटकों की विशेषताएं अलग-अलग स्थानों पर नाट्यकार की अन्य रचनाओं के साथ दिखाई गई हैं।

देनेवाला काशिराज भी विक्रममित्र के कोप का भाजन बनता है। इसी प्रकार काशी-राज की कन्या वासन्ती से उसकी अनिच्छा से विवाह करने का अभिलाषी यवन मनेन्द्र भी दण्ड से नहीं बचता।

विक्रममित्र अपने चरित्र-बल और निःस्वार्थ सेवा से जनता की श्रद्धा का भाजन बन जाता है। इसके राज्य में अनुशासन भंग करने का साहस भी किसी व्यक्ति को नहीं। एक दिन एक सैनिक भूलवश विक्रममित्र को महाराज कहकर अनुशासन भंग करता है, उस दिन वह भयभीत हो कांपता हुआ कहता है :

“मैंने सेनापति की जगह महाराज जो कह दिया—यह अपराध अक्षम्य है। कदाचित् सेनापति विक्रममित्र के राज्य-विधान में इससे बड़ा कोई भी दूसरा अपराध नहीं है।”^१

इस प्रकार विक्रममित्र अपने चरित्र-बल से राज्य में सुव्यवस्था और न्याय के प्रति निष्ठा उत्पन्न करता है। उसकी न्यायप्रियता, सदाचार और पराक्रम से यवन विदेशी भी भारत को अपना देश समझने लगे हैं। यवन हलोदर कहता है :

“जिस घरती के अन्न-जल से पला व्यक्ति, उस घरती के धर्म में, जब तक अपने को ढाल नहीं लेता, तब तक तो वह अत्याचारी है। उसे अधिकार नहीं है उस घरती पर रहने का। हमारे पूर्वज इस देश में आने के साथ ही इस देश के धर्म में ढल गए। जुपिटर और मिनर्वा को तो वे यवन-देश में ही छोड़ आए। यहां तो श्री विष्णु, महेश्वर, लक्ष्मी,^२ सरस्वती और पार्वती के भक्त हो गए। ऐसा नहीं करने पर तो वे इस देश में विश्वास के पात्र कभी होते ही नहीं।”^३.....कदाचित् मुस्लिम लीग को लक्ष्य करके यह लिखा गया।

‘वत्सराज’ संवत् २००६ वि० की रचना है। इस नाटक की प्रेरणा के सम्बन्ध में मिश्रजी लिखते हैं—“वत्सराज के जिस चरित्र ने भास और कालिदास ऐसे महाकवियों को मोहित किया, उसके आधार पर यह नाटक लिखने का साहस केवल इस विश्वास से सम्भव हुआ कि भारतीय जनतन्त्र के इस पुण्य अवसर पर भारतीय साहित्य और कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति का निरूपण आज के लेखक का सबसे पहला धर्म है।”^४

वत्सराज उदयन इस नाटक का नायक है। उदयन के सम्बन्ध में भास, वररुचि, गुणादय, श्रीहर्ष, अन्नगहर्ष,^५ क्षेमचन्द्र, सोमदेव और ‘प्रसाद’ आदि कई महानुभावों की रचनाएं मिलती हैं, किन्तु मिश्रजी ने भास के कथानक को अपने नाटक के लिए अधिक उपयुक्त समझा है। इस नाटक का कथानक ‘प्रतिज्ञायौगन्धरायण’ और ‘स्वप्नवासवदत्ता’ के आधार पर कल्पना के योग से निर्मित हुआ है। मिश्रजी ने इस नाटक को ‘प्रतिज्ञा-

१. गरुडध्वज, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सन् १९४८ ई०, पृष्ठ ६

२. गरुडध्वज, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ ७८-७९

३. वत्सराज, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी भवन जालन्धर, इलाहाबाद, संवत् २००६ वि०, भूमिका

४. अन्नगहर्ष ने तापसवत्सराज नामक ग्रन्थ लिखा है।

योगन्धरायण' के मध्य से प्रारम्भ किया है। अंक में 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का सम्पूर्ण कथानक आ जाता है। पद्मावती-विवाह के उस पूरे प्रसंग को वासवदत्ता के मुख से कहला दिया गया है, जिसे भास 'स्वप्नवासवदत्ता' के छठे अंक में प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार उदयन की जिस कथा को भास ने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के पाँच और 'स्वप्नवासवदत्ता' के छः अंकों में प्रदर्शित किया है, उसे मिश्रजी ने 'वत्सराज' के दो अंकों में प्रस्तुत कर दिया है। मिश्रजी ने एक नई घटना, सिद्धार्थ का युवावस्था में गृहत्याग और उनके इस कर्म का तत्कालीन समाज पर प्रभाव, को इसमें दिखाया है। तीसरा अंक मिश्रजी की कल्पना के आधार पर निर्मित है। इस अंक में देश का सांस्कृतिक रूप उनकी मौलिकता के कारण सबसे अधिक चमक उठा है। इस अंक के प्रारम्भ में वासवदत्ता का पुत्र कुमार तथागत के उस श्रमण-धर्म में दीक्षित हो जाता है, जिसे महाराज उदयन देश के पौरुष और कर्म को हानि पहुँचानेवाला समझते हैं। उदयन युद्ध के 'वीर धर्म' और गीता-उपनिषद् के कर्मयोग का माननेवाला है। उसकी अनुमति बिना उसके पुत्र को श्रमण-धर्म की दीक्षा देनेवाले गौतम कौशाम्बी में आ रहे हैं और प्रजा उनके स्वागत का बृहद् आयोजन कर रही है। इस प्रकार राजा और प्रजा के धार्मिक विचारों में असा-मंजस्य होने के कारण एक जटिल समस्या खड़ी होने की सम्भावना है, किन्तु दूरदर्शी उदयन इसे सुलझाने के लिए यह आदेश करता है, "मेरे सैनिक, पौरजन कोई ऐसा कार्य न करें जिससे तथागत तथा श्रमणों का अपकार हो। भारत भूमि के निवासी कर्म से विमुक्त होकर श्रुति और स्मृति का विधान मिटाकर श्रमण-धर्म से जो योग-क्षेम चाहते हैं, उसमें बाधा मैं न दूँगा।"

प्रजा के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करते हुए भी वह इसके भावी दुष्परिणाम की आशंका स्पष्ट प्रकट कर देता है। रानी वासवदत्ता को भी संघारामों का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। वह स्पष्ट रूप से कह देती है, "संघारामों के कुमार-कुमारी छिपकर प्रेम करेंगे। वहाँ भी शिशु...केहों...केहों करेंगे, उनका पिता कौन है, यही कोई नहीं जानेगा। ऐसी दशा में इस देश की नाव डूब जाएगी।" उदयन गौतम के प्रति श्रद्धा रखते हैं किन्तु उनके धर्म को कार्यरतों का धर्म कहते हैं।

उदयन का मन्त्री योगन्धरायण भी तथागत के धर्म को देश के लिए अमंगलकारी समझकर इस पाखण्ड को फूँक देना चाहता है। उसका मत है कि जो मृत्यु से डरकर भागा वह मृत्युञ्जयी कैसे हो सकता है। मिश्रजी के इस नाटक में 'प्रसाद' का विलासी और लम्पट उदयन नहीं, प्रत्युत एक तेजस्वी, प्रजापालक और कर्मयोगी वीर उदयन परिलक्षित होता है, जिसे हम भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार वीरोदात्त नायक भी कह सकते हैं। 'प्रसाद' ने 'अज्ञातशत्रु' में बौद्ध-दर्शन और अहिंसा-धर्म की गरिमा की ओर अधिक ध्यान दिया है, किन्तु लक्ष्मीनारायण मिश्र ने श्रमण को भी कर्मयोग में दीक्षित किया है। मिश्रजी ने 'प्रसाद' के नाटकों में आत्महत्या-प्रवृत्ति का खंडन किया है और उदयन के मुख से कहला दिया है कि "कर्मयोग में विश्वास करनेवाला

अपने कर्म के फल से भाग निकलने के लिए कभी आत्मघात नहीं करेगा।”^१ इस प्रकार इस नाटक में उदयन के सम्बन्ध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक, मानवीय और बौद्धिक रूप उपस्थित करते हुए तप और भोग का समन्वय दिखाया गया है जो हमारी संस्कृति का मेरुबंद है।

नारद की वीणा (संवत् २००३ वि०)

मिश्रजी ने प्रागैतिहासिक काल की एक घटना के आधार पर ‘नारद की वीणा’ नामक नाटक की रचना की है। ‘देवी भागवत’ में नर और प्रह्लाद के युद्ध का जो वर्णन है, उसके माध्यम से धर्म और आपद्धर्म की विवेचना इस नाटक में की गई है। इसका कथानक हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त प्रारम्भ होता है। अपने पिता की मृत्यु का कारण प्रह्लाद क्यों और कैसे हुआ इसका बौद्धिक उत्तर देने का प्रयास इस नाटक में मिलता है। आर्यों के भारत-आगमन से यहां के मूल निवासियों के सम्मुख जो विकट समस्या खड़ी हुई, उसके सुझाव में शैवों और वैष्णवों में मतभेद हुआ। शैवागम सूढ़ाग्रह के कारण विकट परिस्थिति में भी धर्म में परिवर्तन नहीं चाहता, किन्तु वैष्णव धर्म उदार और समन्वयवादी होने से आततायी से भी समझौता करता है। हिरण्यकशिपु शैव और प्रह्लाद वैष्णव था। जातीय हित के लिए एक शैव का वध अनिवार्य बन गया। अतः सिंह की खाल के आवरण में छिपकर मानव ने हिरण्यकशिपु का वध किया। इस षड्यन्त्र में प्रह्लाद का हाथ था, यह नाट्यकार की नवीन स्थापना है। नितान्त नवीन होने से यह धारणा सहसा ग्राह्य नहीं बनती।

आर्य जाति इस देश में आने पर भी कच्चा मांस खाती व, यायावर के रूप में स्थान-स्थान पर घूमती रहती थी। आर्य किशोर किशोरियों के साथ स्वच्छन्द विहार करते। इसके प्रतिकूल यहां के मूल निवासी आश्रमों में रहते, ग्रध्यात्म-विद्या की खोज करने के लिए संयममय जीवन बिताते और परिणय में कन्यादान को महत्त्व देते।

कालान्तर में आर्यों ने अपनी सन्तान को इन आश्रमों में शिक्षा के लिए भेजना प्रारम्भ किया। गुरुवर्ग अनार्य था, किन्तु उन्होंने अपने सहज आदीत्य से आर्य-सन्तान की उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। संस्कृत, सोमश्रवा, सुमित्र आर्यकुमार थे, चन्द्रभागा आर्य-कन्या थी। आश्रम में ही सुमित्र और चन्द्रभागा में प्रेम हो गया। अनार्य महर्षि नर, आचार्य नारायण और वैष्णव भक्त नारद और प्रह्लाद के सहयोग से सुमित्र और चन्द्रभागा का विवाह अनार्य-पद्धति पर होता है। इस परिणय में अनार्य-विधि कन्यादान का सर्वप्रथम प्रयोग होता है। आर्य कच्चा मांस खाना छोड़ देते हैं। आर्यों की यज्ञ-व्यवस्था अनार्य आश्रम में स्वीकृत होती है।

ऋषियों के हाथ में अस्त्र-शस्त्र देख प्रह्लाद हिंसा का विरोध करते हैं। नर और

प्रह्लाद में युद्ध होता है। नर प्रह्लाद को हरा देता है। किन्तु नारायण अनासक्त भाव से यह सब देखता है। नारायण जैसे आचार्य की बुद्धि एवं आश्रम का इतना प्रभाव पड़ता है कि श्राय भी अपने शव को गाड़ना छोड़कर उन्हें भस्म करने लगते हैं। वे भारत की उपनिषदों की मूलभूत ब्रह्म-भावना को स्वीकार कर लेते हैं।

नर और प्रह्लाद के युद्ध में प्रह्लाद एक ऐसे नवीन आग्नेयास्त्र का प्रयोग करते हैं कि सभी वीर चकित रह जाते हैं। किन्तु उनकी मुखमुद्रा युद्धकाल में क्रोधावेश के कारण नितान्त परिवर्तित हो जाती है। उनके नेत्रों से आग निकलने लगती है। इस कारण उनकी पराजय होती है और महर्षि नर की विजय। नारायण नितान्त शान्त मुद्रा में अपना कार्य करता हुआ कहता है, “संघर्ष और तप में ही यह प्रकृति पूर्ण है और प्रकृति के पूर्ण होने में ही हम भी पूर्ण हैं। द्रोह और वैर में नहीं। दो नदियों के मिलने में पहले संघर्ष होता है और फिर एक धार हो जाती है।” प्रह्लाद की हार का कारण बताते हुए नारायण कहता है, “प्रह्लाद वीर हैं, विख्यात धनुर्धर हैं, किन्तु तब भी इनकी उत्तेजना पराजित करेगी। जो भीतर से शान्त नहीं है, वह विजय के समीप नहीं जा पाता।”

नाट्यकार इस बात को स्पष्ट करना चाहता है कि सम्यक्ता और संस्कृति सदा असम्यों और असंस्कृत बर्बरों के हाथों परास्त होती है, किन्तु उसकी महानता यही है कि पराजित होने पर नवागन्तुकों को अपने रंग में ऐसा रंग लेती है कि वे इसी भूमि के बन जाते हैं। वे इसी भारत भूमि के उस धर्म का आचरण करते हैं, जिसकी मान्यता है—“धर्म व्यक्ति का नहीं होता, जाति का नहीं होता, वह तो प्रकृति का होता है! जिस भूखंड की प्रकृति का जो गुण है और स्वभाव है, उसीके अनुरूप उसके निवासियों का धर्म होता है × × × इस भूखंड की प्रकृति में ही प्रेम और तुष्टि है।”

सारांश यह है कि जिस समय नैमिषारण्य के अनार्य विद्यार्थी वीणा बजा रहे हैं, चन्द्रभागा के उस पार के आर्य धमधड़ाम सूखा चमड़ा ही बजाते हैं। शरीर और शस्त्र के बली यायावर आर्य योग-दर्शन, कला-विज्ञान और ज्योतिष के अधिकारी अनार्यों को रणभूमि में पराजित करने में तो समर्थ हुए, पर एक समय ऐसा आया जब अपने विजितों से ही उन्हें बहुत कुछ सीखना पड़ा। गंगा और यमुना की धार की तरह एक में मिलकर दोनों आगे बढ़े, उसीमें इस देश की संस्कृति और जीवन-दर्शन को वह संजीवनी शक्ति मिली, जो आज तक बराबर चलती चली जा रही है। गंगा की धार की तरह उसका भी अंत नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिककाल के ये नर-नारायण महाभारत-काल में अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतरित हुए। इन दोनों के चरित्र में यही संकेत मिलता है।

दशाश्वमेध (संवत् २००८ वि०)

‘वत्सराज’ के बाद यह नाटक लिखा गया। अपने इन सांस्कृतिक नाटकों—नारद की वीणा, गरुडध्वज, वत्सराज, दशाश्वमेध—में मिथ्यजी ने संस्कृत नाटकों के अनुसरण

पर भरतवाक्य जैसी पद्धति अपनाई है। इन सभी नाटकों के अन्त में किसी न किसी चरित्र ने मंगल और उत्कर्ष की बात कह ही दी है। इस नाटक में भगवती विन्ध्यवासिनी के प्रधान पुजारी मीरवी-सिद्ध के ये शब्द हैं—“इस देश का इतिहास भारशिव नागों की तरह बराबर इस देश के वीरों के खड्ग से लिखा जाए।” इस वाक्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस नाटक दशाश्वमेध के कथानक में नागराज वीरसेन और उसके सहर्षामियों ने अपने समय का इतिहास अपने खड्ग से लिखा।

ईसा की प्रथम शती में देवपुत्र कुषाणराज कनिष्क ने पुरुषपुर से लेकर प्रायः पाटलिपुत्र तक की भूमि को ही अपने अधिकार में नहीं किया, अपितु गान्धार और काश्मीर के उत्तर चीन की कुछ भूमि पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया। उसके समय में बौद्ध धर्म को बहुत बल मिला था। चीन के दो राजकुमार उसके बन्दी बने थे। चीन और भारत में परस्पर शान्ति बनी रहे और चीन कभी इधर आंख उठाने का साहस न करे, इस उद्देश्य से दोनों कुमारों को बन्धक के रूप में काश्मीर के भीतर जिस स्थान पर रखा गया था, वहां चीनियों का एक छोटा-मोटा उपनिवेश-सा बन गया है, जो इतिहास में ‘चीन-मुक्ति’ नाम से प्रसिद्ध है।

सम्राट कनिष्क अपने सारे गुण और धर्म-भाव के बाद भी विदेशी ही था। विदेशियों के द्वारा—चाहे वे सब ओर से देव सरीखे ही क्यों न हों—शासित होना इस देश के वीरों के लिए सदैव कलंक की बात रहा।

ईसा की तीसरी शती में भारशिव नागों की एक ऐसी शक्ति उठ खड़ी हुई, जिसने विदेशी कुषाण-शक्ति को देश के बाहर खदेड़ते हुए गंगा-यमुना की धारों को मुक्त कर, पूर्वजों के स्वर्ग का द्वार खोल दिया। इस नाटक में पद्मावती (एक स्थान विशेष) का तरुण वीरसेन नाग, कुषाण-शक्ति का उनके भीतर से पता लगाने के लिए मथुरा के कुषाणराज वासुदेव की सेना में एक सामान्य सैनिक के रूप में कार्य करने लगता है। पश्चिम में पहले से ही हूणों का आतंक पुरुषपुर की कुषाण-सेना पर छा रहा था। वीरसेन मथुरा की कुषाण-सेना में रहते हुए अपने जातीय संगठन को बराबर बढ़ाता रहा और अब पश्चिम की तरह पूर्व में भी कुषाण-शक्ति के ऊपर संकट के बादल मंडराने लगे हैं। कुषाण-राज्य के पूर्वी अंचल में नाग-शक्ति के संकेत पर बार-बार गंगा के जल में कुषाणों का राजकोष लूटा गया। कान्तिपुरी के हाथियों के बेड़े ने गंगा का मार्ग कुषाण-सेना के लिए अरक्षित कर दिया। वीरसेन ने जब से कुषाण-सेना में नौकरी कर ली है, तब से यह अराजकता बन्द तो हो गई पर इसके संकट सदैव के लिए मिटे नहीं हैं। कुषाण-शक्ति का पूर्वी क्षत्रप अंगारक वासुदेव की पुत्री कौमुदी को अपनी प्रिया बनाने की चिन्ता में काशी छोड़कर मथुरा में डेरा डाले है, किन्तु कौमुदी का स्वाभाविक स्नेह उस वीरसेन नाग की ओर कुछ ऐसे अनोखे ढंग से हो जाता है, जिसके लिए किसीने कहा, ‘तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।’ राजपुत्री वर्ष के उत्सव-पर्वों में वीरसेन को अपने निकट रखने लगी। राजमन्त्रणा में भी वीरसेन का आसन ऊपर रहा। यह नाग तरुण

जितना ही अलहड़ है उतना ही अनासक्त भी ।

नित्य के सम्पर्क में इसने कामना की आंखों से न तो कभी राजपुत्री को देखा न उसकी सखियों को । उसके इस संयम और आचरण में राजपुत्री सूर्य-किरणों में हिम-सी पिघल उठती है, पर वीरसेन की ओर से इस आशय का कोई संकेत उसे कभी नहीं मिलता । दूसरी ओर अंगारक उसे अपनी भेंट और आग्रह के विविध रूपों से तंग कर देता है । इन दोनों पुरुषों के स्वाभाविक विभेद में राजपुत्री के भीतर वीरसेन के प्रति अनुराग और अंगारक के प्रति घृणा का भाव धीरे-धीरे बढ़ने लगता है । वीरसेन को अपने सिद्धि-मार्ग का अवरोधक मानकर, शिव-मन्दिर में पूजा करते समय अंगारक उसकी हत्या का षड्यंत्र करता है, पर वीरसेन शत्रु-शस्त्रों को अपने अर्घ्यपात्र से रोककर उनका अस्त्र छीनकर शत्रुओं को आहत करता है । पहले अंक के अन्त में जहां उसके इस आचरण का विचार होता है और राजपुत्री कौमुदी उसके सिर से बहते रक्त के उपचार की चेष्टा करती है वहीं वह प्रतिज्ञा करता है, “अंगारक को जिस दिन युद्ध में मारूंगा, शिवपुरी काशी में अश्वमेध यज्ञ करूंगा ।” अंगारक और वीरसेन के द्वन्द्वयुद्ध की बात काशी के उस पार गंगा की रेती में निश्चित होती है ।

दूसरे अंक में विन्ध्यवासिनी देवी के मंदिर में वीरसेन के वीरों की उपासना, सेना-संग्रह और गंगा की रेती में अंगारक के साथ वीरसेन का द्वन्द्वयुद्ध, अंगारक की मृत्यु और कुषाण-सेना का वीरसेन पर अकस्मात् आक्रमण, वीरसेन के सहयोगियों की बुद्धि और वीरता, वीरसेन की रक्षा और शत्रु-सेना का संहार दिखाया गया है ।

तीसरे अंक में वीरसेन की प्रतिज्ञा पूरी होती है । वर्ष की अन्तिम सन्ध्या में वह मथुरा के दुर्ग-द्वार पर विजयी के रूप में पहुंचता है । कुमार कनिष्क अपने सैनिकों के साथ पुरुषपुर की ओर निकल भागता है । अकेली राजपुत्री कौमुदी अपनी प्रति-हारी नन्दिनी के साथ मथुरा में अपने जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा के लिए रह जाती है । वीरसेन के पहुंचने पर वह उसका स्वागत करती है । वीरसेन उसे समूचे राज्य की स्वामिनी स्वीकार करता है । दोनों के हाथों दुर्ग-शिल्लर पर भारशिव नागों की पताका फहराई जाती है । अश्वमेध यज्ञ का जो संकल्प वीरसेन ने एक वर्ष पूर्व मथुरा में किया था वह काशी में गंगा के तटवर्ती स्थान-विशेष पर पूरा होता है । वहां भविष्य में अश्वमेध की परम्परा चल पड़ती है । वही स्थान नाटक में दशाश्वमेध कहा गया है, जिस नाम से काशी में आज भी उसकी ख्याति है ।

कुषाण-कन्या कौमुदी वीरसेन के अनुराग में यज्ञ के सारे कार्य राजमहिषी के रूप में सम्पादित करती हुई सब अर्थों में भारतीय बाला बन जाती है ।

बितस्ता की लहरें (सं० २०१० बि०)

मिश्रजी का मत है कि यवन विजयी अलिकसुन्दर^१ अपने देश के नगर-राज्यों

१. टिप्पणी—अलेक्जेंडर का नाम मिश्रजी के मत से अलिकसुन्दर था ।

को ध्वंस कर एबेंस, स्पार्टा के गौरवपूर्ण इतिहास को मिटाकर महान बना था। दर्शन और राजनीति के साधक मेघावी अरिस्तातल की प्रेरणा से अलिकसुन्दर के पिता फिलिप ने ही अपने देश के नगर-राज्य को मिटाया था। इस कार्य में यवन-देश में एक सार्वभौम शक्ति का उदय तो हुआ पर सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, जिनके लिए आज तक उन नगर-राज्यों का नाम चलता आ रहा है, सब कुछ मिट भी गया। विश्व-विजय की कामना में अलिकसुन्दर एक के बाद दूसरे देशों को रौंदता भारत की पश्चिमी सीमा पर आ घमका। पारसीक साम्राज्य में प्रवेश के पूर्व एशिया माइनर की भूमि को वह रौंद चुका था; अन्तिमोके की बारबनिता, रूप और विलास की मोहिनी ताया, उसकी प्रेयसी बन चुकी थी। विलास और विभव के मद में चूर महान पारसीक साम्राज्य इस महत्वाकांक्षी यवन का धक्का नहीं सह सका। आर्यों में आर्य और क्षत्रियों में क्षत्रिय कुरु के वंशज दारयवहु के राज्य और राज्य-विधान के साथ-साथ अन्तःपुर की नारियों की जो दुर्दशा हुई वह अवर्णनीय है। राजकोष के साथ समूचे देश में फैली अटूट धनराशि की लूट से भी इस ध्वंसक यवन की तृप्ति नहीं हुई। पारसीक राज्य की महान नगरी पारसपुर को जलाकर अस्म किया गया। मन्दिरों की मूर्तियां यवन-हथौड़ों की मार से चूर-चूर हुई और अब विजयी सेना के भय और आतंक से जैसे जगत् थर्रा उठा। अब तो यवनों के लिए पूर्व का द्वार खुल गया। तक्षशिला के राजा आंभीक ने यवन विजयी को इस देश में प्रवेश के लिए निमन्त्रित किया, पर सिन्धु-तट तक पहुंचते-पहुंचते विजयी यवन को एक-एक पग भूमि के लिए जो कठोर संग्राम करने पड़े, इससे उसे पता चल गया कि निषद के पूर्व की मानवता कुछ दूसरी थी। उसे बार-बार ऐसे छल और विश्वासघात से कार्य लेना पड़ा, जिसे पारस में वह अपनी जाति और सेना के गौरव-बोध में लज्जाजनक मान चुका था।

आंभीक की सहायता से सिन्ध तो उसने पार कर लिया, पर तक्षशिला की राजशक्ति की सहायता पर भी उसकी विजय का सबसे बड़ा प्रतिरोध वहीं (तक्षशिला में) उत्पन्न हुआ। देश की स्वतंत्रता और धर्म के आग्रह में तक्षशिला महाविद्यापीठ के कपाट बन्द हो गए। स्नातकों और आचार्यों ने यवन-विनाश का संकल्प लेकर कार्य करना आरम्भ कर दिया। इस भूमि ने इसके पूर्व ऐसे बर्बर आक्रमण का अनुभव नहीं किया था। यहां के लोग जानते ही नहीं थे कि युद्ध में पराजित होने पर धन और धरती के साथ नारी-मर्यादा का भी अन्त था। यवन-सेना वितस्ता के तट तक पहुंची, तब तक इस पार केकय-मंडल का नारी-समुदाय चन्द्रभागा की ओर भेज दिया गया। (तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त को राजनीति की जानकारी भी कदाचित् इसी अवसर पर हुई।) कुछ काल तक युद्ध के उपरान्त दोनों पक्षों ने बिराम-सन्धि की। किन्तु सन्धि-वार्ता के साथ ही साथ विजयी यवन का रात को वितस्ता पार करने का प्रयत्न और उसकी प्रेयसी ताया का तक्षशिला के स्नातकों द्वारा हरण, अलिकसुन्दर की रक्षा अपने दुर्मंद हाथी से स्वयं पुरुष का करना, और अन्त में ताया की प्रेरणा से ही दोनों पक्षों में सन्धि, नाटककार

की कल्पना के वे सूत्र हैं, जो मनोरम होते हुए भी इतिहास-सिद्ध नहीं हैं। भूमिका में मिश्रजी ने यवन लेखकों द्वारा लिखे इतिहास पर सन्देह प्रकट कर दिया, किन्तु सत्य इतिहास का कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं दिया। अतः इस नई स्थापना को स्वीकार करना सहज नहीं। ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की मर्यादा रक्षणीय है। इस नाटक में यह त्रुटि खटकती है।

अशोक

मिश्रजी का प्रथम नाटक 'अशोक'—जिसकी रचना उनकी २३ वर्ष की अवस्था में संवत् १९८३ वि० में हुई थी—भी इसी कोटि में आ सकता है, पर इस नाटक के विषय में जब मेरी बातें उनसे हुईं तो उन्होंने निस्संकोच भाव से स्वीकार किया कि यह नाटक उनके प्रमाद का फल है। उनके कथनानुसार शेक्सपियर का भूत बंगाली नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के हृदय का देवता बन गया था, जिसकी अर्चना जाने या अनजाने देश की कितनी ही भाषाओं के नाटककारों ने की थी। मिश्रजी का यह नाटक 'अशोक' इस अर्चना के उसी क्रम में लिखा गया। मिश्रजी का कहना है कि शेक्सपियर से प्रभावित होकर द्विजेन्द्र के नाटक यदि न लिखे गए होते तो इस देश की विभिन्न भाषाओं के सभी नाटककार कालिदास और भास की परम्परा में चलकर भारतीय जीवन-दर्शन के निष्ठावान पोषक बने रहते, पर ऐसा न हो सका। यूरोप के नाटकीय विधान में जिस समय इम्सन और अन्य नाटककार जीवन की वास्तविकता का चित्रण करने लगे थे और शेक्सपियर की पद्धति के विरुद्ध वेगवती प्रतिक्रिया चल पड़ी थी, इस देश के अभाम्य से शेक्सपियर के छोटे संस्करण द्विजेन्द्र का जन्म बंगाल में हो गया। मिश्रजी ने अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में लैला और नूरजहां, गुलेनार और दुर्गादास के संवादों के आघार पर द्विजेन्द्रलाल राय को अन्तःकरण का अन्धा साहित्यकार कहा है। समय आ गया है कि जब हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार कर यह निर्णय करें कि मिश्रजी का यह कथन केवल उनके अहंकार के पोषण के लिए है अथवा भारतीय कला और साहित्य के उन सिद्धांतों की रक्षा के लिए है, जिन्हें वे वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक सब कहीं अधिक मानते हैं और कहते हैं कि पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पहले बंगाल में फैला और वहां से महामारी की तरह सारे देश पर छा गया।

'अशोक' नाटक के सम्बंध में यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी नाटक-साहित्य के इतिहास में ब्रजरत्नदासजी ने इसके धर्मनाथ पर 'प्रसाद' के चंद्रगुप्त नाटक के चाणक्य की जो छायां देखी है, वह रचनाक्रम को देखते हुईं अंत प्रतीत होती है। 'अशोक' 'चंद्रगुप्त' से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था। अशोक के साथ-साथ 'कामना' नाटक प्रकाशित हुआ। उसके चार वर्ष उपरान्त 'चंद्रगुप्त' प्रकाशित हुआ। अतः 'प्रसाद' के चाणक्य की छाया मिश्रजी पर किस प्रकार सम्भव है? ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रजरत्नदासजी से अनजान में यह भूल हो गई है।

प्रतिज्ञा-भंग क्यों

मिश्रजी ने अपने प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' की भूमिका में यह कहा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में बांछनीय नहीं", पर अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध जो उन्होंने इतने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों की रचना कर डाली, इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। इस सम्बंध में वार्तालाप करने पर उन्होंने बताया कि "प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया में मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।" उनका कथन है कि "प्रसाद के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी, भावी पीढ़ी के पथ-भ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी, उसके निराकरण के लिए मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े, जिनमें हमारी संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य झलक उठे जो कालिदास और भास के नाटकों में पहले ही निरूपित है।"

मिश्रजी का मत है कि 'प्रसाद' के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याएं कराई जाती हैं, संवादों में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभिव्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से जो श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा जाता है, वह भारतीय नाट्य-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वे अपने नाटकों में आत्महत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमी-प्रेमिका के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्त्व एवं कल्पना में अतिरंजन को स्थान नहीं देते। अब समय आ गया है कि मिश्रजी के विचारों की समीक्षा की जाए और इस बात का निर्णय किया जाए कि देश और जाति के हित के लिए उनकी ये गवौक्तियां कहां तक उपयुक्त हैं।

शैली

मिश्रजी के सभी सांस्कृतिक नाटक तीन अंकों में समाप्त होते हैं। सम्पूर्ण नाटक गीतरहित हैं। भाव-चित्रण के साथ-साथ बौद्धिक विवेचन पर ही बल है। अधिकांश घटनाओं को प्रारम्भ में क्रिया के रूप में न दिखाकर पात्रों के संवाद में सूचित किया गया है, जो नाट्यकला की दृष्टि से दोषपूर्ण है।

भाषा काव्यमयी न होकर सरल, स्वाभाविक, अन्तर्जगत् के चित्रण में समर्थ, भोज्यस्वी, नाट्योपयोगी और मनोरम है। मिश्रजी इसे स्वीकार नहीं करते कि उनकी शैली का आधार भारतीय नाट्य शास्त्र नहीं, प्रत्युत पाश्चात्य नाट्यकला है।

हम पूर्व कह आए हैं कि उदयशंकर भट्ट का 'शक-विजय' (संवत् २००६ वि०) सांस्कृतिक नाटकों की कोटि में आता है। भट्टजी को शक-विजय की प्रेरणा भारतीय संस्कृति के महत्त्व से मिली। उनका कहना है कि धर्म की आड़ में भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात करनेवाला अक्षम्य है। इसे ही दर्शना इस नाटक का लक्ष्य है। भट्टजी इस नाटक द्वारा देशवासियों में ऐसी भावना जागरित करना चाहते हैं, "जो देश को धर्म से भी महान और व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर समझे।" जिस मानसिक संतुलन से उपर्युक्त विचारों को प्रोत्साहन मिले, उसे ही स्वीकार करना आप नाटक का इष्ट समझते

हैं। इस नाटक में उस कालकाचार्य और उस गन्धर्वसेन को भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है जो देश-द्रोह के कारण इतिहास में लांछित समझे जाते रहे हैं।

‘विक्रमादित्य’ के सम्बन्ध में वृन्दावनलाल वर्मा ने भी एक नाटक लिखा है। उन्होंने ‘हंसमयूर’ (सं० २००५ वि०) नामक नाटक की प्रेरणा के विषय में लिखा है :

“हिन्दी में ‘विक्रमादित्य’ के ऊपर जो नाटक अब तक लिखे गए हैं, उनमें आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों का बहुत कम उपयोग किया गया है। एक बार विक्रमादित्य चित्रपट (फिल्म) को देखकर तो मन में बहुत ग्लानि हुई थी। यह चित्रपट उस समय के इतिहास और तत्कालीन अवस्था का विपर्यय-मात्र था।”

इस नाटक का नायक इन्द्रसेन है, जो कृत नाम से संवत् चलाता है और हंसमयूर नामक संस्कृति की स्थापना करता है। नाट्यकार ‘हंसमयूर’ नाम से भारतीय संस्कृति का जो रूप सामने रखना चाहता है, वह इन्द्रसेन और रामचन्द्र के वातालाप से स्पष्ट हो जाता है। रामचन्द्र का मत है कि “यह समय रघुशंकर के तांडव का है।” इन्द्रसेन का मत है कि शकों को पराजित करने पर उनके बाल-बच्चों का वध अनुचित है। यदि वे भारतीय संस्कृति के होकर भारत देश में रहेंगे, तो उसी प्रकार उनकी रक्षा की जाएगी, जैसे आर्य-जनों की होती है। इन्द्रसेन जिस वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति की कल्पना करता है, उसमें “भक्ति और पुरुषार्थ का, तपस्या और जीवन का, त्याग और भोग का, विषय और महिमा का, सौन्दर्य और तेज का, बुद्धि और बल का... कोमलता का और दृढ़ता का, क्षमा और दंड का, क्रिया और विचार का, शान्ति और सक्रियता का समन्वय” है। चतुर्भुज विष्णु के हाथों में गदा और चक्र दुर्वृत्तियों के दमन का, शंख जन-जागरण का, कमल विश्व में सर्वत्र जीवन को पुरस्कार तथा वरदान देने का सूचक है। भारतीय संस्कृति को हंसमयूर की उपाधि देकर इन्द्रसेन इसका तात्पर्य समझाता है कि “हंस बुद्धि, विवेक, प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और संस्कृति का प्रतीक है; मयूर तेज, बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य संस्कृति है।”

इस नाटक में कई स्थानों पर काल-दोष दिखाई पड़ता है। कुजुक, भूमक तथा नहापल को एक साथ उपस्थित करना घटना-चक्र के प्रतिकूल है। उषवदास ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर जैन नहीं है, किन्तु इस नाटक में जैन धर्मावलम्बी दिखाया गया है। इस ऐतिहासिक नाटक में एक कल्पित पात्र को नायक बनाना और ‘हंसमयूरी’ नामक काल्पनिक संस्कृति का आविष्कार करना नाटक के महत्त्व की अभिवृद्धि नहीं करता। नाट्यकार का लक्ष्य था इतिहास की रक्षा करना, किन्तु इस नाटक में वह यत्र-तत्र इतिहास-सम्बन्धी अक्षम्य भूलें कर जाता है।

पूर्व की ओर (सं० २००७ वि०)

वर्माजी का सांस्कृतिक नाटक ‘पूर्व की ओर’ संवत् २००७ वि० में प्रकाशित हुआ। भारत के स्वतंत्र होने पर नाटककारों की दृष्टि समीपवर्ती देशों की सम्यता और संस्कृति की ओर अधिकाधिक आकर्षित होती जा रही है। वर्माजी ने जातक-कथाओं,

पूर्वी द्वीपों में उपलब्ध अग्नावशेषों और शिलालेखों के आधार पर भारत के साथ वारुण द्वीप (बोर्नियो) का अति प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध किया है। वारुण द्वीप के एक शिलालेख पर उत्कीर्ण मूलवर्मा, अश्ववर्मा और कुण्डुंग का दक्षिण भारत का पल्लववंशी होना प्रमाणित किया है। पल्लवों का ग्यारहवां राजवंशज वीरकूर्च एक तेजस्वी शासक था। उसका प्रपौत्र वीरवर्मा हुआ, जिसका भाई अश्ववर्मा कुण्डुंग का पिता था। यही अश्ववर्मा इस नाटक का नायक है।

इस नाटक में दूर-दूर तक भारतीयों की समुद्र-यात्रा और भारतीय संस्कृति का पूर्वी देशों में विकास दिखाने का प्रयास पाया जाता है। प्रारंभ में ही गौतमी और कन्दर्पकेतु के वार्तालाप से यह सिद्ध कराया गया है कि आज से प्रायः १६०० वर्ष पूर्व सौम्य (सुमात्रा), कसेरू (मलय), नागदीप (निकोबार) और वारुण (बोर्नियो) आदि द्वीपों में हमारे जलयान आते-जाते थे। लोग छः-छः महीने तक समुद्र-यात्रा करते थे और मानव-कल्याण के लिए देश के नवयुवक ही नहीं नवयुवतियां भी समुद्र-यात्रा की भयंकरता का निर्भीकता से सामना करती थीं।

अश्ववर्मा वारुण द्वीप में पहुंचकर भारतीयों का उपनिवेश बनाने में समर्थ होता है। ये भारतीय उस द्वीप का अन्नाभाव दूर करने के लिए नहर खोदने का कार्य करते हैं। वहां अन्न की उपज बढ़ जाती है। देश समृद्ध हो जाता है तो अश्ववर्मा अपने सहकारियों को बुलाकर कहता है, “धर्म का राज्य स्थापित हो जाए, सुन्दर भारतीय कलाओं का प्रसार हो जाए और जनता सर्वथा सुखी रहने लगे।”^१

शपथ (सं० २००८ बि०)

‘प्रेमी’ का यह सबसे नया नाटक है। इसमें भारतीय इतिहास के आधार पर भारतीयों के उन गुणों और संस्कारों का उल्लेख है, जिनके कारण भारत तेजस्वी, वीर और बलवान बना। साथ ही उन निर्बलताओं और त्रुटियों को भी दिखाया गया है, जिनके कारण भारत को अनेक बार विदेशी शक्तियों से पराजित होना पड़ा।

‘प्रेमी’ को इस नाटक की प्रेरणा स्वतंत्र भारत की जनता की दुर्बलताओं को देखकर मिली है। उनका कहना है कि “जिन भूलों और जिन जातीय दुर्गुणों के कारण भारत बार-बार पराधीन हुआ है, उन्हें फिर दुहराया जा रहा है।”

इस नाटक में हूणों के आक्रमण से देश की रक्षा करनेवाले विष्णुवर्धन को नायक बनाया गया है। इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा और लोकनायक विष्णुवर्धन (यशोधर्मन) कई नाटकों का नायक बन चुका है।^२

‘शपथ’ में यशोधर्मन का चरित्र-चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। देश-रक्षा

१. पूर्व की ओर, वृन्दावनलाल वर्मा, पृष्ठ १५५

२. भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त यशोधर्मन को नायक मानकर तीन नाटक स्वतंत्र भारत, समाधि और शपथ लिखे गए हैं।

में योद्धा, नीतिज्ञ, कृषक, व्यवसायी आदि सभी वर्गों के साथ वेद्योंओं का साहस भी बल प्रदान करता है। 'प्रेमी' यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जातीय जीवन का विकास प्रत्येक वर्ग के त्याग और पुरुषार्थ पर निर्भर है।

गौतम नन्द (सं० २००६ वि०)

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने तीन नाटक—'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'समर्पण' और 'गौतम नन्द' लिखे हैं। 'समर्पण' सं० २००७ वि० में लिखा गया। 'गौतम नन्द' उनकी नवीन रचना है। गौतम बुद्ध के अनुज गौतम नन्द इस नाटक के नायक हैं। नाटककार का मत है कि गौतम बुद्ध के गृह-त्याग के उपरान्त महाराज शुद्धोदन की सम्पूर्ण आशा अपने कनिष्ठ पुत्र गौतम नन्द पर केन्द्रित हुई। किन्तु गौतम नन्द ने भी गौतम बुद्ध के आदेश पर अपने विवाह, नवगृह-प्रवेश तथा राज्याभिषेक के ऐन मौके पर भिक्षु-धर्म स्वीकार किया। इसी घटना को नाटक के रूप में दिखाना नाटककार को अभीष्ट है।

मिलिन्दजी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि 'भारतीय लोकतन्त्र के अम्युदय के उषाकाल' में साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में अधिक कार्य करने की आवश्यकता है। कला के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "जीवन से अलग कटकर कला के जीवित रहने का सिद्धान्त अब बहुत पुराना पड़ गया है। आज कला और साहित्य भी जीवन ही के अंग बन गए हैं।"

इस सिद्धान्त के आधार पर मानव-जीवन के कल्याण के लिए उन्होंने गौतम नन्द का चरित्र-विकास दिखाया है। माधविका के मुख से नाटककार ने महान व्यक्ति गौतम नन्द के गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है, "तुमने इतना महान त्याग किया है, यह तुम्हारी पहली विशेषता है, और अपने महान त्याग को त्याग ही न मानना तुम्हारी दूसरी विशेषता है। कोटि-कोटि सामान्य मानवों की सरल त्याग-भावना के प्रतीक ! तुम्हें बारम्बार प्रणाम !"

मिलिन्दजी अब नाटकों में अधिक दृश्य-परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं। 'प्रताप-प्रतिज्ञा' के तीन अंकों में जहाँ २३ और 'समर्पण' में १२ दृश्य थे, वहाँ अब इस नाटक के तीन अंकों में कुल ६ दृश्य हैं। पात्रों की संख्या भी घटाने का प्रयास किया गया है।

पग-ध्वनि (सं० २००६ वि०)

महात्मा गांधी के जीवनकाल में और उनके निधन के उपरान्त उनके सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य बना, किन्तु किसी प्रमुख नाटककार ने उन्हें नाटक का नायक या पात्र नहीं बनाया। संवत् २००६ वि० में चतुरसेन शास्त्री ने 'पग-ध्वनि' नामक एक नाटिका लिखी, जिसमें बापू, गुरुदेव, खान अब्दुल गफ्फार खां, एंड्रयूज आदि महानुभाव पात्र के रूप में दिखाए गए।

इस नाटिका में सर्वथा नई पद्धति प्रयुक्त है। नाटक की अब तक की सभी पुरानी-

नई परम्पराओं का इसमें उल्लंघन किया गया है। नाटिका में कोई भी कथानक नहीं, केवल भावना के रेखाचित्र हैं। मानव के साथ हिंसा, पूंजी, राजनीति, अहिंसा, सभ्यता, सत्य, धर्म, सत्याग्रह, खहर, असहयोग आदि भी पात्र के रूप में विद्यमान हैं और मानव के सद्गुण वार्तालाप करते हैं। सम्पूर्ण नाटिका छः अंकों में विभक्त है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। प्रस्तावना में 'कस्तूर बा' का स्तवनगान^१ है और अन्त में भरतवाक्य के रूप में एक गान है।^२

प्रथम अंक में शान्तिनिकेतन का दृश्य है, जहाँ गांधी-दर्शन की व्याख्या होती है। दूसरे अंक में नोआखाली का गांव है, जहाँ खान अब्दुल गफ्फार खां गांधी-भावना का विवेचन कर रहे हैं। तीसरे अंक में नोआखाली का दूसरा गांव है, जहाँ गांधी का प्रभाव डाकुओं और लुटेरों पर दिखाया गया है। इसी अंक में गांधी का यह सन्देश स्पष्ट सुनाई पड़ता है—“मैं मरने की रीति सिखाता हूँ। जब तुम मरो तो गुस्से से उबलते मत मरो, ठंडे दिल से मुस्कराते हुए, मारनेवाले को माफ कर दो, उसे अपना प्यार देते जाओ।”

चौथे अंक में आगाखां महल का दृश्य है। कस्तूर बा रूग्णावस्था में हैं। यहाँ गांधी-जीवन की एक भांकी दिखाई गई है। विश्व-मंगल में सतत संलग्न व्यक्ति अपने समीपवर्तियों के साथ प्रेम में तन्मय होकर कैसे व्यवहार करता है, उसकी छटा यहाँ पर देखने को मिलती है।

पांचवें अंक में बापू का दिल्ली में उपवास और हिन्दू-मुसलमानों पर उसका प्रभाव दिखाया गया है। दोनों रक्तपात से ऊबकर गांधीजी के प्रभाव में आ जाते हैं। नोआखाली में हुस्नजहाँ कहती है, “भागे हुए भाइयों को वापस बुलाना, उन्हें फिर से बसाना है; नोआखाली का सारा पाप-ताप धो बहाना है।” इस प्रकार इस अंक में हिन्दू-मुस्लिम विरोध का परिहार दिखाई पड़ता है।

छठे अंक में अणु बम से ध्वस्त एक नगर का हृदयविदारक दृश्य है। लाशों और आहतों के मध्य नागरिकता और सभ्यता क्षीणकाय स्त्री-वेश में दबी पड़ी है। इसी अंक में हिंसा, अहिंसा, पूंजी, राजनीति, धर्म, सत्य, सत्याग्रह आदि पात्र दिखाई पड़ते हैं। इनके वार्तालाप के अन्त में हिन्दू-मुसलिम ऐक्य आता है। वह मानवता को अपनी सेवाएं अर्पण करता है। हिंसा अहिंसा की शरण लेती है, धर्म भी अहिंसा की शरण में जाकर

१. बा कस्तूर जयति जय,
जय - जय - जय - जय हे।

मन बैरागिनी, जन अनुरागिनी
परम तपस्विनी, अग्रोहिनी
बापू की अनुगामिनी हे।

२. जग रे जग, अब तो जग।
अभय अमर विगत रोष।
मत्सर तज-चल निरकुल—
अब तो पग-पग—जग रे जग।

सत्य का अनुसरण करता है और भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक-रचना का यह नितान्त नवीन शिल्प है। इसमें गांधी-जीवन की बिखरी घटनाओं को एकत्र दिखाते हुए मानव-कल्याण का पथ दर्शाया गया है। विभिन्न घटनाओं में एकसूत्रता न होने के कारण एक कथानक नहीं बन पाया है। प्रत्येक अंक स्वतन्त्र चित्र के सदृश है। ऐसे छः चित्रों को एक कैनवास पर सजाया गया है। इस प्रकार सबका सम्मिलित प्रभाव दिखाया गया है।

सब मिलाकर नाटक बड़ा ही रुचिकर और हितकर बन गया है, किन्तु नाटक में जो रस व्यापार-विधान के मध्य से फूटकर निकलता है, उसका यहां प्रायः अभाव है। अधिकांश घटनाएं संवादों से सूचित होती हैं, किन्तु कुछ स्थल ऐसे मार्मिक बन गए हैं, जहां संवाद और व्यापार का मेल हो जाता है। ऐसे स्थलों में कस्त्रू बा के अन्तिम क्षणों का दृश्य अत्यन्त मार्मिक है। यहां कश्मीरस व्यापारों और संवादों के मिलन से फूट निकला है। इस शिल्प में यदि जीवन के व्यापारों का नैसर्गिक विकास दिखाया जाए तो यह अवश्य सफल होगा।

एकांकी नाटक

प्रसादजी का 'एक घूंट' नाटक जब संवत् १९८६ वि० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ तो समलोचकों के सम्मुख उसके वर्गीकरण का प्रश्न आया। उस समय यह विवाद छिड़ गया कि इसे एकांकी कहा जाए अथवा नहीं। प्रो० अमरनाथ गुप्त ने उसे संस्कृत परिपाटी का एकांकी मानकर आधुनिक एकांकियों से पृथक् रखा। कुछ समालोचक^१ इसे हिन्दी का प्रथम एकांकी घोषित करने लगे। डॉ० नगेन्द्र ने कहा, "एकांकी की टेकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है, उतना ही जितना कमलाकान्त के 'उस पार' में।" उक्त मत के समर्थक डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि इसमें संस्कृत से कुछ भी नहीं लिया गया, यह निर्विवाद है।^२

आज से न्यूनाधिक बीस वर्ष पूर्व चाहे जो भी मत इस नाटक के विषय में रहा हो, किन्तु अब तो प्रायः सर्वसम्मति से यह एकांकी नाटकों में परिगणित किया जाता है। आज तो कुछ लोगों की धारणा ही बन गई है कि हिन्दी का सर्वप्रथम एकांकी नाटक 'एक घूंट' ही है।

यहां यह विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या 'एक घूंट' ही हिन्दी का प्रथम एकांकी नाटक है? क्या इसके पूर्व हिंदी में एकांकी नाटक लिखे ही नहीं गए? इसका उत्तर ढूढ़ने के पूर्व एकांकी नाटक का लक्षण और उसका तन्त्र (टेकनीक) समझ लेना चाहिए। आज के एकांकी नाटकों का विश्लेषण करके हम कह सकते हैं कि जो नाटक एक अंक में समाप्त होनेवाला, एक सुनिश्चित लक्ष्यवाला, एक ही घटना, एक ही परि-

१. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'हंस', सन् १९३८ ई०, एकांकी विशेषांक

२. हिंदी एकांकी, डॉ० सत्येन्द्र, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, पृ० २६

स्थिति और एक ही समस्यावाला हो, जिसके प्रवेश में कौतूहल और वेग, गति में बिद्युत्-सी वक्रता और तेजी, विकास में एकाग्रता और आकस्मिकता के साथ चरम सीमा तक पहुँचने की व्यग्रता हो और जिसका पर्यवसान चरम सीमा पर ही प्रभाव की तीव्रता के साथ हो जाता हो, जिसमें प्रासंगिक कथाओं का प्रायः निषेध, घटनाओं की विविधता का निवारण तथा चारित्रिक प्रस्फुटन में आदि, मध्य और अवसान का वर्जन हो, उसे एकांकी कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिस नाटक में नायक जीवन के एक ही लक्ष्य को प्रमुखता देने के लिए उत्तेजक, सूचक अथवा प्रभाव-व्यंजक पात्रों की सहायता से घटनाओं तथा भाव-विचारों की तहें खोलता हुआ हमारी जिज्ञासा को उभारकर या तो संतुष्ट कर देता है अथवा किसी उलझन में ही छोड़ देता है, वह एक अंक में समाप्त होनेवाला नाटक एकांकी है।

संस्कृत-साहित्य में एकांकी

संस्कृत में कतिपय रूपक एक अंक में समाप्त हो जाते हैं। डॉ० कीथ^१ ने एक अंक में समाप्त होनेवाले इन नाटकों को एकांकी (One-Act play) की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से परीक्षण करने पर रूपकों में व्यायोग, उत्सृष्टाङ्क, भाण, वीथी और प्रहसन एकांकी हैं। उपरूपकों में नाट्यरासक, रासक, गोष्ठी, उत्सलाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका और प्रेङ्खण अल्प परिवर्तन के साथ एकांकी की ही कोटि में आते हैं।

संस्कृत आचार्यों ने अंक^२ का लक्षण समझाते हुए कहा है—अंक में नायक का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। रस और भाव पूर्ण हों, गूढ़ार्थक शब्द न हों। छोटे-छोटे चूर्णक (बिना समास के गद्य) होने चाहिए। अंक में अवान्तर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए, किंतु बिंदु कुछ लगा रहना चाहिए। बहुत कार्यों से युक्त न हो और बीज का

१. "The Anka, or One-Act play, is represented by very few specimens."

—The Sanskrit Drama, page 267, by A. Berridale Keith, Oxford University Press 1924

२. प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः ।

भवेदगदशब्दार्थः क्षुद्र चूर्णक संयुतः ॥

विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्न बिन्दुकः ।

युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीज संहतिमान् च ।

नाना विधान संयुक्तो नतिप्रचुरपञ्चान् ।

×

×

×

नानेक दिन निर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजितः ।

आसन्न नायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १२-१५

उपसंहार न हो। अनेक प्रकार के संविधान हों, किन्तु पक्ष बहुत न हों। जो कथा अनेक दिनों में सिद्ध हुई हो, उसे एक ही अङ्क में नहीं कहना चाहिए। नायक सदा सन्निहित रहे और तीन-चार पात्रों से युक्त हो।

अंक के इस लक्षण में बिदु और बीज का उल्लेख एकाधिक अंकोंवाले नाटकों को दृष्टि में रखकर किया गया है। स्पष्ट है कि एकांकी में इनकी आवश्यकता होती ही नहीं। अतः एकांकी रूपक तथा उपरूपकों में अनेक दिन की कथा वर्जित है। इस व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत एकांकी और अनेकांकी दोनों के अंक-लक्षण प्राप्त हो जाते हैं।

अंक की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए एकांकी रूपक एवं एकांकी उपरूपक के स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। व्यायोग^१ में इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है। स्त्री-पात्रों की संख्या अल्प होती है। गर्भ और विमर्श सन्धियों से हीन तथा बहुत पुरुषों से आश्रित होता है। इसमें अंक एक ही होता है। युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता। कंशिकी वृत्ति नहीं होती। इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। हास्य, शृंगार, शान्त इससे अन्य कोई रस यहां प्रधान होता है।

संस्कृत एकांकियों में भाण का विशेष महत्त्व है। आचार्यों ने भाण का लक्षण विस्तार के साथ लिखा है। तदुपरांत कई एकांकियों को भाणवत् बताकर केवल उनका अन्तर दिखा दिया—जैसे उत्सृष्टिकांक प्रहसन^२। उत्सृष्टिकांक में अंक एक, नायक साधारण पुरुष, रस करुण, विलाप स्त्रियों का, कथा इतिहास-प्रसिद्ध, सन्धि वृत्ति और अंग भाण के समान होते हैं।

प्रहसन^३—भाण के समान सन्धि-सन्ध्यंग, लास्यांग और अंकों के द्वारा सम्पादित, निन्दनीय पुरुषों का कवि-कल्पित वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। आचार्यों ने प्रहसन के भी भेद-प्रभेद किए हैं। जहां तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदि में से कोई धृष्ट नायक हो, शुद्ध प्रहसन; वैश्या, शैत, नपुंसक आदि का आश्रय हो तो संकीर्ण प्रहसन; कंचुकी, तापस,

१. ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्प स्त्रीजन संयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः॥
एकांकश्च भवेदस्त्री निमित्त समरोदयः।
कैशिकी वृत्ति रहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्य शृंगार शान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २३१-२३३

२. उत्सृष्टिकांक एकांको नेतारः प्राकृता नराः।

× × ×

भाष्यस्तसन्धि वृत्त्यंगान्यस्मिञ्जय पराजयौ।

३. भाष्यस्तसन्धि सन्ध्यंग लास्याङ्गकैविनिर्मितम्।

भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २३४

कामुक, बन्दी आदि का अनुकरण हो वहाँ विकृत प्रहसन होता है।

भाण—धूर्तों के चरित से युक्त, अनेक अवस्थाओं से व्याप्त, निपुण विट जो रंग-भूमि पर अपनी अनुभूत या औरों की अनुभूत बातों को प्रकाशित करता है। सम्बोधन और उक्ति-प्रयुक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा होती है। वीर और शृंगाररस होता है। कथा कल्पित, वृत्ति भारती या कैशिकी होती है। मुख और निर्वहण संधियां होती हैं।

बारहवीं शताब्दी से पूर्व विरचित भाण और प्रहसन के उदाहरण प्रायः नहीं के बराबर हैं। शंखधर कविराज का 'लटकमलक' (१२०० ई०), काशिपति कविराज का 'मुकुन्दानन्द' (१३०० ई०), ज्योतीश्वर का 'धूर्त समागम' (१५०० ई०), जगदीश्वर का 'हास्यार्णव', गोपीनाथ का 'कौतुक सर्वस्व', वामनभट्ट बाण का 'शृंगार-भूषण' (१५०० ई०), सामराज दीक्षित का 'धूर्तनर्तक' (१७०० ई०) प्रहसन या भाण माने गए हैं। इनके अतिरिक्त कर्पूरक जुआरी को नायक बनाकर 'कर्पूरचरित' भाण (Monologue) और ज्ञानराशि नामक कपटी साधु को नेता मानकर 'हास्य चूड़ामणि' प्रहसन लिखे गए।

प्रहसन और भाण का आधुनिक एकांकी से अंतर दिखाते हुए डा० कीथ का कहना है—“The Prahasanas and Bhanas are hopelessly coarse from any modern European stand-point, but they are certainly often in a sense artistic productions. The writers have not the slightest desire to be simple; in the Prahasana their tendency to run riot is checked, as verse is confined to erotic stanzas and descriptions, and some action exists. In the Bhana, on the other hand, the right to describe is paramount, and the poets give themselves full rein.”^१

तात्पर्य यह है कि डॉ० कीथ के मतानुसार प्रहसन और भाण आधुनिक एकांकी-कला की दृष्टि से उच्चकोटि के न होते हुए भी कलात्मक हैं और इन दोनों—प्रहसन और भाण—में अंतर भी नाममात्र का है।

व्यायोग

भास के पांच एकांकी—‘मध्यम व्यायोग’, ‘दूत वाक्य’, ‘दूत घटोत्कच’, ‘कर्ण-

१. भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।

एकांक एक एवात्र निपुणः परिहृतो विटः॥

रंगे प्रकाशयेत्स्वनानुभूतमितरेण वा।

सम्बोधनोक्ति प्रयुक्ता कुयांदाकाशभाषितैः।

सूचयेद्दीर शृंगारौ शौर्यं सौभाग्यं वर्णनैः॥

तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।

मुख-निर्वहणे संधी लास्यांगानि दशापि च॥

—साहित्यदर्पण, पष्ठ परिच्छेद, श्लोक २२७-२३०

२. The Sanskrit Drama, Dr. Keith, Page 264

भार' और 'उरु-मंग'—व्यायोग ही माने जाते हैं। प्रह्लादन देव का 'पार्षपराक्रम' (सं० १२२० वि०), वत्सराज का 'किरातार्जुनीय' (सं० १२६० वि०), विश्वनाथ का सौगन्धिकाहरण (१३७३ वि०), कंचन पण्डित का 'धनञ्जय विजय', भोक्षादित्य का 'भीम विक्रम व्यायोग' (१३८५ वि०), रामचन्द्र का 'निर्मय भीम' (तेरहवीं शताब्दी) प्रसिद्ध व्यायोग हैं। इन नाटकों के नायक प्रायः भीम या अर्जुन रहे हैं।

वीथी*

वीथी नामक एकांकी का नायक कल्पित होता है। आकाशभाषित का प्रयोग, शृंगार की बहुलता, मुख-निर्वहण सन्धियां, कैशिकी वृत्ति होती है। संस्कृत नाटकों में वीथी का प्रचार बहुत कम रहा है।

उपरूपकों में एकांकी

हम पूर्व कह आए हैं कि उपरूपकों में रासक, नाट्य रासक, हल्लीश, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, गोष्ठी और भाणिका, प्रेक्षक अल्प परिवर्तन के साथ एकांकी नाटक हैं। रासक, नाट्य रासक और हल्लीश के सम्बन्ध में पूर्व उल्लेख हो चुका है। उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, गोष्ठी, भाणिका के लक्षण ही काव्यशास्त्रों में उपलब्ध हैं, किन्तु इनके उदाहरणों का प्रायः अभाव है। प्रेक्षक^३ (प्रेक्षणक) ऐसा एकांकी उपरूपक है, जिसका उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। प्रेक्षक में नायक हीन होता है, गर्भ और विमर्श सन्धियां नहीं होतीं, सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रवेशक भी नहीं होते। युद्ध, सम्फेट और सभी वृत्तियां होती हैं। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य में पड़ी जाती है।

जब एक नाटक के अन्तर्गत दूसरा नाटक आ जाता है तो वह भी प्रेक्षक कहा जाता है। राजशेखर के 'बालरामायण' नाटक के अन्तर्गत एक प्रेक्षणक पाया जाता है। भास्कर कवि का 'उन्मत्त राघव', लोकनाथ भट्ट का 'कृष्णाम्युदय', विश्वनाथ का 'सौगन्धिका-

१. संस्कृत नाटकों में शोकान्तक यही नाटक प्रसिद्ध है।

२. वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।

आकाशभाषितैकतैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः॥

सूचयेद्भूरिशृंगारं किञ्चिदन्यान् रसान्प्रति।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १५३-१५४

३. गर्भाभरारहितं प्रेक्षकं हीननायकम्।

असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥

निगुहसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।

नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचनाः॥

—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १८३-१८७

हरण' प्रेक्षण कोटि में आते हैं। यह एकांकी संस्कृत का एक प्रकार से 'कर्टेन रेज़र'^१ कहा जा सकता है।

संस्कृत एकांकी और आधुनिक हिन्दी एकांकी का अन्तर

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि संस्कृत में एकांकी नाटकों की इतनी विविधता थी कि उनका वर्गीकरण नायक के चरित, इतिवृत्त के प्रकार, रस के प्राधान्य, वृत्तियों के विकास आदि के आधार पर किया गया। आधुनिक एकांकी से संस्कृत एकांकी की तुलना करें तो हमें कई प्रकार के अन्तर दिखाई पड़ेंगे। संस्कृत नाटकों में वह अन्त-इन्द्र और संवर्ष, मानसिक प्रक्रिया का वह विश्लेषण नहीं पाया जाता जो आधुनिक एकांकी का प्राण है। आज का पाठक या दर्शक नाटक की घटनावली से ही संतुष्ट नहीं होता, वह उनके कारणों को भी जानना चाहता है। संस्कृत नाट्यकार (भास के अतिरिक्त) इस कार्य-कारण-विवेक को परित्यक्त बनाकर जिज्ञासा को शांत करने का उतना प्रयास नहीं करता जितना राजाओं के विलास एवं तत्कालीन परिस्थिति के चित्रण करने का। जीवन की वास्तविकता के प्रति उसकी उतनी पैनी दृष्टि नहीं होती जितनी आज के सफल नाट्यकार की है। आज महती घटनाओं का उतना महत्त्व नहीं, जितना दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं के उस घात-प्रतिघात का, जिसमें व्यक्तियों का चरित्र उभरता या गिरता है। आज का नाट्यकार सामान्य एवं मध्यमवर्ग के दैनन्दिन जीवन की सच्ची व्याख्या करना अपना कर्तव्य मानता है, केवल राजा-महाराजा की स्थिति का विशेष प्रदर्शन करना नहीं। तीसरा अन्तर है चरम विकास का। संस्कृत का नाट्यकार नायक की विजय का अटल सिद्धान्त लेकर चलता है, इस कारण नायक को पराजय एवं मृत्यु के मुख में सहसा फेंक देनेवाली भावनाओं और घटनाओं से वह कतराकर निकल जाना चाहता है, किन्तु आज का नाट्यकार उनका स्वागत करता है। अतः संस्कृत के नाट्यकार उस चरम विकास (Climax) की अवहेलना करते रहे, जो आज एकांकी नाटक में अनिवार्य माना जाता है।

इतिवृत्त, नायक, संवाद-गति और जीवन-दर्शन के दृष्टिकोण से आधुनिक हिन्दी एकांकी संस्कृत एकांकियों से इतने भिन्न प्रतीत होते हैं कि इन दोनों की पृथक्-पृथक् स्वतंत्र धारा स्वीकार करने में आपत्ति नहीं जान पड़ती। इसका कारण बताते हुए वात्स्यायन का कथन सत्य प्रतीत होता है कि "संस्कृत एकांकियों की न तो कोई अविच्छिन्न परम्परा मिलती है और न भारतेन्दु-काल के एकांकियों में आधुनिक एकांकी के तत्त्व मिलते हैं।"^२

१. अंग्रेजी में बड़े नाटकों के साथ-साथ जिन लघु नाटकों का अभिनय होता था, वे कर्टेन रेज़र कहलाते थे। ऊर्ध्वांगिका विकसित रूप आधुनिक अंग्रेजी एकांकी है। प्रेक्षक संस्कृत के बृहद् नाटकों के मध्य में अभिनीत होते थे। सम्भव है इनका विकास वहीं से हुआ हो।

२. नये एकांकी, स० ११० वात्स्यायन, राजपाल प्रेस सन्ध, दिल्ली-६

‘प्रसाद’ से पूर्व हिन्दी एकांकी की परम्परा

तंत्र की कसौटी पर परीक्षण करने से हमें ‘प्रसाद’ के पूर्व भी कतिपय ऐसे नाटक उपलब्ध होते हैं, जो एकांकी की कोटि में आ सकते हैं। भारतेन्दु ने अपने लघु नाटकों को अंकों में विभक्त किया है, जिससे वे एकांकी जैसे प्रतीत नहीं होते, किन्तु यदि उनमें अंकों के स्थान पर दृश्यों की योजना कर दी जाए तो वे अन्य सभी बातों में एकांकी नाटक ही ठहरते हैं। ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ तीन अंकों में विभक्त है, “किन्तु प्रत्येक अंक में घटित होनेवाला व्यापार इतना सूक्ष्म है और घटनाएं इतनी लघु और तीव्रगामिनी हैं कि इसे एकांकी कहना ही उचित है। इसी प्रकार ‘नीलदेवी’ को भी समालोचक एकांकी नाटक ही मानते हैं।”^१

भारतेन्दु के नाटक ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ और ‘नीलदेवी’ को एकांकी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भारतेन्दु ने सांस्कृतिक चेतना का पुनर्जागरण किया। उन्होंने संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और संस्कृत एकांकी की व्यायोग-शैली पर ‘धनंजय विजय’ लिखा, जो एकांकी नाटक है; और भाण-शैली पर ‘विषस्य विषमौषधम्’ की रचना की।

भारतेन्दु के पथ पर उस युग के अन्य कई नाट्यकार चलते रहे। बालकृष्ण भट्ट के एकांकी नाटक उसी परम्परा में परिगणित होते हैं। भारतेन्दु-युग में एकांकी की एक और शैली चल पड़ी थी जो जन-नाटकों से अधिक प्रभावित थी। उस शैली के प्रवर्तक थे—लाला श्रीनिवासदास। उन्होंने ‘प्रह्लाद-चरित्र’ नामक नाटक उस शैली पर लिखा, जो रामलीला तथा स्वांग-मंडलियों में ‘प्रह्लाद-लीला’ नाम से शताब्दियों से चली आ रही थी। यदि इस नाटक के विविध दृश्यों को हटा दें तो सम्पूर्ण नाटक रासधारियों तथा स्वांग का वह नाटक बन जाता है, जिसमें मनसुखा^२ अपनी विनोदपूर्ण वाणी से जनता का मनोरंजन करता रहता है। उदाहरणार्थ ‘प्रह्लाद-चरित्र’ का पाठशाला-दृश्य देखिए :

पंडामर्क—(विद्यार्थियों से) देखो, हम जैसे कहें बोलते जाओ।

सब विद्यार्थी—अच्छा गुरुजी, आप कहोगे वैसे बोलेंगे।

पंड—बोलो भोनामासीधं।

सब विद्यार्थी—बोलो भोनामासीधं।

पंड—अबे ! बोलो क्यों बोलते हो।

सब विद्यार्थी—अबे ! बोलो क्यों बोलते हो।

पंड—भोनामासीधं (दो-तीन बेंत मारकर) हां पांडे की टूटी टंग, देख बच्चा पांडे की टूटी कि तेरी टूटती है (और दो-तीन बेंत जड़ देते हैं)।

विद्यार्थी—अरे जी मरे, गुरु जी मरे हाय हाय……

पंड—अबे गुरुजी मरे कि तू मरा……

१. प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल, नीलदेवी की भूमिका

२. जन-नाटकों का विदूषक मनसुखा कहलाता है।

इस नाटक में हनुमान की पीठ पर आकाश से राम के आगमन का, श्मशान में चिता का, समुद्र में डूबने आदि का वर्णन उसी रूप में उपलब्ध होता है, जो रूप तत्कालीन जन-नाटकों और रासलीला के नाटकों में मिलता है, अतएव 'प्रह्लाद-चरित्र' नामक एकांकी को तीसरी कोटि में रखना चाहिए।

प्रह्लाद-चरित और रास

हम रास के प्रकरण में 'प्रह्लाद-लीला' और 'नृसिंह-लीला' के विषय में चर्चा कर आए हैं। ये लीलाएं कृष्ण-लीला की पद्धति पर शताब्दियों से होती चली आ रही हैं। अतएव 'प्रह्लाद-लीला' भारतेन्दु के गद्य-युग में नितान्त गीति-नाट्य के रूप में न रहकर पद्य-गद्यमय बन गई। भारतेन्दु के नाटकों का प्रभाव केवल साहित्यिक नाटकों तक ही सीमित न रहा, वह रामलीला, रासलीला तथा अन्य जन-नाटकों तक फैल गया था। आज काशी और रामनगर की लीलाओं में प्राप्त गद्य-भाग भारतेन्दु की ही देन है। रामनगर के तत्कालीन महाराज भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र थे। उन्हींके अनुरोध से भारतेन्दु ने तुलसीकृत रामायण के सम्वादों को गद्य में परिवर्तित करके लीलाओं में संयुक्त किया था। इसी प्रकार रासलीला में जो गद्य-भाग आज उपलब्ध है, वह उस युग के प्रभाव के कारण है। इस काल में स्वांग तथा रासलीला की पद्यबद्ध 'प्रह्लाद-लीला' 'प्रह्लाद-चरित्र' में परिवर्तित हो गई, जिसमें पद्य-भाग के साथ गद्यांश भी संयुक्त कर दिया गया।

हम 'रासलीला' के प्रकरण में यह सिद्ध कर आए हैं कि ब्रजवासीदास-विरचित चौहत्तर लीलाएं उस काल के एकांकी नाटक ही थे। जिस प्रकार आधुनिक एकांकी नाटक का प्रारम्भ नायक के जीवन के मध्य भाग से सहसा हो जाता है, प्रारम्भ की घटनाएं नाटक के मध्य से उत्तेजक, सूचक तथा प्रभाव-व्यंजक पात्रों की सहायता से अभिव्यंजित होती रहती हैं, उसी प्रकार ब्रजवासीदास की चौहत्तर लीलाएं कृष्ण-जीवन के मध्य भाग से प्रारम्भ हो जाती हैं और वे स्वतंत्र होते हुए भी एक श्रृंखला में आबद्ध प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार मनिहारिन-लीला, गौनेवारी-लीला आदि बयालीस छद्म लीलाओं पर हम विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं। हम यह भी सिद्ध कर आए हैं कि रासलीला नाटकों की उत्पत्ति सहसा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में नहीं हुई, प्रत्युत इसकी परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी। हम यह भी देख आए हैं कि तेरहवीं शताब्दी से जैन रास-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही थी। इनमें अनेक एकांकी नाटकों की रचना होती रही।

रास नाटक और आधुनिक एकांकी

जैन रास की दो धाराएं हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं—एक धारा में 'गय सुकु-मार रास', 'भरतेश्वर बाहुबली रास', तथा 'राहिणो चोर नो रास' आदि लघु रास

परिगणित होते हैं, दूसरी धारा 'श्री कुमारपाल रास', 'शत्रु जय रास,' आदि बृहद् रासों की है। लघु रासों में वाणा, ढवणी आदि गेय पद अल्पसंख्या में होते थे और सम्पूर्ण नाटक एक दृश्य में ही एक घंटे के अन्तर्गत अभिनीत हो जाता था। स्याम-सगाई, दान-लीला, मानलीला, छप्प लीलाएं, चौहत्तर लीलाएं, इसी शैली पर विरचित हुई थीं। दूसरी और बृहद् रास की शैली पर हमारे साहित्यिक नाटक निमित्त हुए। अतएव उक्त प्रमाणों के आधार पर यह दुढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि 'एक घूंट' नामक एकांकी उसी परम्परा में है जो तेरहवीं शताब्दी में जन्म लेकर क्रमशः परिपुष्ट होती रही है और देश-कालानुसार परिस्थिति के अनुकूल वेश धारण करती हुई 'प्रसाद' के समय नितान्त नवीन रूप में प्रकट हुई। अतः एकांकी नाट्यशैली यूरोप से गोद ली हुई नहीं, प्रत्युत अपने ही वंश में उत्पन्न हुई है।

एकांकी का विकास

हिन्दी एकांकी की प्रथम अवस्था जैन लघु रास में है, जिसका विवेचन हम पूर्व कः आए हैं। इसकी दूसरी अवस्था वैष्णव रास में है, जिसमें नृत्य और संगीत की प्रधानता रही। वैष्णव रास सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर गतिशील रहे। भारतेन्दु जैसे कलाकार के हाथों में बीसवीं शताब्दी में एकांकी ने विविध वेश धारण किए। कभी वह संस्कृत के 'भाण' का रूप धारण करता और कभी रास की पद्धति पर एक नये वेश में प्रकट होता। भारतेन्दु-युग के नाट्यकारों ने दोनों रूपों को स्वीकार किया। भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध एकांकी ये हैं—पं० बालकृष्ण भट्ट-विरचित 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल-विवाह नाटक'। पं० रुद्रदत्त शर्मा-विरचित नाटक हैं—'स्वर्ग में सबजैकट कमेटी', 'पाखण्ड-मूर्ति', 'अपूर्व संन्यासी', 'कंठी-जनेऊ का विवाह'। अन्तिम नाटक को हम प्रतीक-नाटक के वर्ग में रख सकते हैं। भारतेन्दु-युग के अन्य एकांकी नाटकों का उल्लेख कर देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है। इस काल में पं० प्रतापनारायण मिश्र-विरचित एकांकी हैं—'कलि-कौतुक', 'भारत-दुर्दशा'। पं० बन्नी-नारायण चौधरी का नाटक है—'भारत-सीभाग्य', राधाकृष्णदास का प्रसिद्ध एकांकी है—'दुःखिनी बाला'। अम्बिकादत्त व्यास ने दो प्रसिद्ध नाटक लिखे हैं—'भारत-सीभाग्य नाटक', 'गो-संकट नाटक'।

इन नाटकों को हम एकांकी की तीसरी अवस्था कह सकते हैं। चौथी अवस्था में 'प्रसाद' का एकांकी 'एक घूंट' है।

आधुनिक हिन्दी एकांकी पर पश्चिम के नाट्यकारों—विशेषतः शां—का अधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को हम कई रूप में देखते हैं। कुछ नाट्यकार यूरोपीय नाट्य-कला का इतना अनुकरण करते हैं कि उनकी रचना में मौलिकता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भुवनेश्वरप्रसाद इसी वर्ग में आते हैं। इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं—श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना, एक साम्यहीन साम्यवादी, शैतान, प्रतिभा का विवाह, रोमांस,

लाटरी। नाट्यकार ने स्वतः लिखा है, “शॉ की छाया तनिक मुखर हो गई है। मैं इसे निर्विकार स्वीकार करता हूँ।”

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास उन नाट्यकारों में से हैं, जो पश्चिमीय नाट्यकला से पूर्ण प्रभावित होकर नाटक लिखते हैं, किन्तु अपनी प्रतिभा का योग भी देते चलते हैं। सेठजी के एकांकी नाटकों के संग्रह हैं—सप्तरश्मि, एकादशी, पंचभूत।

डॉ० रामकुमार वर्मा

यद्यपि वर्माजी आधुनिक एकांकी नाटकों के प्रारम्भिक रचयिताओं में से एक हैं, तथापि इनके नाटकों ने पथ-प्रदर्शन का कार्य नहीं किया। इनके नाटकों के संग्रह हैं—‘पृथ्वीराज की आंखें’, ‘रेशमी टाई’, ‘चारुमित्रा’।

इन नाट्यकारों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ ‘अश्व’, गणेशप्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर के भी एकांकी नाटक प्रकाशित हुए हैं। दो नाटक और प्रकाशित हुए हैं—बेनीपुरी का ‘नेत्रदान’ और विष्णु प्रभाकर का ‘क्या वह दोषी था?’ इन नाट्यकारों की रचनाएं पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि तीसरा वर्ग ऐसे नाट्यकारों का है, जो पश्चिम की नाट्यकला का अध्ययन करके उसे आत्मसात् कर लेता है, तदुपरांत ऐसी रचना करता है, जिसका वेश तो पश्चिम का है, किन्तु विचार भारतीय हैं। जिनमें मौलिकता है, मार्मिकता है और देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल साहित्य-सृजन की क्षमता भी है। आज का नाट्यकार इब्सन, मैटरलिक, स्ट्रिण्डबर्ग, चेखव, सिमोनाव, ओनील, काफमैन माहम, बेरी प्रीस्टले, शॉ तथा गाल्सवर्दी, पिरेंडेलो^१, स्तानिस्लाव्स्की को पढ़ता है। अतएव उनका प्रभाव पढ़ना स्वाभाविक है।

एकांकी का आदर्श

आज का व्यस्त मानव-समाज समय को बचाना भी चाहता है, साथ ही साथ मनोविनोद के साधन से सम्पन्न भी होना चाहता है। वह अल्प से अल्प काल में अधिक से अधिक विचार ग्रहण करना और मनोरंजन करना चाहता है।

आज के एकांकी केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं लिखे जाते, प्रत्युत वे जीवन की गहन समस्याओं को आकर्षक रीति से सुलझाने का प्रयास भी करते हैं। आज का मानव जीवन की जटिलताओं को प्रत्यक्ष रूप से देखना चाहता है। अतः सफल एकांकी वही माना जाएगा जो अल्प से अल्प काल में रम्य से रम्य रूप में वर्तमान समस्याओं को व्यक्त कर दे। तात्पर्य यह कि जो नाटक मनोरंजन और उन्नयन दोनों का सन्तुलन कर सकेगा, वही सफल एकांकी माना जाएगा।

स्वोक्ति नाटक

संस्कृत और अंग्रेजी के एकपात्रीय (Monodrama) की शैली पर गत वर्षों में

१. प्रकाशचन्द्र गुप्त, एकांकी नाटक, हंस का एकांकी विशेषांक, सन् १९३८

कई नाटक हिन्दी में भी प्रकाशित हुए हैं। भारतेन्दु का 'विषय विषयीषधम्' इसी शैली का है। सेठ गोविन्ददास ने इस शैली पर कई प्रयोग किए हैं। उन्होंने 'चतुष्पथ'^१ नामक अपनी पुस्तक में 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' चार नाटक संग्रहित किए हैं। इन चारों नाटकों की रचना उन चार विभिन्न पथों का अनुसरण करते हुए की गई है, जो अन्ततः एक में मिल जाते हैं। कदाचित् इसी कारण संग्रह का नाम चतुष्पथ रखा गया है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एकांकी के चतुष्पथ पर आकर चारों नाटक-शैलियां एकत्र हो जाती हैं। अतएव इन्हें एकांकी के अन्तर्गत रखना अनुपयुक्त न होगा।

सेठ गोविन्ददास अपनी भूमिका में यह स्वीकार करते हैं कि ये मोनोड्रामा नाउनिंग, स्ट्रिण्डवर्ग तथा नील नामक नाटककारों की रचनाओं से प्रभावित होकर लिखे गए हैं। देखना यह है कि इस प्रकार के नाटक हमारी भारतीय परम्परा में कभी विरचित हुए थे अथवा नहीं।

'प्रलय और सृष्टि' में एक अछेड़ अवस्था का मनुष्य अपने विविध वर्ण के चश्मों, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस टावर, घण्टा, चिमनी, बादल तथा धरती को देख-देखकर अपने मनोविकारों को प्रकट करता है। नेपथ्य में बार-बार ध्वनि सुनकर उसका ध्यान एक विचार-शृंखला से हटकर दूसरी ओर आकर्षित होता है। सम्पूर्ण नाटक में एक पात्र, एक कमरे में एक समय बैठा हुआ विभिन्न वातायन से बाह्य प्रकृति का अवलोकन कर अपने मन के विविध विचारों का उद्गार प्रकट करता है।

'अलबेला' में एक आदमी अपने छोड़े से बातें करता है। 'शाप और वर' के दो भाग हैं। प्रथम भाग में समृद्ध पुरुष की उपेक्षिता नारी मृत्यु के समय अपने पति को प्रसूतिगृह में अपने हृदयोद्गार इस प्रकार सुनाती है—'देखो...देखो...शायद मैं जा रही हूं। सुनो...सुनो...हां...शाप देती हूं। तुम्हारा वंश निर्वंश हो जाए। यह सोना-चांदी, ये हीरे-मोती, यह निर्जीव वैभव, यह सारा हृदय, भावनाओं और आत्मा से हीन आयोजन...यदि सब कुछ होते हुए भी मैं धर्म के अनुसार सती...रही हूं, तो मेरे शाप...शा...प...से भस्म भस्म...'।

'शाप और वर' के उत्तरार्द्ध में एक निर्धन किसान का घर है। उसकी स्त्री मृत्यु के समय पति से निवेदन करती है—'वर दो, नाथ, घर सूना न रखोगे, अपना जीवव अकेला न चलाओगे, इस शिशु को माता-विहीन न रहने दोगे। स्वर्ग जा रही हूं हृदयेश, स्वर्ग से तुम्हारा विवाह देखूंगी।...तुम अकेले रहे तो मुझे स्वर्ग में भी तुम्हारी चिन्ता लगी रहेगी।...कौन तुम्हें खिलाएगा...कौन खेत पर तुम्हारी रोटी लें जाएगा !''

चौथा नाटक 'सच्चा जीवन' है, जिसमें खादी का कुर्ता पहने एक मनुष्य इस समस्या को सुलझाने में तल्लीन है कि सच्चा जीवन क्या है? क्या ऐहिक आधिभौतिक

सुख सच्चे हैं ? क्या अधिकार-प्राप्ति ही सच्चा जीवन है ? तर्क-वितर्क करते-करते वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि “सूर्य का जीवन ही सच्चा जीवन है।” काले-काले बादल उसे आच्छादित कर लेते हैं, पर वह विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं करता। सबकी सेवा करता है—“मैं भी—मैं भी—”^१

सेठजी ने ‘सच्चा जीवन’ नाटक में संस्कृत भाण की ‘किञ्चवीसि’ की शैली का अनुसरण किया है। शेष नाटकों में एक पात्र आद्योपान्त बोलता है और सम्मुख उपस्थित दूसरा पात्र केवल अनुभावों से अपने हृद्गत विचारों को प्रकट करता है। सेठजी ने दूसरे पात्र के सर्वथा मूक रहने का कारण उसकी अत्यधिक भावुकता बताया है।^२

सेठ गोविन्ददास के अतिरिक्त बेनीपुरीजी ने भी एक स्वोक्ति-रूपक लिखा है। उन्होंने ‘सीता की मां’ नामक स्वोक्ति नाटक में एक पात्र के द्वारा सम्पूर्ण रामायण की सिद्ध घटनाओं का वर्णन कर दिया है। इस नाटक में पाँच दृश्य हैं। सीता की माता सीता की जन्म-कथा से लेकर धरती-माता में उसके अन्तर्निहित होने तक की सम्पूर्ण घटनाएं क्रमशः सुना जाती है। सीता की जन्म-कथा गतानुगत न होकर ‘उज्ज्वला’ रूप में प्रदर्शित की गई है। सीता की मां सीता-स्वयंवर से लेकर अयोध्या-पुनरावर्तन की सारी मुख्य-मुख्य घटनाएं सुनाती जाती है। जहाँ दो व्यक्तियों के वार्तालाप हैं, उन स्थलों का वर्णन इस प्रकार करती है :^३

‘यों न कहा कीजिए, नाथ ।’ सीता ने कहा—“फिर अपनी दशा का वर्णन करती है—“ऐसे मौके पर मां को देखना नहीं चाहिए। मेरी आँखें मुंद गईं और कानों ने सुना—‘भाभी, इसमें मेरा भी हिस्सा होना चाहिए, भाभी ।’

नाट्यकार ने दृश्य-विधान इस प्रकार किया है कि पदों के चित्र से घटना-स्थल का संकेत मिल जाए। पदों की छाया-मूर्तियों में से ही एक स्त्री की छायामूर्ति निकलती है, जो सम्पूर्ण घटना का वर्णन करती है। अतएव इस नाटक की टेकनीक सेठ गोविन्ददास से भिन्न प्रतीत होती है। सेठजी के प्रत्येक मोनोड्रामा में एक दृश्य है। एक स्थान पर ही सम्पूर्ण अभिनय हो जाता है। अभिनयकर्ता केवल अपने हृद्गत भावों को व्यक्त करता है। अन्य व्यक्तियों के वार्तालाप को उसमें कहीं स्थान नहीं है। किन्तु बेनीपुरी ने रामायण के समग्र कथानक को पाँच दृश्यों में विभाजित किया है—(१) सीतामढ़ी के निकट अटवी, (२) जनकपुर की पुष्प-वाटिका, (३) चित्रकूट का पहाड़ी अंचल, (४) लंका की अशोक-वाटिका (५) अयोध्या का प्रान्तर।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सेठजी और बेनीपुरी दोनों ने पश्चिम के मोनोड्रामा से प्रभावित होकर ये नये नाटक लिखे हैं, किन्तु यह समझ लेना अमूर्ण होगा कि ऐसे नाटक हमारे यहां कभी थे ही नहीं।

१. चतुष्पथ, सेठ गोविन्ददास (सच्चा जीवन), पृष्ठ ८१, संवत् १९९६ वि०

२. शाप और वर, सेठ गोविन्ददास, पृ० ६३

३. सीता की मां, रामवृक्ष बेनीपुरी, जनवाणी प्रकाशन, पटना, पृ० ३७

स्वोक्ति की भारतीय-परम्परा

(एकपात्री नाटक)

भाण नाटकों की शैली में भी एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण नाटक का अभिनय करता है। सेठजी के नाटक भी न्यूनाधिक उसी कोटि में आते हैं; किन्तु बेनीपुरीजी के नाटक की शैली नितान्त नवीन प्रतीत होती है। संस्कृत के 'भाण' नाटकों में सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा होती है, किन्तु बेनीपुरीजी की यह शैली नहीं। हाँ, हिन्दी जन-नाटकों में इस प्रणाली के नाटक आज भी अभिनीत होते हैं। जिस प्रकार 'सीता की माँ' में एक ही पात्र अन्य पात्रों के संवाद अभिनय द्वारा इस प्रकार बोलता है मानो वे ही पात्र बारी-बारी बोल रहे हों, उसी प्रकार जन-नाटकों में 'निहालदे' नामक एक नाटक आज भी दिल्ली के समीपवर्ती भागों में अभिनीत होता है, जिसमें एक ही पात्र सम्पूर्ण नाटक गाता है। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बेनीपुरीजी की यह नवीन शैली हमारे जन-नाटकों में शताब्दियों से विद्यमान है। जिस प्रकार सहस्रों साहित्यिक बेनीपुरीजी का नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे, उसी प्रकार बड़ी संख्या में कृषक प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में 'निहाल दे' का अभिनय देखकर आनन्द उठाते हैं।

रेडियो-नाटक

रेडियो-नाटक इस युग का नितान्त अभिनव आविष्कार है। कतिपय वर्षों में रेडियो-नाटक ने कितनी प्रगति की है? इसका तन्त्र (टेकनीक) क्या है? रंगमंच और रेडियो के नाटकों में क्या अन्तर है? इन विषयों पर विचार करने में प्रथम रेडियो-रूपक 'राधाकृष्ण'¹ और आज के नाटकों की शैली समझ लेना सहायक होगा।

'राधाकृष्ण' रूपक में पात्र हैं—राधा, कृष्ण, बलदेव, उद्धव, वृषभानु, राधा का पति, रुक्मिणी, सत्यभामा, व्यास और अर्जुन। समस्त नाटक वार्तालाप द्वारा प्रदर्शित होता है। संवाद भी एक-एक वाक्य के हैं। जैसे—

“हमारा-तुम्हारा ब्याह होगा।”

“ब्याह?”

“हां, बाबा कहते थे और भैया भी।”

×

×

“कृष्ण, तुम बड़े बुरे हो।”

“राधा, तुम बड़ी अच्छी हो।”

अन्तिम दृश्य कुक्षेत्र श्मशान का है। यह दृश्य इस प्रकार प्रारम्भ होता है:²

१. 'राधाकृष्ण' हिन्दी का प्रथम रेडियो-रूपक है। इसकी रचना के लिए रेडियो स्टेशन डाइरेक्टर, नाटक-कार तथा कई अन्य कलाकारों को एक समिति बनाई गई थी। रेडियो-रूपक का भारत में यह प्रथम प्रयोग था।

२. पांच एकांकी, चतुरसेन, पृ० ६२

“कहां, कहां है, कृष्ण कन्हैया ?”

“इधर आओ राधाजी, भैया यहां बैठे हैं, वे रो रहे हैं।”

“कृष्ण रोते क्यों हो ?”

“राधा, तुम हंस रही हो ?”

“कितने दिन बाद हंसी हूं, जानते हो कृष्ण ?”

“कदाचित् भस्सी बरस बाद।”

राधा कृष्ण की मुरली लौटा देती है। यह मुरली उसके पास उनहत्तर वर्ष से थी। कृष्ण बांसुरी बजाते हैं। मुरली की ध्वनि सुनकर राधा महाप्रस्थान करती है। कृष्ण पुकार उठते हैं, “भैया ! भैया !! यह क्या हो रहा है ?”

“राधे ! राधे !! आंखें खोलो।”

“कृष्ण !”

“राधे !”

इस प्रकार ‘राधाकृष्ण’ का स्वर क्षीण से क्षीणतर होता जाता है। यह राधाकृष्ण रूपक आज से न्यूनाधिक बीस वर्ष पूर्व रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था। इस अवधि में जालन्धर, दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग, पटना आदि रेडियो स्टेशनों से सैकड़ों नाटक प्रसारित हो चुके। रेडियो के इन नाटकों का वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा वर्गीकरण एक स्वतन्त्र विषय है, तथापि रेडियो-नाटक के मुख्य भेदों पर दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। रेडियो और रेडियो-नाटक हिन्दी में पश्चिम की देन है। पश्चिम में रेडियो-नाटक कुछ पहले से लिखे जा रहे हैं और प्रगतिशील देशों में इनकी नाट्यकला निर्धारित होती जा रही है। हमारे देश पर भी उन नाटकों का जो प्रभाव पड़ा है, उसके अनुसार रेडियो-नाटक के मुख्य भेद इस प्रकार किए जा सकते हैं :

- (१) रेडियो-रूपक, (२) फीचर, (३) ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक), (४) स्वोक्ति, (५) फैंटेसी (भावनाट्य या ऋतु-सम्बन्धी), (६) ध्वनिगीति रूपक, (७) रिपोर्ताज, (८) जन-नाटक, (९) व्यंग्य।

रंगमंच के नाटक और रेडियो-नाटक

कुछ लोगों का विचार है कि “स्टेज के नाटक कुछ हेर-फेर के साथ रेडियो के उपयुक्त बनाए जा सकते हैं।”^१ कुछ लोग इस मत को नहीं मानते। कुछ लोग समझते हैं कि रेडियो-नाटक एकांकी ही है, पर कई समालोचक इसे अपूर्ण मानते हैं।^२ तथ्य तो यह है कि अभी तक हमारे देश में ‘रेडियो-नाटक’ शैशवावस्था में है। इसके विषय में अभी क्या कहा जाए ! जब तक रेडियो की नाट्यकला विकसित नहीं हो जाती, कोई

१. उदयशंकर भट्ट, कालिदास, भूमिका, पृ० ६ (सन् १९५०)

२. क्या वह दोषी था, विष्णु प्रभाकर, भूमिका (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ च, छ, सन् १९५१ ई०

निर्दिष्ट मत कैसे बन सकता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रदर्शन के साधन के अन्तर से नाटक के रूप में अन्तर आना स्वाभाविक है। रंगमंच के सभी नाटक रेडियो पर सफल कैसे बनाए जा सकते हैं? रंगमंच पर आंगिक अभिनय का प्राधान्य होता है, नृत्य का समावेश करके कई नाटक सरस बनाए जाते हैं। रेडियो-नाटक में इन साधनों का नितांत अभाव होता है, अतएव इनके द्वारा उत्पन्न प्रभाव की पूर्ति ध्वनि के साधनों द्वारा ही करनी पड़ती है। दूसरा अन्तर यह है कि रंगमंचीय एकांकी नाटकों को कार्य, काल और स्थान की इकाई—संकलन-त्रय का भी बन्धन किसी न किसी मात्रा में मानना ही पड़ता है, किन्तु रेडियो-नाटक इन बन्धनों से नितांत मुक्त है, अतएव इन दोनों प्रकार के नाटकों में मौलिक अन्तर स्वाभाविक है। तीसरी बात यह है कि जो स्वगत कथन ग्रथवा स्वप्न-सम्भाषण रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होता है, वह रेडियो पर स्वाभाविक बन जाता है। अतएव रेडियो नाटक में किसी व्यक्ति के हृद्गत भावों को प्रकट करने में सुविधा हो जाती है। चौथा और सबसे बड़ा अन्तर यह है कि रेडियो-नाटक का प्राण संवाद-योजना है, किन्तु रंगमंचीय नाटक का आवश्यक अंग क्रियाशीलता है। रंगमंच पर दो आदमियों का केवल संवाद नाटक के प्रभाव को क्षीण कर देता है। दर्शक रंगमंच पर प्रत्यक्ष आंगिक अभिनय और पात्रों को कार्य-तत्पर देखना चाहते हैं। 'कृष्ण-लीला' जब हम रासलीलाओं में देखते हैं तो हमपर राधाकृष्ण के संवाद से अधिक प्रभाव उनके क्रिया-कलाप का पड़ता है। दोनों का नृत्य, दोनों का गोपियों के साथ विविध क्रीड़ा-विनोद हमें प्रभावित करता है।

पांचवां अन्तर यह है कि रंगमंच पर नाटकीय पात्रों के अतिरिक्त अन्य किसीका प्रवेश वर्जित है। नाटक की सम्पूर्ण घटनाएं पात्रों के सम्भाषण तथा क्रिया-कलाप द्वारा प्रकट की जाती हैं, किन्तु रेडियो-रूपक में 'कथाकार' नामक एक व्यक्ति वर्णन (Narration) के द्वारा पूर्वापर घटनाओं को संयुक्त करता चलता है। उदाहरण के लिए डॉ० रामकुमार वर्मा का एक रेडियो-रूपक 'ज्यों की त्यों घर दीनी चदरिया' देखिए।^१

इस नाटक में कबीर का समस्त जीवन—जन्म से मृत्यु तक—एक दृश्य में प्रदर्शित किया गया है।

नाटक का प्रारम्भ कबीर के गान 'भीनी-भीनी बीनी चदरिया' से होता है। कथाकार कबीर का परिचय देते हुए कहता है, "भक्त कबीरदास का जन्म सं० १४५५ में हुआ, माता-पिता नीमा और नीरू, जाति के जुलाहे थे। ... आप शिशु कबीर के दर्शन कीजिए।"^२

कुछ देर तक नीमा-नीरू का वार्तालाप होता है, तदुपरान्त कथाकार कबीर के गुरु रामानन्द के सम्बन्ध में कहता है:

"किन्तु स्वामी रामानन्द किसी शूद्र या विधर्मी को अपना शिष्य नहीं बनाना

१. नई धारा, सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, वर्ष १, अंक ७

२. नई धारा, सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, वर्ष १, पृष्ठ १०

चाहते थे ।... ब्राह्म मुहूर्त में ही पंच-गंगा घाट की सीढ़ियों पर कबीर लेट रहे । जब स्वामी रामानन्दजी स्नान कर लौट रहे थे, वे राममन्त्र पढ़ते चले आ रहे थे ।..."

रामानन्द और कबीर के वार्तालाप के उपरान्त पुनः कथाकार कहता है—“इस प्रकार कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य बने ।”

आगे चलकर काजी और कबीर का संवाद हो चुकने पर कथाकार कहता है, “इस प्रकार कबीर साहब ने अपने सच्चे धर्म के प्रचार से हिन्दू और मुसलमान, दोनों को सीधा रास्ता दिखाया ।”

आगे चलकर कबीर, रहीम और रामदेव के वार्तालाप के उपरान्त कथाकार कहता है, “हिन्दू-मुसलमान तथा ब्राह्मण-शूद्र का भेद दूर कर उन्होंने संवत् १५५१ में अपनी जीवन-लीला समाप्त की ।”^१

तात्पर्य यह है कि रंगमंचीय नाटकों में विष्कम्भक और प्रवेशक का जो कार्य होता था, उसे एक कथाकार वर्णन के रूप में रखता चलता है ।

यह है इस रेडियो-रूपक की संक्षिप्त रूपरेखा । इसमें कबीर-जन्म से पूर्व ही कबीर का गाना गाया जाता है, जो रंगमंचीय नाटक की दृष्टि से नितान्त काल-विरोधी है । पचानवे वर्ष की घटनाएं आधे घंटे में रेडियो-रूपक के रूप में ही दिखाई जा सकती हैं । रंगमंच पर एकांकी रूप में कबीर के जीवन की कोई एक विशेष घटना ही प्रदर्शित की जा सकती थी ।

रेडियो के एक और नाटक ‘कालिदास’ पर विचार कर लेने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि अन्य नाट्यकार भी रेडियो-रूपक में इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं । ‘कालिदास’ पं० उदयशंकर भट्ट का रेडियो-रूपक है, जो कई रेडियो स्टेशनों से प्रसारित किया जा चुका है । इस रूपक में कालिदास के सभी ग्रंथों की रचना के उद्देश्य पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है और यह भी दिखाया गया है कि किस ग्रंथ के प्रणयन की प्रेरणा कहां से मिली है । प्रारम्भ में फाहियान और एक युवक के वार्तालाप द्वारा तत्कालीन परिस्थिति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । तदुपरान्त सूत्रधार कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहता है, “जीवन के कवि, शृंगार के आचार्य, रस के सागर, शब्दव्रत के परमाभ्यासी, भाव-गाम्भीर्य के साथ उक्ति-वैचित्र्य के उदधि, सृष्टि के अणु-अणु के पारदर्शी कालिदास ।”^२ यहां वियोगी कालिदास के हृदय में उमड़ते हुए मेघ को देखकर अपनी प्रिया विलासवती को सान्त्वना देने की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने यक्ष-यक्षिणी के रूप में ‘मेघदूत’ की रचना की । इसमें वस्तुतः मेघ कालिदास के प्राण-रूपी यक्ष का संदेश-वाहक बनता है । इसी प्रकार ‘कुमारसम्भव’, ‘विक्रमोर्वशी’, ‘शकुन्तला’, और ‘रघुवंश’ की रचना का आशय और प्रेरणा का कारण दिखाकर महाकवि गेटे की श्रद्धांजलि के साथ नाटक समाप्त होता है । स्फुट प्रसंगों का परिचायक सूत्रधार होता है, जो प्रासंगिक

१. नई धारा, वर्ष १, अंक ७, पृष्ठ २१

२. कालिदास, उदयशंकर भट्ट, अप्रैल, सन् १९५०, पृष्ठ ६

घटनाओं का समय-समय पर निर्देश करता चलता है।

उदयशंकर भट्ट-विरचित 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशी', 'शकुन्तला', 'राधा' आदि गीतिनाट्य बार-बार कई रेडियो स्टेशनों से सफलतापूर्वक प्रसारित हुए हैं। इसी प्रकार सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्या, प्रहसन आदि भी समय-समय पर प्रसारित होते रहते हैं। आचार्य चतुरसेन के चार और रेडियो-रूपक प्रकाशित हुए हैं—'सीताराम', 'हरिश्चंद्र', 'श्री भरत' और 'राखी'। श्री विष्णु प्रभाकर के चार रेडियो-रूपक—(१) 'उपचेतना का छल', (२) 'मुरब्बी', (३) 'सरकारी नौकरी' और (४) 'क्या वह दोषी था' मुद्रित हुए। इनमें प्रथम और चतुर्थ मनोवैज्ञानिक नाटक हैं, जिनका अभिनय सफलतापूर्वक रेडियो स्टेशन दिल्ली से हुआ।

रेडियो-नाटक का भविष्य

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के जितने नाटक आज रेडियो स्टेशनों पर अभिनीत होते हैं, उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओं में भी न होते होंगे। इसलिए नाट्यकला का भविष्य रेडियो-रूपक के रचयिताओं के हाथ में है। पश्चिम में यह कला बहुत विकसित हो चुकी है, किन्तु हिन्दी में केवल पश्चिम के अनुकरण से रचना द्वारा नाट्यकला का विकास सम्भव नहीं। आश्चर्य तो यह है कि रेडियो-रूपक के तन्त्र अर्थात् टेकनीक के ऊपर हिन्दी भाषा में कोई प्रामाणिक ग्रंथ अब तक प्रकाशित क्यों न हुआ। नित्यप्रति रेडियो-रूपक प्रसारित किए जाते हैं, सहस्रों व्यक्ति उन्हें सुनते हैं, किन्तु रेडियो की नाट्यकला पर गम्भीरता से विचार करनेवाला एक भी ग्रंथ अभी तक नहीं लिखा गया।

हिन्दी के प्रकाशित एवं अप्रकाशित रेडियो-नाटकों के आधार पर रेडियो का नाट्य-तन्त्र इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है। रेडियो-नाटकों के जिन भेद-प्रभेदों का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है, उनका तन्त्र आज इस रूप में मान्य हो चुका है।

रेडियो-रूपक—नाटक की यह ऐसी शैली है, जिसमें नाट्यकार एक ही समय, एक स्थान पर सहस्रों वर्ष—वैदिककाल से प्रारम्भ करके आधुनिककाल तक—के प्रसिद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक उथल-पुथल का रूप प्रदर्शित कर सकता है। वह संकलनत्रय के बन्धन को स्वेच्छा से क्षण-भर में चूर-चूर कर सकता है और रंगमंच की 'स्वगत' नामक अस्वाभाविक प्रणाली को पूर्ण स्वाभाविक बना सकता है। वह अंकों और दृश्यों की सीमाएं एक ऋटके में धराशायी कर सकता है।

रेडियो फीचर—प्रसिद्ध उपन्यासों को नाटक रूप में उपस्थित करने की कला अंग्रेजी में एक काल से रेडियो में आ चुकी थी। रेडियो की यह शैली क्विलर काउच (Sir A. T. Quiller Couch) के हाथों विकसित हुई। उन्होंने तीन प्रसिद्ध उपन्यास-कारों की रचनाओं का नाटक में रूपान्तर किया। इस प्रकार लार्ड लिटन और चार्ल्स डिकेन्स के बृहद् उपन्यासों का रसास्वादन थोड़े समय में फीचर के द्वारा किया गया। इसी शैली पर हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यासों का रेडियो फीचर में रूपान्तर हुआ।

रेडियो फीचर की दूसरी विशेषता यह है कि यह सूचनात्मक और प्रचारात्मक भी होता है। इसमें शुष्क विषयों पर प्रकाश डालने के लिए उनसे सम्बद्ध बातों का नाट्य-सा किया जाता है। सुशील का 'पंचायत राज' इसका उदाहरण है।

ध्वनिनाट्य—इसका आधार है वाचिक अभिनय। इसमें कथनोपकथन का प्राधान्य रहता है। कुछ लोग इसे 'अन्धों का सिनेमा' कहते हैं। ध्वनिनाट्य का उपयुक्त उदाहरण विष्णु प्रभाकर का 'बीमार' है।

स्वोक्ति—एकपात्रीय नाटक है। इसका रूप रंगमंच के एकांकी से भिन्न होता है। रंगमंच पर 'इसमें कथावस्तु का सुसम्बद्ध होना अनिवार्य नहीं, परन्तु रेडियो पर कथा सुसम्बद्ध' होनी ही चाहिए। विष्णु प्रभाकर का 'सड़क' नाटक इसका उदाहरण है।

फैण्टेसी (भावनाट्य)—उदयशंकर भट्ट इसे ऋतु-सम्बन्धी नाटक मानते हैं। किन्तु विष्णु प्रभाकर का मत है कि "जीवन के किसी अमूर्त तथ्य पर आधारित रोमानी चित्रण फैण्टेसी (भावनाट्य) है।" इसमें भावात्मक घटना एवं अनुभूति को स्वच्छन्द रीति से चित्रित किया जाता है। इसमें मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन रहता है। विष्णु प्रभाकर के दो नाटक 'अर्द्धनारीश्वर', 'शलभ और ज्योति' उत्तम भावनाट्य हैं।

रंगमंच पर भावनाट्य उस नाटक को कहा जाता है, जिसमें अभिनय का हाव-भाव संगीत तथा नाटक के अन्य उपकरणों से अधिक प्रभावशाली हो। मुद्रा और अनु-भावों के द्वारा भावों के प्रदर्शन का नाटक में प्रभुत्व रहने के कारण इसे भावनाट्य कहा जाता है। उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' इसका सफल उदाहरण है।

ध्वनि गीति रूपक—इसका माध्यम है कविता। इसमें आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता रहती है। कार्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक होता है। बृहद् कथा की संक्षिप्ति के लिए वाचक-वाचिका का प्रयोग होता है। भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण', सुमित्रानन्दन पन्त का 'शिल्पी' 'शुभ्रपुरुष' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

रिपोर्टाजि—यह नाटक की एक अभिनव पद्धति है, जो विगत युद्धकाल में आविष्कृत एवं विकसित हुई। द्वितीय महायुद्ध में बड़ी-बड़ी घटनाएं एक के बाद दूसरी इतनी द्रुत गति से घटित होने लगीं कि नाट्यकार उन्हें कला से सुसज्जित बनाकर जनता तक पहुंचाने का अवसर ही न पा सके। जनता युद्ध की महत्त्वपूर्ण घटनाओं, उनके कारणों और परिणामों को समीप से जानने के लिए क्षण-क्षण व्यग्र थी। सबकी आंखें पत्र-पत्रिकाओं की ओर लगी थीं और कान रेडियो की ओर। ऐसी असाधारण परिस्थिति में कलाकारों ने एक अभिनव नाट्यविधान का आविष्कार किया, जो घटना और घटनाक्रम के इतिहास, घटनास्थल के वातावरण और घटना में भाग लेनेवाली शक्तियों की गति-विधि, वादे-इरादे, रीति-नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाल सके। वह संकट का ऐसा काल

१. एकांकी-विहार, विष्णु प्रभाकर, पृ० ६६

२. प्रगतिवाद, शिवदानसिंह चौहान, पृ० १११

था, जब जनता घटना के आन्तरिक और बाह्य सभी रूपों को जानने के साथ भविष्य में होनेवाले उसके प्रभावों से भी परिचित होना चाहती थी, क्योंकि उसके परिणामों से कोई बच नहीं सकता था।

ऐसी स्थिति में कलाकार किसी घटना या वर्णन वस्तु का वर्णन इस प्रकार करने लगा मानो घटना से सीधा सम्बन्ध रखनेवाला व्यक्ति उसका अंग बन गया हो और पाठकों की सहानुभूति का भाजन होकर उनके हृदयों में रागात्मक अनुभूति भर रहा हो। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कलाकार संजय की तरह विवेक दृष्टि से देखता हुआ महाभारत के विविध दृश्यों का, वीरों के जय-पराजय एवं उनके शौर्य और पराक्रम का, युद्ध की भीषणता और भयंकरता का वर्णन रागात्मक सहानुभूति के साथ करता चले।

यह कला रूस और अमेरिका में नित्यप्रति विकासोन्मुख बन रही है। हमारे देश में भी इसका प्रयोग विविध उत्सवों के अवसरों पर होता है। गणतन्त्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, क्रिकेट मैच, कुम्भ मेला आदि विशेष अवसरों पर रेडियो से जो समाचार प्रसारित होते हैं, उनकी यही शैली है। इसमें घटनास्थल के विवरण के साथ-साथ प्रसिद्ध वक्ताओं के भाषणों को भी उन्हींके मुख से सुनने का सुयोग प्राप्त होता है।

पत्र-पत्रिकाओं में युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त सांस्कृतिक रिपोर्टें भी लिखे गए। हिंदी में सर्वप्रथम रूसी लेखक लियोनिद लियोनोव का सोवियत रिपोर्टें 'हंस' के 'शान्ति-संस्कृति अंक' में प्रकाशित हुआ। इस लेख में लियोनिद लियोनोव ने रूसी जनता, अमेरिकनों और अंग्रेजों को सम्बोधित कर कहा :

“ऐसे समय में महान सोवियत मानवतावादी लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में हम संस्कृति के पुजारियों पर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आ जाती है। वक्त का हमसे तकाजा है कि हमारे अंदर अटूट एकता हो।”

अमेरिकनों से

“नहीं हुआ, यह मास्को की साजिश नहीं है.....यह तो घरती डोल रही है, यह एक भूचाल है, जो सदियों पुरानी गुलामी के धूणित और शर्मनाक जुए को झकझोर रहा है। हुआ, इन फूटते हुए ज्वालामुखियों से बचके रहिए, ज़रा-सी भी लापरवाही आपकी तन्दुस्ती को नुकसान पहुंचा सकती है।”

सभी देशों से

“अब दुनिया धीरे-धीरे अहम्, प्रेम, अहंकार, लालच और पाखण्ड से उसी तरह मुक्ति पा रही है, जिस तरह प्लेग और हैजे और कष्टकर मध्ययुग के दूसरे रोगों से। विदा, ट्रेजेडी से अद्भुत सुन्दर दर्पणों में प्रतिबिम्बित भयानक छायाओं, विदा...तुम मैकबेथ और शाइलोक, रोस्तिनयाक और तारतुफ विदा...हैमलेट, जीवन के पुनर्जन्म पर

मुस्कराओ ! और अब कोई प्यारी जूलियट का दिल न तोड़े ।”^१

पं० उदयशंकर भट्ट^२ का मत है कि “प्रगतिशील लेखकों ने (हिंदी में) रिपो-
र्ताज लिखने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे नाटक न होकर वस्तुस्थिति के वर्णनात्मक
चित्र बन गए हैं ।”

हमारा मत है कि यह कला यदि रूस और अमेरिका में विकसित हो सकती है
तो हिंदी में भी इसे विकासोन्मुख बनाया जा सकता है। यह कला प्रगतिशील लेखकों के
ही हिस्से नहीं पड़ी है, कोई भी इसमें प्रयास के द्वारा सिद्धहस्त हो सकता है। नवयुवकों के
सम्मुख उन्नति का यह एक विशाल क्षेत्र पड़ा है। आशा कि हमारी भाषा में भी ऐसे रिपो-
र्ताज लिखे जाएंगे, जो इस समृद्ध भाषा के उपयुक्त होंगे।

जन-नाटक

रेडियो द्वारा जन-नाटकों को भी प्रोत्साहन मिला है। रास, स्वांग, ढोला-मारू,
निहालदे, नौटंकी आदि जन-नाट्यशैली के नाटक समय-समय पर प्रसारित होते रहते हैं।
ग्रामीण जनता के विनोद के लिए जो विविध नाटक प्रस्तुत किए जा रहे हैं, वे मनोरंजन
के साथ उन्नयन के भी साधन बनाए जा सकते हैं। जन-नाटकों ने देश के संकटकाल में
सांस्कृतिक विचारों की निरन्तर रक्षा की है। जैन रास, कृष्ण रास, रामलीला के द्वारा
घोर आपत्ति काल में भी राम-कृष्ण के बल पर भारतीय संस्कृति जीवित रही। आज
हमारी संस्कृति का क्षेत्र भारत तक ही सीमित नहीं, वह अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर रहा
है। ऐसी परिस्थिति में जन-नाटकों के द्वारा बाह्य देशों की सांस्कृतिक विशेषताओं को
आत्मसात् किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावना जागरित
की जा सकती है। स्वतन्त्र भारत में ज्यों-ज्यों ग्रामीण जनता की शक्ति का महत्त्व बढ़ता
जाएगा, त्यों-त्यों जन-नाटकों का अभ्युदय अनिवार्य रूप से होता जाएगा। उसका
कारण यह है कि गतानुगतिका-प्रेमी ग्रामीण जनता में किसी नवीन विचार की स्थापना
और प्रचार के लिए जन-नाटक से बढ़कर कोई दूसरी युक्ति नहीं।

व्यंग्य—व्यंग्य-नाटक प्रहसन से कई कारणों से भिन्न होता है। प्रहसन का ध्येय
केवल विनोद होता है, किन्तु व्यंग्य में एक विशेष उद्देश्य होता है। इस नाटक में वाग्वै-
दग्ध्य, कटाक्ष एवं चुभते व्यंग्य के द्वारा समाज की कुरीतियों, कुप्रवृत्तियों और आडम्बर-
मय विधि-विधानों का उपहास किया जाता है। इसमें गम्भीर हास्य के साथ विचारों को
भी उद्बुद्ध करने की शक्ति होती है। ‘अस्क’ का ‘अधिकार का रक्षक’, भुवनेश्वर का
‘स्ट्राइक’, विष्णु प्रभाकर का ‘कांग्रेसमैन बनो’ और उदयशंकर भट्ट का ‘दस हजार’
हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग्य-नाटक हैं।

हिंदी में एकांकी नाटकों को रेडियो के द्वारा प्रभूत प्रोत्साहन मिला। आज का

१. हंस, शान्ति-संस्कृति अंक, वर्ष २२, अंक ६, ७, पृष्ठ २५ से ३० तक

२. जीवन और संघर्ष, उदयशंकर भट्ट, भूमिका, पृष्ठ १८

नाटककार ऐसे एकांकी लिखने का प्रयास करता है जो रंगमंच और रेडियो स्टेशन दोनों पर सफल हो सकें। यह मोह नाटककार और नाट्यकला दोनों के लिए हानिकर है। दोनों का पृथक् तन्त्र (टेकनीक) है, दोनों के पृथक् प्रयोग हैं। बी० बी० सी० के एक प्रसिद्ध नाटककार का अनुभव है कि “रंगमंच के लिए लिखा गया नाटक कदाचित् ही रेडियो पर सफल हो।” दोनों प्रकार की कला से परिचय प्राप्त करके एकांकी लिखे जाएंगे तो अवश्य ही अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हो सकेंगे। नाटककार को स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच के नाटक का माध्यम है आंगिक और आहार्य अभिनय, सिनेमा का चलचित्र, किन्तु रेडियो-नाटक का माध्यम है माइक्रोफोन—स्वर-प्रक्षेपण यन्त्र। अतः माध्यम के पार्थक्य से तन्त्र में अन्तर होना स्वाभाविक है।

ऐतिहासिक नाटकों के दो वर्ग

पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से ऐतिहासिक नाटक रचे गए। यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हम इन नाटकों का विभाजन करें तो अधिकांश नाटक दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं—एक में आध्यात्मिक शक्ति की प्रधानता है, दूसरे में आधिभौतिक की। आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न नाटकों के पात्रों में ज्ञान और विवेक की सत्ता से इन्द्रियों को कार्यक्षम बनाने की प्रवृत्ति, विकारों पर अधिकार पाने का प्रयास और मानव-कल्याण की भावना का विकास पाया जाता है।

दूसरे वर्ग में आधिभौतिकता की प्रधानता होती है। इस वर्ग के नाटकों के पात्र भौतिक जीवन से प्रगाढ़ सम्बन्ध रखते हैं। नाटककार उन्हीं पात्रों में सत्य, न्याय, नीति, सौन्दर्यानुभूति आदि सद्गुणों का क्रमिक विकास दिखाने की चेष्टा करता है। पात्रगण देश, धर्म, जाति, समाज आदि की व्यवस्था के योगक्षेम में कष्ट सहन करते हुए पाठकों और दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों प्रकार के नाटकों में प्रायः दोनों ही शक्तियों का या तो सहयोग पाया जाता है या द्वन्द्व। तथ्य तो यह है कि दोनों प्रकार की संस्कृतियाँ परस्पर एक-दूसरे पर आधारित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्दिक् व्याप्त जगत् की आधिभौतिक शक्तियों का उपयोग करते ही मनुष्य की गुप्त आन्तरिक शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं। ‘प्रसाद’ के नाटकों में आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों शक्तियों के सामंजस्य से मानव की गहनतम नैतिकता विकासोन्मुख बनती है। प्रसाद ने एक सिद्धहस्त कलाकार के समान इसी नैतिकता के बल से मानवत्व और देवत्व को एकाकार कर दिया है। यह प्रसाद के

१. It may save a certain amount of disappointment to say roundly that it is only in very exceptional cases that a play written for the theatre is likely to make good material for broadcasting.

—Radio Theatre, Val Gielgud, Foreword, page ix,
Macdonald & Co., London, 1946

नाटकों की बहुत बड़ी विशेषता है।

मालोच्यकाल में कतिपय ऐसे ऐतिहासिक नाटक विरचित हुए, जिनमें आध्यात्मिक संस्कृति पर बिना बल दिए ही आधिभौतिक संस्कृति के द्वारा देश-प्रेम की भावना भरने का प्रयास पाया जाता है। यह परम्परा बाबू राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' (संवत् १९५५ वि०) तथा 'महारानी पद्मिनी' (संवत् १९६० वि०) नामक नाटकों में चली। इस परम्परा के सफल नाट्यकार हैं पं० बद्रीनाथ भट्ट, जिन्होंने इसी पद्धति पर 'चन्द्रगुप्त' (संवत् १९७२ वि०) और 'दुर्गावती' (संवत् १९८३ वि०) की रचना की। इनके अतिरिक्त किशनचन्द जेवा का 'पद्मिनी' (सं० १९८० वि०), दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'महामाया' (सं० १९८१ वि०), कन्हैयालाल का 'वीर छत्रसाल' (सं० १९८२ वि०), 'आरजू' का 'भांसी-पतन' (सं० १९८५ वि०), जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (सं० १९८५ वि०), जमुनादास मेहरा का 'पंजाब-केसरी' (सं० १९८५ वि०), चतुरसेन शास्त्री का 'उत्सर्ग' (सं० १९८६ वि०), उदयशंकर भट्ट का 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (सं० १९८८ वि०) और 'दाहर' (सं० १९९१ वि०), द्वारकाप्रसाद मौर्य का 'हैदर-अली' (सं० १९९१ वि०), श्यामाकान्त पाठक का 'बुन्देलखण्ड-केसरी' (सं० १९९१ वि०), गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट' (सं० १९९२ वि०), परिपूर्णनन्द का 'रानी भवानी' (सं० १९९५ वि०), मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' (सं० १९९५ वि०), रूपनारायण पांडे का 'पद्मिनी' (सं० १९९९ वि०) और 'मारवाड़ गौरव' (सं० १९९९ वि०), राधाकृष्ण का 'भारत छोड़ो' (सं० २००४ वि०), हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'उद्धार' (सं० २००६ वि०) आदि नाटक इसी वर्ग में परिगणित किए जा सकते हैं। मोहनलाल महतो का 'अफजल वध' (सं० २००७ वि०) भी इसी वर्ग में गिना जाएगा।

भारतेन्दु ने हिन्दी नाटकों की कथाभूमि में देशभक्ति के जिस स्वरूप की स्थापना की, वह आज की देशभक्ति से कुछ भिन्न था। वह अपने अतीत के आधार पर आश्रित था और उसमें यह भावना निहित थी कि जिसने भी देश पर आक्रमण किया, वह आततायी है। यह उद्बोधन-काल था। इसी समय हिन्दू समाज में स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म का शंख फूक रहे थे, जिसने भारतेन्दु द्वारा प्रेरित तत्कालीन साहित्यकारों को देशभक्ति से और भी ओतप्रोत कर दिया। राजपूतों के अजस्वी जीवन अभी भी ताजे थे। इस-लिए स्वाभाविक रीति से लेखकों की दृष्टि क्षत्रियोचित अजस्विता की ओर गई। उनका वीरत्व, उत्सर्ग और असाधारण शौर्य उन्हें ऐसा प्रभावित कर गया कि वही देशभक्ति का आदर्श बन गया। श्री राधाकृष्णदास ने जब 'महाराणा प्रताप' नाटक लिखा तो उनमें भी यही भावनाएं थीं। उनका अनुकरण अन्य लेखकों ने किया, किन्तु सत्य पूछा जाए तो शुद्ध देशभक्ति की प्रतिष्ठा-भूमि हमें तत्कालीन नाटकों में केवल भारतेन्दु के ही नाटकों में मिलती है। राजपूत यदि अपने राज्यों का मोह छोड़ सकते और सच्ची देशभक्ति से पूर्ण होते तो आज भारत का दूसरा ही इतिहास होता। तथ्य तो यह है कि राणा प्रताप एक पीड़ित हिन्दू थे और लेखक की सामर्थ्य से राणा प्रताप की विपत्तियों को पाठकों ने

अपने ऊपर आरोपित किया, अतः वह सारी हिन्दू जाति की विपत्ति समझ ली गई और कष्ट-सहिष्णु राणा प्रताप सारी जाति के प्रतीक मान लिए गए।

प्रेमीजी का 'उद्धार' नाटक इस वर्ग के सर्वोत्तम नाटकों में से है। इस नाटक में हमीर^१ 'देश को जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊंचा' समझता है।

अनूदित सांस्कृतिक नाटक

भालोच्यकाल में सांस्कृतिक नाटकों के विकास में यूरोपीय नाटकों से भी सहायता ली गई। प्रथम युद्ध में जर्मनी के युद्ध-कौशल को देखकर भारतवासी विशेष रूप से उधर आकृष्ट हुए। फलतः वहाँ की कला और साहित्य से भी यहाँ के लोग प्रभावित हुए। जर्मनी के जिन प्रसिद्ध नाट्यकारों ने देश के सांस्कृतिक विकास में योग दिया था, उनका साहित्य देशी भाषाओं में अनूदित होने लगा। जर्मन नाट्यकार लेसिंग के दो नाटकों का हिन्दी अनुवाद 'मिना' और 'नातन' नाम से किया गया। डॉ० मंगलदेव ने 'मिना' को और श्री अबुलफजल ने 'नातन' को अनुवाद रूप में उपस्थित किया। 'मिना' नाटक में 'नाथन' यहूदी है और शेष पात्र मुसलमान और ईसाई हैं। पात्रों के दो वर्ग हैं—पुशियन और सैक्सन। पुशियन पात्र 'ट्रयाल हाइप' अत्यन्त क्रूर और कठोर है, किन्तु मिना का चरित्र अति उदार और निष्कलंक है। मिना सैक्सन प्रदेश की निवासिनी है। इस नाटक द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि धार्मिक संकीर्णता हमें धर्म के सच्चे तत्त्व से बहुत दूर रखती है। इस नाटक से यह भी प्रमाणित किया गया है कि किसी धर्म का महत्त्व जीवन के आदर्श की उच्चता और पवित्रता के ऊपर निर्भर है, न कि थोड़े रीति-रिवाजों पर।

नातन

दूसरा जर्मन नाटक है 'नातन'। 'नातन' नाटक का अनुवाद उपस्थित करते हुए अबुलफजल साहब लिखते हैं कि "आजकल हमारे देश में जो उपद्रव उपस्थित है, उसके कारणों में से एक बड़ा कारण यह है कि परस्पर लड़नेवाले एक-दूसरे के धार्मिक मतों से अज्ञात हैं और प्रत्येक मतावलम्बी संकीर्ण हृदय और अदूरदर्शिता से काम ले रहा है। दुर्भाग्यवश साहित्य भी ऐसा निकल रहा है जो एक-दूसरे से लड़ने में सहायता दे रहा है। यूरोप में भी ईसाई और मुसलमान एक-दूसरे के शत्रु थे, परन्तु जब प्रत्येक ने अपने-अपने स्थान पर ध्यान दिया तो दोनों ने अपनी संकीर्णता को स्वीकार किया। मुझे आशा है कि जो कुछ 'नातन' ने यूरोप में किया, वही भारत में भी करेगा।"

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि अनुवादकर्ता ऐसे नाटकों का अनुवाद कर रहे थे, जो धार्मिक सहिष्णुता का बातावरण बनाने में सहायक हों। इस 'नातन' नाटक में एक यहूदी एक ईसाई लड़की को पड़ा पाता है, उसका पालन-पोषण करता है। उसको अपने धर्म की शिक्षा न देकर धार्मिक विषयों में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। उसके इस

कार्य से मठाधीश इस कारण अत्यन्त क्रुद्ध होता है कि एक ईसाई लड़की को यहूदी ने अपने घर क्यों रखा। यहूदी को जला देना चाहिए। टेपलर जब मठाधीश से कहता है कि यदि वह बच्चा मर जाता तो क्या होता? तो मठाधीश इस प्रकार उत्तर देता है :

“मठाधीश—कोई हर्ज नहीं। यहूदी को तब भी जला डालना चाहिए। वह बच्चा सदा के लिए शाप में पड़ जाए, इससे अच्छा है कि वह यों ही मर जाए। परमेश्वर जिसे चाहे, उसे यहूदी की सहायता के बिना भी आपत्ति से मुक्ति दे सकता है।”

उपसंहार

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांस्कृतिक नाटकों की तीन मुख्य शैलियाँ उस समय प्रचलित थीं। एक शैली द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के निकट होकर चल रही थी, दूसरी यूरोपीय नाटकों के अनुवाद तथा रूपान्तरित रूप में ग्रहण की जा रही थी और तीसरी ‘प्रसाद’ की निजी शैली थी, जो नितान्त मौलिक थी। ‘प्रसाद’ जितने सफल कलाकार थे, उतने ही प्रवीण इतिहास के अनुसन्धानकर्ता भी। उन्होंने अतीत भारत के गौरव-प्रासाद का खण्डहर देखा। उसकी प्राप्य सामग्री से ही सन्तुष्ट न होकर उसके लुप्तप्राय अंगों का अनुसंधान किया। उन्हें विस्मृति के गर्त से ढूँढ़ निकाला और अपनी कल्पना से भग्नावशेषों को संयुक्त कर ऐसा प्रासाद निर्मित किया, जिसमें जोड़ का कहीं चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। यह थी ‘प्रसाद’ की अपनी मौलिकता। यद्यपि उनके पथ पर चलने का प्रयास कई नाट्यकारों ने किया, किन्तु न तो वे भग्नावशेष को ढूँढ़ पाए और न कल्पना के बल से नवनिर्माण के द्वारा वैसा प्रासाद बना पाए, जैसा ‘प्रसाद’ ने ‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ में हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

समस्या-नाटकों का उदय

बीसवीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा के प्रचार और राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्री-समाज के भी भाग लेने से भारत में पश्चिमीय पद्धति पर नव समाज निर्मित हो रहा था, किन्तु विवाह-सम्बन्धी नैतिक विधान अभी तक पुरातन रूप में ही चल रहे थे। अतएव इस काल में उन्मुक्त प्रेम और दाम्पत्य के होड़ में नई समस्या खड़ी हो गई। समस्या-नाटक लिखने के लिए उत्सुक नाट्यकारों का सर्वप्रथम ध्यान इसी ओर गया। उन्होंने ‘इक्सन’ और ‘शॉ’ के नाटकों में इस समस्या की खोज की और उन्हें इक्सन के ‘डाल्स हाउस’ में यह विचार मिला कि पुरुष स्त्री को किस मात्रा में स्वतन्त्रता दे सकता है, जिससे नारी का व्यक्तिगत विकास अवरोधन हो सके। इसी प्रकार ‘वाइल्ड डक’ में स्त्री के प्रति एक समस्या उठाई गई कि यदि स्त्री पुनर्विवाह के समय एक सन्तान भी लेकर आए तो पुरुष को क्या करना चाहिए। ‘इक्सन’ के ‘घोस्ट्स’ नामक नाटक में एक स्त्री की दुर्दशा अपने क्रूर पति से पृथक् होने पर दिखाई गई है। इसी प्रकार ‘शॉ’ ने ‘मैन एण्ड सुपरमैन’ में वैवाहिक जीवन की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

समस्या-नाटक के आधुनिक जन्मदाता मिश्रजी माने जाते हैं। इस पद्धति का

पहला नाटक 'संन्यासी' १९२७ ई० में लिखा गया। इस नाटक की प्रेरणा के विषय में मिश्रजी कहते हैं, "पहले महायुद्ध की समाप्ति पर कैथराइन की 'मदर इण्डिया' निकल चुकी थी। यूरोप और अमेरिका के कितने ही लेखक काले, भूरे और पीलों से गोरों को सावधान रहने की चेतावनी दे रहे थे। रंगीन जातियों को सब ओर से हीन कहने की चेष्टा की जा रही थी। 'हिंडमन ब्लॉड', 'पुटनमबील', 'लाघास्नोदार', आदि कितने ही राजनीतिक लेखक इस बात की घोषणा कर रहे थे कि भविष्य में गोरों का संकट रंगीन जातियों से बढ़ेगा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में इस तरह का साहित्य बराबर बढ़ रहा था, जिसके पढ़ने का सुयोग मुझे विद्यार्थी-जीवन में वहीं मिल गया। इस प्रचार की जो प्रतिक्रिया हुई, उसीने हिन्दी के प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' को जन्म दिया। जाति के गौरव-बोध, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूतिनिष्ठा ने 'अन्तर्जगत्' के कवि को समस्या-नाटककार बना दिया। मैंने तभी १९८० वि० के आसपास ही देख लिया था कि छायावादी हिन्दी कवियों के रूप में अंग्रेजी कवियों की लिरिक पोइट्री का जो प्रभाव चल रहा है, वह व्यक्ति की अतृप्त लालसा, वासना, परिताप, एकांगी स्वार्थ के उन्माद का फल है। इसमें 'जातीय जीवन और अपनी संस्कृति का ह्रास है।' इसलिए मुक्त कविताओं का लिखना छोड़कर मैं सदैव के लिए नाटककार बन गया, जिसमें जीवन की स्वाभाविक धारणा और उसके चित्रण का अवसर है। कर्म-संश्रय से छूटकर गीतों की रंगीनी में डूब मरने को पाप समझा।"

संन्यासी (सं० १९८८ वि०) में मुरलीधर राष्ट्र-सेवा-हित कई बार जेल-यात्रा करते हैं, किन्तु आजीवन अविवाहित रहकर देश-सेवा का व्रत लेने पर भी किरण-मयी का कामार्ग भंग करते हैं। उनकी मृत्यु के उपरान्त किरणमयी कालेज के वृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ के साथ संसार चलाने के लिए समझौता करती है, किन्तु वहां भी असफल रहने के कारण प्राण त्याग देती है। इसी प्रकार मालती के प्रेम में असफल होने के कारण विश्वकांत संन्यासी हो जाता है।

संन्यासी में सहशिक्षा के कारण एक छात्रा का प्रेम एक छात्र के प्रति खलु जाता है। इस अपराध के लिए एक ऐसे अध्यापक की प्रेरणा से प्रेमी छात्र को विद्यालय से निकाला जाता है, जो स्वयं उस छात्रा के मोह में पड़ गया था। प्रथम महायुद्ध के बाद विदेशी शासकों ने इस देश को जो धोखा दिया था, रोलट ऐक्ट, पंजाब-हत्याकांड और गांधी के असहयोग आन्दोलन ने देश में जो उथल-पुथल पैदा की, देश-सेवक का जीवन जिस संकट में पड़ा, उसके अनेक चित्र इस नाटक में आते गए। कालेज से निर्वासित विश्वकांत मालती के अनुराग के पंखों पर चढ़कर एशिया की मुक्ति के लिए एशियाई संघ का संयोजक बना। संयोग की बात है कि इस नाटक-रचना के बीस वर्ष उपरान्त दिल्ली में एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ।

१. पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र से बार्तालाप

२. अन्तर्जगत् काव्य, लक्ष्मीनारायण मिश्र

‘राक्षस का मन्दिर’ (सं० १९८८ वि०) में असगरी नामक एक बेश्या की दशा दिखाई गई है। बूढ़ वकील रामलाल की उस मुसलमान बेश्या से, उसका पुत्र रघुनाथ प्रेम करने लगता है। रघुनाथ का एक मित्र मनोहर क्रांतिकारी है, जो दबाव डालकर रघुनाथ की सारी सम्पत्ति बेश्या-सुधार के लिए खोले गए मातृमन्दिर के नाम लिखा लेता है। इस मातृमन्दिर की भी पोल खुल जाती है और असगरी मनोहर के मन्दिर अर्थात् राक्षस के मन्दिर में रहने लगती है।

मुक्ति का रहस्य (सं० १९८९ वि०) — डिप्टी-कलक्टर उमाशंकर असहयोग आन्दोलन के दिनों में देशभक्ति से प्रेरित होकर सरकारी पद से त्यागपत्र दे देता है। फल-स्वरूप वह राजद्रोही घोषित होता है और दो वर्ष के लिए कारावास का दण्ड पाता है। बन्दीगृह से मुक्त होने पर आशादेवी नामक एक युवती से उसका सहवास हो जाता है। आशादेवी उमाशंकर पर अनुरक्त होती है। यह लीला देखकर और उमाशंकर को पारिवारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए धन-अर्जन से सर्वथा पराङ्मुख पा, उमाशंकर के चाचा काशीनाथ विक्षुब्ध हो उठते हैं। आशादेवी के साथ उसका (उमाशंकर) सहवास पारिवारिक मर्यादा के विरुद्ध होने के कारण उन्हें खटकता रहता है। तन-मन-धन से ही देश-सेवा की ओर प्रवृत्त होने के कारण उमाशंकर धन-अर्जन करने में असमर्थ होता है और चाचा के ऋण से उन्मत्त होने के लिए अपनी पैतृक संपत्ति उन्हें प्रदान कर देता है।

इधर आशादेवी उमाशंकर को पति बनाने के स्वप्न में, उसीके एक मित्र, डाक्टर त्रिभुवननाथ से विष लेकर उसकी पत्नी को दे देती है। आशादेवी की इस दुर्बलता से अनुचित लाभ उठाकर डाक्टर उसका कौमार्य भंग करता है। इससे क्षुब्ध होकर आशादेवी अपना प्राणांत करने के लिए विष खा लेती है, पर डाक्टर के उद्योग से बच जाती है। डाक्टर को अपनी दुर्बलता का बोध होने पर पश्चात्ताप होता है और वह अपने कुकृत्यों के लिए आशादेवी से क्षमा-याचना करता है। आशादेवी का हृदय उसकी ओर आकर्षित होता है। वह उसके साथ विवाह कर दोनों को भावी पतन से बचा लेना चाहती है। इसके लिए वह शर्माजी की अनुमति चाहती है। शर्माजी अपनी स्त्री की मृत्यु और डाक्टर के साथ आशादेवी के अवैध सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन होने पर खिन्न होते हैं। और उन्हें सांसारिक प्रपञ्चों से इतनी वितृष्णा होती है कि ऐसे जीवन से मृत्यु को अधिक कल्याणकर समझ पिस्तौल से आत्महत्या करना चाहते हैं। परन्तु आशादेवी के आग्रह और मनोहर के प्रेम के कारण आत्महत्या करने से विरत हो जाते हैं।

राजयोग (सं० २००६ वि०) में बिहारीसिंह की स्त्री अपने नौकर गजराज से गुप्त प्रेम करती है और उससे चम्पा नामक एक पुत्री उत्पन्न होती है। चम्पा विद्यालय में पढ़ती है, जहां रतनपुर के राजकुमार शत्रुसूदन और मन्त्री-कुमार नरेन्द्र भी पढ़ते हैं। नरेन्द्र से चम्पा का प्रेम था। दोनों का विवाह निश्चित हो जाता है, किन्तु शत्रुसूदन अपने राज-प्रभाव से चम्पा से विवाह कर लेता है और नरेन्द्र गृहत्यागी हो जाता है। चम्पा को बार-बार शत्रुसूदन से तिरस्कृत होना पड़ता है। पांच वर्ष बाद नरेन्द्र राजयोग का

आडम्बर करता है किन्तु कोई उसे पहचान नहीं पाता। कालान्तर में वह राजयोगी से कर्मयोगी बन जाता है।

सिन्दूर की होली (संवत् १९९१ वि०) में मुरारीलाल मजिस्ट्रेट आठ सहस्र रुपये के लिए अपने मित्र की हत्या करता है और उसके पुत्र मनोजशंकर के पालन-पोषण में उक्त धन से कहीं अधिक व्यय करता है। वही मजिस्ट्रेट एक ऐसे आदमी से चालीस सहस्र रुपया उत्कोच में लेता है, जो अपने पट्टीदार रजनीकान्त की हत्या करके उसकी सम्पत्ति हड़प जाता है। युवा रजनीकान्त का चित्र देखकर मजिस्ट्रेट की कन्या चन्द्रकला नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करती है और अंत में रजनीकान्त के शव के हाथों से अपनी मांग में सिंदूर भर लेती है। वह सदा अविवाहिता रहकर अपने पिता से दूर निवास करती है। मनोजशंकर को भी पिता की हत्या का रहस्य ज्ञात हो जाता है।

आधी रात (सं० १९९४ वि०) में एक ऐसी नारी के जीवन की समस्या उठाई गई है, जिसका जन्म तो हमारे अपने देश में हुआ था, किन्तु जिसकी सारी शिक्षा एवं संस्कार, आदर्शों और आकांक्षाओं का निर्माण इंग्लैंड में हुआ था। भारतीय नारी-जीवन की सारी मान्यताओं को हवा में उड़ाकर वह इस देश में नारी के लिए एक ऐसे नये स्वर्ग का निर्माण करने लगी, जिसमें नारी के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और पुरुषों की आंख में आंख गड़ाकर ललकारने की लालसा थी। अपनी शक्ति-भर उसने यह नया प्रयोग किया, पर एक दिन आया जब उसने देख लिया कि उसका यह प्रयोग उसे सब ओर से ले डूबा। इस देश में नारी-जीवन के जो विश्वास थे, उसने उन सबको अपनाया। अपने प्रिय के मंगल और अपने चित्त की शांति के लिए तीर्थ और व्रत के रूप में उसने वे सारे कार्य किए जो इस देश की श्रद्धामयी ग्रामीण स्त्रियां सदा से करती आ रही हैं। इस नाटक में विदेशी मानदंडों के ऊपर भारतीय नारी-जीवन की प्रतिष्ठा करना नाटककार का उद्देश्य प्रतीत होता है।

मिश्रजी का कहना है, “इन समस्या-नाटकों ने शुक्लजी से लेकर आज तक के अधिकांश आलोचकों के नीचे की धरती को जैसे एकदम उखाड़ फेंका। एक स्वर में लोग कहते रहे कि मेरे ये नाटक पश्चिम से प्रभावित हैं, इसलिए भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। पर बात ऐसी नहीं थी। एक-एक नाटक के कथानक, व्यापार, संवाद और परिणति पर विचार कर लेने पर जो तथ्य सामने खड़ा होता है, वह यह है कि नर-नारी के प्रेम और आकर्षण के साथ ही साथ हमारे जीवन की जो अन्य समस्याएं नाटकों में आई हैं, वे भारतीयता को और भी अधिक चमका देती हैं। नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है, उसे जन्म-भर उसीके साथ रहना है। इस कठोर नियम और मान्यता में उसके निजी प्रेम को हारना ही पड़ता है। जैसे ‘मुक्ति का रहस्य’ की आशादेवी अपने प्रेम के देवता उमाशंकर को छोड़कर अपने पतन के साथी डाक्टर की सहगामिनी बनती है। इस नाटक में जो कहीं आशा उमाशंकर के साथ रह पाती तो वह पश्चिम के स्वतंत्र प्रेम की विजय उस भारतीय दाम्पत्य-विधान पर मानी जाती, जिसमें

नारी को जन्म-भर एक पुरुष की बनकर रहना आदर्श माना गया है।”

सिन्दूर की होली में बाल-विधवा मनोरमा विधवा-विवाह और नारी-उद्धार के आन्दोलन को पुरुष-उद्धार कहकर व्यंग्य और विश्वास के अन्तर्लेखों के द्वारा सारे नाटक में प्रस्तुत करती गई है। पति के न रहने पर भी जन्म-भर उसके नाम की डोर में बंधी रहने का कार्य वह बराबर करती रही है और जब किसी पुरुष ने उसके विधवापन की ओर दुःख या सहानुभूति प्रकट की, वह उससे ऐसे भाग निकली जैसे गाय कसाई के सामने से भागती है। मुरारीलाल से उसका यह कहना कि ‘पुरुष तो वैधव्य का अनुभव कभी नहीं करते, इसलिए यह बात स्त्री ही कह भी सकेगी’—इसका प्रमाण है।

मनोजशंकर और उसके सम्बन्ध में मुरारीलाल को जब सन्देह होता है तो मनोजशंकर भभक उठता है और कहता है, “यह विधवा, आप नहीं जानते या शायद जानते भी हैं, अग्नि है, हलाहल है। कोई भी पुरुष उसे छूकर या पीकर जी नहीं सकता।”

मुरारीलाल—तुम्हारा हृदय प्रेम से नहीं...

मनोरमा—(होंठ पर अंगुली रखकर) इसलिए कि मैं विधवा हूँ।

मुरारीलाल—लेकिन तुमने तो अपने प्रेमी का मुख भी नहीं देखा, तुम्हें इसका ज्ञान नहीं।

मनोरमा—इन आँखों से तो कभी नहीं देखा, लेकिन कल्पना की आँखों से नित्य देखती हूँ, नित्य। बीस वर्ष का सुन्दर, स्वस्थ, सम्मोहक शरीर, चन्द्रमा-सा मुख, कमल-सी आँखें, कमान-सी भौंहें, घने काले नीलम-से चमकीले बाल, (आँख मूँदकर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गया है। देखिए तो शायद आपको भी देख पड़ जाए।”

जिसके हृदय में पति का रूप यौवन का सारा आकर्षण लेकर इस तरह जमकर बैठा हो, कोई भी दूसरा पुरुष उसके लिए इतना हीन और दरिद्र होगा कि वह उसकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी। अब भारतीयता का इससे अधिक स्वस्थ मुख हम क्या देखना चाहेंगे।

वृन्दावनलाल वर्मा ने कई समस्या-नाटक लिखे हैं। ‘बांस की फांस’ (सं० २००४ वि०) में सुशिक्षित लड़का गोकुल एक भिखारिन की बालिका पुनीता से विवाह करता है। वह भिखारिन (अन्धी बुढ़िया) पहले तो उसे गुंडा समझती है और कहती है :

“बुढ़िया—निपूते ! कोढ़ी !! मुंहजले !!! मेरे आघार को मुझसे छीनना चाहते हैं।

पुनीता—वे ऐसे नहीं हैं। गाली मत दो, मां ! उन्होंने ही मेरे लिए अपना रक्त दिया था, खाल दी थी। मेरी जान बचाई थी।

गोकुल—मांजी, आपकी लाठी के लिए मेरा सिर हाज़िर है।”

वृन्दावनलाल वर्मा ने ‘पीले हाथ’, ‘लो भाई पंचो लो’ आदि सामाजिक समस्या-

नाटक लिखे हैं।

उपेन्द्रनाथ 'भस्क' ने कई समस्या-नाटक लिखे हैं। 'छठा बेटा' (सं० २००७ वि०) माता-पिता की उन समस्याओं को प्रदर्शित करता है, जो वृद्धावस्था में अयोग्य पुत्रों की क्रूरता के कारण सामने आती हैं। पं० बसन्तलाल के छः लड़के हैं, किन्तु वृद्ध मां-बाप कष्ट उठाते हैं। बसन्तलाल अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लड़कों में वितरित कर देता है। सम्पत्ति पाने पर सब उसकी देख-रेख छोड़ देते हैं।

'कैद और उड़ान' (संवत् २००८ वि०) में मध्यवर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी और उसके सहयोग से वंचित, अस्वस्थ, अभावग्रस्त और विकृत पुरुष का चित्र खींचा गया है। 'स्वर्ग की झलक' आधुनिक शिक्षा के आधार पर लिखा गया सामाजिक व्यंग्य है।

पौराणिक कथानक लेकर 'विद्रोहिणी अम्बा' में स्त्री का पुरुष के प्रति विद्रोह प्रदर्शित किया गया है। एक स्थान पर अम्बिका कहती है, "यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए? समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ, हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हूँ।"

ऐसा प्रतीत होता है इस नाटक का उद्देश्य ही है स्त्री-पात्रों के द्वारा नारी जाति की दुर्दशा को प्रदर्शित करना। 'विद्रोहिणी अम्बा' से पूर्व भट्टजी ने 'कमला' नामक एक समस्या-नाटक संवत् १९६६ वि० में लिखा। इस नाटक में जमींदार देवनारायण की दूसरी धर्मपत्नी कमला सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती रहती है। जमींदार को यह सन्देश हो जाता है कि उसकी पत्नी दुश्चरित्रा है। कमला पति की क्रूरता से विकल होकर यह कहते हुए गृहत्याग करती है, "जाती हूँ। पर तुम देखोगे कि तुमने एक स्त्री का कितना अनादर और उसको लांछित किया है। इसका फल तुम्हें भोगना होगा।" इसका उत्तर जमींदार देवनारायण देते हैं, "तू जाती है कि नहीं! कुलटा, राक्षसी, जा!"

राजनीतिक समस्याओं को लेकर समस्या-नाटक लिखनेवालों में सेठ गोविन्ददास-जी का प्रमुख स्थान है। सेठजी के 'सेवापथ' (सं० १९६७ वि०) में दीनानाथ निर्धन होते हुए भी गान्धीजी का अनुयायी बन देश-सेवा करना चाहता है। शक्तिपाल मध्यम वृत्ति का व्यक्ति है। वह सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ देश-सेवा का अभिलाषी है। श्रीनिवास सम्पत्तिशाली है और पूँजीपतियों की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सेवा के मार्ग में तीनों का संघर्ष होता है और अन्त में गान्धीवाद की विजय होती है।

'धीरे-धीरे' (सं० १९६६ वि०) भी एक राजनीतिक व्यंग्य है। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने पर जो उलभने आई, उन्हीं समस्याओं की ओर इसमें संकेत मिलता है। गांव की अशिक्षित नारी हीरा की समस्या इसमें प्रमुख है।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त-रचित 'अंगूर की बेंटी' (सं० १९६४ वि०) नामक नाटक में मद्यपान की समस्या है।

'मणि गोस्वामी' नामक नाटक (सं० १९८८ वि०) के रचयिता प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र ने लिखा है, "मणि गोस्वामी एक प्रतिष्ठित जमींदार है। वह दूसरा विवाह करता है। गृह-कलह से व्याकुल होकर ज्येष्ठ पुत्र बीरेन पिस्तौल से आत्महत्या कर लेता है। उसकी आत्महत्या का समाचार सुनकर उसका पिता विक्षिप्त हो जाता है।" इस नाटक में यह दिखाया गया है कि बहुविवाह के कारण जो गृह-कलह उत्पन्न होता है, वह पारिवारिक जीवन के लिए कितना भयावह है।

ग्राम-समस्या को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा ने एक नाटक 'खिलौने की खोज' (सं० २००७) लिखा है। हास्य का पुट देते हुए इसमें गांव के रगड़े-झगड़े, भूत-प्रेत आदि समस्याओं को दिखाया गया है।

समस्या-नाटकों की परम्परा

हम भारतेन्दु-युग के नाटकों की चर्चा करते हुए बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अश्वनिषेध बहुविवाह आदि समस्याओं की ओर संकेत करते गए हैं। भारतेन्दुजी ने 'प्रेमयोगिनी' नाटक में तत्कालीन कई समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया था। इसी प्रकार भारतेन्दु-युग के नाट्यकारों ने समाज की अनेक कुरीतियों को लक्ष्य बनाकर नाटक लिखे। यद्यपि उस युग के लिए वही समस्या-नाटक थे, किंतु आज समस्या-नाटकों का रूप नितान्त भिन्न हो गया है। आज के समस्या-नाटकों में भावुकता के स्थान पर मनोवैश्लेषण की प्रधानता रहती है। अर्थात् इन नाटकों के पात्र अपने साधियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, किसी प्रकार की भावुकता के प्रवाह में बहते नहीं। इन नाटकों के ऊपर भारतेन्दु-युग से अधिक पश्चिम के आधुनिक युग का प्रभाव पड़ता प्रतीत होता है। इन नाटकों में भरतनाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन और पश्चिम की प्रचलित नाट्यकला का पालन किया गया है। भारतेन्दु-युग के सामाजिक नाटक समाज की कुरीतियों का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते थे, प्रत्युत उनके निराकरण का उपाय भी बता देते थे, किंतु आधुनिक नाटक सामाजिक रोग का निदान-मात्र कर देते हैं, उनकी चिकित्सा का भार देश के कर्णधारों पर छोड़ देते हैं। भारतेन्दु-युग में महिलाओं की समस्या पर प्रकाश डालने के लिए विविध नाटकों का सृजन हुआ था, जिनमें नारी के अधिकार और उसके कर्तव्य का सन्तुलन किया गया था, किंतु आज के सामाजिक नाटक नारी-अधिकार की ओर उसके कर्तव्यों से अधिक बल देते हैं।

शैली

नाटक की शैली में तो आमूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी नाटक नृत्य-गीतमय होते थे, किन्तु आधुनिक समस्या-नाटकों से नृत्य-गीत, कविता तथा स्वगत भाषण सर्वथा बहिष्कृत कर दिए गए हैं। आज के नाटकों में रंगमंच के संकेत इतने विस्तृत होते हैं, जितने भारतीय नाटकों में कभी न थे।

भारतेन्दु-युग के सामाजिक नाटकों की रचना में प्रेरणा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द से मिलती थी। आज के नाट्यकार फ्रायड और मार्क्स से प्रेरणा पा रहे हैं। उस युग में हमारे आदर्श कवि थे कालिदास और भवभूति, आज पथ-प्रदर्शक हैं 'इप्सन' और 'शॉ'।

धार्मिक नाटक

हिन्दी साहित्य में नाटक का प्रारम्भ ही धर्म को लेकर हुआ और पहले धार्मिक कथानक ही इसके आधार बने। हमें जो नाट्य-साहित्य मिला है, उसमें भरतेश्वरबाहु-बली रास, गय सुकुमार रास आदि प्रारम्भिक जैनरास धार्मिक पुरुषों के चरित्र के ही आधार पर लिखे गए हैं और यही स्थिति वैष्णव रास की भी है। इसके कथानक भी धार्मिक पुरुष राम और कृष्ण के चरित्र ही हैं। धार्मिक नाटकों का वर्गीकरण यदि चरित्र के आधार पर किया जाए तो इन नाटकों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राम-चरित्र, (२) कृष्ण-चरित्र, (३) संत-चरित्र।

राम-चरित्र के नाटकों के दो भेद हैं। कुछ नाटक तो केवल लीला-मंडलियों के अभिनय के लिए विरचित हुए और कुछ साहित्य के लिए। हम यहां साहित्यिक नाटकों की ही चर्चा करना चाहते हैं। रामलीला-सम्बन्धी अनेक नाटक मिलते हैं, किंतु उनका मूल्य साहित्य की दृष्टि से अधिक नहीं। साहित्यिक नाटकों में सेठ गोविंददास का 'कर्तव्य' (सं० १९८२ वि०), चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (सं० १९९६ वि०) और 'श्रीराम' (संवत् १९९७ वि०), हरिमंगल मिश्र का 'उत्तर रामचरित्रच्छाया' (सं० १९६९ वि०), बन्दीदीन दीक्षित का 'सीता-स्वयंवर नाटक' (सं० १९५६ वि०) प्रसिद्ध हैं।

'उर्मिला' नामक एक सुन्दर नाटक पृथ्वीनाथ शर्मा ने (सं० २००७ वि० में) लिखा। उर्मिला का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। उर्मिला का चरित्र मैथिलीशरण के 'साकेत' से मिलता-जुलता है। 'सीता की मां' नामक नाटक श्री बेनीपुरीजी ने लिखा है। इस नाटक में भी परम्परागत धारणा को त्यागकर सीता की माता को एक अकाल-पीड़िता नारी दिखाया गया है।

सन्त-चरित्र

इस काल की सबसे बड़ी विशेषता सन्त-चरित्र को नाटक-रूप में ढालना ही है। भारतेन्दु-युग में गोपीचन्द, मोरघ्वज और भतृ हरि के चरित्रों के आधार पर केवल तीन-चार नाटक रचे गए थे, किन्तु इस काल में कई उत्तम नाटक सन्त-चरित्र को लेकर बने। इस काल में 'भक्त तुलसीदास' (सं० १९७९ वि०), 'बुद्ध-चरित्र' (सं० १९८८ वि०), 'भक्त सूरदास' (सं० १९८० वि०), 'महात्मा कबीरदास', 'स्वामी विवेकानन्द' (सं० १९७४ वि०), 'प्रह्लाद-चरित्र' (सं० १९५२ वि०), 'भगवान शंकराचार्य', 'कुमारिल-भट्ट', 'श्री रामानन्द' (सं० १९९२ वि०), 'मतवाली मीरा' (सं० १९९२ वि०), 'निभाई संन्यास' (सं० १९८७ वि०), स्वामी दयानन्द (सं० १९७९ वि०), 'शंकर-विजय' (सं० १९९२ वि०), 'प्रबुद्ध बामुन' (सं० १९८६ वि०) प्रसिद्ध नाटक हैं।

परम्परा

सन्त-महात्माओं के चरित्र के आधार पर नाटक लिखने की परम्परा अग्रभ्रंश-काल में बली प्रकार प्रचलित थी। हमें ऐसे-ऐसे रास मिलते हैं, जिनमें धर्म-कार्य करने-वाले गृहस्थों को भी नायक बनाकर नाट्य-रचना की गई है। वैष्णव धर्म में सन्त-महात्माओं को आदर तो दिया जाता था, किंतु नाटकों से उन्हें प्रायः पृथक् रखा जाता था। भारतेन्दु-युग में स्वांग-मंडलियां, भतृहरि, गोपीचन्द आदि सन्त महात्माओं का स्वांग खेला करती थीं। अंग्रेजी में बर्नार्ड शा ने 'सेंट जान' नामक नाटक लिखकर एक धूम मचा दी थी। हिन्दी में सम्भवतः अपनी पूर्व-परम्परा तथा पश्चिम के प्रभाव के कारण सन्त-नाटकों की रचना इतनी अधिक संख्या में हुई।

शैली

सन्त-नाटकों की शैली प्रायः संस्कृत नाटकों की ही शैली है। यह वही शैली है, जिसका अनुसरण भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में किया। इनमें नान्दी, सूत्रधार, भरतवाक्य का दर्शन होता है। गद्य-भाग तो खड़ी बोली में उपलब्ध होता है, किंतु कविताएं ब्रजभाषा की हैं। 'पूर्व भारत' नामक पौराणिक नाटक में मिश्रबन्धु ब्रजभाषा की कविता में अधिक रस स्वीकार करके खड़ी बोली में कविता अप्रिय समझते हैं। कविताओं में यत्र-तत्र भारतेन्दुजी की झलक आ जाती है। वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' नाटक (सं० १६८६ वि०) देखिए। इसमें उपर्युक्त सारी विशेषताएं विद्यमान हैं। प्रारम्भ में नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना है तथा अन्त में भरतवाक्य स्पष्ट शब्दों में लिख दिया गया है। कावेरी-तट का वर्णन तो इन्दुमती उसी प्रकार करती है, जिस प्रकार भारतेन्दुजी ने 'हरिश्चन्द्र' नाटक में गंगा का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए देखिए :

“अंजुरि न भरि-भरि नीर परस्पर छिरकत कूदत।

× × ×

वेद-घोष सुनि परत, बजत कहुं संख अघासी।

कहुं घण्टा घहरात घोर कलि-कलुष विनासी।”^३

हां, एक विशेषता इसमें और मिलती है। समय के अनुसार समाज-सुधार की प्रेरणा भी इसमें पाई जाती है। यामुनाचार्य एक स्थान पर अछूतों-द्वार की समस्या को इस प्रकार सुलझाते हैं :

“मां, क्या अन्त्यज, परम भागवत होते हुए भी, कोरे कर्मठ ब्राह्मणों से नीच और हीनतर हैं। क्या महात्मा निरूप्याण आत्मार के चरण छूकर मैं एकदम पतित हो गया।”^४

इस नाटक की रचना का वही समय था, जब महात्माजी अछूतों-द्वार में तल्लीन

१. पूर्व भारत, मिश्रबन्धु, भूमिका संवत् १६८८ वि०

२. प्रबुद्ध यामुन, वियोगी हरि, गंगा पुस्तकमाला (संवत् १६८६ वि०), पृ० १७६

३. प्रबुद्ध यामुन, वियोगी हरि, गंगा पुस्तकमाला, संवत् १६८६ वि०, पृ० १४४

४. प्रबुद्ध यामुन, वियोगी हरि, गंगा पुस्तकमाला, संवत् १६८६ वि०, पृष्ठ १११

ये। वियोगीजी महात्माजी के साथ अछूत-समस्या के सुलझाने में संलग्न थे। अतएव नाटक द्वारा भी उन्होंने इसी समस्या को सुलझाने का प्रयास किया।

कृष्णचरित्र पर इस काल में कई अच्छे नाटक विरचित हुए। कृष्ण-सम्बन्धी कतिपय नाटकों का विवेचन हम पूर्व कर आए हैं। इस स्थल पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कृष्णजी को हम हिन्दी की प्रत्येक शैली के नाटकों में विराजमान पाते हैं। क्या नाटक, क्या एकांकी, क्या रेडियो-रूपक, क्या गीति-नाट्य, सभी कृष्ण-कला से सरस और सजीव हो उठते हैं। कृष्ण-चरित-सम्बन्धी नाटकों की विस्तृत सूची परिशिष्ट में दी जाएगी। यहां केवल इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि कृष्णचरित को लेकर वियोगी हरि ने जो 'छत्र-योगिनी-लीला' सम्बत् १९८० वि० में लिखी है, वह चाचा बुन्दावनदास जी की छत्रलीला की परम्परा में है। इस नाटक में भी लीला-नाटकों के सदृश गीतों का प्राधान्य और क्रियाशीलता की क्षीणता विद्यमान है।

धार्मिक नाटकों में राष्ट्रीय चेतना

ऐतिहासिक कथानकों की भांति धार्मिक कथानक भी इस काल में राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के साधन बनाए गए। भारतेन्दु ने 'धनंजय-विजय' में एक धार्मिक आख्यान के सहारे राष्ट्रीय भावना को ग्रहण किया था। इस पथ पर अनेक नाट्यकार चलते रहे। इन लोगों ने देश की वर्तमान अवस्था की ओर संकेत करते हुए प्रागैतिहासिक अन्यायी राजाओं की दुर्दशा दिखाने का प्रयत्न किया। ऐसे नाटकों में द्रौपदी-वस्त्र-हरण (सं० १९५३ वि०), सीता-स्वयंवर (सं० १९५६ वि०), सीताहरण (१९५२ वि०), कंस-विष्णुसं (१९६६ वि०), सती नाटक (सं० १९४६ वि०), क्रुश दहन (सं० १९६९ वि०), वेनचरित (सं० १९६९ वि०), कृष्णार्जुन युद्ध (सं० १९७४ वि०) पूर्व भारत (सं० १९७९ वि०), धर्मालाप (सं० १९४२ वि०), निर्भय भीम (सं० १९७९ वि०), क्रूर देण (सं० १९८१ वि०), श्री प्रद्युम्न विजय व्यायोग (सं० १९५० वि०) आदि प्रसिद्ध हैं।

इस शैली पर आधुनिककाल में कतिपय उत्तम नाटक लिखे गए हैं। पं० उदय-शंकर भट्ट का 'सगर-विजय' उनमें से एक है। राजा सगर के जन्म से लेकर उनकी विजय तक की घटनाओं के आधार पर इस नाटक का कथानक निर्मित है। इस नाटक में राष्ट्र को सर्वोपरि प्रदर्शित किया गया है। राजा सगर देश-विजय करके जब राजधानी को लौटना चाहता है, तो अपनी पूजनीया माता की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनता है। उस समय उसे वैराग्य होता है। सेनापति से कहता है, "तुम जाओ, प्रजा की रक्षा करो। मैं कब लौटूंगा, मालूम नहीं; कहां जाऊंगा, मालूम नहीं! चाहता हूं जी भरकर रोऊं! इस विशाल मैदान को, ऊंचे पर्वतों को माता के अश्रु-तर्पण के जल में डुबो दूं!" उनका सेनापति त्रिपुर उन्हें सान्त्वना देता हुआ कहता है, "जीवन एक संग्राम है। कर्तव्य

की जागरूकता उस संग्राम की महत्ता है। व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र ऊँचा है। राष्ट्र के आगे व्यक्ति का, जाति का, नगर का और प्रान्त का कोई मूल्य नहीं। राजा का व्यक्तित्व कुछ भी नहीं है, वह प्रजा की इच्छा और राष्ट्र की चाती है। राष्ट्र उसकी माता, उसका पिता, उसका गुरु और उसका सर्वस्व है।”

सगर अपने सेनापति की इस चेतावनी से जागरूक बन जाता है और वह यह स्वीकार कर लेता है। वह कहता है, “मेरे सामने कर्तव्य का महासागर लहरा रहा है। राष्ट्र के उनींदे प्राण मुझे पुकार रहे हैं। ओह ! मैं क्या कर रहा था ? नहीं, अब नहीं ! यह सम्पूर्ण वसुमति, जिसने मेरा लालन किया, माता विशालाक्षी की प्रतिमा बनकर मेरी ओर देख रही है। ये सरिताएं और वे महासागर उस मां के मन्दहास हैं, ये भूधर उसकी इच्छाएं हैं, मेरी सारी साध मां के आसू पोंछने को होगी। मैं मां की धूलि मस्तक पर चढ़ाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरा रोम-रोम उसकी सेवा के लिए होगा।”

सगर की यह प्रतिज्ञा सुनकर भारतमाता की जय-ध्वनि गूंज उठी है।

हम पूर्व देख आए हैं कि भारतेन्दु-युग के नाट्यकार राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के लिए अधिकांश रूप से ‘भारत-दुर्दशा’ नाटक की शैली अपना रहे थे, किन्तु कई ऐसे भी नाट्यकार थे, जिन्हें ‘धनञ्जय-विजय’ की शैली अधिक अनुकूल प्रतीत हुई और उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा राष्ट्रीय भावनोत्तेजक नाटक लिखे। हरिऔधजी ने ‘प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग’ की भूमिका में इसे स्वतः स्वीकार किया है। ‘प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग’ (सं० १६५० वि०) में ब्राह्मण-कन्याओं के अपहरणकर्ता निकुम्भ और उसके साथियों को अत्याचारी शासकवर्ग के रूप में प्रदर्शित करके अबलाओं के उद्धारकर्ता प्रद्युम्न की वीरता प्रदर्शित की गई है। इसी पद्धति पर नाटक लिखकर उस युग के नाट्य-कर्ता पाठकों और दर्शकों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर अन्यायी शासन से त्रस्त भारत-माता को उन्मुक्त कराने का उद्योग करते रहे। यह क्रम इसी रूप में प्रसाद-काल तक चलता रहा है। उदाहरण के लिए ‘अंजनी कुमार’^१ नामक नाटक देखिए। इस नाटक में रावण का सामन्त वज्रदन्त उससे जानकी को लौटाने का निवेदन करता है। रावण इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। वज्रदन्त रावण को सावधान करते हुए कहता है कि “यदि सीता को वापस न दीजिएगा तो आपकी भी खैरियत नहीं। आपके अत्याचारों से पिसा हुआ मंत्रिमंडल अब इस युद्ध में आपकी धन-जन से कुछ भी सहायता नहीं करेगा।” रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हुए वज्रदन्त कहता है कि “तूने क्या देश के प्राण— नेताओं को जेलों में बन्द नहीं करवाया ? ब्राह्मणों तक से कर-स्वरूप उनका रक्त नहीं मंगवाया ? वही हुतात्माओं पर किए गए अत्याचारों का पाप आज वज्र बनकर तेरे मस्तक पर गिरेगा।”

तात्पर्य यह है कि पौराणिक तथा अन्य धार्मिक नाटकों में रावण, कंस, वेणु,

दुर्योधन आदि राजा अंग्रेज शासकवर्ग के प्रतिनिधि-रूप में प्रदर्शित किए जाते थे और सत्य पर चलकर उनको पराजित करनेवाले योद्धा राष्ट्रीय नेता समझे जाते थे।

हम उदयशंकर भट्ट के 'सगर-विजय' नाटक में देख आए हैं कि राजा सगर अपनी माता की प्रतिष्ठावि भारतमाता के रूप में देखकर उसकी सेवा में तत्पर होने का संकल्प करता है। इस प्रकार देश की सेवा को मातृसेवा के रूप में प्रदर्शित कर राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन किया गया।

जनतन्त्र की स्थापना के पश्चात् भी पौराणिक कथानक के आधार पर नाटक लिखे जा रहे हैं, किन्तु उनकी प्रवृत्ति अब बदल रही है। अब अत्याचारी राजा प्रतिनायक नहीं बनाए जा रहे हैं। अब देश की समस्याओं को बुद्धि की कसौटी पर कसा जा रहा है। आज की विविध समस्याओं को सुलझाने के लिए पौराणिक नाटक 'ययाति' की रचना संवत् २००८ वि० में पं० गोविन्दबल्लभ पन्त ने की। इस नाटक में ययाति को पुरु की युवावस्था देने का मनोवैज्ञानिक अर्थ किया गया है। ययाति अपना वृद्ध शरीर पुरु से बदल लेता है। जब पुरु का सुन्दर शरीर धारण कर वह अपनी पत्नियों के पास जाता है तो वे उसे अपना पुत्र पुरु समझकर दुत्कार देती हैं। राजा ययाति को केवल एक वर्ष के लिए पुरु की युवावस्था मिली है, अतः वह एक-एक घड़ी गिनता रहता है।

अब वह राजधानी छोड़कर चला जाता है और उसके जाते ही चारों वर्ण तथा चारों आश्रम विद्रोह कर उठते हैं। ब्राह्मण धन का लोभी, क्षत्रिय विलासी और वैश्य दूध में पानी मिलानेवाला हो जाता है। ययाति क्रुद्ध होकर मंत्री से कहता है कि ब्राह्मण की महिमा छीनकर शूद्र को दो और इस प्रकार ब्राह्मण को शूद्र और शूद्र को ब्राह्मण बना दो। क्षत्रियों को सेना से निकालकर गांवों में खेती के लिए भेज दो और किसानों को सेना में सम्मिलित कर लो। इस प्रकार राज्य में उथल-पुथल मच जाती है और ययाति को कोई मार्ग नहीं सूझता। अन्त में विषवाची के द्वारा उसे बोध होता है और वह राजधानी में लौटकर कहता है, "माया के सपने को तोड़कर मैंने शाश्वत सत्य को पाया है। काम-नाएं ही मनुष्य के बन्धन हैं।"^१

राजा ययाति सबसे बड़े राजकुमार को राज देता है और राजा पुरु देश-मंगल के लिए अन्न उत्पन्न करता है।

इस प्रकार पौराणिक कथानक के आधार पर अन्न की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

प्राधुनिक नाटकों में 'गांधारी' (सं० २००७ वि०) एक प्रसिद्ध नाटक है। चतुरसेन शास्त्री इस नाटक में नारी-समाज का ध्यान पातिव्रत धर्म की ओर खींचते हैं।

पातिव्रता गांधारी सखियों से अपनी भाखों पर पट्टी बांधने का आग्रह करती हुई कहती है, "जब वे विश्व को चर्म चक्षुओं से देखने में अक्षम हैं तो मैं भी उसका आनन्द-

साम लेने की अधिकारिणी नहीं। स्त्री पति की भद्रांगिनी है, वह पति के सुख-दुःख, जीवन-तप सभी बातों में भागे की भागीदार है। सखी, यह पट्टी मेरी छाँसों पर बांध दो।”

पातिव्रत-धर्म के पालन से गांधारी का चरित्र इतना उज्ज्वल बन जाता है कि वह पुत्र-घातक पांडवों को भी क्षमा कर देती है और वंश-रक्षा के लिए उन्हें आगामी विपत्ति से सावधान करते हुए कहती है, “जाग्रो कृष्ण, पांडवों को सावधान कर दो। अश्वत्थामा ने आज रात सब पांडवों को मार डालने की प्रतिज्ञा की है। अब सबका (वेश का) भार वीर पांडवों पर ही तो है।”

गांधारी का निर्मल और उदात्त चरित्र देखकर कृष्ण भी चकित हैं। वे कहते हैं, “माता, आपके समान तपस्विनी, बुद्धिमती, गुणवती स्त्री त्रिलोक में नहीं है। आपकी बात न मानकर ही दुर्योधन की यह दुर्दशा हुई।”

सारांश यह कि यदि पति-पत्नी एक-दूसरे का सम्मान करते हुए जीवनयापन करें तो दोनों के चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव है। वैवाहिक जीवन की समस्या धर्म-पालन के द्वारा जितनी सुगमता से सुलझाई जा सकती है, उतनी ही सम्बन्ध-विच्छेद के विधि-विधान तथा विद्रोह भावना के उद्दीपन से नहीं। नाट्यकार का यही मत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन इस मत को प्रतिपादित करता है कि आज के पौराणिक नाटक भी युग-समस्या के समाधान का प्रयास करते हुए समाज का नैतिक तथा धार्मिक स्तर ऊंचा करना चाहते हैं।

अनुवित नाटक

इस काल में इब्सन तथा बर्नर्ड शॉ के अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय नाट्यकारों की कृतियों का भी अनुवाद हुआ। मारिस मेटर्लिक के नाटकों का हिन्दी अनुवाद सर-स्वती के सम्पादक बल्लीजी ने किया। मेटर्लिक बेलजियम के सुप्रसिद्ध नाट्यकार थे। उनके दो नाटक ‘सिस्टर बीट्रिस’ और ‘दी यूजलैस डेलिवरेन्स’ का मर्मानुवाद ‘प्रायश्चित्त’^१ और ‘उन्मुक्ति का बन्धन’^२ नाम से हुआ। ‘प्रायश्चित्त’ नाटक में अलौकिक तत्त्व की प्रधानता है। पुजारिन कमला युवक कुमारसिंह के प्रेम में आबद्ध होने के कारण, मन्दिर की परिचर्या त्याग देने पर, अंध कारागार में भेज दी जाती है, किन्तु उसके पहुँचते ही कारागार प्रकाशमान हो उठता है। स्वर्गलोक से गन्धर्व आकर गान गाते हैं। कमला के ऊपर पुष्पों की वर्षा होती है। अतः कमला के प्रति लोगों की घृणा की भावना विलीन हो जाती है। कमला की अनुपस्थिति में भी दर्शकों को कमला ही देवी की परिचर्या करती हुई दृष्टिगोचर होती है। नाटक का अंत इस प्रकार होता है, “किसी समय में लोग पापियों की वेदनाओं से सहानुभूति प्रकट नहीं करते थे। उनसे घृणा करते थे,

१. गांधारी, चतुरसेन शास्त्री, संवत् २००७ वि०, पृ० १७

२. प्रायश्चित्त, पदुमलाल पुन्नालाल बस्ती, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, सन् १९१६ ई०

३. उन्मुक्ति का बन्धन, पदुमलाल पुन्नालाल बस्ती, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, सन् १९१६ ई०

उन्हें दण्ड देते थे, किन्तु आज प्रेम का विजय-दिवस है।”^१

अलौकिक तत्त्व तथा पापी के प्रति भी दया के भाव इस काल के नाटकों में प्रायः मिलते हैं। सम्भव है कि मेटर्लिक के इन आध्यात्मिक नाटकों का प्रभाव हिन्दी-नाट्य-कारों पर भी पड़ा हो, क्योंकि इस काल के मौलिक हिन्दी नाटकों में भी उपर्युक्त दोनों विशेषताएं विद्यमान हैं। अलौकिक तत्त्व तो इस काल के पूर्व भी मिलते थे, किन्तु पापों के प्रति उदारता इस काल की देन है।

उपसंहार—इस काल में जो धार्मिक नाटक लिखे गए, उनमें आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। समाज-संगठन और चरित्र-निर्माण के लिए ऐसे नाटकों का प्रणयन आवश्यक समझा गया। अतएव इन नाटकों में धर्मवृत्ति के साथ ही सामाजिक नीति-व्यवस्था और आदर्शों के रंगीन रेखाचित्र खींचे गए।

तथ्य तो यह है कि संस्कृति का विकास धर्म-तत्त्व पर ही आधारित है। हमें मानव-जीवन के दो रूप मिलते हैं—एक सैद्धांतिक, दूसरा व्यावहारिक। ये दोनों रूप केवल प्रगतिशील जातियों में ही नहीं, पिछड़ी समझी जानेवाली जातियों में भी विद्यमान हैं। विश्व का कोई भी ऐसा मानव-समाज नहीं है, जिसमें धर्मतत्त्व मूलरूप से विद्यमान नहीं। इस धर्म-तत्त्व का आधार है श्रद्धा, जिसका आलम्बन उदात्त और दिव्य शील है। यह भी एक कारण है कि हम अपने धार्मिक नाटकों को श्रद्धा के जिस आचरण या अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण पाते हैं, वह राक्षस, किन्नर, पितर आदि विविध योनियों के बीच परिस्फुटित होता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जहां श्रद्धा है वहां अमंगल नहीं, सन्देह नहीं, अविश्वास नहीं।

इसकी भीमांसा से ऐसा प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अभिलाषाओं की सिद्धि के लिए निज बाहुबल और बुद्धिबल के सहारे यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी सफल-मनोरथ नहीं होता, तब मानवीय शक्ति को असमर्थ पाकर वह अलौकिक शक्तियों की शरण जाता है। ये अलौकिक शक्तियां उसके अनुभव तथा कल्पना के बल पर जो रूप धारण करती हैं, उन्हींपर वह अपनी रति, प्रीति, भीति आदि भावों का आरोप करता है और अपनी भावनाओं के अनुरूप उनको रूप दे देता है। इस अवस्था में वह दो कार्य करता है—या तो क्रुद्ध शक्तियों को शान्त करता है, अथवा उनको अपने वश में करने का प्रयास करता है। प्रथम को आराधना और द्वितीय को साधना कहते हैं। जितने कर्मकाण्ड हैं, वे आराधना के अन्तर्गत आते हैं और तान्त्रिक क्रियाएं साधना में परिगणित होती हैं। इन सम्पूर्ण भावों तथा अनुभावों का सहारा लेकर नाट्य-रचना की जाती है। इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति हमें धार्मिक अथवा पौराणिक नाटकों में मिलती है।

उपसंहार

सिंहावलोकन में अब हम सरलता से कह सकते हैं कि विगत आठ सौ वर्षों में हिंदी के नाटकों के प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन-शैली में जो उत्तरोत्तर विकास हुआ, उसके कई सोपान हैं, जिनको हमने उत्थान का नाम दिया है। हमने यह भी दिखाने का उद्योग किया है कि इस काल में हमारी नाट्य-कला विकासोन्मुख रही है और प्रेक्षಾಗृह के अभाव में भी देश-काल के अनुरूप अपना स्वरूप बनाती रही है।

प्रथम उत्थान

प्रथम उत्थान हिंदी के आदिकाल में ही गोचर हो जाता है। सौभाग्य से महाकवि चन्दबरदाई के समकालीन शालिभद्रसूरि-विरचित 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' आज भी उपलब्ध है जो जन-नाटक की रास-शैली पर अवलम्बित है। इस प्रारम्भिक काल के सभी उपलब्ध नाटक जन-नाटक की रास-शैली की परम्परा में हैं, जिनमें समाज के ही धर्म-कर्म, नीति-रीति, आचार-विचार, बात-व्यवहार आदि कथानक के रूप में गृहीत होते थे। ये नाटक जनता की मनोवृत्ति को धर्मोन्मुख करने के निमित्त धर्माचार्यों द्वारा रचे और खेले गए, अतएव इनमें धार्मिक रासों का प्राधान्य है।

जैनाचार्य रास के द्वारा जनता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे, अतएव यह स्वाभाविक था कि नाट्यकार ऐसी भाषा का उपयोग करें, जो जनता की बोलचाल की प्रचलित भाषा हो और जिसमें साहित्य-सृजन की सामर्थ्य भी हो। इस काल में भाषाएं अपभ्रंश से पृथक् होकर देश-भाषाओं का रूप धारण कर रही थीं। अपभ्रंश में 'उपदेश-रसायन' जैसे कितने ही रास-ग्रंथ रचे जा चुके थे, जो नृत्य और संगीत के आधार पर अभिनीत होते रहते थे। इसका प्रमाण हमें अपभ्रंश काव्यत्रयी के 'उपदेश-रसायन रास' के निम्नलिखित उद्धरण से प्राप्त होता है :

उचिय युति-धुयपाठ पठिज्जहि
जे सिद्धतिहि सहु संधिज्जहि।
तालारासु विदिति न रयणिहि
दिवसि लउठारासु सहुं पुणिसिहि ॥'

अर्थात् देवताओं के आगे—वह स्तोत्र पढ़ना चाहिए जो सिद्धान्त के सहित हो। रात्रि में ताला रास और दिन में भी लगुड़ रास वर्जित है। कारण यह है कि इनमें 'दुष्ट

पाठ' होता है ।

कुछ ऐसे भी रास हैं, जिनका अभिनय मन्दिर में विहित है—

धम्मिय नाट्य पर नच्चिज्जहि
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहि
चक्कवट्टि - बल - रायह चरियइ
नच्चिवि अंति हुंति पब्बइयइ ॥^१

अर्थात् उन धार्मिक नाटकों का नृत्य के आधार पर कथन होना चाहिए, जिनमें भरत, सगर आदि वीतरागियों का निष्क्रमण अथवा बलदेव दशार्ण भद्रादि चक्रवर्ती राजाओं का चरित्र हो ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकला कि तेरहवीं शताब्दी में ऐसे रास विरचित हो गए थे, जिनका अभिनय नृत्य और संवादमय संगीत के आधार पर जैन-मन्दिरों में हुआ करता था । हम विगत अध्याय में भरतेश्वर बाहुबली रास की ओर संकेत कर आए हैं । इस धार्मिक रास में भरतेश्वर का चक्रवर्ती सम्राट बनना, अपने वीर भाई बाहुबली के साथ युद्ध में पराजित होना, बाहुबली का विजयी होकर भी भरतेश्वर से क्षमायाचना करना, तदुपरान्त राजत्याग करना इस बात के प्रमाण हैं कि इसमें चरित्र का चित्रण और नाट्य-कौशल का प्रदर्शन भी कवि का इष्ट रहा है ।

रास के अभिनय होने के कई प्रमाण हम 'सन्देश रासक' और 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' से उद्धृत कर चुके हैं । किन्तु कई ऐसे बृहद्काय रास भी उपलब्ध हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वे अभिनय के लिए ही रचे गए थे ।

हम पूर्व अध्यायों में इस बात का उल्लेख कर आए हैं कि रास-नाटकों का अभिनय दिखानेवाली एक जाति भी बन गई थी, जिसका व्यवसाय ही था विविध रूप धारण करके अभिनय द्वारा जीविकोपार्जन । यह जाति आज भी समस्त उत्तरी भारत में पाई जाती है और इसका व्यवसाय आज भी प्रायः वही है । इस जाति को बहुरूपिया कहते हैं । इसके सम्बन्ध में ज्ञानदेव का उल्लेख है :

“जैसी बहुरूपियांची रावो राणी । स्त्री पुरुष भावो नाही मनीं परिलोक संपादणी । तैसाचि करिती ।”^२

अर्थात् राजा-रानी के रूप में विद्यमान बहुरूपियों को स्त्री-पुरुष का भाव मन में नहीं होता और उससे केवल लोकरंजन होता है ।

बहुरूपिया वेश बनाकर नाटक खेलते थे, इसका पुष्ट प्रमाण 'सन्देश रासक' में इस प्रकार मिलता है ।

बहुरूपिभिर्निर्बद्धो रासको भाष्यते ॥४३॥

अर्थात् बहुरूपियों के द्वारा रास प्रदर्शित होते थे । बहुरूपियों द्वारा नाटक खेलने

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी, छन्द ३७ ।

२. ज्ञानेश्वरी, ज्ञानेश्वर, रचनाकाल सं० १२६० वि० के आसपास, अध्याय ३

की प्रथा ज्ञानेश्वर के समय प्रचलित थी। इस मत का समर्थन मराठी के प्रसिद्ध लेखक विश्वनाथ पांडुरंग दाण्डेकर इस प्रकार करते हैं :

“ज्ञानेश्वरांच्या कालांत बहुक्यांचीं सोंगे, साईखडे यांचे खेल, भाणि नटांची नाटकें या विविध रूपाने नाट्यकलेची जोपासना निःसंशय होत होती।”^१

तात्पर्य यह है कि तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कण्ठकाल से चली आनेवाली स्वांग की नाट्य-परम्परा थी, जिसके नाटक डोम और डोमनियों द्वारा अभिनीत होते थे; दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिए ग्रथवा जिण-सेवक किया करते थे। पहली परम्परा समाज में उतनी समादृत न थी, जितनी दूसरी। यह दूसरी परम्परा मध्यमवर्ग और धार्मिक जनता का मनोरंजन तथा रुचि का परिमार्जन कर रही थी। बहुरूपियों द्वारा नाटकों का अभिनय मन्दिरों के बाहर होता था, किन्तु जैन-मन्दिरों में अभिनयकर्ता जैन धर्म के सेवक ही हुआ करते थे। प्रमाण के लिए ‘जम्बू स्वामी चरित’ का उद्धरण देखिए :

“चंचरिय बंधि बिरहउ सरसु, गाहज्जइ संतिउ तारु जसु,

नचिज्जइ जिणपय सेवयहि, किउ रासउ ग्रंभादेव यहि।”^२

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि ग्रंभादेवी रास का अभिनय जिन-सेवकों के नृत्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस काल के लगभग ४०० रास-ग्रंथ^३ उपलब्ध हो चुके हैं, जिनके परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनका कथानक होता था—

(१) धार्मिक।

(२) ऐतिहासिक जैसे—विजयतिलकसूरि रास।^४

(३) पौराणिक, जैसे—नल दमयन्ती रास।^५

(४) आध्यात्मिक, जैसे—कर्म-विपाक रास।^६

(५) नैतिक, जैसे—उपदेश-रसायन रास।^७

(६) लौकिक प्रेम तथा व्यवहार-सम्बन्धी, जैसे—रोहिणीया चोर रास, ताला रास, लकुड रास।

उपर्युक्त विभाग कथानक की दृष्टि से किया गया है। वस्तुविभाग की दृष्टि से निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

१. मराठी नाट्य-सृष्टि पौराणिक नाटकों, दांडेकर, पृ० ५

२. जंबू स्वामी चरित की हस्तलिखित प्रति, सन्धि १

३. इसकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

४. ऐतिहासिक रास-संग्रह, श्री विद्याविजय, यशोविजय जैन ग्रंथ-मालाना व्यवस्थापक मंडल, भावनगर (पृष्ठ १ से १५२) (सम्बत् १९७७ वि०)

५. श्री आनन्द कान्य महोदधि, जोगनचन्द्र शंकरचन्द्र जवेरी, सन् १९१४, भाग ३, पृ० ३१० से ३७३ तक।

६. जैन गूर्जर कविज्ञो, जैन ३६० कान्क स आफिस बम्बई, पृ० २६०

७. अपभ्रंश कान्यत्रयी, ओरियंटल इंस्टीट्यूट बङ्गोदा, पृ० २६ से ६६ तक

(१) एकांकी, जिनमें आद्योपान्त नाटक अविभाजित रूप से रखा जाता है। सभी लघु रास एकांकी हैं।

(२) दो अधिकार के नाटक; जैसे—विजय-तिलकसूरि रास।

(३) दो से अधिक खंडों के नाटक; जैसे—नल दमयन्ती। इस नाटक में ६ खंड हैं। रेवन्तगिरि राम चार कड़वकों में विभक्त है।

(४) मुख्यतः पाठ्य रास, जैसे कुमारपाल रास, 'शत्रुंजय रास' इत्यादि।

इन ग्रंथों में जो पद्धति सबमें समान रूप से पाई जाती है वह है सङ्गीत की। सभी रास विविध छन्दों में राग-रागिनियों के निर्देश के साथ मंगलाचरण और प्रस्ताव-समन्वित हैं। आश्चर्य तो यह है कि यही पद्धति बंगाल में प्रचलित यात्रा-नाटकों, महाराष्ट्र में अभिनीत दशावतारी नाटकों, तथा गुजरात में भवाई नाटकों में भी विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का जनमत उस काल में गद्य की अपेक्षा संगीतमय काव्य के पक्ष में अधिक था। यद्यपि किसी-किसी रास में रंगमंच-निर्देश गद्य में होता है, किन्तु ऐसे स्थल नगण्य हैं। हमें केवल सुरसुन्दरी रास में इस प्रकार के स्थल मिलते हैं :

कुमारोवाच, कन्या प्राह, समर कुमार प्राह।^१

द्वितीय उत्थान

(सं० १६००-१६०० वि०)

प्रथम उत्थान-काल अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी की नाट्य-धारा विविध रूपों में प्रवाहित हो रही थी। एक ओर जैन व वैष्णवों की रास-धारा थी जो अपभ्रंश से प्रभावित थी, तो दूसरी ओर उमापति मिश्र द्वारा प्रारम्भ की हुई संस्कृत शैली पर निर्मित कीर्तनियां नाटक की धारा थी और तीसरी ओर शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित अंकिया नाट। हम जैन और वैष्णव रास के सम्बन्ध में पूर्व अध्यायों में विवेचन कर आए हैं। यहां अंकिया और कीर्तनियां नाटकों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

कीर्तनियां शैली का सर्वप्रथम नाटक 'पारिजात-हरण' (१३२५ ई० लगभग) है। उमापति मिश्र का यह नाटक संस्कृत और हिन्दी मिश्रित शैली का सर्वप्रथम प्रमाण है। इस नाटक में वार्तालाप की भाषा संस्कृत है। किन्तु समस्त गीत हिन्दी में लिखे गए हैं। इसका कथानक इस प्रकार है।

नाट्यकार संस्कृत नान्दी से पूर्व देशी भाषा के बारह चरणों में भवानी की वन्दना करता है। तदनन्तर आठ चरणों में संस्कृत भाषा में वाराह भगवान की स्तुति इस प्रकार करता है "जिस हरि के दांत के अग्रभाग पर पृथ्वी कमल-तन्तु के समान सुशोभित है;

१. श्री कुमारपाल रास, सम्पादक मुनिराज सम्पत विजय

२. शत्रुंजय रास, श्री आनन्द काव्य महोदधि, भाग ४, पृ० १ से ८६०

३. सुर सुन्दरी रास, श्री आनन्द काव्य महोदधि, पृ० २३६ से २६५ तक

और मूलसमुद्र शुद्ध तालाब के समान; स्वर्गगा जिसका वस्त्र है और आकाश कस्तूरी का आलेप; चन्द्रमा जिसके सुन्दर ललाट पर चन्दन के समान है और नक्षत्रावली जिसकी माला है; लक्ष्मी से युक्त वाराह स्वरूप धारण किए हुए वे भगवान विष्णु हिन्दू-पति की रक्षा करें।”

नान्दी के दूसरे श्लोक में मिथिलाधिपति की शक्ति का परिचय देते हुए यह आकांक्षा प्रकट की गई है कि वे (मिथिलेश) सामाजिकों की रक्षा करें। नान्दी (देशी भाषा और संस्कृत में विरचित) के उपरान्त सूत्रधार और नटी में परस्पर वार्तालाप होता है। सूत्रधार श्री हरिहर देव को यवन-वन-विनाशकारी और विष्णु का दसवां अवतार घोषित करता है और उनके आदेश के अनुसार नटी के सम्मुख ‘पारिजात-हरण’ नाटक के अभिनय द्वारा भूपाल-मंडल के वीररसोद्रेक को शान्त करने की योजना रखता है।

नटी को एक विशेष प्रकार का कलरव सुनाई पड़ता है। सूत्रधार उसे सूचित करता है कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी के साथ रैवत वन में विद्यमान हैं। वहाँ चलकर उनसे मिलना चाहिए। दोनों प्रस्थान करते हैं। यहीं प्रस्तावना की इतिश्री होती है और श्रीकृष्ण के प्रवेश के पूर्व नेपथ्य में कृष्ण के यश का गान होता है। गान समाप्त होते ही श्रीकृष्ण रुक्मिणी के साथ रंगमंच पर दिखाई पड़ते हैं। रैवत वन की वसन्त-श्री और उससे मुग्ध होकर रुक्मिणी के साथ वन-विहार का वर्णन देशी भाषा-गान में मिलता है। उस गान से यह भी आभास मिलता है कि कृष्ण के साथ सोलह सहस्र नायिकाएं विचरण कर रही हैं।

गान समाप्त होते ही कृष्ण रुक्मिणी को विश्राम करने का परामर्श देकर आकाश की ओर आश्चर्यचकित हो देखने लगते हैं, और इधर नेपथ्य में गान होने लगता है। इस गान के द्वारा नारद के वेश और उनके आगमन की सूचना सामाजिक को मिलती है। नारद प्रथम संस्कृत श्लोक में श्रीकृष्ण का यशगान प्रारम्भ करते हैं, तदुपरान्त देशी गीत में उनकी प्रशंसा करके हिन्दूपति और महेश्वरी देवी का उल्लेख करते हैं। इसी समय सत्य-भामा की प्रिय सखी सुमुखी विराजमान होती है, और नारद के साथ उसका विनोदमय वार्तालाप होता है। नारद को साथ लेकर सुमुखी श्रीकृष्ण के पास जाती है। नारद और श्रीकृष्ण का संवाद प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण नारद से पूछते हैं कि क्या आप मेरे लिए कोई उपहार लाए हैं? ज्योंही नारद पुष्पोपहार देने लगते हैं, त्योंही सत्यभामा रंगमंच पर पहुँच जाती है, पर श्रीकृष्ण वह पुष्प रुक्मिणी को प्रदान करते हैं। सुमुखी के उत्तेजित करने पर सत्यभामा पुष्प के लिए रुष्ट होकर मान करने लगती है। अपने आभूषणों को फेंक देती है और निरन्तर अश्रुधारा बहाने लगती है। कृष्ण सत्यभामा से अनुनय-विनय करते हैं तब सत्यभामा पारिजात-वृक्ष लाने का आग्रह करती है। श्रीकृष्ण देवीगृह से नारद को बुलाते हैं और उनको पारिजात-वृक्ष के लिए इन्द्रपुरी भेजते हैं। एक ओर नारद श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर इन्द्रपुरी जाते हैं, दूसरी ओर कृष्ण अर्जुन को भी सूचित करते हैं कि वे इन्द्र से युद्ध करने को प्रस्तुत रहें।

नारद के द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर इन्द्र कहते हैं कि हे नारद, कृष्ण से जाकर

कहना, “पारिजात-दल जब तक सुई की नोक से बीँधा जा सकता है तब तक, हे कृष्ण, युद्ध के बिना मैं तुम्हें यह वृक्ष नहीं दूँगा।”

नारद कृष्ण को इन्द्र का सन्देश सुनाते हैं। कृष्ण अपने बाहन गरुड़ का आह्वान करते हैं और अर्जुन तथा नारद को साथ लेकर इन्द्रलोक पहुँचते हैं। इन्द्र को पराजित कर वे पारिजात-वृक्ष का हरण कर लाते हैं। नारद सत्यभामा को यह शुभ सन्देश सुनाते हैं और कृष्ण-प्रदत्त पारिजात-वृक्ष सत्यभामा के प्रांगण में आरोपित कर देते हैं। सत्यभामा नारद से कुछ मांगने के लिए निवेदन करती है तो नारद उनसे श्रीकृष्ण को दान-रूप में मांग लेते हैं। इसी प्रकार सुभद्रा से भी वे अर्जुन को मांग लेते हैं, और अन्त में श्रीकृष्ण को सत्यभामा के हाथों और अर्जुन को सुभद्रा के हाथों एक-एक गाय के मूल्य पर बेच देते हैं। अन्त में भरतवाक्य के रूप में यह कामना की जाती है कि पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण हो, सभी जन सुखी हों। राजा गुणियों का आदर करें। पिशुन-जन से सज्जनों को कष्ट न मिले। कवियों की सरस्वती उक्ति-वैचित्र्य के साथ सबको आह्लादित करे।^१

पारिजात-हरण का रचनाकाल—आफरेट (Aufrecht) ने कैटालागस कैटलो-गोरम (Catalogus Catalogorum) में चौदह ऐसे कवियों का उल्लेख किया है जो उमापति नाम से विख्यात थे। इन कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान उमापतिधर मिश्र को प्रदान किया गया है जो वल्लालसेन के पिता विजयसेन (१११६ ई०) की राजसभा में विद्यमान थे। शेष की सूची इस प्रकार है—

२. उमापति दलपति, जिनके संरक्षण में वे मैथिल केशवभट्ट विद्यमान थे जिन्होंने चम्पूकाव्य की रचना की है।
३. चन्द्रचूड़ के पिता उमापति।
४. प्रेमनिधि के पिता उमापति।
५. तपन के पिता थे जो उड़ीसा के महाराजा गणपति के राजकवि, विश्वनाथ-सेन के पितामह थे।
६. अवध में उपलब्ध नागरलिपि में लिखित करुणा कल्पलताभक्ति (हस्तलिखित प्रति) के रचयिता उमापति।
७. अवध के कवि उमापति त्रिपाठी।
८. प्रतिष्ठा-विवेक के रचयिता उमापति।
९. अवध में प्राप्त रत्नमालाटीका (हस्तलिखित प्रति) के रचयिता उमापति।
१०. हठप्रदीपिका टिप्पण के रचयिता उमापति।
११. वैयाकरण उमापति दत्त।
१२. गोपीचन्द्र द्वारा उद्धृत जुमरनन्दिन के समकालीन उमापति।
१३. गीतगोविन्द में उद्धृत उमापतिधर।
१४. अवध में उपलब्ध वृत्तिवातिक (हस्तलिखित प्रति) के रचयिता उमापति,

१. टीका इसी प्रकार का भरतवाक्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ में लिखा है।

जो उन्नीसवीं शताब्दी में हुए।

डॉ० जयकान्त मिश्र का मत है कि 'पारिजात-हरण' के रचयिता उमापति उपाध्याय रत्नपति उपाध्याय और रत्नावली के पुत्र थे, जिन्होंने बुन्देलखण्ड के हिन्दूपति राजा महाराज नरपतिठाकुर एवं महाराजा राघवसेन का संरक्षण स्वीकार किया था और उन्हींके राज्यकाल में 'पारिजात-हरण' की रचना हुई थी।

चेतनाथ झा का मत है कि उमापति महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय (१६८५ से १७१६) के गुरु अतः समकालीन थे। इनके मतानुसार उमापति हरिहरदेव हिन्दूपति के राजपण्डित थे। हरिहरदेव नेपाल के सप्तरी नामक परगने में स्थित मकमानी स्थान के अधिपति थे। पण्डित रमानाथ झा का भी यही मत है।

प्रियर्सन का कथन है कि नेपाल-स्थिति मकमानी नामक एक छोटे स्थान के अधिकारी को उमापति ने किस प्रकार हिन्दूपति विशेषण से विभूषित किया होगा। उन्होंने 'पारिजात-हरण' की भूमिका में उमापति-विरचित एक शिलालेख का उल्लेख किया है जो राजशाही नामक स्थान पर पाया गया है और जिसकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट है। जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के चौथे श्लोक में अति क्लिष्ट भाषा में काव्य लिखनेवाले उमापति का संकेत किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उमापतिधर मिश्र वही होंगे जिनका नामोल्लेख उस शिला पर उत्कीर्ण है जो राजा लक्ष्मणसेन के राज-भवन के सिंहद्वार पर स्थित थी। उत्कीर्ण श्लोक इस प्रकार है :

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः । कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

इससे प्रमाणित होता है कि उमापति जयदेव के समकालीन थे। उमापति ने एक स्थान पर शिलालेख में यह लिखा है कि विनयसेन ने एक वीर सरदार नान्य को पराजित किया था। यह नान्य, नान्यदेव (१०६८ से ११३५) के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। इसी राजा ने तिरहुत में राजपूत वंश का राज्य स्थापित किया था। इन्हींके किसी वंशज के राजदरबार में 'पारिजात-हरण' के रचयिता उमापति विद्यमान थे।^१

कहा जाता है कि 'पारिजात-हरण' के रचयिता उमापति का जन्म दरभंगा जिले के भौर परगना के कोइलख नामक ग्राम में हुआ था और उन्होंने हरिहरदेव के राजदरबार का संरक्षण प्राप्त किया। हरिहरदेव की राजमहिषी महेश्वरीदेवी थीं जिनका उल्लेख हमें 'पारिजात-हरण' नाटक में मिलता है। यह हरिहरदेव नान्यदेव की छोटी पीढ़ी में विद्यमान थे। हरिहरदेव का समय १३०५ से १३२४ ई० तक माना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उमापति सन् १३२४ से पूर्व अवश्य विद्यमान थे।

हरिहरदेव की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में प्रायः प्रश्न उठाया जाता है। इस राजा का नाम मिथिला की किसी प्रामाणिक वंशावली में नहीं मिलता। प्रियर्सन ने सर्वप्रथम इस समस्या का समाधान करते हुए यह सुझाव दिया था कि हरिहरदेव, हरिसिंहदेव (१३०५ से १३२४) का ही नामांतर-मात्र है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कर्णाटिकुल के

अंतिम राजा हरिहरदेव ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तानी' (अप्रैल १९३५), 'माधुरी', अंक २ (पृ० ७४९-५०), 'साहित्य' (१९५७) में लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

यही हरिदेव (हरिहरदेव) मिथिला में वर्ण-व्यवस्था के संगठनकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने ही मिथिला के ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ तथा अन्य जातियों की वंशावली को लेखबद्ध कराने का प्रथम प्रयास किया। इन्हींके राजत्वकाल में गयासुद्दीन तुगलक (१३२१ से १३२५) ने लखनावती पर आक्रमण करते समय तिरहुत में प्रवेश किया था।

प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने चेतनाथ झा के मत का खंडन करते हुए लिखा है कि "हरिसिंहदेव ने सम्भवतः मिथिला में आक्रमणकारी मुसलमानों को तब तक अधिकार नहीं जमाने दिया जब तक वह गयासुद्दीन तुगलक से पूरे पराजित न हुए।" मिथिला में भी यह किंवदन्ती प्रचलित है कि हरिसिंह सन् १३२६ ई० में मिथिला से भागकर नेपाल में पहुँचे थे।

उमापति और विद्यापति की रचनाओं के भाव-साम्य के आधार पर भी 'पारिजात-हरण' का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी माना जा सकता है। विद्यापति का समय प्रायः सन् १३८० ई० से सन् १४६० ई० तक स्वीकार किया जाता है। विद्यापति के बहुत-से पदों पर उमापति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कई स्थलों पर तो दोनों कवियों की भणित्वाओं की शैली में इतना अधिक साम्य है कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। उपमानों के प्रयोग का भी यही हाल है। उमापति द्वारा रचित एक पद तो करीब-करीब ज्यों का त्यों विद्यापति के नाम से मिलता है। वह पद है—

अरुन पुरुष दिसि बहलि सगरि निसि गगन मगन भैल चन्दा ।
मुनि गेलि कुमुदिनी तइअओ तोहर धनि मूनल मुख अरबिन्दा ॥२२॥
कमल बदन कुबलय दुहु लोचन अधरमधुरि निरमाने ।
सगर सरीर कुसुम तुभ सिरिजल किए तुभ हृदय परवाने ॥२४॥
असकति कर कंकन नहि पहिरसि हृदय हार भेल भारे ।
गिरिसम गरुअ मान नहि मुंचसि अपरुष तुभ बेबहारे ॥२६॥
मानिनि, अरुगुन परिहरि हरखि हेरु धनि मानक अरुअ बिहाने ।
हिमगिरि कूमरी चरन हृदय धरि सुमति उमापति भाने ॥२८॥

नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित 'विद्यापति-पदावली' में यही पद केवल निम्न-लिखित परिवर्तन के साथ तद्वत् रूप में पाया जाता है :

राजा सिर्वासिंह रूपनरायन, कवि विद्यापति भाने ।^१

अब प्रश्न उठता है कि इस पद को उमापति-विरचित माना जाए अथवा विद्या-

१. दी जर्नेल आफ दी बिहार रिसर्च सोसायटी—मार्च-जून, सन १९५७, पृ० २५

२. साहित्य, बिहार राष्ट्रभाषा पत्रिका, जुलाई १९५६ ई०

पति-विरचित। तर्क और प्रमाण के बल पर इसे उमापति का ही मानना चाहिए। कारण यह है कि उमापति के 'पारिजात-हरण' में इसी अर्थ को लेकर एक संस्कृत श्लोक भी दिया गया है। जो कवि अनेक पदों की रचना करने में समर्थ है वह नाटक में एक पद दूसरे का क्यों उधार लेगा और विद्यापति के स्थान पर अपना नाम क्यों रखेगा? ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में विद्यापति के पदों के संग्रहकर्ताओं ने इस सुप्रचलित पद को विद्यापति-कृत मानकर अपनी पदावली के संग्रह में सम्मिलित कर लिया होगा। 'पारिजात-हरण' एक कवि की रचना है। संकलित पदावलियों में विविध संग्रहकर्ताओं का प्रयास है। 'पारिजात-हरण' के पदों में परिवर्तन का अवकाश पदावली की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित है। अतः उक्त पद के रचयिता उमापति को ही मूल कवि मानना होगा। कालान्तर में इस प्रचलित पद के अंत में विद्यापति का नाम संयुक्त कर इसे विद्यापति-पदावली में सम्मिलित कर लिया गया होगा। इससे भी प्रमाणित होता है कि विद्यापति-काल में उनकी पदावली के संकलन के पूर्व कवि उमापति अवश्य विद्यमान थे। यदि विद्यापति का रचनाकाल पंद्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाए तो उमापति चौदहवीं शताब्दी में अवश्य रहे होंगे।

भाषा-विज्ञान के आधार पर रचनाकाल

'पारिजात-हरण नाटक' की भाषा के आधार पर भी उमापति को चौदहवीं शताब्दी का सिद्ध किया जा सकता है। उमापति ने 'प्रिय' के अर्थ में 'विरमान' का, 'रखना' के अर्थ में 'थापल' का, 'कर' के अर्थ में 'कर' का, 'समीप' के अर्थ में 'समाज' का, 'यदि' के अर्थ में 'जेउ', 'किस' के अर्थ में 'किअ' का प्रयोग किया है।

भाषाविज्ञान के विद्वान सुकुमार सेन ने भी उमापति को विद्यापति से १२५ वर्ष पूर्व माना है। वे लिखते हैं :

“ मिथिला में ब्रजबोली को सबसे पहले स्थान प्राप्त हुआ चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, उमापति के लेखों में। उन्होंने राजा हरिहरसिंह की रणविजय के उपलक्ष्य में 'पारिजातमंगल' नामक एक गीत-नाट्य (संस्कृत में) लिखा था। उसमें जितने गीत लिखे गए थे वे सब भाषा में अर्थात् ब्रजबोली में भी थे।

“ विद्यापति से १२५ वर्ष पूर्व विद्यमान कवि उमापति की पदावली की आलोचना करने पर भी उस समय की मैथिली भाषा से इनकी पदावली का पार्थक्य दिखाई पड़ता है। ”^१

उक्त प्रमाणों के आधार पर ग्रियर्सन का मत ही सबसे अधिक संमीचीन प्रतीत होता है। इसी कारण हमने इस नाटक को 'गोरक्षविजय' से पूर्व स्थान दिया है।

पारिजातहरण की हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियां

बरभंगा जिले में हस्तलिखित प्रतियां

१. सखवार (डाकघर मनिगाची) गांव में नरेन्द्रनाथदास के पास कई हस्त-

लिखित प्रतियां हैं। जिनमें अभिनय की दृष्टि से स्थान-स्थान पर पाठ-परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

२. सौराथा ग्राम (डाकघर मधुबनी) में श्री राजानाथ मिश्र के पास।
३. पाहिटोल गांव (डाकघर मनिगाछी) के आणानाथ मिश्र के पास।
४. उजना ग्राम (डाकघर भंभरपुर) के जयरमण झा के पास।
५. रहयमा ग्राम (डाकघर लोहना) के बलदेव झा के पास।
६. रहिका ग्राम (डाकघर रहिका) के सत्यदेव मिश्र के पास।

मुजफ्फरपुर जिला

इस जिले में एक हस्तलिखित प्रति बलिगरहा ग्राम (डाकघर रुन्नी सईदपुर) के घरणीधर पाठक के पास।

मुद्रित प्रतियां

१. विद्यानाथ झा द्वारा सम्पादित और मिथिला पब्लिशिंग कम्पनी, दरभंगा द्वारा सन् १८९३ में प्रकाशित (अप्राप्य)।
२. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित और जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित।
३. चेतनाथ झा द्वारा सम्पादित और मुद्रित।

उमापति के उपरान्त विद्यापति ने 'गोरक्षविजय' नामक नाटक की रचना की, जिसमें निम्नलिखित हिन्दी-गीत हैं; और सम्पूर्ण नाटक संस्कृत में लिखा गया है। गद्य संस्कृत और अपभ्रंश दोनों में है। इसमें गोरखनाथ और उनके गुरु मछिन्द्रनाथ की कथा संक्षेप में मिलती है।

(२ द्वितीयपत्रे) अथ नान्द्यन्ते...

मुगुधक धाम मने नहि आधि ।
 तम (प) रति रस न समुदिह समाधि ॥
 मन परितोष रोषतह दूण ।
 मारल मदन जिआउल पूण ॥
 मुगुति कारणे रे मेलाह जटाधारी ।
 मुगुति कारणे अर्द्धतनुधरनारी ॥
 मनइ विद्यापति पुरवधु आसा ।
 मंगल कारण देव दिगवासा ॥

१. इस नाटक के सम्बन्ध में विशेष विवेचन 'भाषा नाटक', खण्ड १ में देखिए। यह ग्रन्थ हिन्दी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आगरा, से प्रकाशित हो रहा है।

(८ अष्टमपत्रे) ९

गोरक्ष नामे तोहर हमे सीष । सेवा आएलाहु देह असीष ॥

(११ एकादशपत्रे)

अरु आ गुरुमगति पए जान । तोहे मोर गोरक्ष प्राण समान ॥

(१२ द्वादशपत्रे)

भनइ विद्यापति जोलिअ हाथ । संग न लागह मच्छेन्द्रनाथ ॥

(भरतवाक्यम्) गंगेवाम्बुनिर्घोहिमाद्रिशिखरं विद्या गुरुं संगता

त्वत्तः स्नेहनिशान्धकारगहने लब्धः प्रभावो (काशो) मया ।

त्वन्मे (म्मे) शिष्य त्वमत्रपः.....त्वन्मे त्वदी (मी) यं वपुः

श्रीगोरक्ष चिरेण जीव जगति त्वत्कीतिरुज्जृम्भण (ता) म् ॥

इति निष्क्रान्ताः सर्वे ॥ सुप्रक्रियमहाराजपण्डितवरश्रीमद्विद्यापति-

सत्कविरचितं गोरक्षविजयनामनाटकं समाप्तम् ॥ शुभमस्तु श्रीरस्तु ॥

ल० सं० ४६५ अग्रहण ब० दि० ११ तिथौ ए दिने सुन्द (शैवे) योगे

करणश्रीमुरारिकण्ठस्यात्मजश्रीभगीरथेन लिखितं पुस्तकमिति ॥

सामान्य परिचय

यह नाटक ताड़पत्रों पर लिखा हुआ था । पन्द्रह अंगुल पत्रों की लम्बाई थी । दो अंगुल चौड़ाई थी । पत्रों की संख्या १२ थी । प्रत्येक पत्र पर ५ पंक्तियां थीं । पुरानी पुस्तक थी । मैथिली लिपि में लिखी हुई थी । संस्कृत भाषा, प्राकृत भाषा, मैथिल भाषा और बंग भाषा इस प्रकार चार भाषाओं का प्रयोग किया गया है । अतिरिक्त भाषा भी कहीं-कहीं मिलती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि अनेक भाषाओं का ज्ञाता था । मुख्यतया शान्तरस और अद्भुतरस हैं । बीच-बीच में और रस भी प्रतीत होते हैं । रीति वैदर्भी, गुण प्रसाद और मधुर हैं । गद्य का भेद उत्कलिका है । पद्य मनोहर हैं । वर्णन-शैली प्रांजल और प्रौढ़ है । ये कवि मैथिल हैं । मिथिला के महाराज श्री शिवसिंह-देव के आश्रय में रहते थे । नेपाल में आकर विद्याविनोद रसिक राजसभा में आकर रहे । यहां भी इन्होंने बहुत-से काव्य रचे जोकि वीर पुस्तकालय में विद्यमान हैं । 'पुरुष-परीक्षा' प्रभृति उनके ग्रंथ हैं । कवि कंठहार के ये सब ग्रंथ प्रकाशित करने योग्य हैं । इस पुस्तक के बाईं ओर प्रायः प्रत्येक पत्र में प्रत्येक पंक्ति के तीन-तीन अक्षर नष्ट हो गए । इस गोरक्षविजय नाटक में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के चरित्र वर्णित हैं । ये नाटक और 'भर्तृहरि निर्वेद' नाटक श्री भैरवेश्वर की भक्ति के लिए उनकी यात्रा के समय अभिनीत हुए थे । भैरवेश्वर मिथिला में विद्यमान थे । वाणी मधुर होने के कारण ये कवि मिथिला रसाल में सुतरां कोकिल हैं । कायस्थ वंश में जन्म लेनेवाला मुरारी कंठ का पुत्र भगीरथ इस पुस्तक का लेखक है ।

४६५ शताब्दी में यह पुस्तक लिखी गई है। यह संवत् लक्ष्मण-संवत् कहलाता है।^१

उमापति मिश्र की 'पारिजात-हरण' नाटक की शैली में अनेक उच्च कोटि के नाटक शताब्दियों तक विरचित होते रहे। विश्वमल्ल का 'विद्या-विलाप' (१५३३ ई०) नाटक उच्च कोटि के नाटकों में परिगणित होने योग्य है। 'विद्या-विलाप' की कथा पर आधारित अनेक नाटक बंगला और हिन्दी में लिखे गए। उनमें सर्वप्रथम यही नाटक विरचित हुआ। यह नाटक नेपाल के 'भक्तपत्तन' नगर में अभिनीत हुआ था। इसमें सूत्रधार कहता है, "श्रीमत् श्री भक्तपत्तन नगरी सकल गुणीजन शोभित तारमहिमाशुन.....श्री विश्वमल्ल नृपती.....श्री श्री जयविश्वमल्लदेवस्य सभा के महिमा शुन...श्री भक्तपत्तन नगरे विद्याविलापनाटक प्रवर्त है लो, ता देखि निमित्त आक्षे जावो।"

इस नाटक की एक अपूर्ण हस्तलिखित प्रति^२ दरबार लाइब्रेरी काठमाण्डू नेपाल में उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त 'मुदित कुवलयारव' (१६२८), 'हर-गौरी-विवाह' (१६२६) और 'कुंज-बिहारी नाटक' (१६३३) के पूर्व लिखे गए। इनके रचयिता राजा जगज्ज्योति-मल्ल (१६१८-१६३३) थे जो योद्धा के साथ-साथ विद्वान और संगीतज्ञ भी थे। 'कुंज-बिहारी' नाटक में सूत्रधार नाटक प्रारम्भ करते हुए कहता है—

'कुंज विहार हरिछाज रे।

गोपां सब हरसित आज रे॥'

इन्हींके वंश में राजा जगत्प्रकाशमल्ल एक प्रसिद्ध नाट्यकार हुए जिन्होंने छः उच्च कोटि के नाटक—'ऊषाहरण', 'नलीयनाटक' (१६७०), 'पारिजात-हरण', 'प्रभावतीहरण' (१६५६) और 'मलयगंधिनी' (१६६३), 'मदन-चरित' (१६७०) लिखे।

इस शैली पर आज तक नाटक लिखे जा रहे हैं, जिनमें गीत तो हिन्दी के होते हैं किन्तु शेष भाग संस्कृत और अपभ्रंश में होते हैं। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में एक और क्रम प्रारम्भ होता है और सम्पूर्ण नाटक यहां तक कि गद्य-भाग भी हिन्दी में विरचित होने लग जाता है। उदाहरणार्थ 'मदन-चरित' का एक अंश देखिए—

सूत्र—हे प्रिये एतय आउ।

नटी—हे नाथ, हमर प्रणाम। की आज्ञा करे छिअ।

सूत्रधार—हे प्रिये श्री श्री जयप्रकाश मल्लदेवता, जेष्ठ राजकुमार श्री श्री जय-जितानन्द मल्लक आज्ञा भेल अछि।

१. विशेष विवेचन के लिए हमारा 'भाषा नाटक' नामक ग्रन्थ देखिए, प्रकाराक हिन्दी शोध-संस्थान, आगरा विश्वविद्यालय

२. Government of India National Library No.Bibl/713, Date 23 March, 1958, D. L. Banerji, Assistant Librarian.

इसी शैली में एक नाटक 'राधावंशीधर-विलास' तञ्जौर (भानुधर) में प्राप्त हुआ है जिसकी लिपि तो तैलगु है पर भाषा हिन्दी। उदाहरण देखिए—

सूत्र—ऐसे इष्टदेवता प्रार्थना कर राधावंशीधर विलास नाटक सुहम (सोहम) इस रंगभूमि बीच नृत्य करे आछे (चाहे)।

इसी शैली का एक नाटक 'हरिश्चन्द्र नृत्यम्' है, जो सत्रहवीं शताब्दी के अन्त का लिखा है। जर्मनी में (नेपाल सं० ७७१, फागुन सुदी २, रामभद्र शर्मा लिखितम्) में इसका प्रणयन हुआ। एक उद्धरण देखिए—

“आहे ऋषीश्वर, धन्य धन्य हमार भाग्य, आनवरें हमार कार्य नाहीं, तुमी महेश्वरें अवतार जानि री……।”

अंकिया नाट

इसकी हम पूर्व चर्चा कर आए हैं। इस परम्परा के शताधिक नाटक अब उपलब्ध हो गए हैं। जिनके प्रमुख रचयिता हैं—शंकरदेव, माधवदेव, गोपाल अत्ता, रामचरण ठाकुर (१५०७-७७), गोपालअत्ता (१५३३ से १६०८), माधवदेव (१५८६-१५६६), शंकरदेव (१४४६ से १५६८ तक), रामचरण ठाकुर (१५२१-१६००), दैत्यारि ठा० (१५६४-१६२० तक) और द्विजभूषण (१५०७-७७ तक)। इन साधु नाट्यकारों ने अंकिया नाट, रासभूमरा, कोटरा, खेला भूमरा और जन्म-वाचा तथा गोपी-ऊषव-संवाद, अजामिल उपाख्यान नाम से अनेक रचनाएं की। ये लोग संन्यासी थे, किन्तु नाटक में स्वयं पात्र बना करते थे। इन्होंने लोगों के प्रभाव से पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक ब्रजभाषा देश की सांस्कृतिक भाषा बनी रही।

आज भी आसाम के सत्रों में बार-बार इन नाटकों का अभिनय होता है और सत्र के अधिकारी अनिवार्य रूप से इस शैली के नाटक विरचित करते पाए जाते हैं। इस कारण से यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती जा रही है। यहां पर अंकिया नाट के प्रवर्तक शंकरदेव का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। इस महापुरुष ने संस्कृत और लोकनाट्य-शैली के सम्मेलन से एक ऐसी नाट्यधारा का प्रवर्तन किया जिसके प्रदर्शन से आज भी लक्ष-लक्ष ग्रामीण जनता आनन्द-विभोर हो उठती है।

शंकरदेव ने श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्यों द्वारा अपने नवीन जीवन-दर्शन का प्रचार किया। उन्होंने श्रव्य काव्य के रूप में 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान', 'भक्ति प्रदीप', 'कीर्तन घोषा', 'वरगीत', 'रुक्मिणी-हरण', १२ स्कन्धों में 'महाभागवत', 'गुणमाला', 'रामायण', 'भक्ति रत्नाकर' आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'पत्नी-प्रसाद', 'रुक्मिणी-हरण', 'कालिदमन', 'केलिगोपाल', 'पारिजात-हरण' एवं 'रासविजय-नाट' नामक अंकिया नाट भी विरचित किए। हम इस स्थान पर उनके अंकिया नाट का ही विवेचन करेंगे।

दर्शन, व्याकरण एवं संस्कृत-साहित्य के पांडित्य एवं तत्कालीन जन-शक्ति ने इन्हें हिन्दी नाटकों में भी संस्कृत-नाट्यशैली एवं संस्कृत श्लोकों को यत्र-तत्र स्थान देने को

बाध्य किया। यद्यपि इन्होंने नान्दी, प्रस्तावना एवं भरतवाक्य आदि पारिभाषिक पदावली का प्रयोग नहीं किया है तथापि उसके नियमों के परिपालन का प्रयास पूर्ण रीति से पाया जाता है। नान्दी में आठ या बारह चरण होते हैं और किसी देवता की आराधना की जाती है। शंकरदेव के प्रायः सभी नाटकों में यह पद्धति अपनाई गई है। प्रत्येक नाटक के नान्दी में तदनुकूल देववन्दना की गई है। 'पत्नीप्रसाद', 'रुक्मिणी-हरण', 'पारिजात-हरण', 'केसिगोपाल' में श्रीकृष्ण की वन्दना आठ चरणों में की गई है, किन्तु रामविजय नाट में भगवान् श्री रामचन्द्रजी की आराधना आठ पदों में सम्पन्न होती है।

शंकरदेव मूलतः कृष्ण-भक्त थे जैसा उनके काव्यों से प्रतीत होता है। उनका मन कृष्ण-लीलाओं के गुणगान में प्रधान रूप से रमता था, किन्तु रामविजय नाट में उन्होंने राम का स्मरण अत्यन्त भक्ति-भाव के साथ किया है। जैसा निम्नलिखित उद्धरणों से प्रतीत होता है—

यन्नामाखिल लोकशोक शमनं यन्नाम प्रेमास्पदं
पापापार पयोधितारण विधौ यन्नाम पीनः प्लवः
यन्नाम श्रवणात् पुनाति श्वपचः प्राप्नोति मोक्षं क्षिमी
तं श्री रामयशं महेश वरदं वन्दे सदा सादरम् ॥

इसी प्रकार राम की लीलाओं का वर्णन करते हुए वे आगे कहते हैं—

येनाभाजि धनुः शिवस्य सहसा सीता समाशवासिता ।
येनाकारि पराभवो भृगुपतेर्वासस्य रामस्य च ।
वैदेह्याः विधिवद्विवाहमकरोत् निजित्य यः पार्थिवान् ।
युष्माकं नितनोतु शं स भगवान् श्रीरामचन्द्रश्चिरम् ॥

हम पूर्व कह आए हैं कि शंकरदेव ने संस्कृत और तत्कालीन दोनों पद्धतियों का सामंजस्य करने का प्रयास किया है। जहां उन्होंने नान्दी में आठ अथवा बारह पदों में संस्कृत श्लोकों की रचना की है, वहीं विभिन्न रागों में गाने योग्य हिन्दी गीतों की भी रचना नान्दी-रूप में की है।

'रुक्मिणी-हरण', 'पारिजात-हरण', 'पत्नीप्रसाद', 'रामविजय' आदि सभी नाटकों में आठ संस्कृत पदों के उपरान्त हिन्दी गीतों के माध्यम से उन्हीं देवताओं की आराधना इस प्रकार की गई है :

जय जग जीवन मुरार
पावे परनाम हमार (ध्रुव)
पंचमुहे याहे तुति बुलि
शिरै हर धर पद धूलि ॥
याहे सुरःसुर कर सेवा ।
सोहि मोहि देव देवा ॥
रिपु नृप सब याहि जिनि ।

हरल हरषे रुक्मिनि ॥

५

करल हरि विविध विलासा ।

कहतु शंकर हरिदासा ॥ (रुक्मिणी-हरण)

इस प्रकार यदि ध्रुव को पृथक् कर दें तो आठ पदों में नान्दी का रूप दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार 'रामविजय नाट' में भी संस्कृत के उपरान्त हिन्दी गीतों के माध्यम से नान्दी का स्वरूप देखिए :

राग सोहार एक तालि

जय जग जीवन राम ।

कयलो पढ़ि परणाम् ।

याहे नाम गुण मुहे गाइ ।

पापी परम पद पाइ ॥

ओहि भवताप अपारा ।

याहे स्मरणे करु पारा ॥

अजगव भंजनकारी ।

पावल जनक कुमारी ॥

नृपसव छेदल बाणे ।

कृष्ण किकर एहु भाणे ॥

शंकरदेव ने नान्दी के उपरान्त सूत्रधार का प्रवेश कराया है। भास की 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' नामक पद्धति को हम उनके अधिकांश नाटकों में पाते हैं। 'रुक्मिणी-हरण' में हिन्दी गीत के उपरान्त शंकरदेव लिखते हैं "नान्द्यन्ते सूत्रधारः अलमिति विस्तरेण । प्रथमं माधवो माधवेत्युच्चार्य नत्वा नारायणं सभासदान् सम्बोध्याह—

भो भोः सभासदाः साधु शृणुध्वं श्रद्धयाधुना ।

रुक्मिणीहरणं नाम नाटके मुक्तिसाधकम् ॥"

इसी प्रकार 'रामविजय नाटक' में इस प्रकार उद्घरण मिलता है :

"नान्द्यन्ते सूत्रधारः । अलमिति विस्तरेण । प्रथमं माधवो माधवं इत्युक्त्वा

श्रीरामचन्द्रं प्रणम्य सभासदः सम्बोध्य आह—

भो भो सामाजिकाः । यूयं शृणुतावहितं बुधाः ।

श्री रामविजयं नाम नाटकं मोक्षसाधकम् ॥"

'पारिजात-हरण' में नान्दी के अन्त में सूत्रधार सामाजिक को सम्बोधित करते हुए कहता है—

"भो भो सामाजिका, ईश कृष्णस्य जगतःपते, श्री परिजात हरण यात्रा सम्प्रति पश्यत ।"

उपर्युक्त उद्घरणों से यह प्रमाणित होता है कि स्वामी शंकरदेव के अन्तःकरण में संस्कृत-शैली का मोह अवश्य था ।

जन-नाट्यशैली

संस्कृत नाट्यशैली का परित्याग एवं जन-नाट्यशैली का ग्रहण यहाँ से प्रारम्भ होता है। संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना के उपरान्त सूत्रधार रंगमंच पर नहीं आता, किन्तु जन-नाट्यशैली में वह आद्योपान्त विद्यमान रहकर पूर्वापर प्रसंग को संयुक्त करता चलता है।

जब कोई नया पात्र रंगमंच पर प्रवेश करता है तो सूत्रधार उसका परिचय देता है। उसके प्रवेश का उद्देश्य और पात्र का रूप-वर्णन भी सूत्रधार गीत के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट करता है :

सूत्रधार—सखि सब सहित से हकिमणी जैचे प्रवेश कयल ता देखह सुनह निरन्तरे हरि बोल हरि बोल ।

राग सुहाई, भान एक ताली
ध्रुव— भ्रावत हकिमणी क्यों पयसार ।
सखि सब संगे रंगे करत विहार ॥
पद— इषत हसित मुख चान्द उजार ।
दशन मौतिम यैचे नयन चकोर ॥
मणिक मुकुट कुंडल गंड डोल ।
कनक पुतली तनु नील निचोल ॥
कर कंकण केयूर भणकार ।
माणिक कांचि रचित हेमहार ॥
चलाइते चरण मंजीरी करोल ।
रूपे भुवन भुले शंकर बोल ॥

[सखि लीलावती सखि मदन मंजरी सहित हकिमणी प्रवेश]

उपर्युक्त उद्धरण इस तथ्य का प्रमाण है कि शंकरदेव ने सूत्रधार को अपने नाटकों में वही स्थान दिया है जो जन-नाटकों में भागवत, व्यास अथवा नाट्य-व्यवस्थापक को दिया जाता है। उन्होंने पात्रों के प्रवेश एवं निर्गमन का संकेत तो संस्कृत शैली के अनुसार किया है, किन्तु पात्रों के परिचय और रूप-लावण्य के वर्णन में जन-नाट्यशैली का अनुसरण किया।

सूत्रधार पात्रों के प्रवेश एवं परिचय में हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत श्लोकों का प्रयोग भी करते चलते हैं। 'हकिमणी-हरण' नाटक में सूत्रधार अपने साथी से वार्तालाप करते हुए कह रहा है :

संगी—सखि देव दुंदुभि वाजत ।

सूत्र—ओह देव दुन्दुभि वाजत, आः से परमेश्वर श्रीकृष्ण मिलल ।

श्लोक—प्रवेशमकरोत्कृष्णः स्वकान्त काम कोटि जित

जगतां जनको धाता सोढवः साधुबान्धवः ॥

इसी श्लोक का अर्थ स्पष्ट करते हुए सूत्रधार सभासदों को सम्बोधित करते हैं—

आहे सभासद । याकर कथा कहइछि सोहि श्रीकृष्ण उद्धव सहित आवत, ऐ आवत (इति संगी निष्क्रान्तः) । हम कह आए हैं कि शंकरदेव का सूत्रधार जन-नाटकशैली का अनुसरण करता हुआ नटों और सामाजिकों के बीच सम्बन्ध जोड़ता चलता है । उस प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार वह संस्कृत-नाट्यशैली एवं जन-नाट्यशैली दोनों का प्रयोग करता चलता है । एक पात्र के प्रवेश का प्रभाव दूसरे पात्र पर क्या पड़ता है, इसका वर्णन पात्रों के हाव-भाव और मुख-मुद्रा के अतिरिक्त सूत्रधार अपने शब्दों द्वारा सामाजिक को बताता चलता है । नाटक में यह एक बड़ा दोष माना जा सकता है । इस क्रिया में सूत्र-धार अपने अधिकार से बाहर चला जाता है । आश्चर्य तो यह है कि इस प्रभाव का वर्णन शंकरदेव कहीं-कहीं संस्कृत श्लोकों के माध्यम से भा करते दिखाई पड़ते हैं । जैसे 'रुक्मिणी-हरण नाटक' में कृष्ण का दर्शन होने पर रुक्मिणी की मनोगति का वर्णन करते हुए सूत्र-धार कहता है—

कृष्णस्य रूपलावण्य श्रवणेन विमोहिता ।

दधौ तच्चरणाम्भोजं भजनीयं सतां सती ॥

इसीका अर्थ स्पष्ट करने के लिए सूत्रधार हिन्दी में कहता है :

हे राजकुमारी रुक्मिणी कृष्णक रूप लावण्य सुनिए मोहित हुआ भये कृष्णक चरन चितिए रहल आहे लोक ताहे देखह शुनह निरन्तरे हरि बोल हरि बोल ।

पट-परिवर्तन

अंकिया नाट में दृश्य-परिवर्तन की पद्धति नहीं । नाटक जिस दृश्य से प्रारम्भ होता है उसीसे उसका पर्यवसान भी होता है । पट-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं ।

सूत्रधार रंगमंच पर बैठकर आवश्यकतानुसार पात्रों को दूर देश भेजता है और उन्हें स्वेच्छा से बुला भी लेता है । जब कोई पात्र दूर देश की यात्रा करता है तो सूत्रधार उसकी अनुपस्थिति में उसका विवरण देता चलता है । 'रुक्मिणी-हरण नाट' में रुक्म राजा की राजधानी में नाटक प्रारम्भ होता है । जिस समय रुक्मिणी अपनी सखियों से वार्ता-लाप करती है, उसी समय द्वारका देश से वेदनिधि नामक भिक्षुक आता है, और कृष्ण के रूप का वर्णन करता है । रुक्मिणी कृष्ण के गुण-श्रवण से मुग्ध होकर एक पत्र ब्राह्मण के द्वारा भेजती है । ब्राह्मण रुक्मिणी को आश्वासन देकर कृष्ण के पास जाता है । सूत्र-धार उसकी यात्रा का विवरण इस प्रकार देता है :

कुमारीक आश्वास वुलिए वचन ।

द्विज द्वारकाक लागि कयल गमन ॥ ध्रुव ॥

पद— छाड़ल नगर गिरि अरण्य आशेष ।

मेल द्वारवती पुरी विप्र परवेश ॥

मनोहर नगर सागर मह धिक ।

कर परकाश सुर पुरीक अधिक ॥

जगत विभूति तथि भेलि एकु थान ।
हरि पुरी देखल कनक निरमान ।
द्वारी द्वारपालक रोलय पाइ लाग ।
कुंडिनक द्विज हामु कह कृष्ण आग ।
कृष्णत हामार थिक गोप्य प्रयोजन ।
राम राम बोलहु हरि से सर्व जन ॥

सूत्रधार स्वम की उसी राजधानी को द्वारका नगरी में परिवर्तित कर देता है । सामाजिक को अपने काव्य-चातुर्य से यह प्रतीत करा देता है कि द्वारका नगरी उनके सामने विद्यमान है । द्वारपाल और कृष्ण वहीं उपस्थित हो जाते हैं । द्वारपाल द्वारा सूचना पाकर कृष्ण कुंडन ब्राह्मण का पाद-प्रक्षालन करते हैं और उससे कुशल-समाचार पूछते हैं :

कुशलस्तव विप्रेन्द्र किमर्थमिह चागतः ।

पवित्रीकृत्य चास्माकं त्वत्पादरजसागृहम् ॥

इस प्रकार दोनों का वार्तालाप राजा भीष्मक की नगरी वाले दृश्य में ही चलता रहता है । नाट्यकार का कौशल है कि स्वमणी के पत्र को कृष्ण स्वतः नहीं पढ़ते । वे ब्राह्मण वेदनिधि से पढ़ाकर पत्र सुनते हैं । इस प्रकार सामाजिक को पत्र का रहस्य ज्ञात हो जाता है । कृष्ण की दशा का वर्णन सूत्रधार अपने ही शब्दों में करता चलता है । यही नाट्यकार की पद्धति है । वह सामाजिक को पात्रों की मनोदशा से अवगत कराता चलता है । आज का नाट्यकार रंगमंच-निर्देश को कोष्ठबद्ध कराता है, किन्तु शंकरदेव उसका सूत्रधार के मुख से सामाजिक को बताते चलते हैं ।

श्रीकृष्ण ब्राह्मण को रथासीन कर स्वतः उसपर विराजमान होते हैं और स्वमणी के पास वायुवेग से प्रस्थान करते हैं । रंगमंच से दोनों जब बहिर्गत होते हैं तो नाट्यकार पुनः स्वमणी को उसकी सखियों के साथ उपस्थित करता है । नाट्यकला की दृष्टि से यहां एक दोष परिलक्षित होता है । नाट्यकार ने स्वमणी का रंगमंच से निष्क्रमण कहीं नहीं बताया । आवश्यक पात्रों के आह्वान के ध्यान में सम्भवतः वह अनावश्यक पात्रों के निष्क्रमण की व्यवस्था विस्मृत कर देता है । यदि स्वमणी की विद्यमानता में रंगमंच पर कृष्ण और वेदनिधि में वार्तालाप होता है तो आगे की कथा निरर्थक हो जाती है । अतः स्वमणी का निष्क्रमण किसी न किसी रूप में आवश्यक है । यदि स्वमणी का निष्क्रमण दिखाकर पुनः उसका प्रवेश कृष्ण-प्रस्थान के उपरान्त दिखाया गया होता तो रंगमंच-निर्देश की दृष्टि से यह नाटक इस त्रुटि से बच जाता ।

पट-परिवर्तन के बिना ही दो राजधानियों का दृश्य शंकरदेव किस प्रकार प्रदर्शित करते रहे, यह एक समस्या है । शंकरदेव एक कुशल कलाकार थे । उनके शिष्यवर्ग में कई चतुर चित्रकार भी थे । सम्भवतः सम्मुख का पट-परिवर्तन न करके रंगमंच का पृष्ठस्थित पट परिवर्तित होता रहा होगा । भीष्मक की राजधानी और द्वारकापुरी के दो चित्रपटों द्वारा स्थान का बोध कराया गया होगा ।

तीसरा दृश्य रणक्षेत्र का है। कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी शिशुपाल रुक्मिणी-अपहरण को लज्जायित था। उसकी आसुरी सेना ने रुक्मिणी को बेर लिया। रुक्मिणी का ज्येष्ठ भ्राता रुक्मक भी शिशुपाल का सहायक था। एक पक्ष में कृष्ण हैं और दूसरे में शिशुपाल और रुक्म। दोनों पक्षों के घोर युद्ध का वर्णन सूत्रधार इस प्रकार करता है :

काटेल वाण कृष्णे शर मारि ।
 गरजे रुक्मी पुनु शर प्रहारि ॥
 × × ×
 बहुतर वाणे ताहे हृदि भेदि ।
 हातक धनु पेलावल छेदि ॥
 हाते मुठि धरि रुक्मी कुमार ।
 कृष्णक हृदये कयल प्रहार ॥
 ताहे प्रहारि हासि यदुनाथ ।
 धरल केश केशव वाम हाते ॥
 × × ×
 पाइ चोट वरि मूरुचित वीर ।
 कृष्ण धरण खाण्डा छेदिते शिर ॥

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि दृश्य-परिवर्तन की अभावपूर्ति सूत्रधार के गीतों से की जाती थी। सूत्रधार नये दृश्य का विधान अपने नूतन गीतों के बल पर निर्मित करता। एक ही दृश्य में भीष्मक की राजधानी, द्वारका, युद्धक्षेत्र, कृष्ण-विवाह-मंडप, आदि विविध दृश्यों का प्रदर्शन होता था।

इसी प्रकार 'रामविजय नाटक' में राम-जन्म, कौशिक-यज्ञ-रक्षा, मारीच-सुबाहु-वध, मिथिला में धनुष-यज्ञ, सीता-विवाह, राम का सीतासहित अयोध्या-प्रत्यागमन, मार्ग में परशुराम-लक्ष्मण-विवाद, अयोध्या में सीतारामका अभिनन्दन—इतने दृश्यों को एकत्र एक दृश्य में प्रदर्शित किया गया है। इसे लोक-नाट्यशैली के अतिरिक्त और क्या कहा जाए। यद्यपि शंकरदेव ने इन नाटकों के अभिनय के लिए नामधर (नाट्यशाला) की स्थापना की थी तथापि पट-परिवर्तन को अनावश्यक समझ, कृष्ण और राम की अनेक लीलाओं को एक ही दृश्य में दिखाने का प्रयास किया है। शंकरदेव जैसा धुरन्धर विद्वान् संस्कृत की नाट्यशैली की सीमा का उल्लंघन कर जन-नाट्यशैली को किसी न किसी कारणवश व्यवहार्य बना रहा था। वह कारण क्या रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि 'ओझापाली' नामक जनप्रिय नाट्यशैली को सशक्त बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत की रुढ़ियों का परित्याग किया होगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सहज-सहज जनता को एकत्र देख उन्होंने नाट्यगृहों के अतिरिक्त खुले विस्तृत मैदानों में नाटकों का अभिनय प्रदर्शित करने के लिए ये नाटक विरचित किए होंगे। इसी जननाट्य की शैली पर पट-परिवर्तन के बिना भी उन्होंने नाट्यगृहों में इन नाटकों का अभिनय विशेष

अवसरों पर दिखाया होगा ।

उनके किसी भी नाटक में पट-परिवर्तन का विधान नहीं । एक घटना हो अथवा अनेक, सबके लिए एक ही पद्धति है । किसी पात्र का निष्क्रमण नहीं दिखाया जाता । सम्भवतः पात्रों की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है । यदि वे रंगमंच पर उपस्थित रहना चाहते हों तो उन्हें निष्क्रमण के लिए कोई बाध्य नहीं करता । पात्रों को पूर्ण स्वतन्त्रता रही होगी कि कार्य-समाप्ति पर वे स्वेच्छापूर्वक बाहर जा सकते हैं । जन-नाट्यशैली की यह एक बड़ी विशेषता है ।

गद्य-प्रयोग

शंकरदेव के सभी नाटकों में गद्य का प्रयोग मिलता है । प्रारम्भिक नाटकों में पद्य का बाहुल्य है और गद्य का प्रयोग प्रायः सूत्रधार ही कथा-प्रसंगों को संयुक्त करने के उद्देश्य से करता चलता है । अन्य पात्र प्रायः कविता में कथोपकथन करते दिखाई पड़ते हैं । उनके सभी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने अपने अन्तिम नाटकों में कथोपकथन के लिए गद्य को प्रमुख स्थान दिया है । पद्य का प्रयोग केवल गीतों के रूप में यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है । प्रमाण के लिए 'पारिजात-हरण नाटक' में सत्यभामा और श्रीकृष्ण का संवाद देखिए :

सत्यभामा—हे स्वामी हामाक पारिजात तरु तुहु दिते सत्य कय बोल ।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये, पापी नरकासुर देवता सबक जितिये सर्वस्व आनल । आगु ताकेक मारि देवकार्य साध । पाछु पारिजात आनो ।

सत्यभामा—आ स्वामी । उचित कहल । आगु देवकार्य साधि सेहि यात्राये पारिजात आनह । हामु तोहारि संगे चलवो ।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! तुहु स्त्री जाति । युद्ध समये तोहारि उचित गमन नाहि ।

सत्यभामा—हे स्वामी ! हामार बहुत सतिनी । इवार पारिजात आनि कोन स्त्रीक देव, ताहे बुझये नाहि । हामु कदाचितो तोहारि संग नाहि छोड़ब ।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! तोहु यदि हामाके संग चलब तब सत्त्वे साजह !

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि गद्य का प्रयोग प्रायः कथा की गति को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से किया जाता है । भावों और भावनाओं को जागरित करने के लिए पद्य एवं गीतों का प्रयोग होता है, किन्तु घटनाओं और क्रिया-कलापों का ज्ञान गद्य द्वारा कराया जाता है । यद्यपि इस गद्य में वह तीव्रता एवं प्रवाह नहीं है जो उच्च कोटि के नाटकों में अपेक्षित है तथापि पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में विचार-प्रदर्शन की इतनी क्षमता थी यही क्या सन्तोषप्रद नहीं है ।

गद्य का अपेक्षाकृत निखरा रूप शंकरदेव के अन्तिम नाटक 'रामविजय' में दिखाई पड़ता है । इस नाटक में पद्य-भाग की अपेक्षा गद्य-भाग कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है । कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण वार्तालाप गद्य के माध्यम से ही दिखाई पड़ता है । उदा-

हरण के लिए जनक और विश्वामित्र का वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र—हे महाराज जनक, पुत्र-पौत्रसहित तो हो चिरकाल सुखी होब ! तोहार सत्कारे परम सन्तोष भेलो ।

सूत्र—जनक राजा राम-लक्ष्मण रूप निरखि परम आश्चर्य हुआ मुनिते पूछत ।

जनक—हे ऋषिराज ! उहि बालक दुयो अद्भुत मूरति देखि परम आनन्द भेलो । काहेर कुमार, कि देव, किंवा मानुष, हामु बुझये नाहि पारि । उहि सुकुमार दुहोक देखि हृदय सन्तोष भेलो ।

हम कह चुके हैं कि इस उत्थान-काल की प्रमुख विशेषता यह है कि धार्मिक प्रवृत्ति ने जैन-रास के साथ-साथ वैष्णव-रास का भी रूप धारण किया, और कृष्ण-चरित को लेकर रास में नाना प्रकार के लीला-नाटकों की रचना होने लगी । हम यहां इतना और भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि साधु-महात्माओं के अतिरिक्त साहित्यिक नाट्य-कारों ने भी नाटकों में रास की वही पद्यबद्ध शैली अपनाई, जो अपभ्रंश-काल से चली आ रही थी और सर्वत्र मान्य समझी जाती थी ।

इस काल के साहित्यिक नाटकों की तुलना यदि रास-ग्रंथों से की जाए तो इनके प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन-शैली में सर्वथा साम्य मिलेगा । प्रमुख साहित्यिक नाटक हैं : 'समयसार', 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'करुणाभरण', 'शकुन्तला', 'सभासार', 'देवमाया-प्रपंच', 'चंडी-चरित्र', 'विचित्र नाटक' आदि । इन नाटकों में 'समयसार' नाटक तो स्पष्टतः जैन-ग्रंथ 'समय पाउड़' के कथानक के आधार पर रास-शैली में विरचित हुआ । इस नाटक का विभाजन भी 'विजय-तिलक सूरी रास' के सदृश 'अधिकारों' में किया गया है । यह वृहद् नाटक तेरह अधिकारों में विभक्त है । रास के ही सदृश इसमें भी मंगला-चरण और प्रशस्ति हैं । रास की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण इतिहास-लेखकों तथा समालोचकों ने बनारसीदास जैसे विद्वान की इस कृति के मूल्यांकन में भूल की है और इसे नाटक कहना भी उचित नहीं समझा है, यद्यपि कवि ने इसे स्वतः नाटक माना है ।

'हनुमन्नाटक', 'शकुन्तला' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रसंग में हम विवेचन कर चुके हैं कि इन नाटकों पर इस समय की प्रचलित रास-शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और संस्कृत की शैली के अनुसार 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद महाराज जसवन्तसिंह ने किया, किन्तु जनमत ने इसे स्वीकार न किया । अतः महाराज जसवन्तसिंह के उपरान्त 'प्रबोधचन्द्रोदय' के जितने अनुवाद हुए, सबमें रास की ही संगीतमय पद्धति अपनाई गई ।

कृष्ण-चरित्र के आधार पर अठारहवीं शताब्दी में 'करुणाभरण' नाटक विरचित हुआ । इसमें सात अंक हैं । सम्पूर्ण नाटक रास-शैली पर ही विरचित है । रंगमंच का संकेत समाप्त भी नहीं होता कि उसी छंद में पात्रों का कथोपकथन प्रारम्भ हो जाता है; जैसे :

तब राधा ऐसी कही । तो वृन्दावन जाऊं ।

×

×

×

एवमस्तु हरि जूकह्यो । तब आई सर तीर ।

कृष्ण-जीवन का विस्तृत कथानक लेकर एक से अधिक ग्रंकों में विरचित कृष्ण-चरित्र का यह सर्वप्रथम नाटक है, किन्तु नाटक का इतिहास लिखनेवाले विद्वान^१ प्राचीन नाट्य-परम्परा का अनुसंधान न कर इसे खण्ड-काव्य कहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं ।

‘देवमाया-प्रपंच’ संस्कृत के ‘मोहराजपराजय’ तथा ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ के कथानक के आधार पर रास-शैली में पद्यबद्ध विरचित छः ग्रंकों का नाटक है । ऐसी स्थिति में मिश्रबन्धुओं ने यदि इसे ‘अर्द्धनाटक’^२ कह दिया तो कोई आश्चर्य नहीं । उन्होंने इतना तो स्वीकार किया ही है कि इसका “पांचवां अंक बड़ा ही बढ़िया, रुचिकर और हास्यरस से परिपूर्ण है,” और “ग्रंथ कुल मिलाकर अच्छा है।”^३

‘सभासार’ नाटक पर ‘उपदेशरसायन रास’ का पूरा-पूरा प्रभाव है । संस्कृत नाटकों में इस पद्धति के नाटक कदाचित् ही कहीं प्राप्त होते हों । ‘सभासार’ एक नैतिकता-प्रधान नाटक है, जिसमें राजा के धर्म, कुगुरु-निन्दा और सुगुरु-स्तुति आदि का वर्णन ‘उपदेशरसायन’ रास की ही भांति छंदबद्धशैली में मिलता है । दोनों की तुलना परिशिष्ट में देखिए ।

‘चंडी-चरित्र’ नाटक में कोई कथानक नहीं, केवल देवी की स्तुति है । गुरु गोविन्द-सिंह ने इसे कदाचित् ‘ऋषभ रास’ की शैली पर रचकर नाटक सम्बोधित किया हो ।

हमारा मत यह है कि द्वितीय उत्थान के अधिकांश नाटकों का कथानक तो वैष्णव धर्म के ग्रंथों से लिया गया, किन्तु रचनाशैली जन-नाटकों और जैन-नाटकों से ग्रहण की गई ।

यद्यपि द्वितीय उत्थान-काल में एकांकी गीतिनाट्य ने विशेष उन्नति की और बड़े नाटक भी रचे गए, किन्तु नाट्य-परिधि धार्मिकता के प्राचीर के अन्तर्गत ही रह गई, प्राचीन रास-नाटकों जैसा मुक्त वातावरण इसमें न आ सका । इस काल में एक भी ऐतिहासिक नाटक विरचित न हो सका । प्रेम-सम्बन्धी नाटकों में शकुन्तला और राधा के अतिरिक्त और कोई कथानक नहीं मिलता । इस काल में श्रव्यकाव्य के रचयिता तुलसी और सूर जैसे महाकवि उत्पन्न हुए, किन्तु दृश्यकाव्य के जगत् में कोई भी विख्यात नाट्यकार न हुआ । हां इस काल में मैथिल विद्वानों ने नेपाल में कई उत्तम नाटकों की सृष्टि की । राजसभाओं में इन नाटकों का अभिनय हुआ और नाट्यकार राजाओं द्वारा सम्मानित भी हुए, किन्तु असमी, बंगला और उड़िया नाटकों की स्थिति प्रायः ब्रजभाषा जैसी ही रही ।

द्वितीय उत्थान में कथानक तो संस्कृत नाटकों तथा वैष्णव धर्म के ग्रंथों से लिए

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ, पृष्ठ ३२३ (जनवरी १९५० ई०)

२. हिन्दी नवरत्न, मिश्रबन्धु, पृष्ठ संस्करण, पृष्ठ २६१

३. हिन्दी नवरत्न, मिश्रबन्धु, पृष्ठ संस्करण, पृष्ठ २६२

जाते थे, किन्तु इनकी शैली जन-नाटकों की ही रही। संवत् १६०० वि० के आसपास महाराज विश्वनाथसिंह ने ऐसा नाटक लिखा, जिसकी शैली भी सर्वथा संस्कृत नाटकों से ही ग्रहण की गई।

तृतीय उत्थान

भारतेन्दुजी ने जिस 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को सर्वप्रथम हिंदी नाटक माना है, वह हिंदी में संस्कृत-शैली का ऐसा सफल नाटक हुआ, जिसका अनुकरण एक शताब्दी तक होता रहा। हम पूर्व प्रमाणित कर आए हैं कि महाराज विश्वनाथसिंह से लेकर वियोगी हरि तक के नाटककारों ने धार्मिक नाटकों में संस्कृत शैली को ही अपनाया है। इस नाटक में प्राकृत के स्थान पर करनाटकी, मराठी, द्रविड़ आदि देशी भाषाओं का प्रयोग किया गया है। यह नूतन प्रयोग विश्वनाथजी की व्यापक दृष्टि का परिचायक है।

चतुर्थ उत्थान^१

(संवत् १६२० से १६७० वि०)

संवत् १६२० वि० में नाट्य-साहित्य में एक नया प्रयोग हुआ। सम्पूर्ण शकुंतला नाटक का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने गद्य में ही किया। राजा जसवंतसिंह ने प्रबोध-चंद्रोदय का अनुवाद करते हुए गद्य को स्थान दिया था, किन्तु प्रणाली समयानुकूल सिद्ध न हुई। फिर कालांतर में काल-चक्र के प्रभाव से एक दिन ऐसा आ गया कि पद्य को नाटक से विदा होना पड़ा। इसी युग के देदीप्यमान नाट्यकार हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिन्होंने एक ओर तो विश्वनाथजी की संस्कृत-शैली को हिंदी के अनुकूल बनाया, दूसरी ओर नाट्यकला में नवीन प्रणाली का प्रचलन किया और पाश्चात्य नाट्यकला से पर्याप्त लाभ उठाया। इस संधिकाल में भारतेन्दुजी की प्रतिभा से पौराण्य और पाश्चात्य दोनों नाट्यशैलियां प्रतिभासित हो उठीं। ये दोनों धाराएं पृथक्-पृथक् प्रवाहों में बहती हुई सामाजिक, पौराणिक, राजनीतिक नाटक-क्षेत्र को प्लावित करती जा रही थीं। भारतेन्दुजी के अल्पायु होने के कारण हिंदी नाटकोद्यान उतना पल्लवित-पुष्पित और सुरभित न हो पाया, जितना हो सकता था। भारतेन्दुजी कुछ वर्ष और जीवित रह गए होते तो दोनों विचारधाराओं के समन्वय से नाट्यकला को कुछ और ही रूप दे जाते। किन्तु हिंदी के सौभाग्य से इस अभाव की पूर्ति उनके उपरांत शीघ्र ही उन्हींके नगर के एक दूसरे प्रतिभासम्पन्न और सावधान नाट्यकार जयशंकर प्रसाद द्वारा हो गई।

पंचम उत्थान

(संवत् १६७० से २००० वि०)

प्रसाद उस काल के सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार हैं। उन्होंने भारतेन्दुजी के अपूर्ण कार्य को पूरा किया। भारतेन्दु-युग में भारतीय और यूरोपीय नाट्य-शैलियां पृथक्-पृथक्

१. भारतेन्दुकालीन नाटकों के विशेष अध्ययन के लिए डा० गोपीनाथ तिवारी का 'भारतेन्दु-नाटक-साहित्य' देखिए।

धाराओं में प्रवाहित हो रही थीं, प्रसादजी ने उनका एकीकरण कर दिया। तात्पर्य यह कि इनकी प्रतिभा से पश्चिम का मनोवैज्ञानिक चरित्र-विकास और अन्तर्द्वन्द्व भरत नाट्य-शास्त्र के रस-प्रवाह में सम्मिलित हो गया।

‘प्रसाद’ ने नाटक के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों में नवीनता उत्पन्न की। उन्होंने भारतेन्दु-युग के गर्भाक और अंग्रेजी ढंग के ‘सीन’ को निकालकर केवल संख्या द्वारा दृश्य-विधान किया और नाटक की भूमिका में उसकी पृष्ठिका दी। भारतेन्दु-युग में प्रचलित विस्तृत पद्यांशों को हटाकर लघु गीतों को स्थान दिया। पाश्चात्य यथार्थवाद के विकृत रूप को सांस्कृतिक अनुशासन में व्यवस्थित किया। भारतेन्दु-युग से आनेवाली विदूषक-पद्धति को परिवर्तित कर नाट्यकथा से ही सम्बंधित एक हंसोड़ पात्र की स्थापना ‘प्रसाद’ ने की।

‘प्रसाद’ ने नाट्यशास्त्र में वर्जित हत्या, युद्ध आदि का प्रदर्शन भी रंगमंचों पर किया। तात्पर्य यह है कि इस युग में जिस प्रकार गांधीजी ने राजनीतिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़-फोड़कर देश को मानसिक दासता से उन्मुक्त किया, उसी प्रकार ‘प्रसाद’ ने नाट्यकला को नाट्यशास्त्र की अनावश्यक रूढ़ियों से उन्मुक्त जीवन की नवीन स्फूर्ति से विकासोन्मुख बनाया।

नवीन प्रवृत्ति

(संवत् २००० से २०१८ तक)

‘प्रसाद’ के दिवंगत होने पर राष्ट्र की कुछ ऐसी कायापलट हुई कि समाज की विकट स्थिति वन गई और रहन-सहन का वातावरण नितान्त विक्षुब्ध हो उठा। इस विक्षोभ का प्रभाव हमारी विचारधारा तथा हमारी मान्यताओं पर पड़ना अनिवार्य था। साथ ही मनोरंजन के विविध उपकरण भी जीवन को प्रभावित कर रहे थे, जिनसे पराङ्मुख होना नाट्यकार के लिए सम्भव न था। अतएव नाट्यकला वर्तमान नाट्यकारों के प्रयास से अभिनव रूप धारण कर रही है। अब नाटकों में भाव-व्यंजना, चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व के स्थान पर तर्क-वितर्क और हेतुवाद को महत्त्व मिलता जा रहा है। फलतः समाधान के स्थान पर समस्या का बोलबाला हो रहा है और अस्वाभाविकता के नाम पर गीतों और कविताओं का सर्वथा बहिष्कार हो रहा है। ‘प्रसाद’ के निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर दृश्यरहित तीन अंकों में नाटक लिखने की नई पद्धति चल पड़ी है।

आज के साहित्यिक नाटकों में जनता की समस्याओं को जनता की भाषा में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है। आज की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति नाट्यकार को इस पथ पर चलने के लिए विवश कर रही है। जनतंत्र की स्थापना के उपरांत राजनीतिक हिंसात्मक आन्दोलन के वे घटना-चक्र भी नाटक के कथानक बनने लगे हैं, जिनकी चर्चा ही ब्रिटिश राज में अबाध मानी जाती थी। देशहित के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले क्रांतिकारियों ने संवत् १९१४ वि० के विद्रोह-काल से स्वतंत्रता-प्राप्ति तक देश-स्वातंत्र्य के लिए निरंतर संघर्ष किया। इस दल में हिन्दू-मुसलमान सभी सम्मिलित

ये। दीवानों की यह टोली “भारतमाता को ईश्वर, देवता, शक्ति-स्वरूपा मानकर इसके गौरव के लिए हंसते-हंसते मरने की शक्ति का वरदान मांगती रही।”

क्रांतिकारियों का न्यूनाधिक नब्बे वर्ष का दीर्घ इतिहास वैधानिक बंधन के कारण अंधकार में ही लुप्त पड़ा था। कन्हाईलाल, खुदीराम, यत्नेन्द्र मुखर्जी, करतारसिंह जैसे वीर पुरुष विस्मृति के गर्त में पड़े थे। स्वतंत्रता के उपरांत उनके बलिदान की कथाएं नाटकों के रूप में भी प्रकाश में आने लगी हैं।^१ इन रोमहर्षक घटनाओं के आधार पर कई शुद्ध राजनीतिक नाटक हिन्दी में विरचित हुए हैं। प्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक यश-पाल के अतिरिक्त अन्य नाट्यकारों ने भी इस प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है। संवत् २०१० वि० में ‘क्रांतिकारी’ नामक एक नाटक प्रकाशित हुआ, जिसमें क्रांतिकारियों की रक्षा के लिए पुलिस सुपरिण्टेंडेंट की स्त्री वीणा स्वयं अपने पति मनोहर की हत्या करती है। मनोहर की छाती से निकले रक्त से सना रूमाल दिखाकर वह सगर्व कहती है, “मैंने सोते हुए अपने पति की नहीं, देश के शत्रु की हत्या कर दी।”

जहां असहयोग आन्दोलन में शत्रु से भी सत्य, स्नेह और अहिंसा का व्यवहार करने का आदेश था, वहां क्रांतिकारियों का नियम था, “क्रांतिकारियों के सामने न कोई भाई है, न बहिन, न पिता, न माता, न कोई सम्बंधी।” गोली से खेलनेवाले इस दल का नेता स्वामी एक स्थान पर अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहता है, “यह आग पर चलने का मार्ग है। स्नेह, प्रेम नाम की कोई चीज यहां नहीं है। संयम, ब्रह्मचर्य, कर्तव्य और देश-प्रेम, शत्रुओं से मातृभूमि का उद्धार ! हमको अपने दल के लिए लोहे के आदमी चाहिए। यह महाभारत का युद्ध है, वीणादेवी ! कर्तव्य के लिए हमें युद्ध करना है, चाहे कोई भी हो।”^२

इन शब्दों से क्रांतिकारियों की गतिविधि, रीति-नीति का संकेत मिलता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता-संग्राम में संलग्न अहिंसावादी महात्मा गांधी और क्रांतिकारी स्वामी के जीवन-दर्शन में कितना अंतर था !

आधुनिक नाटकों की प्रवृत्तियों के परीक्षण के लिए विभिन्न नाट्य-धाराओं का अवलोकन आवश्यक है। आज की सबसे वेगवती धारा रंगमंचीय समस्या-नाटकों की है। इस धारा पर पश्चिमीय नाटककारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। अतएव इस धारा को वेगवती बनाने में जो जल-प्रवाह सहायक हुए हैं उनका विवेचन आवश्यक है।

आज के प्रमुख गीतिनाट्यकार हैं—सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारीसिंह ‘दिनकर’, जानकीवल्लभ शास्त्री, हरिवंशराय ‘बच्चन’, हंसकुमार तिवारी एवं गिरिजाकुमार माथुर। यहां प्रत्येक की रचनाओं का विश्लेषण समीचीन होगा।

समस्या-नाटक

स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया के रूप में ‘जोला’ ने सर्वप्रथम प्रकृतवाद की

१. क्रांतिकारी, उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ ६६, सं० २०१० वि०

२. क्रांतिकारी, उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ ६४

स्थापना की। उसने तर्क के बल पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राकृतिक व्यवस्था से बिच्छिन्न मानव-अस्तित्व की स्थापना अदूरदर्शिता और अस्वाभाविकता की परिचायक है। पशु-पक्षियों के सदृश मानव में भी काम और क्षुधा की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं और मानव का समस्त आचार-व्यवहार उन्हींसे परिलक्षित होता है। उसने अपनी पुस्तक—ले नेचुरलिज़्म अ थियेटर—में इस स्वच्छन्दतावाद का विरोध करते हुए इस बात पर जोर दिया कि मानव की आधुनिक प्रवृत्तियाँ यथार्थ स्थिति एवं यथार्थत्व की ओर अधिक उन्मुख हैं। अब वे स्वच्छन्दतावाद के काल्पनिक सुखद स्वप्नों को अप्राकृतिक समझकर जीवन की वास्तविक विभीषिका, अनैतिकता की समस्याओं के समाधान के आविष्कार का प्रयास कर रही हैं। अतः आज के कलाकार को जनसामान्य की भीषण परिस्थितियों, उनकी आवश्यकताओं का निरीक्षण एवं परीक्षण करना अनिवार्य हो गया है। स्वच्छन्दतावादी धारा की न कथावस्तु और न भाषा-शैली ही आधुनिक युग के उपयुक्त हो सकती है।

प्रत्येक आधुनिक साहित्यिक आन्दोलन प्राचीनता का विरोध करता हुआ नवीन स्थापना का अवलम्बन ग्रहण करता है। किन्तु काल-चक्र के थपेड़ों से वह कालान्तर में अव्यवहार्य एवं अनुपयुक्त सिद्ध हो जाता है। ठीक यही बात स्वच्छन्दतावाद (Romantic Movement) की भी हुई। डेविस ने अपने ग्रंथ 'नेचुरलिज़्म इन ड्रामा' में यह घोषित किया था कि 'रोमांटिक' पुनरुत्थान ने रूढ़िवाद की शृंखलाओं को तोड़ डाला है, किन्तु रूढ़िवाद के विशाल पर्वत के सम्मुख नवीन साहित्यिक आन्दोलन मेघ-घटा बनकर टकराते हैं और जल-वर्षा कर अन्तरिक्ष में विलीन हो जाते हैं और रूढ़िवाद का वह अचल हिमाचल पूर्ववत् खड़ा गर्व से मस्तक उठाए मेघ-घटाओं को ललकारता हुआ दिखाई देता है। कभी-कभी तो मेघ-राशि हिमपात करके उसके मस्तक को और भी आभामण्डित करके स्वतः विलय को प्राप्त हो जाती है। यही दशा स्वच्छन्दतावाद की हुई। जिस रूढ़िवाद का विरोध करने की इसने घोषणा की थी, प्रकृति के प्रभाव से वह रूढ़िवाद का अचल हिमाचल पूर्ववत् बना रहा और उसके चतुर्दिक् यथार्थवाद का मेघ मंडराने लगा। सबसे बड़ा मेघखण्ड 'इब्सन' के रूप में आया। इसके अतिरिक्त चेखव, फ्रेड्रिक हेबल, स्ट्रिण्डबर्ग, सडरमैन, हाप्टमैन, आस्त्रावस्की तथा बर्नार्ड शाँ भी उल्लेखनीय हैं।

१८६२ में इब्सन ने 'लक्स कॉमेडी' नामक नाटक लिखा। इसमें यह सिद्धांत निरूपित किया कि "यदि तुम प्रेम करते हो तो विवाह से दूर रहो और यदि विवाह करना हो तो प्रेम करना छोड़ दो।"

यथार्थवाद के इस आन्दोलन का प्रभाव भारत पर पड़ना भी स्वाभाविक था। हमारे देश के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के माध्यम से पठन-पाठन प्रारम्भ हो चुका था। सहशिक्षा के कारण वैवाहिक जीवन में नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। संस्कृत के आदर्शवादी नाटकों की ज्योति धूमिल पड़ चुकी थी। बंगाल में द्विजेंद्रलाल राय, दीनबन्धु मित्र के

नाटकोंकी पुरानी पीढ़ी में धूम मच रही थी, परन्तु नवयुवक समाज उनकी आदर्शवादिता से असन्तुष्ट होकर यथार्थवाद की ओर उन्मुख हो रहा था। नाटक दर्शकों के लिए विरचित होते हैं, और दर्शकों में युवक-दल प्रधान होता है। अतः उनकी रुचि के अनुसार नाटक-कारों का ध्यान यथार्थवाद की ओर गया। नेकल ने ठीक ही कहा है :

“The truth, of course, is that the really strong playwright is the man who is in tune with the audience, but who may perhaps desire to play some melodies for the reception of which the audience is nearly, but not quite ready.”

हिन्दी नाटककारों में यथार्थवाद का सर्वाधिक प्रभाव लक्ष्मीनारायण मिश्र के ऊपर पड़ा। उनके नाटकों का विवेचन हम पूर्व अध्याय में कर आए हैं। उनके यथार्थवादी नाटकों का आधार-स्तम्भ प्राकृतिक अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। क्योंकि प्रेम के सम्बन्ध में उनका एक पात्र कहता है—“जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता, उसी तरह स्त्री या पुरुष बिना काम नहीं चल सकता। यह प्रकृति की बात है। इसे इसी रूप में छोड़ देना चाहिए—जब जरूरत पड़े तब। लेकिन रात-दिन उसी चिन्ता में पड़े रहना और इसे प्रेम का नाम देना—शायद यही पाप है। और कुछ पाप है या नहीं, लेकिन यह तो जरूर पाप है। यह एक मर्ज है—किसीको ज्यादा खाने का मर्ज होता है तो किसीको ज्यादा पानी पीने का और किसीको जवानी की इस बुराई का, जिसे लोग प्रेम कहते हैं।” वही आगे चलकर कहती है कि “तुमने मुझे प्रेम किया था और मैंने भी तुम्हें प्रेम किया था……लेकिन हम लोगों के प्रेम का आधार वासना, जवानी की उपभोग की इच्छा……ईश्वर ने हम दोनों को बचा लिया।”

पाठक देखेंगे कि ये विचार ‘इक्सन’ के ‘लव्स कामेडी’ में प्रतिपादित विचारों से कितना साम्य रखते हैं! यह तथ्य एक और उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जाता है। ‘सिन्दूर की होली’ में मनोरमा विधवा कहती है कि “मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती; लेकिन प्रेमी बना लूंगी।” सहशिक्षा के कारण युवक-युवतियों में जो विवाह की नई समस्या खड़ी हुई थी, उसकी ओर सबसे पैनी दृष्टि से ध्यान देनेवाले मिश्रजी हैं। यद्यपि वे पश्चिमी यथार्थवाद से प्रभावित होकर इस क्षेत्र में अवतरित हुए थे, तथापि अपने संस्कारगत आदर्शवाद का वे सर्वथा परित्याग न कर सके। रूढ़िवाद का विरोध करते हुए भी वे रूढ़िवादी हो गए। राम और सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला, नल-दमयन्ती, अज और इन्दुमती के आदर्श प्रेम को वे विस्मृत न कर सके। एक स्थान पर ‘सिन्दूर की होली’ में चन्द्रकला कहती है, “राम और सीता का, दुष्यन्त और शकुन्तला का, नल और दमयन्ती का, अज और इन्दुमती का प्रेम प्रथम दर्शन में ही हुआ था। स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है, क्या पूर्व क्या पश्चिम, क्या देश क्या विदेश। लेकिन मैं इस तरह अपनी सफाई न दूंगी। सम्भव है मेरा यह काम स्त्री-जीवन और समाज के विधान के नितान्त प्रतिकूल हो……लेकिन अब तो मैं कर चुकी। इसका मुझे दुःख नहीं है और न तो इसके

लिए मैं पश्चात्ताप करूंगी ।”

इम्सन का सबसे प्रसिद्ध नाटक, जो हिन्दी में भी अनूदित है, वह है, पंचशकीय ‘डॉल्स हाउस’ (गुड़िया का घर) ।

इस नाटक में युवक-वर्ग का प्रतिनिधि है ‘स्टेंसगार्ड’ । इसमें हेल्मर और नोरा का वार्तालाप शिक्षित नारी की वैवाहिक समस्या पर अच्छा प्रभाव डालता है । ‘डॉल्स हाउस’ में नोरा कहती है :

“मैं समस्याओं पर स्वतः विचार कर समाधान निकालूंगी ।”

नोरा—लेकिन हमारा घर अब कुछ नहीं रहा है ; वह तो क्रीड़ास्थल-मात्र रह गया है । मैं जिस प्रकार घर में पप्पा की बच्ची-गुड़िया थी, ठीक उसी प्रकार अब आपकी पत्नी-गुड़िया हो गई हूँ और यहां पर बच्चे हमारी गुड़िया हो चले हैं । जिस प्रकार जब मैं उनके साथ खेलती थी तो वे इसे एक तमाशा समझते थे, उसी प्रकार जब तुमने मेरे साथ खेल किए तो मैं भी उसे एक तमाशा ही समझी, जिसका परिणाम हुआ है हम लोगों का परिणय ।

हेल्मर—जो कुछ तुम कहती हो उसमें कुछ सत्य अवश्य है । परन्तु क्रीड़ा-काल व्यतीत हो चला, अब अध्ययन-काल आरम्भ हो चुका है ।

नोरा—किसका अध्ययन ? हमारा या बच्चों का ?

हेल्मर—दोनों का, तुम्हारा भी और बच्चों का भी ।

नोरा—आप मुझे अपनी योग्य पत्नी बनाने के विचारों से युक्त उपदेश देने के काबिल नहीं हैं ।

हेल्मर—पर वह तुम कह सकती हो ।

नोरा—मैं जा रही हूँ, अपने को स्वयं शिक्षा दे लूंगी । आप मेरी सहायता के योग्य नहीं हैं ।

हेल्मर—अपने बच्चों और अपने पति के प्रति ये तुम्हारे कर्तव्य हैं ।

नोरा—मेरे और भी तो कर्तव्य हैं ! अपने प्रति भी तो कर्तव्य है । मुझे विश्वास है कि अन्य समस्त बातों के पूर्व आपकी ही तरह मैं भी एक जीव हूँ ।

जो पुस्तकों में मिलता है तथा अधिकतया जो लोग कहा करते हैं, मैं उसमें अधिक देर उलझी नहीं रहूंगी । हमें अपने दृष्टिकोण से वस्तुओं पर विचार करना चाहिए और उनके तथ्य को समझना चाहिए ।

हेल्मर—क्या तुम्हारा कोई धर्म नहीं ?

नोरा—उससे तो मुझे डर लगता है । मैं अभी यह निश्चयात्मक रूप से जानती ही नहीं कि धर्म है क्या वस्तु ? मैं देखूंगी कि धर्म के नियन्ता (वलर्जीमैन) जो कहते हैं वह सत्य है या प्रत्येक घटना-क्षण में यह हमपर ही पूर्णतया सत्य है ।

हेल्मर—तो तुम्हारे भी वही आदर्श विचार हैं ।

नोरा—मैंने यह देखा कि ये सब विरोधात्मक हैं और वही सत्य है ।

बर्जान्सन के नाटकों में 'एन्हेन्सके' ('चुनीती' हिन्दी अनुवाद) सर्वश्रेष्ठ है। इसमें नाटककार ने पुरुषों की असहिष्णुता एवं क्षुद्रहृदयता का परिचय दिया है।

एल्फ्रेड क्रिस्टिसन अपनी पत्नी स्वावा के समक्ष अपने व्यतीत जीवन की त्रुटियों और कमजोरियों का उल्लेख करते हुए साथ-साथ यह भी कहता है कि यदि वे ही अपराध उससे हुए होते तो वह उसे क्षमा न करता। तब स्वावा कहती है, "सच्चरित्रता की यह कौन-सी तुला है, जिसमें पुरुष के लिए और बाट तथा स्त्रियों के लिए दूसरे?"

हरमैन सडरमैन जर्मनी के प्रख्यात यथार्थवादी नाटककार हैं। 'हाइहीमेट', जो 'मैगडा' के नाम से सन् १८९३ में प्रस्तुत हुआ, इनका सर्वोत्कृष्ट नाटक है।

इसमें 'मैगडा' एक स्वच्छन्द प्रेम की उपासिका युवती है। उसका एक गुप्त प्रेमी है जिससे स्वच्छन्द विहार करने के कारण गर्भवती हो जाने के अपराध में पिता घर से निष्कासित कर देता है। दूसरे नगर में रहते हुए वह विख्यात अभिनेत्री बन जाती है। तब उसे अपने प्रेमी से विवाह की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। परन्तु वह अब उसे स्वीकार नहीं। वह कहती है, "यदि हम ऊर्जस्वित होना चाहती हैं तो हमें पाप अवश्य करना चाहिए। पाप के द्वारा अधिक शक्तिशाली होना, खोखले आदर्शवाद से कहीं अधिक श्रेयस्कर है।"

वेडेकाइण्ड जर्मनी का प्रसिद्ध नाटककार हुआ है। १८९५ में उसने अपनी सर्वोत्तम रचना 'अर्डजिस्ट' प्रस्तुत की। यह दो खण्डों का नाटक है। इसमें लूलू नामक बालिका के स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण है। प्रथम उसे सून नाम के व्यक्ति द्वारा सदाचार पथ पर ले आने के लिए नृत्य की शिक्षा दिलाई जाती है। उसीके मित्र से उसकी शादी भी हो जाती है। विवाहोपरान्त भी लूलू अपना पूर्ववत् तितलियों का सा स्वच्छन्द उच्छृंखल आचरण नहीं बदलती और एक कलाकार से प्रेम कर लेती है। इससे उसके पति को बहुत बड़ा धक्का लगता है और वह मानसिक पीड़ा से मर भी जाता है। कलाकार से लूलू पुनर्विवाह करती है। उसके साथ भी वही व्यवहार होते हैं। अन्ततः वह भी आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार की जघन्य उच्छृंखलता को देखकर सून को अपार दुःख होता है और वह कहता है, "तुम्हारे हाथ पति के रक्त से रंग गए हैं।" लूलू प्रत्युत्तर में कहती है, "एक भी निशान न रह जाएगा, क्योंकि अब तुम मुझसे विवाह करोगे।" सून बाध्य होकर विवाह करता ही है। परन्तु शीघ्र ही अल्वा से, जो सून का कवि-पुत्र था, लूलू कहती है, "क्या तुम मुझे प्यार करते हो? मैंने ही तुम्हारी मां को विष देकर मारा है।" सून ने क्रोधवेश में लूलू को मारना चाहा परन्तु स्वयं उसकी गोली से मारा गया। हत्या के अपराध में अल्वा और लूलू बन्दी हुए। किसी तरह लूलू अल्वा के साथ काहिरा पहुँचती है। उसे अल्वा बेच देता है, परन्तु किसी प्रकार काहिरा पहुँचती है और एक भारतीय राजा से मिलकर अल्वा की हत्या करा डालती है। सबके बाद वह एक कोचवान के हाथ में पड़ती है वह इसे साधिन के रूप में दिखाता है।

इंगलैंड में यथार्थवादी नाटकों का प्रारम्भ टी० डब्ल्यू० राबर्टसन (१८२६-१८७१) से हुआ। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'कास्ट' है, जिसमें कथावस्तु कलारहित एवं

भावुकतापूर्ण और मैलोड्रामा के अनुरूप है। किन्तु रंगमंच पर उक्त नाटक यथार्थ जीवन के अत्यन्त समीप और चरित्रों तथा क्रिया-कलापों के अत्यन्त स्वाभाविक होने के कारण बहुत ही सफल रूप से सन् १८६७ में अभिनीत हुआ। इस नाटक का अंग्रेजी के यथार्थवादी नाटकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह सत्य है कि इब्सन के 'डॉल्स हाउस', 'घोस्ट्स', 'ऐन ऐनिमी ऑफ दि पीपुल' और 'व्हेन वी डैड अवेकन' राबर्टसन के नाटकों से कहीं अधिक कलापूर्ण, मनोवैज्ञानिक, विचार-प्रवण सिद्ध हुए थे। हेनरी आर्थर जोन्स और सर पिनरो के नाटक यथार्थवादी अथवा समस्या-नाटक रूप में प्रसिद्ध हुए, किन्तु इब्सन की नाट्य-कला की समानता न कर सके। इसके उपरान्त आस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००) और जॉर्ज बर्नर्ड शॉ प्रसिद्ध यथार्थवादी नाटककार हुए। आस्कर वाइल्ड का सबसे प्रसिद्ध यथार्थवादी नाटक 'दी इम्पोर्टेंस ऑफ वींग अनैस्ट' १८९५ में अभिनीत हुआ।

अंग्रेजी साहित्य में गाल्सवर्दी का एक विशेष स्थान है। न्यायालय से बैरिस्टर के रूप में सम्बन्धित होने के कारण वह इंग्लैंड की न्याय-सम्बन्धी समस्याओं का पूर्ण ज्ञाता था। उसके नाटक 'स्टाइफ' (१९०६), 'जस्टिस' (१९१०), 'लॉयल्टीज' (१९२२) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, जिनमें दो का अनुवाद मुंशी प्रेमचन्द ने किया है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनके अनिरिक्त जॉन अरविन ने डबलिन में यथार्थवादी नाटकों का प्रचार किया। ऐबे थियेटर में लेडी ग्रेगरी, जो स्वयं नाट्यकार थी, अरविन के नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय करती रही। समस्या-नाटकों के निर्माताओं में सिंगी (१८७१-१९०६) का प्रधान स्थान माना जाता है। उनके नाटक 'प्ले-ब्रॉय ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड' में आयरिश चरित्र का व्यंग्यपूर्ण विश्लेषण किया गया है। यथार्थवादी नाटकों में काव्यत्व का सम्मिश्रण ईट्स और सिंगी की कृपा से हुआ। इनका 'राइडर्स टू द सी' सर्व-प्रसिद्ध है। इसमें एक कृषक अबला का अकिंचन बालक समुद्र-तट पर बहती हुई लकड़ियों को एकत्र करने के प्रयास में डूब जाता है।

अंग्रेजी के जिन यथार्थवादी नाटककार का प्रभाव हिन्दी में सबसे अधिक रहा वे हैं बर्नर्ड शॉ (१८६६-१९५०)। वे नाट्यकार के साथ आलोचक भी थे। बुद्धि से खिल-वाड़ उनका नित्य का व्यवसाय था। उनके विविध नाटकों में समाज की विविध समस्याएं अभिव्यक्त हुई हैं। उनके प्रारम्भिक नाटक चरित्र-प्रधान हैं। 'मिसेज़ वारेन्स प्रोफेशन' नामक नाटक में वेश्या-व्यवसाय की आलोचना है। इनके नाटकों में सामयिक समस्या के साथ-साथ जान्सन के सदृश हास्य तथा ग्रीक नाटकों के सदृश गाम्भीर्य भी पाया जाता है। इन्होंने अपने नाटकों में इतिवृत्त को सर्वाधिक महत्त्व दिया और चरित्र-चित्रण को उसके पश्चात्। इनके यथार्थवादी नाटकों की अपनी ही विशेषता है। 'मैन ऐण्ड सुपरमैन' में दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन है और 'पिगमेलियन' में पौराणिक कहानी और दन्तकथनों को मानवीय एवं बुद्धिवादिता की कसौटी पर कसने का प्रयास किया है। इसमें एक नन्ही बालिका मंत्रबल से युवती के रूप में परिणत कर दी जाती है।

बर्नर्ड शॉ का नाटक में सबसे बड़ा योगदान वार्तालाप की तकशैली है। कोई भी

नाट्यकार इस क्षेत्र में उसे पराजित नहीं कर सकता। समाज की पवित्रतम धारणाओं की पोल खोलकर उनपर कटाक्ष करना और भ्रष्टाचार तर्कों से उसकी निस्सारता सिद्ध कर देना उनके नाटकों की विशेषता है। उनका मत है कि सम्य मनुष्य या तो विकास करेगा या विनाश की ओर जाएगा। एक आलोचक उनके नाटकों की आलोचना करते हुए कहता है :

‘The Life Force’ or God, would not tolerate that man should continue with his cruelty, his corruption and ineffectuality. That central theme he illustrated through every phase of life, from education and social conditions to politics, international affairs and religion.

(जीवनी शक्ति मानवजाति की आज की निर्दयता, उसके व्यभिचार एवं उसकी निष्प्रभता को सहन नहीं कर सकती। इस सन्देश को जनता तक पहुंचाने के लिए उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से—शिक्षा, संस्थाओं, सामाजिक परिस्थितियों, राजनैतिक स्थितियों, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं धार्मिक तत्त्वों से कथा ग्रहण की है।)

आलोचकों का मत है कि यदि शॉ ने बौद्धिक चमत्कारों के साथ आवश्यकता से अधिक खिलवाड़ न किया होता तो उसका सन्देश सरलता से जनसाधारण तक पहुंच जाता। भारतीय नाट्यकारों में शॉ के समान प्रतिभा केवल रवीन्द्रनाथ टैगोर में पाई गई। अतः उनके अतिरिक्त और कोई भी नाटक-निर्माता शॉ की शैली की तुलना में खड़ा नहीं हो सका। लक्ष्मीनारायण मिश्र के सम्वादों में यत्र-तत्र वैसा तीखा व्यंग्य दिखाई पड़ता है पर उनके नाटक सब मिलाकर शॉ के सामने अत्यन्त धूमिल पड़ जाते हैं।

हिंदी के आधुनिक समस्या-नाटककारों के सामने एकमात्र इब्सन का ही आदर्श दीखता है। उपेन्द्रनाथ अश्व, भगवतीचरण वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, रेवतीशरण, रमेश मेहता, वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविंददास आदि इब्सन, शॉ, हेम्पटन, गाल्सवर्दी एवं चेखव के अनुवर्ती प्रतीत होते हैं।

पृथ्वीनाथ शर्मा के द्विविधा नाटक में उस युवती के प्रेम एवं वैवाहिक सम्बन्ध की चर्चा की गई है जो विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी है। इसके सभी पात्र उच्च शिक्षा-प्राप्त हैं। केशव विलायत से बैरिस्टर बनकर आया है। विनय ने भी ऊंची शिक्षा प्राप्त की है, किन्तु वह अकर्मण्य है। अकर्मण्यता के साथ-साथ उसमें नैराश्य-जनित व्याकुलता और असन्तुलित आत्माभिमान भी है। किन्तु केशव आधुनिक युग की नारी का मनोविज्ञान समझनेवाला प्रवीण युवक है। नायिका सुधा में भावुकता की मात्रा अधिक है। वह नाना प्रकार की स्वप्निल नवीन कल्पनाओं में डूबती-उतराती रहती है। किन्तु अन्त में अपने विचारों के साथ समझौता करने का निश्चय करती हुई प्रणयी जीवन बिताना चाहती है पर समझौता कर नहीं पाती और द्विविधा में ही पड़ी रहती है।

इसमें एक नारी के दो प्रेमियों की प्राचीन कथा में मनोवैज्ञानिकता लाने का प्रयास किया गया है। सुधा का अन्त तक द्विविधा में पड़ा रहना अन्त तक अविविधता

आधुनिक नारियों के मनोभावों का सूचक है। 'अश्व' जी के 'स्वर्ग की भूलक' में भी ऐसी ही नारियों के मनोभावों का चित्रण है, लेकिन वह चित्र द्विविधा से अधिक गहरा हो पाया है। दोनों नाटकों का उद्देश्य है 'स्वच्छन्द प्रेम की असारता सिद्ध करना'।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्ण विरचित समस्या-नाटकों में विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा-प्राप्त युवतियों के यूरोपीय स्वच्छन्द प्रेम एवं भारतीय वैवाहिक प्रेममय जीवन की तुलना करने का प्रयास किया गया था, उसी प्रकार आज के समस्या-नाटकों में भी प्रायः नारी के मनोविज्ञान का ऐसा ही चित्रण देखने को आता है।

'स्वर्ग की भूलक' में रघुनन्दन अपनी पत्नी के रूप में गृह-कार्य में कुशल अल्प-शिक्षिता नारी को गुड़िया, रसोइया या दर्ज़िन कहकर पुकारता है और अशोक, राजेन्द्र तथा सत्य की ग्रेजुएट पत्नी के समान उच्च शिक्षा-प्राप्त नारी की आकांक्षा करता है। किन्तु अन्त में अशोक और राजेन्द्र के घर की उच्चशिक्षिता नारी की दशा देखकर अपना विचार बदल देता है। ऐसा ही एक दृश्य हमें विष्णु प्रभाकर के 'डाक्टर' नाटक में देखने को मिलता है। इस नाटक में इंजीनियर सतीशचन्द्र शर्मा का विवाह अल्पशिक्षिता रमणी अनीला के साथ भारतीय पद्धति से होता है। किंतु इंजीनियर की हादिक अभिलाषा उच्च-शिक्षिता नारी के साथ जीवन बिताने की थी। अतः उसने मरीज़ा नामक एक शिक्षिता नारी से द्वितीय विवाह किया और अनीला को विवश होकर घर त्यागना पड़ा। उसने सतत प्रयास के द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त की और अपना एक 'नर्सिंग होम' स्थापित किया। इंजीनियर की रग्णा पत्नी मरीज़ा अनीला के नर्सिंग होम में उपचार के लिए आती है और उसका बड़ा गम्भीर ऑपरेशन करना आवश्यक हो जाता है। अनीला सारी स्थिति समझ जाती है।

इस नाटक में डाक्टर केशव के वार्तालाप के द्वारा प्रेम का रहस्य समझाने का प्रयास किया गया है। अनीला पूछती है—प्रेम क्या है केशव ? केशव—दूसरे में स्वार्थ को पाना और डर से मुक्ति, यही प्रेम की परिभाषा है।

अनीला—प्रेम कुछ नहीं चाहता। प्रेम स्वयं मुक्ति है।

केशव—इस धरती पर तो दो प्राणी प्राणरक्षा के लिए, स्वार्थ के लिए पास आते हैं। एक-दूसरे से परच जाने को विवश होते हैं और एक दिन प्रेम के देवता बन जाते हैं।

अनीला और केशव के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनीला के मन में अपनी सपत्नी के प्रति एक संघर्ष चल रहा है और अवसर पड़ने पर उसका बदला लेना चाहती है। ऑपरेशन के समय ऑपरेशन-थियेटर में अनीला मरीज़ का ऑपरेशन करने के लिए प्रस्तुत है। उसके अन्तःकरण से यह ध्वनि आ रही है—“डाक्टर अनीला ! शाबाश ! यही सुनहला अवसर है। अपना बदला लो। नारी के अपमान का बदला लो। मैं ही तुम्हारी प्रगति का कारण हूँ। मैं पुरुष को तड़पते देखना चाहती हूँ.....निकल जाने

दो प्राण । नस-नाड़ियों को बंद मत करो । इस गाल ब्लेडर को देखो, कैसा खराब है ! इसे काटो मत । (तीव्र स्वर) तुम सुनहला अवसर खो रही हो । शत्रु को प्राण दे रही हो । तुमने इसे मार डालने का निश्चय किया था । (हताश क्रोध) तुमने गाल ब्लेडर काट दिया । तुमने केशव की बात मानी । (अल्पविराम जैसे धौंकनियां चलती हों) फिर एक-दम तेज) अब भी अवसर है, छोड़ दे, फोरसेप्स अंदर छोड़ दे, सीमित, ओह, ओह, तू नहीं सुनती, नहीं सुनती, ओह, ओह, तूने मुझपर ही छुरी चला दी, तूने मधुलक्ष्मी की हत्या कर दी, तू अपने अपमान को भूल गई, अपनी प्रतिज्ञा को भूल गई ।”

यथार्थवादी एकांकियों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ के ‘जय-पराजय’, ‘स्वर्ग की भलक’, ‘छठा बेटा’, ‘भंवर’, ‘कंद’, ‘उड़ान’, ‘पेंतरे’, ‘अलग-अलग रास्ते’, इनके पूर्ण नाटक हैं । इनमें जय-पराजय के अतिरिक्त प्रायः सभी अन्य नाटकों में शैलीगत नवीनता पाई जाती है । इनमें शास्त्रीय परम्परा की उपेक्षा और पाश्चात्य शैली का अनुसरण पाया जाता है ।

‘स्वर्ग की भलक’ आधुनिक शैली पर लिखा गया है । नाटककार ने ‘स्वर्ग की भलक’ की भूमिका के अंदर लिखा है :

“नाटक का उद्देश्य शिक्षा अथवा आधुनिक नारी के विरुद्ध न होकर उस मनोवृत्ति के विरुद्ध होना है जो हमारे यहां अधिक शिक्षित लड़की में पैदा होती जाती है । ... प्रत्येक शिक्षित लड़की के लिए पूर्ण रूप से आधुनिक साथ ही धनी पति का मिलना कठिन है ।”

‘अशोक’ तथा ‘प्रो० राजेन्द्र’ दो प्रमुख पात्र हैं, जिनकी स्त्रियां शिक्षिता हैं । उनका मित्र रघु सोचा करता है कि वे पूर्ण सुखी होंगे, पर उनके जीवन की यथार्थ स्थिति को समझकर और उनसे प्रभावित होकर अपनी शादी एक सामान्य कोटि की लड़की से कर लेता है । समस्त नाटक में आधुनिक शिक्षित नारी-वर्ग की समस्या के विश्लेषण का प्रयास हुआ है ।

‘पेंतरे’ व्यंग्य-हास्य-प्रधान, बम्बई के फिल्मि क्षेत्रों में काम करनेवाले कवि, अभिनेता, लेखक रंगरूट, निर्देशक आदि के जीवन का चित्र उपस्थित करनेवाला त्रिअंकीय नाटक है । प्रत्येक अंक में दो दृश्य हैं । इसमें प्रमुख समस्या आवास की अप्राप्ति की है तथा अनुवर्ती समस्या है, भारतीय चलचित्रों में छद्म व्यवहार । परिशिष्ट में अशक ने स्वयं लिखा है कि उनको इसकी मूल प्रेरणा मकानों की समस्या से प्राप्त हुई है ।

नाटक के प्रथम अंक में अभिनेता रशीदभाई सामाजिक फिल्म के डाइरेक्टर कादिर को सपरिवार चाय पर आमन्त्रित करता है और उस फिल्म में काम पाने के प्रलोभन से बम्बई नगर में मकान की समस्या जटिल होते हुए भी अपना आवास स्थान डाइरेक्टर को समर्पित कर देता है और स्वयं अपने मित्र शाहवास के यहां निवास प्रारम्भ करते हुए उसे यह आश्वासन देता है कि डाइरेक्टर साहब की कृपा से आपको भी फिल्म में समुचित कार्य दिला दूंगा । इसी प्रलोभन से शाहवास अपना आवास रशीद को समर्पित कर स्वयं नौकरों के साथ सीढ़ी पर सोता है । शाहवास रशीद भाई की सब प्रकार से मस्के-

बाजी करता है और उन्हें मदिरालय में प्रायः सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है। तीसरे अंक में कादिर और शाहवास के पड़ोसी पंजाबी किरायेदारों और गुजराती सेठों के बीच नित्य होनेवाले कलह का भीमत्स चित्रण है। नाटक का पर्यवसान उस स्थान पर होता है जहाँ शाहवास नौकरों के साथ सीढ़ी पर सोते हुए कहता है :

“अरे भाई, एक फिल्म में हमें नौकर का पार्ट अदा करना है। कुछ दिन तुम्हारे पास सीढ़ी पर सोकर देखें कि तुम लोगों पर कैसी गुजरती है। जभी तो अच्छा पार्ट कर पाएंगे।”

इस नाटक में दो प्रमुख पात्र हैं रशीद और प्रकाश। रशीद के द्वारा बड़े नगरों में आवास-समस्या व कृत्रिम फिल्मी जीवन का भण्डाफोड़ तथा प्रकाश के द्वारा उन साहित्य-कारों की प्रतिभा का हनन दिखलाया गया है जो फिल्मी क्षेत्र के असाहित्यिक परिवेश में उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख एवं आदर्शच्युत हो जाते हैं।

अंजो दीदी

यद्यपि इस नाटक की रचना का प्रारम्भ सन् १९४३ में हो गया था, किन्तु इसकी पूर्णवृत्ति एक युग (बारह वर्ष) के उपरान्त १९५५ में हुई। ‘अंजो’ अभिजात्य वर्ग की नियन्त्रित और अनुशासित प्रवृत्ति की महिला है। इसका वास्तविक नाम ‘अंजलि’ है। वह पारिवारिक जीवन को यन्त्र के समान संचालित करने में सदा व्यस्त रहती है। यदि कोई भी पुर्जा अपने कर्तव्यपालन में एक क्षण का विलम्ब करता है तो उसे अनुशासन के दंड से ठोक-ठाककर ठीक करती रहती है। ठीक आठ बजे घर का प्रातराश, मध्याह्न एक बजे भोजन, तीसरे पहर तीन बजे नाश्ता और नौ बजे रात का भोजन नियमित रूप से होता रहता है। इसमें क्षणिक विलम्ब उसे असह्य होता है। समय-पालन के साथ गृह-स्वच्छता, बस्तु-स्वच्छता आदि गृह-सम्बन्धी विषयों की उसे ऐसी सनक हो गई है कि गृह के दास-दासियों का तो कहना क्या, स्वयं पतिदेवता वकील साहब की भी मस्ती, उन्मुक्तता गृह-परिधि में आते ही विसर्जित हो जाती है। ग्यारह वर्षीय बालक नीरज, जो माता के नियन्त्रण में सदा सिकुड़ा-सा रहता था, वयस्क होने पर कठोर अनुशासन की प्रतिक्रिया के कारण उच्छृंखल होता जा रहा है। उसे क्रिकेट का कप्तान बनने की आकांक्षा थी, परन्तु अंजो तो उसे डिप्टी-कमिशनर बनाना चाहती थी।

नीरज की पत्नी ‘ओमी’ अंजो दीदी का आदर्श सदा सामने रखती है। वह अपने पुत्र नीलम को आई० ए० एस० बनाना चाहती है। नीलम की रचि न, क्रिकेट में है, न आई० ए० एस० बनने में बल्कि वह एक कवि बनना चाहता है। नीरज के मामा हैं श्रीपति, जो वचन में जितने ही फक्कड़ थे अब उतने ही गम्भीर हो गए हैं। पर उन्हें किसी भी प्रकार की सनक या फंड नहीं है। अपनी आदत को सनक बनने के पूर्व ही वे दूसरी दिशा में मोड़ देते हैं। उन्होंने नीलम को कवि बनने का परामर्श दिया है, जिस प्रकार बीस वर्ष पूर्व नीरज को डिप्टी-कमिशनर का स्वप्न छोड़कर क्रिकेट का कप्तान बनने का आदेश दिया था।

इसी बीच अंजो दीदी का देहान्त हो जाता है। इसके बाद ही घर में पूरा परिवर्तन हो जाता है। वकील साहब जो उसके जीवन-काल में उसके वर्जित करने पर भी निष्पक्ष मदिरा-पान करते थे और जिसके कारण अंजो की मृत्यु भी हुई थी वे अब शराब को कभी हाथ भी नहीं लगाते। इस परिवर्तन का कारण था अंजो की मृत्यु।

भोमी कहती है, “उस दशा में ममी की मृत्यु से पापा के दिल पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उन्होंने फिर न घर न कचहरी—शराब को कभी हाथ नहीं लगाया। अपना जीवन नियमित बना लिया उन्होंने और एकदम संन्यासी-से बन गए।”

नाटक के अन्त में श्रीपति अंजो के चरित्र का विश्लेषण करते हुए कहता है, “वह इस घर की घड़ी की तरह चलाना चाहती थी। पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है। इन्सान मशीन नहीं……इन्सान का मशीन बनना सनक का दूसरा रूप है। अंजू यदि इसे समझती तो जीजाजी को चोरी से शराब पीने और अंजू को मरने की ज़रूरत न पड़ती।”

इस नाटक की मूल समस्या है, पति-पत्नी में विचारों की विषमता। दो प्राणी जब अपने किसी नियम की पराकाष्ठा पर पहुँचकर तदनु रूप आचरण करने लगते हैं तो कलह अवश्यम्भावी हो जाती है।

अलग-अलग रास्ते

इस नाटक में वैवाहिक समस्या का उग्र रूप दिखाई पड़ता है। इसमें दो वर्ग के पात्र हैं। प्राचीन संस्कार के प्रतीक ताराचन्द, त्रिलोक, उदयशंकर और राज हैं तथा दूसरे वर्ग में हैं—रानी और पूरन। राज शील और मर्यादा के बंध होकर दूसरी नारी से प्रेम करनेवाले पति त्रिलोक के साथ पातिव्रत-धर्म का पालन करती है। रानी आधुनिक युग की नारी है, जो क्रान्ति का सन्देश लेकर, प्राचीन सड़ी-गली परम्पराओं का उन्मूलन करने पर तुली हुई है। पिता के आग्रह पर भी वह अपने लोभी पति के साथ जाना उचित नहीं समझती। रानी अपने पिता ताराचन्द से कहती है, “आपके धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिताजी। आपका धर्म भी पुरुषों का धर्म है।” परिणाम यह होता है कि विद्रोही पूरन और रानी परम्परावादी पिता का घर त्यागकर अन्यत्र चले जाते हैं। किन्तु राज पति से अपमानित होने पर भी अपने स्वशुभ के यहाँ शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करती है। इस प्रकार जितने पात्र हैं सबके अलग-अलग रास्ते हैं।

हम पूर्व संकेत कर आए हैं कि आर्थिक विषमता की समस्या का आधार बनाकर भी समस्या-नाटक लिखे गए। ऐसे नाटकों में भगवतीचरण वर्मा का ‘तुम्हें रुपया खा गया’ और रामनरेश त्रिपाठी का ‘पैसा परमेश्वर’ प्रसिद्ध हैं।

‘तुम्हें रुपया खा गया’ का नायक है सेठ मानिकचन्द, जो एक फर्म में लेखक का कार्य करते हुए परम सुखी एवं सन्तुष्ट था। श्रीसम्पन्न होने की उत्कट स्पृहा से उसके मन में पाप-वासना जागरित होती है और वह दस हजार रुपया फर्म से चुराकर दूसरे नगर में जा बसता है। आयात-निर्यात-व्यापार में प्रवञ्चनापूर्ण व्यापारिक कौशल से करोड़-

पति बन जाता है। परिवार के सभी व्यक्ति उससे धन चूसना चाहते हैं। किसीके हृदय में ममता एवं प्रेम नहीं। वह रूग्णावस्था में पड़ा है, परन्तु पत्नी मसूरी में कला-केन्द्र की स्थापना करा रही है। पुत्री को पति-गृह से आने का भ्रवकाश नहीं और पुत्र धनार्जन में व्यस्त है। तब भी मानिकचन्द टेलीफोन पर व्यापार करता रहता है। डाक्टर के विश्राम के परामर्श को ठुकराता रहता है। टेलीफोन से सट्टे के व्यापार में सत्रह लाख का घाटा होता है और पुत्र उसे विक्षिप्त घोषित करता है। इसी समय उस फर्म का कैशियर जिसे पांच हजार रुपये के गबन के मिथ्यापराध में दीर्घकाल तक बन्दीगृह की यन्त्रणा सहनी पड़ी थी मानिकचन्द के सामने आता है। यह व्यक्ति किशोरीलाल है जो मानिकचन्द के चिकित्सक का पिता है। किशोरीलाल उसे (मानिकचन्द को) सान्त्वना देता है।

इन्कम-टैक्सवालों ने चालीस लाख रुपये का नोटिस दिया है। इस कारण भवन और मानिकचन्द की स्त्री चिन्ताग्रस्त अवस्था में मानिकचन्द से सेफ की चाबी मांग रहे हैं। मानिकचन्द जीवितावस्था में चाबी देना अस्वीकार कर देता है। किशोरीलाल मानिकचन्द को तिजोरी की चाबी देने की सलाह देता है। किन्तु मानिकचन्द उससे कहता है, “नहीं किशोरीलाल, तुम अपना रुपया वापस ले लो और अपने अभिशाप से मुझे मुक्त कर दो।”

किशोरीलाल—किस-किसके अभिशाप से मुक्त होते फिरोगे, मानिकचन्द ! तुम अभिशाप को गलत समझ रहे होगे। तुम्हारे ऊपर मेरा अभिशाप नहीं, अभिशाप रुपये का है।तुम्हारी सुख-शान्ति अर्थ के पिशाच ने तुमसे छीन ली, तुम्हारा सन्तोष उसने नष्ट कर दिया। उस दिन जब तुम दस हजार रुपया चुराकर लाए थे, तब तुमने समझा था कि तुम रुपया खा गए.....लेकिन तुमने बहुत गलत समझा था।

मा०—मैंने गलत समझा था ?

कि०—हां, तुमने गलत समझा था। मैं कहता हूं कि तुमने रुपया नहीं खाया था, रुपया तुम्हें खा गया।

इस नाटक में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि अर्थ-पिशाच मनुष्य की ममता, दया, प्रेम आदि कोमल भावनाओं का गला घोट देता है और मानव की मानवता को खा जाता है।

पैसा परमेश्वर

रामनरेश त्रिपाठी का ‘पैसा परमेश्वर’ नाटक कला की दृष्टि से उक्त नाटक से निम्न कोटि का है। इसमें न इतिवृत्त का चमत्कार है न दृश्य-विभाजन ही नाटकीय शैली का। यदि यह उपन्यास-रूप में लिखा गया होता तो अधिक अच्छा होता।

नया समाज

उदयशंकर भट्ट का ‘नया समाज’ जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन के उपरान्त जमींदारों की परिस्थिति दिखलाने के उद्देश्य से लिखा गया है। इस नाटक में जमींदार मनोहरसिंह के परिवार का चित्रण किया गया है। जमींदारी के उन्मूलन से उनकी आर्थिक

स्थिति शोचनीय बन गई है, तो भी उनके परिवार के रहन-सहन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका पुत्र चन्द्रवदनसिंह ईसाई कन्या 'रीटा' से प्रेम करता है और पुत्री 'कामना' कल्पनालोक में विचरण करती है तथा अपने नौकर रूपा (जो पुरुष-वेशधारी कन्या है) पर मुग्ध है। एकबार चन्द्रवदन रूपा के सौन्दर्य पर रीझ गया और उससे विवाह करने के लिए तत्पर हुआ। उसी समय एक गड़रिये ने दूहस्योद्घाटन किया कि रूपा तो मनोहर-की जारज कन्या है, जिसे मृतक समझकर गाड़ दिया गया था। रूपा के दुःखी होने पर 'कामना' सान्त्वना देती है कि हम दोनों एक ही पिता की सन्तान हैं।

अब मनोहरसिंह किकर्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। इसी समय उनके मित्र धीरेन्द्र-सिंह के पुत्र कह उठते हैं, "रूपा निर्दोष है। मैं उसे स्वीकार करता हूँ।"

इस नाटक में ज़मींदारी के दिनों के ज़मींदारों के उच्छृंखल चरित्र का चित्र उप-स्थित किया गया है। उनकी वर्तमान स्थिति का यदि यथार्थ चित्रण किया गया होता तो यह एक सफल नाटक सिद्ध होता। इसमें नाटककार एक समस्या को प्रमुखता नहीं प्रदान कर सका है। यौन-समस्या, जारज-समस्या, प्रतिलोम विवाह-समस्या, आर्थिक समस्या आदि समस्याएं आपस में उलझती हुईं दीख पड़ती हैं और कोई भी समस्या पूरी तरह उभरकर घरातल पर नहीं आ पाती।

नये नाटकों में विनोद रस्तोगी-कृत 'नये हाथ' नामक नाटक का अभिनय सर्व-प्रथम 'न्यू इम्पायर हाल' कलकत्ता में २२ अप्रैल, सन् १९५७ को हुआ। नाटक का उद्देश्य है—“रहे हैं नये हाथ ललकार, नये हाथों की सुनो पुकार।” इस नाटक में भी 'नया समाज' के सदृश भूतपूर्व ताल्लुकेदार के परिवार की जीवन-गाथा है। सामन्तवादी ताल्लुकेदार अजयप्रताप अर्धेष्ट व्यक्ति हैं। ताल्लुकेदारी से बंचित रहकर भी वे अपनी शान को पूर्ववत् बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। राजा नरेन्द्रपाल से ऋण लेकर अपने वैभव को पूर्ववत् बनाए रखने के प्रयास में उनका सारा जीवन बीत रहा है। जब ऋण चुकाने और पुत्री के विवाह का प्रश्न आता है तो वे व्याकुल हो उठते हैं। नरेन्द्रपाल के पुत्र महेन्द्रपाल और पुत्री शालिनी यूरोप-भ्रमण के उपरांत वैवाहिक जीवन को अनावश्यक समझकर स्वतन्त्र जीवन बिताने के पक्ष में हैं। कुंवर महेन्द्रपाल विवाहित पुरुष को स्त्री का पिटू और शालिनी विवाहिता स्त्री को पुरुष की दासी समझकर विवाह से घृणा करते हैं।

प्रथम अंक में अजय और माधुरी अपनी कन्या माला के विवाह की समस्या से चिन्तित हैं। माधुरी को रात्रि में नींद भी नहीं आती है। कहती है, “मेरे कलेजे से पूछो। रात को नींद नहीं आती। भगवान के लिए जल्दी ही कोई लड़का देखो। घर में सयानी लड़की ज्वालामुखी के समान होती है। न जाने कब फूट पड़े। जवानी अंधी होती है।”

अजयप्रताप दौड़-धूप करते रहते हैं, पर ताल्लुकेदारी के मिटने से धन के अभाव में कहीं विवाह ठीक नहीं हो पाता। माधुरी समझदार स्त्री है। वह अपनी वर्तमान परि-

स्थिति को भांप गई है। वह अपने धन और दान-दहेज दोनों से मुक्ति पाने के लिए अजय-प्रताप के पुत्र महेन्द्रप्रताप से माला का ब्याह कर देना चाहती है। कहती है, “माला और उन्हें खूब घुलने-मिलने का मौका दिया जाए। अपनी माला गोरी-चिट्ठी है, पढ़ी-लिखी है और क्या चाहिए ?”

इधर माला का प्रेम अपने एक सहपाठी सतीश के साथ हो जाता है और ठा० महेन्द्रप्रताप अपनी एक नवयुवती नौकरानी ‘बालो’ पर रीझ जाते हैं। अजयप्रताप के मित्र हैं नवाब यूसुफ जो कालेज की सहशिक्षा के विरुद्ध हैं। एक दिन वे कहते हैं, “नईतालीम ने उसका (नवाब वाजिदअलीशाह के वंशज बन्नेमियां की पुत्री नूरजहां का) दिमाग खराब कर दिया है। भाई साहब ने जब एक ऊंचे खानदान में रहते की बात चलाई तो उसने साफ इनकार कर दिया।” अजयप्रताप के कारण पूछने पर नवाब साहब बताते हैं—“वह कहने लगी, ‘मुझे हफीज़ से मुहब्बत है। शादी करूंगी तो उसीसे नहीं तो उम्र-भर क्वारी रहूंगी।’” हफीज़ मुहल्ले का एक आवारा छोकरा है। कहां नवाब के वंशज कहां कुजड़े का लड़का, किन्तु नवाब बन्नेमियां को बेटी की ज़िद के सामने झुकना पड़ा। अजयप्रताप बोले, “अगर मेरी बेटी ऐसी हरकत करे तो मैं उसे गोली से उड़ा दूं।”

शालिनी और महेन्द्रपाल अजयप्रतापसिंह के यहां अतिथि बनकर उसके घर रहते हैं। बालो इन लोगों का सत्कार करती है। माधुरी एक दिन बालो को एक चपत लगाती है और उसके हाथ से चाय की ट्रे गिरते-गिरते बचती है। अजयप्रताप माधुरी की बांह पकड़ उसे भीतर ले जाते हैं। माला उठकर साड़ी के अंचल से आंसू पोंछती है।

दूसरे अंक में माधुरी शालिनी को समझाती है, “ऊपर से सीधे लगनेवाले लोग शैतान होते हैं। विजय पहले सिरे का ढोंगी है। उसकी शादी ममेरी बहन से होने जा रही थी तो बोला मैं शादी नहीं करूंगा, ब्रह्मचारी रहूंगा। लेकिन कुछ दिन बाद ही उस नीच जाति की युवती से प्रेम में पकड़ा गया।” माला माधुरी का विरोध करते हुए कहती है, “वे निर्दोष हैं। उन्होंने दूसरों के पाप का दण्ड स्वयं भोगा। चाचाजी मनुष्य नहीं देवता हैं।” शालिनी को इससे बड़ा सन्तोष होता है।

इधर माला महेन्द्रपाल के स्वागत-सत्कार में कालेज नहीं जाती। माला और महेन्द्रपाल शतरंज खेल रहे हैं और बालो वहीं पास में बैठी है। महेन्द्रपाल उसे भी खेलने को आमंत्रित करते हैं। महेन्द्रपाल और बालो में बाज़ी छिड़ जाती है और माला वहां से उठकर चली जाती है। बालो महेन्द्रपाल को अपनी जन्म-कथा सुनाती है। उन दोनों में इस प्रकार वार्तालाप होता है :

महेन्द्र—मैंने तेरा दिल दुखाया इसके लिए माफी चाहता हूं।

बालो—हम गरीबों के दिल होता ही कहां है कुंवर साहब !

महेन्द्र—अच्छा यह बता तू सतीश को जानती है ? वह देखने-सुनने में कैसा है ?

बालो—मगर आप यह सब क्यों पूछ रहे हैं ?

बालो महेन्द्रपाल का तात्पर्य समझ जाती है। महेन्द्रपाल और माला कोच पर

बैठ जाते हैं। बालो बाहर चली जाती है। इतने में सतीश आता है। सतीश और महेन्द्र-पाल में बातचीत होती है। जब वे दोनों बाहर जाते हैं तो अजयप्रताप माला को बुलाकर डाटते हैं, “तू एक दिन खानदान की इज्जत धूल में मिलाकर ही छोड़ेगी।”

माधुरी और माला के वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि माला और महेन्द्रप्रताप एक-दूसरे की ओर आकर्षित नहीं हैं। यहीं दूसरा अंक समाप्त हो जाता है।

तीसरे अंक में सतीश के विषय में माला और महेन्द्रपाल के वार्तालाप से स्थिति स्पष्ट होने लगती है। माला कहती है, “गरीब होना ही उसका (सतीश का) सबसे बड़ा दोष है।”

महेन्द्रपाल—“माला मेरी नज़र में पैसा पापों की जड़ है। ‘...आप अपनी दुनिया में सतीश और मुझमें कोई भी फर्क नहीं समझतीं। समझना भी नहीं चाहिए और मेरी दुनिया में बालो और आपमें कोई फर्क नहीं है। मैं बालो से हंसकर बोलता हूँ तो आपके सिर में दर्द होने लगता है और यदि आप सतीश से हंसकर बोलें तो मुझे बेहद खुशी हो।”

माला महेन्द्रपाल का आशय समझ जाती है और पिता के क्रुद्ध होने पर स्पष्ट कहती है, “पिताजी! पापी हम नहीं। आप अपने हृदय से पूछिए, पाप किसने किया है?” इस भर्त्सना से ठाकुर साहब स्वीकार कर रहे हैं कि पापी और हत्यारा मैं हूँ। अजयप्रताप माला का आग्रह देखकर पराभूत होते हैं और दोनों का विवाह अपनी-अपनी रुचि के अनुसार निश्चित हो जाता है।

नवाब यूसुफ अजयप्रताप को समझाते हुए कहते हैं, “ठाकुर साहब, जमाना हमें पीछे छोड़ काफी आगे बढ़ गया है। बेहतर ही है कि हम आगे बढ़नेवालों की राह में कांटे न बिछाएं। बक्त के साथ हमें भी बदलना चाहिए। हमारे तौर-तरीकों की दीवार खोखली हो गई है। बूढ़े हाथ गिरती हुई दीवार को कब तक साधे रह सकते हैं? उसका गिर जाना ही बेहतर है। उसकी जगह इन नये हाथों को दीवार बनाने दीजिए।”

यह नाटक भट्टजी के ‘नया समाज’ से अधिक सफल जान पड़ता है। दोनों ने ताल्लुकेदारों की वर्तमान स्थिति का चित्र उपस्थित किया है और विवाह की समस्या को उभारने का प्रयास किया है। समस्या-नाटक की दृष्टि से ‘नये हाथ’ अधिक सफल है। रस्तोगी के नाटक ‘नये हाथ’ पर इब्सन के नाटक ‘सेम्प डेण्ट्सटूलर’ का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। ठा० अजयप्रताप का चरित्र बनिंक के समान और माधुरीदेवी का श्रीमती बनिंक के समान जान पड़ता है। बालो में दीना की छाया और शालिनी में लोना का प्रतिबिंब झलकता है। इस नाटक पर फिल्म का भी प्रभाव जान पड़ता है।

राजेन्द्र शर्मा का ‘रैत की दीवार’ नाटक तीन अंकों में विरचित है, जिसमें विवाह की समस्या को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा गया है। एक आधुनिक वर्ग है, जिसके प्रति-निधि हैं अशोक, नरेन्द्र और रेखा। प्राचीन के पक्षपाती हैं सुरेन्द्र, छुनियां, गुलाबराय। उन्मुक्त प्रेम का उपासक अशोक नवयुवक कहता है, “मैं अपनी उन्नति के रास्ते में विवाह की दीवार नहीं खड़ी कर सकता।” अशोक का मित्र नरेन्द्र तो यहाँ तक ललकार-

कर कहता है, “मैंने तो अपने पिताजी को अल्टीमेटम दे दिया है कि शादी करूंगा तो कमला से।” नवयुवती रेखा कहती है कि “विवाह की वेदी पर स्त्री को स्वतन्त्रता की बलि चढ़ानी पड़ती है।” कमला कहती है, “मेरी मां मुझे नरक में ढकेलना चाहती है। पर मैं अब इस झूठे रिश्ते पर अपने छोटे प्रेम का वलिदान नहीं करूंगी।” प्राचीन विचारों के उपासक श्री सुरेन्द्र आधुनिकतावादी स्वच्छन्द प्रेमोपासक अशोक का विरोध करते हुए कहते हैं कि “विवाह आवश्यक है। स्त्री पुरुष की लाठी है, सहारा है।” इसी प्रकार छुनियां रेखा का विरोध करते हुए कहती है, “बीबी, बिना मर्द के ज़िंदगी नहीं कटेगी।” अशोक का पिता गुलाबराय कहता है, “आज के पति अपनी पत्नी चुनना तो जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं।” इस प्रकार दो विरोधी विचारों का संघर्ष दिखाना नाटक का उद्देश्य है।

‘उधार का पति’ ना० धो० ताम्बुलकर के गुजराती नाटक ‘उसना नवरा’ का बनमाला भवालकर द्वारा रूपान्तर है। इसका कथानक संक्षेप में यह है। शीला मातृ-पितृविहीना बालिका है, जिसका पालन-पोषण दादा नामक जमींदार औरस पुत्री के समान करते हैं। दादा स्वतः निःसंतान हैं। अतः उनका समस्त अपत्य स्नेह भ्रातृजा शीला को प्राप्त हुआ था। उन्होंने उसे विदेश में उच्चशिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जहाँ अशोक नामक युवक से उसकी मैत्री हो गई।

परम्परा के अनुयायी दादाजी अपनी इस रक्षिता कन्या का पाणिग्रहण गांव के किसी बड़े जमींदार के लड़के से करना चाहते थे, किन्तु शीला का गुप्त प्रेम अशोक के साथ हो चुका था और वे दोनों प्रणय-बंधन में बंध चुके थे। शीला अपने पति के साथ दादा से दूर एक अन्य नगर में निवास करने लगी थी। ऐसी स्थिति में एकाकी दादा ने शीला की फुफेरी वहन रीता को अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए अपने घर बुला लिया था। शीला और उसकी सहेली लीला में अपने-अपने पति के वैभव-विस्तार की प्रतिशयोक्ति करके पत्र लिखने की होड़-सी लग जाती है। लीला का विवाह शीला के पूर्व-संकल्पित जमींदार-पुत्र के साथ हुआ था, जिसके पास आवास एवं पर्याप्त धन-सम्पत्ति थी। तथ्य यह है कि शीला के पति अशोक के पास कोई पैतृक सम्पत्ति नहीं, वे एक विद्यालय में अध्यापक-मात्र हैं और किराये के मकान में रहते हैं। शीला की प्रतिवेशिनी शोभा एक सम्पन्न गृह की स्वामिनी है, जिसके अधिकार में सेवक-सेविकाएं, रेडियो, मोटर, टेली-फोन आदि आधुनिक सभी सुख-साधन विद्यमान हैं। शीला के पुत्रवती होने पर उसके अभिभावक दादा नवजात शिशु का मुख देखने को लालायित हो उठते हैं और अपने आग्रह-मन की सूचना शीला के पास भेजकर उसके घर शीघ्र ही पहुंच जाते हैं।

शीला अपने वैभव के प्रदर्शन के लिए अपनी प्रतिवेशिनी शोभा के घर में उन्हें ठहराती है और उधार की वस्तुएं मांगकर उनका आदर-सत्कार करती है। अशोक को रसोइये का काम करना पड़ता है और दादा के आग्रह करने पर शोभा के ममेरे भाई नरेश को उसका उधार का पति बनना पड़ता है। नरेश प्रयास करने पर भी रहस्य को

छिपा नहीं पाता और दादा भांप जाते हैं कि कहीं न कहीं दाल में काला है।

द्वितीय अंक में उधार-पति नरेश से गृह-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर द्वारा दादा की शंका दृढ़ हो जाती है। इतने में ही पुलिस-इन्स्पेक्टर का टेलीफोन आता है। अशोक का कृत्रिम नाम राजाराम पड़ गया था और इन्स्पेक्टर ने भी राजाराम नामक एक डाकू की सूचना टेलीफोन द्वारा शीला के घरवालों को दे दी। इसलिए नरेश इन्स्पेक्टर को उत्तर देता है कि राजाराम घर में विद्यमान है। पुलिस के अधिकारी आते हैं और राजाराम नामधारी व्यक्ति को बन्दी बनाना चाहते हैं।

तीसरे अंक में दादा के सामने सबका रहस्य खुल जाता है। शीला पराजित होकर अपने बाह्याङ्ग का अपराध स्वीकार करती है और दादा मुन्ना को प्यार से अपनाते हैं। दादा रीता को अपने साथ लाए थे और उसके प्रेमी नरेश के साथ उसका विवाह कर देना चाहते थे। शीला के प्रेमी के साथ विवाह करने में बाधा डालने के कारण उनके मन में जो ग्लानि थी उसके निराकरण के लिए वे रीता का विवाह उसके प्रेमी के साथ करना चाहते थे। अब रीता को सन्देह होता है कि कहीं यह शीला का गुप्त प्रेमी तो नहीं। किन्तु स्थिति स्पष्ट हो जाने पर रीता और नरेश का विवाह निश्चित हो जाता है और दादा को प्रसन्नता होती है।

इस नाटक में आङ्ग्रेजपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होनेवाली दुर्व्यवस्थाओं को समस्या के रूप में रखने का प्रयास किया गया है, किन्तु इसे समस्या-नाटकों की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता। समस्या-नाटक में जिस गम्भीरता की आवश्यकता है वह इसमें नहीं।

मराठी के अतिरिक्त तेलगू भाषा-भाषी ए० रमेश चौधरी आरिगपूडि ने एक नवीन नाटक 'कोई न पराया' (सन् १९६१ में) लिखा है। यह नाटक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर आधारित एक मौलिक नाटक है। नाट्यकार का मत है, "आर्थिक परिवर्तन तभी स्थायी महत्त्व के हो सकते हैं जब उनको अनुकूल सामाजिक वातावरण मिलेगा। व्यक्ति का व्यक्तिगत प्रबोध ही कालांतर में समाज के अनुकूल वातावरण का कारक होगा।"

सामान्य ग्रामीण जनता के परिवेश में देश की प्रगतिशील परिस्थितियों के अनुकूल ग्रामोद्धार की नवीन योजना बनाने का इसमें प्रयास पाया जाता है। गांव के जमींदार रामरेड्डी और उनकी पत्नी वरलक्ष्मी प्राचीन परम्परा के उपासक हैं, किन्तु उनका लड़का 'वसन्त' देश की परिवर्तनशील परिस्थिति से पूर्ण परिचित होने के कारण प्रगतिशील विचारों का पोषक है।

ग्रामीण जनता से सम्बद्ध सभी समस्याओं—धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक—का विश्लेषण पाया जाता है। नाटक का आरम्भ धार्मिक समस्या से होता है। सीताराम शास्त्री सफल कृषक हैं। वे कृषि-कार्य को पुजारी और पुरोहितों के धार्मिक कृत्यों से किसी प्रकार हीन नहीं समझते। पंचों में बैठकर शास्त्रीजी कहते हैं,

“जमींदारी गई, हमारी मंत्रीगरी भी गई। बुजुर्गों ने मंत्रपाठ करके पढ़ाया था, मैं खेती करता हूँ।” जो है उसीपर गुजारा करूँ तो कम से कम किसीका खोसता नहीं हूँ।”

शोषक-वर्ग की ओर संकेत करके कहते हैं, “इस ऊँचते देश की मच्छर की तरह काटूँ, नोचूँ क्यों ?”

शास्त्रीजी प्रत्येक क्षेत्र में प्रगतिशील विचारों के हैं। “प्रतिमा के श्रृंगार के लिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण किंतु समीपवर्ती कंगाल बेकार को शीत से बचने और तन ढकने के लिए वस्त्र भी नहीं।” वे रामरेड्डी के मन्दिर-दान का विरोध करते हुए कहते हैं, “आदमियों को नंगा करके पत्थरों को कपड़े देना, यह कहां की बुद्धिमानी है ?”

शास्त्रीजी सामाजिक क्षेत्र में भी प्रगतिवादी हैं। वे नाटक के नायक उत्तमराव के इस मत का समर्थन करते दिखाई देते हैं, “इस देश की आधी बीमारी ठीक हो जाए यदि यह कानून बना दिया जाए कि कोई भी अपनी जाति में शादी नहीं कर सकता। उसके बाद न जाति रहेगी, न दहेज।” यहीं प्रथम अंक समाप्त होता है।

द्वितीय अंक में ‘बैंकटरलनम’ गांववालों को एकत्र करके यह प्रस्ताव सामने रखते हैं कि गांव की बेकारी की समस्या गांव में गन्ने की मिल खोलने से दूर हो सकती है। शास्त्रीजी इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि कारखाने बनाने हैं तो शहर में बनाएं। कारखानों से गांव की समस्या सुधर नहीं सकती और आसपास की भूमि बंजर हो जाएगी। यदि कारखाना खोलना है तो खेती के औजार का खोलो, यदि सुधार करना है तो हमारी फसल अच्छे दाम पर बिकवाओ और उपज बढ़ाओ। फैंट्री शहरों की चीज है गांवों की नहीं। यदि खोलनी है तो सरकार खोले, एक व्यक्ति उससे लाभ उठाकर सम्पन्नतर क्यों बने।

इसी अंक में गांव का सांस्कृतिक और साम्प्रार्जनिक विकास दिखाया गया है। प्रगतिवादी उत्तमराव हाथों में झाड़ू और टोकरी लिए हुए अनुयायियोंसहित गांव के सम्प्रार्जन में संलग्न हैं और कार्य सम्पन्न होने पर सहकारियोंसहित रंगमंच पर लोकनृत्य करते और संगीत में तन्मय दिखाई देते हैं। यहीं द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक में प्रो० उत्तमराव ब्राह्मणों से बहिष्कृत और अब्राह्मणों से भी असम्मानित समाज-सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने ब्राह्मण होते हुए भी अपनी एक लड़की का विवाह हरिजन से किया है और दूसरी का भी अब्राह्मण से करने के लिए प्रस्तुत हैं। वे न तो ऐस्मबली और लोकसभा के सदस्य बनना चाहते हैं न नेतृत्व-यश के ही पिपासु हैं। इस पात्र की सृष्टि नाट्यकार की विशेषता है।

स्वतन्त्रता के उपरांत अहिंदी भाषा-भाषी राज्यों के कलाकार भी हिंदी के माध्यम से नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। उनकी रचनाएं रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखी जा रही हैं। यहां तक कि पौराणिक कथाओं को भी आधुनिक युग के अनुकूल और बुद्धिवादियों के लिए भी ग्राह्य बनाने का प्रयास किया जा रहा है। चावलि सूर्यनारायण मूर्ति का ‘महानाश की ओर’ नामक नाटक (१९६० में) विरचित हुआ। यह तीन अंकों

और सोलह दृश्यों में महाभारत के युद्ध का वर्णन है। नाटक के प्रारम्भ में दुर्योधन और शकुनि के वार्तालाप के द्वारा कौरव-पांडवों के युद्ध का आभास मिलने लगता है और तृतीय अंक के अन्तिम दृश्य में द्रौपदी के प्रोत्साहन से पांडव और कृष्ण भी युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। नाटक का उद्देश्य यह जताना है कि हमारे देश पर शत्रु-सैन्य की जो पीली घटा मंडरा रही है उसका सामना करने के लिए देश के वीरों को सन्नद्ध किया जाए। भरतवाक्य में कहा गया है—

जय शत्रु विनाशिनि काली ।
 नरमुण्डों की माला वाली । जय०...
 × × ×
 वर दे दुश्मन से हम न डरें ।
 वर दे उर में उत्साह भरें ।
 वर दे कर में करवाल धरें ।
 वर दे जग में सत्कीर्ति भरें । जय०...
 शोणित की नदियां बह जावें ।
 पृथ्वी लाशों से भर जाये ।
 किंतु बिना शत्रु-प्राण लिए ।
 उर की ज्वाला शांत न होवे । जय०...
 (यवनिका-पतन)

ग्रामीण जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे जानेवाले आधुनिक नाटकों में दयानाथ झा-प्रणीत 'कर्मपथ' (१९५३ ई०) नाटक का मजदूर-समस्या को हल करने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें पंचायत के द्वारा ग्राम-सुधार का प्रयास किया गया है।

गत दस वर्षों में विरचित नवीन समस्या-नाटकों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यकारों का ध्यान यौन-समस्या को उभाड़ने की अपेक्षा इस समस्या के मनोवैज्ञानिक कारणों के विवेचन और विश्लेषण की ओर अधिक जा रहा है। नाट्यकार युवा और युवतियों की उन मानसिक गुत्थियों को सुलझाने में लगे हैं जिनके कारण प्रणय-क्षेत्र में विभीषिका उत्पन्न हो गई है। कलाकारों का ध्यान आधुनिक शिक्षितवर्ग की उन सनकों की ओर भी जा रहा है, जिनके कारण पारिवारिक जीवन अशान्तिमय बन गया है। 'रूपया तुम्हें खा गया' में अर्थ-संचय की सनक, 'अंजो दीदी' में नियम-पालन की अतिशयता की सनक, 'पत्थर और आंसू' (एकांकी) में पुत्र को अल्पकाल में विद्वान बना देने की सनक के कारण गार्हस्थ्य जीवन का सुख-शान्तिमय वातावरण विक्षुब्ध दिखाई पड़ता है।

स्वतन्त्रता से पूर्व हमारे समस्या-नाटकों में परतंत्रता के कारण उत्पन्न आर्थिक एवं राजनीतिक विकराल स्थिति समस्या के केन्द्र में हुआ करती थी। जमींदारी और बेगार के कारण कृषकों की एवं श्रमिकों की दुर्दशा का वर्णन प्रमुख बन गया था। विधवा-

विवाह एवं अछूतोद्धार का स्वर सबसे अधिक सुनाई पड़ता था। किन्तु आज समस्याओं का रूप बदल गया है। आज के यथार्थवादी समस्या-नाटकों में जमींदारी-उन्मूलन के उपरान्त समय की गति के साथ न चल सकनेवाले जमींदार-परिवार की दुर्दशा, नारी-स्वातन्त्र्य के अतिशय के कारण समाज में पाई जानेवाली विच्छिन्नता, नर-नारी में उन्मुक्त प्रेम के कारण विवाह और विवाहोपरान्त तलाक की समस्या, परम्परावादी एवं प्रगतिवादी वर्गों में संघर्ष, माता-पिता एवं सन्तान में विचारगत भेद के कारण कलह, अर्थसंचय की सनक से उत्पन्न भीषण पारिवारिक स्थिति, उत्कोच एवं भ्रष्टाचार, पंच-वर्षीय योजना की सफलता एवं विफलता के कारण उत्पन्न स्थिति, विदेशियों के आक्रमण की आशंका से उत्पन्न समस्याएं, देश-विभाजन की विभीषिका का चित्रण, विश्व-शांति के प्रयास, कश्मीर की समस्या, बेकारी का मूल प्रश्न, महंगी के कारण मध्यमवर्ग की स्थिति में परिवर्तन, ग्राम एवं नगर की विकास-योजनाओं से परिवर्तित परिस्थिति, धार्मिक अंधविश्वास के प्रति विद्रोह, आधुनिक शिक्षा की निस्सारता, आर्थिक विषमता, अछूत-समस्या का नया रूप, खाद्य-समस्या, राष्ट्रीय औद्योगीकरण तथा उसके सुखद एवं दुःखद परिणाम, हमारी सांस्कृतिक चेतना का विश्वोपयोगी नया स्वरूप, लोक-संस्कृति का पुनरुद्धार, दहेज के कारण परिवार में आर्थिक संकट, धनी वर्ग की चरित्रहीनता, मद्यपान, राजनीतिक पाटियों में परस्पर कलह के कारण उत्पन्न परिस्थिति, साम्प्रदायिकता की ज्वाला में जर्जरित होनेवाले समाज का चित्रण, ग्राम-पंचायतों के पुनरुज्जीवन से ग्रामीण जनता में नवजागृति का स्वरूप, सहकारी समितियों का क्रियात्मक लाभ, भूदान आदि प्रसंग समस्या-नाटकों के इतिवृत्त के मूल आधार बन रहे हैं।

मध्यमवर्ग में नारी-स्वावलम्बन के कारण परम्परागत विचारों में उद्दोलन एवं क्रान्ति होने से नवीन परिस्थितियों का उद्भव और उनके कारण सामाजिक व्यवस्था में प्रकम्पन उत्पन्न हो गया है। यह अव्यवस्थित स्थिति क्या रूप धारण करेगी, यह कहना आज यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आज का समस्या-नाट्यकार नाटकों में विविध प्रयोग कर रहा है। पौराणिक-ऐतिहासिक अनुत्पाद्य कथाओं के आधार पर भी एक ओर नाटक लिखे जा रहे हैं तो दूसरी ओर अभिजात्यवर्ग, मध्यमवर्ग एवं निम्नवर्ग के व्यक्तियों को भी नायक बनाया जा रहा है। प्रसिद्ध उपन्यासकारों की कृतियों के आधार पर समस्या-नाटक लिखने की परम्परा हमारे देश में भी चल पड़ी है। 'होरी' इसका प्रमाण है जो प्रेमचन्द के 'गोदान' का नायक रह चुका था।

'परिवार के शत्रु' सन् १९५८ में प्रणीत हुआ। भूतपूर्व जमींदारों और उनके परिवारों की दुर्दशा दिखानेवाले जो अनेक नाटक इस काल में विरचित हुए, उनमें इस नाटक का एक स्थान है।

जिन जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने सतत चलनशील कालचक्र की परिवर्तित गति की उपेक्षा करके अपने जीवन की धारा को जमींदारी उन्मूलन के उपरान्त भी पूर्ववत् प्रवहमान बनाए रखने की आकांक्षा की, उनको समय के थपेड़ों ने किस प्रकार धरा-

शायी कर दिया, उसीका एक बीभत्स चित्र इस नाटक में देखने को मिलता है।

लखनऊ के भूतपूर्व जमींदार ठा० रणविजयसिंह का लड़का रामसिंह गांजा और मदिरा का सेवन करता है। परिवार में भगवती और माधवी दो कन्याओं के विवाह के लिए परम्परागत दहेज-पद्धति के अनुसार विपुल धन-राशि की आवश्यकता है। बालक-बालिकाओं की शिक्षा का व्यय-भार अत्यधिक बढ़ गया है। सिर पर ऋण-भार अलग है। पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त विशाल अट्टालिका के जीर्णोद्धार की समस्या अलग ही है। रामसिंह मद्य-गंजेही तो है ही साथ ही वेश्यागामी भी है। कुसंगति ने उसके चरित्र का सर्वनाश कर डाला है। नौजवानी की लहर में बह रहा है। विलासिता के नशे में चूर होकर परिवार की मान-रक्षा पर भी कुठाराघात कर रहा है। ऐसे विलासी रामसिंह के अनैतिक आचरणों के इस उदाहरण से ग्रामीण जीवन की एक भांकी मिलती है।

प्रातःकाल गांव में एक सनसनीदार खबर फैल रही है—“रामसिंह घुरहू हरिजन की नौजवान बेटी रघिया को कल रात में कालेदीन आदि के द्वारा जबरियन उठवाकर ले गए थे, और सारी रात उसे बाहर रखने के बाद सवेरे चार बजे बेहोशी की हालत में फिर वापस घुरहू के दरवाजे पर डाल गए।”

रामसिंह इतना निर्लज्ज मद्य हो गया है कि कहता है—“मैं रोज बाहर बैठकर पीता था। घर में कभी नहीं पी। लेकिन तब भी लोग मेरी बुराई करते हैं। मैं आज घर में बैठकर पीऊंगा। देखू तो मेरा कोई क्या बिगाड़ लेता है। मुझसे जो आज बोलेगा उसे मैं शूट कर दूंगा।”

वह अपने बेटे कमल को भी शूट करने को तैयार है। प्रथम अंक में उसके मद्यपान, व्यभिचार एवं गांजा आदि विभिन्न व्यसनों का वर्णन है। द्वितीय अंक में ऋण-भार की चर्चा और ताला तोड़कर रुपया एवं आभूषण चुरा ले जाने का वर्णन है। भगवती रामसिंह की बड़ी लड़की अपनी ससुराल में अपमानित होती है, जिसका कारण है दहेज की कमी और मनचाही स्वर्णराशि का न प्राप्त होना। उसका भाई सूर्य उसे घर लिवा लाता है। समस्त दास्तान सुन लेने के पश्चात् रामसिंह अपना उग्र रूप धारण कर बंदूक संभालता है और लहनपुर जाकर अपने दामाद और समधी को अपनी बेटी के अपमान के बदले में गोलियों से उड़ा देने की योजना बनाता है। परन्तु इसी बीच उनका शिष्य कालेदीन गांजे के विक्रय-सम्बन्धी अपराध में गिरफ्तार किया जाता है। अतः लहनपुर न जाकर वे शिष्य-रक्षा में पहुंचते हैं। इधर घर की दशा इतनी शोचनीय और निम्न स्तर को पहुंच जाती है कि घर में भोजन का भी ठिकाना नहीं रह जाता। लड़के-लड़कियां भूख से त्रस्त होकर आंसू बहाते हैं। इस अंक में ही इस परिवार की दुर्दशा और शान-मात्र को प्रदर्शित करने में पतन की परिस्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। सूर्य कहता है, “क्या इस वक्त घर में खाना नहीं पका है?” माधवी उत्तर देती है, “नहीं, खाना तो रात में भी नहीं पका था। सब लोग कल से ही भूखे हैं।” सूर्य—“क्यों?” माधवी—“जो घर में नाज नहीं है। माताजी ने आज सवेरे ललई सुनार को अपना छल्ला बेचने को दिया है।……।”

अंतिम अंक में परिवार की दशा धीरे-धीरे नाटक के आदर्श पात्र कमल के सत्प्रयत्नों से सुधरती है। जो घर सेठ के यहां बन्धक रखा गया था उसका कर्ब पुष्पा के आभूषणों को बेचकर कमल चुका देता है। परिवार की स्त्रियां चरखे से सूत कातकर स्वावलम्बी होने की चेष्टा करती हैं। सभी उद्योगोन्मुख हो जाते हैं। भगवती के पति क्षमा-याचना के लिए आते हैं, पर वह क्षमायाचना मुकदमे से डर-भात्र के कारण थी। अन्त में रामसिंह अपने दुष्कृत्यों को समझता है, पर शराब पीना नहीं छोड़ता। ठाकुर आत्महत्या कर लेते हैं और रामसिंह उस समय शराब की बोतल लिए आता है, पर अपने पिता को बन्दूक से आत्महत्या किए देख अवाक् रह जाता है। बोतल गिरकर फूट जाती है। नाटक की परिसमाप्ति होती है। अपने सहज स्वरूप को संभालनेवाला और वास्तविक कालचक्र की गति को समझनेवाला कमल ही आदर्श रूप में चलकर दर्शकों पर अपने चरित्र का, अपनी धैर्यशीलता तथा विपत्ति में ऊपर उठने की क्षमता का प्रभाव छोड़ता है।

हिन्दी में मौलिक समस्या-नाटकों के अतिरिक्त विश्व के उत्तमोत्तम नाटकों के अनुवाद एवं रूपान्तर भी हो रहे हैं। इक्सन के 'ऐनिमी ऑफ द पीपुल' का अनुवाद 'जनशत्रु' (१९६० ई०) और मेटर्लिक के एक नाटक का अनुवाद 'नील पंखी' नाम से अभी प्रकाशित हुआ है।

समस्या-नाटक की सफलता

यथार्थवादी अथवा समस्या-नाटकों ने अपनी इतनी कठोर सीमाएं निर्धारित कर ली हैं कि वे भस्मासुर के समान अपने वरदाता को ही भस्म करने को कटिबद्ध हैं। यथार्थवादी नाटकों में साधारण वातावरण तथा नित्यप्रति के जीवन से सम्बद्ध घटनाएं तथा पात्रों के रूप में हमारे चिरपरिचित चरित गृहीत होते हैं। समस्या-नाटक की इस परिसीमा के कारण नाट्यकला-कृति में एक विकराल स्थिति उत्पन्न हो गई है। आचार्य वाजपेयीजी का यह कथन सर्वथा समीचीन है :

“दैनिक जीवन की घटनाओं और दृश्यों का किसी कलाकृति में ज्यों का त्यों निरूपण कर देना नाट्य-दर्शकों के किस काम का होगा ? वे ऐसे नाटक किस प्रयोजन से देखें ? जीवन के साधारण दृश्य तो देखते ही रहते हैं। अपने-आप स्वीकार किए गए इन यथार्थवादी प्रतिबन्धों के रहते श्रेष्ठ नाट्य-कृति कोई अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक ही प्रस्तुत कर सकता है ?”^१

सामान्यतः प्रत्येक नाट्य-कलाकृति में नाट्यकार के दृष्टिकोण का बड़ा महत्त्व होता है, किन्तु समस्या-नाटकों में तो उसकी प्रतिभा सबसे अधिक वांछनीय है। कारण यह है कि उसकी प्रतिभा को अनेक प्रतिबन्धक आवरणों को वेधकर तथ्य तक पहुंचना होता है। अतः जिस नाटककार की प्रतिभा प्रखर होती है वही सत्य के अनुसन्धान में कृतकार्य होता है। इसी कारण योरूप के प्रतिभाशाली नाट्यकारों में (उन आवरणों से आवृत तथ्य का दर्शन करने के लिए) किसीने बौद्धिकता का सूक्ष्मदर्शक यन्त्र लगाया और

किसीने प्रतीक-योजना की सहायता ली। अधिकांश समस्या-नाटककारों ने अन्तश्चेतना की भूमिका में स्थित तथ्य के अनुसन्धानार्थ मनोविज्ञान का सम्बल ग्रहण किया। हमारे देश में भी लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बौद्धिकता का, उपेन्द्रनाथ 'अश्व' ने मनोवैज्ञानिकता का, जगदीशचन्द्र माथुर ने तार्किकता का तथा लक्ष्मीनारायणलाल, धर्मवीर भारती, पृथ्वीनाथ शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि ने प्रतीक-योजना का अवलम्बन ग्रहण किया। पर कोई अवलम्बन ही तथ्यानुसन्धान के लिए पर्याप्त नहीं। नाटक को सफल बनाने में "लेखक की वैयक्तिक निष्ठा और निजी मानसिक छाया अनिवार्य होती है।"

आचार्य वाजपेयीजी हिन्दी के यथार्थवादी नाटकों की आलोचना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'नाटक के लिए वही निष्ठा और वही अनुभूति मूल्यवान है जो सार्वजनिक निष्ठा और सार्वजनिक अनुभूति के समीप हो। लेखक अपने कृतित्व द्वारा समष्टि की भाव-चेतना के जितना अधिक निकट जा सकेगा उतनी ही उसकी कृति स्थिर मूल्योंवाली होगी। यह प्रश्न अनुभूति की वैयक्तिक सच्चाई और गहराई का उतना नहीं है जितना वह अनुभूति की सार्वजनिक ग्राह्यता का है। जीवन के समस्त वैयक्तिक अनुभवों को पार करने के पश्चात् वह अंश फिर भी बच रहता है जो सार्वजनिक अनुभवों, आकांक्षाओं और विश्वासों का अंश है। नाटककार की कृति उन्हीं अंशों को अपनाकर मूल्यवान बन सकती है। यह सामूहिक जीवन के प्रति कलाकार की सजगता का प्रश्न है। वह यदि अपने निजी संवेदनों को प्रकाशित करता हुआ समष्टि-संवेदनों का गहरा स्पर्श नहीं देता तो किसी अन्य क्षेत्र में भले ही सफल हो, नाट्यकला के क्षेत्र में लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता।'"

यथार्थवादी नाट्यकारों को इस बात का गर्व है कि संस्कृत नाटकों के विपरीत उनकी कलाकृतियाँ केवल मनोरंजन के ही लिए नहीं, अपितु मानवीय विकास में बाधक अवरोधों के संकेत और उनके निवारण के निर्देशों के द्वारा जीवन को विकासोन्मुख बनाने के लिए हैं। आज का समस्यावादी नाट्यकार भारतीय रस-सिद्धान्त को असामयिक मानकर नाटकों के माध्यम से समस्याओं के निर्देश द्वारा जन-जीवन का विकास चाहता है। संस्कृत नाट्य-कारों एवं जयशंकर प्रसाद आदि पर जन-जीवन से विमुखता का आरोप लगाया जाता है और उन्हें कल्पना-लोक का कलाकार माना जाता है। विचारणीय है कि यह आरोप कहां तक सत्य है। भारतभूमि को प्रकृति ने इतनी सम्पन्नता एवं आध्यात्मिकता प्रदान की है कि यहां आर्थिक एवं यौन-समस्या चिरकाल तक जन-जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकती। यहां का मानव भौतिक विकास में बाधक तात्कालिक समस्याओं को अस्थायी मानता हुआ मानसिक विकास के अवरोधों को जीवन की प्रमुख समस्या मानता आया है। इसी कारण हमारे सामाजिक नाटकों में भी भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का मिश्रण होता रहा है। हमारे यहां वैवाहिक जीवन में वासना-तृप्ति को उतनी महत्ता नहीं दी गई जितनी काम-शुद्धि को। 'मालतीमाधव' नाटक में अघोरघण्ट मालती का

बध करने के लिए उसे श्मशान पर चुरा ले जाता है। उसी समय माधव उपस्थित होकर उसका (अघोरघण्ट का) अन्त करके मालती का उद्धार करता है। यहां नाट्यकार को मालती और माधव का केवल भौतिक प्रेम-प्रदर्शन ही अभीष्ट नहीं, अपितु यहां वह एक शाश्वत तथ्य की ओर भी संकेत करना चाहता है। इसमें माधव ज्ञान का प्रतीक है और मालती प्रीति की। अघोरघण्ट 'बीभत्सता' का प्रतीक है। जगत् में वास्तविक मंगलाभिलाषी को अपनी मनःस्थिति उस स्थान पर पहुंचानी होती है जहां ज्ञान, प्रीति और भक्ति में समरसता आ जाती है। सांसारिक आकर्षण प्रीति के साथ बलात्कार करने के लिए उसे सन्मार्ग से दूर ले जाना चाहता है। ज्ञान ही प्रीति की रक्षा कर सकता है और उसे बीभत्स कृत्य से मुक्त कर शान्ति प्रदान कर सकता है। धर्माविरुद्ध आचरण से ही कार्य मंगल-दायी हो सकता है। हमारे देश का सन्देश है 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेऽस्मिन् भरत-र्षभ !' हमारे देश में दाम्पत्य प्रेम की पावनता का ही विशेष महत्त्व है। उन्मुक्त प्रेम को सदा तिरस्कृत किया गया है। यहां तक कि उत्तररामचरित नाटक में भवभूति कहते हैं :

व्यतिषजति पदार्थानन्तरः कोऽपि हेतुः,

न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।

विकसतिहि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं ।

द्रवति च हिमरश्मावुदगते चन्द्रकान्तः ॥—उत्तररामचरित, ५

हमारे देश में प्रेम जब श्रेय-समन्वित होता है तभी प्रेषणीय बनता है। अतः उन्मुक्त प्रेम, और एकमात्र भौतिक अम्युदय को केन्द्र बनाकर जो भी समस्या-नाटक लिखे जाएंगे वे सामूहिक भावभूमि पर वांछनीय नहीं बन सकते। यही कारण है कि यूरोप में भी आज उच्च कोटि के समस्या-नाटक नहीं लिखे जा रहे हैं और उनकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है।

यथार्थवादी नाटकों का लक्ष्य समस्याओं को उभारकर जनता के हृदय में असन्तोष उत्पन्न करना रहा है। वे लोग राष्ट्रीय जीवन के विकास के लिए यही आवश्यक समझते रहे हैं, किन्तु जब तक लेखक की दृष्टि संकीर्ण होती है तब तक वह महान कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता। महती कृतियों के लिए जीवन में महान औदार्य और महती आस्था अपेक्षित है। व्यक्ति-संवेदन और सामूहिक संवेदन में अन्तर है। साहित्य की अन्य विधाएं चाहे व्यक्तिगत संवेदन से वांछनीय बन जाएं, किन्तु नाट्य-कृतियों के लिए सामूहिक संवेदन नितान्त आवश्यक है। "श्रेष्ठ नाटक की मूल प्रेरणा सबष्टित हो सकती है। नाट्य-सृष्टि के कर्ता का राष्ट्रीय जीवन के चेतन और अवचेतन अंशों से गहरा सम्पर्क एवं सम्बन्ध रहना ही चाहिए।"

प्रसादोत्तर काल में किसी भी समस्या-नाट्यकार की अनुभूति इतनी गहराई तक नहीं पहुंच पाई है कि उसकी कृति स्थायी बन सके। लक्ष्मीनारायण मिश्र में समस्या-नाटकों के उपयुक्त प्रतिभा थी, किन्तु उन्होंने यह क्षेत्र ही त्याग दिया। आशा है कि निकट

अविध्य में इब्सन और 'प्रसाद' के सदृश कोई मेधावी नाट्यकार उत्पन्न होकर इस क्षेत्र को उर्वर बना सकेगा ।

काव्यरूपक

हम पूर्व-अध्यायों में यह संकेत कर चुके हैं कि हिन्दी में काव्यरूपक की परम्परा अपभ्रंश-साहित्य से उद्भूत हुई । संस्कृत नाटकों में जब प्रेक्ष्य की अपेक्षा पाठ्य तत्त्वों की प्रधानता होने लगी तो वे रंगमंच से दूर हटने लगे । एक तो संस्कृत नाटक अभिजात-वर्ग के लिए विरचित ही होते थे दूसरे जब उनकी सीमा और भी संकुचित होने लगी और वे केवल संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञों को दृष्टि में रखकर लिखे जाने लगे तो मध्यम वर्ग ने अपभ्रंश भाषा में अभिनेय नाटकों की रचना प्रारम्भ की । जन-नाटक गीतों के आधार पर शताब्दियों से समाज में खेले जाते थे । उन्हींकी शैली पर नाटकों की रचना हुई जो रास, कीर्तनियाँ, या अंकिया नाटक के रूप में अब तक विद्यमान हैं ।

मध्ययुग में हिन्दी भाषा के मेधावी कवियों ने पद्यरूपक लिखने का प्रयास किया । अठारहवीं शताब्दी तक वह धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही । उन्नीसवीं शताब्दी में इसका विरोध हुआ और गद्य-नाटकों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । बीसवीं शताब्दी में 'प्रसाद' ने नाटक में पद्यशैली को पुनरुज्जीवित किया । उन्होंने रोला, उल्लाला, छप्पय आदि छन्दों में 'सज्जन' तथा अरिल्ल छन्द में 'करुणालय' नामक गीति-नाट्य लिखे । इसी काल में पं० रूपनारायण पांडे ने 'तारा' नामक गीति-रूपक प्रस्तुत किया । सन् १९२७ ई० में लिखे गए गीति-नाट्यों का एक संग्रह साहित्य-सदन, चिर-गांव, झांसी से प्रकाशित हुआ । इसमें मंगलाप्रसाद-विरचित उत्तरा और अभिमन्यु, श्री-कृष्ण-सुदामा, राधा, लौंगी, शाहजहां, देवदासी एवं चित्रलेखा नामक गीतिनाट्य संकलित हैं । एक गीति नाट्य में भील-बालिका लौंगी के जीवन के आधार पर सामाजिक नाटक की रचना की गई है । आधुनिक नाट्य-शैली में सामाजिक नाटक लिखने का कदाचित् यह प्रथम प्रयास है । इन नाटकों में मुक्त छन्द प्रयुक्त है ।

'प्रसाद' का युग गद्य-विकास का युग था । इस युग में स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग काव्य में भी सर्वमान्य नहीं बन पाया तो गीति-रूपकों का तो कहना ही क्या । 'प्रसाद' ने युग-धर्म को पहचाना और उन्होंने अरिल्ल छन्द में गीति-रूपक लिखने की पद्धति को यहीं समाप्त कर दिया ।

गीति-रूपकों की ओर नाट्यकारों का ध्यान पुनः आकर्षित करने का श्रेय रेडियो और पश्चिमी नाट्यकारों को है । रेडियो पर संगीत-रूपक रंगमंच की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं । रंगमंचीय नाटकों में दर्शक बाह्य द्वन्द्व एवं क्रिया-व्यापार को अधिक महत्त्व देते हैं । रेडियो पर बाह्य द्वन्द्व और क्रिया-व्यापार का मनोहारी स्थूल रूप दिखाना अपेक्षाकृत कम सम्भव है । इस कारण कवियों ने गीतिरूपकों को सूक्ष्म भाव-प्रदर्शन का माध्यम बनाया । उदयशंकर भट्ट ने मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा नामक गीति-नाट्य लिखे, जिनका विवेचन किया जा चुका है ।

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' और प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' इसी कोटि में आते हैं। आधुनिककाल में कतिपय उत्तम कोटि के गीति-नाटकों का सृजन हुआ है। इन नवीन नाटकों की कथावस्तु और शैली पर विचार कर लेना आवश्यक है।

आधुनिक पद्य-रूपकों में दिनकरजी का नाटक 'मगध-महिमा', पन्तजी के नौ नाटक—(१) रजतशिखर (२) फूलों का देश (३) उत्तर शती (४) शुभ्र पुरुष (५) विद्युत्-वसना (६) शरद् चेतना (७) शिल्पी (८) ध्वंसशेष (९) अम्पसरा और भगवती-चरण वर्मा के तीन नाटक—(१) कर्ण (२) महाकाल (३) द्रौपदी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धनाथकुमार और धर्मवीर भारती के पद्य-नाटक विवेच्य प्रतीत होते हैं। धर्मवीर का अन्धा युग पांच अंकों का पूर्ण नाटक है। सिद्धनाथ के नाटक हैं—कवि, सृष्टि की सांझ, लौह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश, बादलों का शाप। 'कवि' को वे गीति-नाट्य मानते हैं शेष नाटकों को काव्य-नाटक।

इन नाटकों के अतिरिक्त निरालाजी का 'पंचवटी-प्रसंग', गिरिजाकुमार का 'इंदुमती', आरसीप्रसादसिंह का 'मदनिका' और 'धूप-छांह' प्रसिद्ध कृतियां हैं।

'मगध-महिमा' नामक नाटक के पात्र हैं—कल्पना, इतिहास, गीतम, सुजाता, नागरिक, सेल्यूस, सेल्यूस की कन्या, मेगस्थनीज, चाणक्य और सभासद्, अशोक (कलिंग की युद्धभूमि में)।

इस नाटक का प्रारम्भ नालन्दा के खंडहर में गैरिकवसना कल्पना के गीतों द्वारा होता है। वह पूछ रही है—

है कोई इस शून्य प्रान्त में
जो यह भेद मुझे समझा दे,
रजकण में जो किरण सो रही
उसका मुझको दरस दिखा दे।

नेपथ्य से उत्तर मिलता है कि यहीं मगध में छः वर्षों तक घोर तपस्या करनेवाले क्षीणकाय गीतम संन्यासी बरगद के नीचे बैठे थे। सुजाता की खीर खाकर गीतम बोल उठे :

खोज रहा हूं जिसे, अमृत की अगर मिली वह धार;
नर के साथ देवताओं का भी होगा उद्धार।

× × ×

आशिष दो, ला सकूं जगत् के मरु में शीतल नीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त और चाणक्य के युग के मगध की महिमा का वर्णन है और अन्त में अशोक का गीत है :

गूँजे धर्म का जयगान ।

शान्ति-सेवा में लगेँ समवेत तन, मन, प्राण ।

भरतवाक्य के रूप में इतिहास कल्पना को विश्व-कल्याण का सन्देश देता है :

दो कूलों के बीच सिमटकर सरिताएं बहती हैं,

सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा ।

कल्पने ! यह सन्देश हमारा !

दिनकरजी का यह नाटक गीतों में मगध के अतीत वैभव का सांस्कृतिक रूप प्रदर्शित करता है ।

पन्तजी के प्रथम छः नाटकों में अनुकान्त रोला छन्द प्रयुक्त हुआ है । इसमें विराम १३, ११ मात्रा पर न होकर १२-१२ अथवा आठ-आठ मात्राओं पर तीन स्थानों पर मिलता है । पद के अन्त में दो गुरु मात्राओं के स्थान पर लघु-गुरु या दो लघु मात्राओं का प्रयोग है, जो कथोपकथन की धारावाहिकता के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ है । रजतशिखर की कथावस्तु अति संक्षिप्त है—वाद्य-संगीत के साथ नाटक का प्रारम्भ होता है । इसमें पात्र है युवक साधक, युवती, मनोवैज्ञानिक (सुखव्रत) विस्थापित । समस्या है नवसंस्कृति के द्वारा विस्थापित मानव को पुनः सुखी बनाने की । युवक और युवती बचपन के साथी हैं किन्तु दोनों के चेतन मन में संघर्ष बना है । युवती युवक पर दोषारोपण करती है तो मनोवैज्ञानिक उन्हें समझाता है :

प्रणयदान तुम इन्हें नहीं दे सकीं; कदाचित्

हृदय समर्पण करना तुमको इष्ट नहीं था,—

इसमें इनका दोष नहीं है : अवचेतन की

प्रबल शक्ति से ये संतत अनभिज्ञ रहे हैं !

युवती पुनः प्रश्न करती है कि 'प्रेम कैसे होता है ?'

सुखव्रत उत्तर देता है :

प्राण चेतना अपने ही मौलिक नियमों से

संचालित करती मानव की राग-वृत्ति को,

सजातीयता प्राणों को आकर्षित करती

युग्मों के हृदयों को गोपन प्रणय-पंथ पर !

सुखव्रत रागात्मक प्रवृत्ति के अन्ध दमन को मनोद्वेग का कारण समझता है । वह युवक-युवती को प्रेम का सच्चा स्वरूप समझा रहा था इतने में विस्थापित और राजनीतिज्ञ भा जाते हैं । विस्थापितों का चीत्कार हृदय-विदारक है :

लंगड़ाती गिरती पड़ती कंपती छायाएं

अंगों को छटपटा रही दुख की आंधी में;

टपक रहे हैं घाव, खोलता रुधिर बहर रहा,

×

×

×

मां बहनें है, मां बहनें वे, ... जो पीड़ा से
बीछ रही ! दुख की कराह से कान फट रहे ।

इस भयंकर परिवर्तन को देखकर युवक का हृदय-परिवर्तन होता है । वह नव-संस्कृति-निर्माण का संकल्प करता है :

भ्रातृ-भावना, विश्व प्रेम से भी गंभीरतम
प्रीति-पाश में बांधे हम नव मानवता को
जिसका दृढ़ आधार एकता हो आत्मा की,
जिसकी शाश्वत नींव चेतना की उज्ज्वलता
मनुज प्रेम के लिए मात्र हो मनुज प्रेम वह
जग को नव संस्कृति का स्वर्णिम द्वार दिखाएं,
आओ, हम नव मानव का घर द्वार बसाएं ।

इस नाटक में तत्कालीन विस्थापित समस्या के आधार पर विस्थापित मानवों को पुनः बसाने का मार्ग निकाला गया है । मानव आज अपने वास्तविक सुख-वैभव से राग-द्वेष के द्वारा पृथक् कर दिया गया है । नई संस्कृति के निर्माण से नव मानव का जीवन किस प्रकार सुखमय बनाया जा सकता है उसका दिग्दर्शन कराया गया है ।

‘फूलों का देश’ नामक नाटक में “अध्यात्मवाद-भौतिकवाद तथा आदर्शवाद-वस्तुवाद-सम्बन्धी संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है एवं विश्व-जीवन में बहिरंग संतुलन तथा परिपूर्णता लाने के लिए दोनों की ही उपयोगिता दिखाई गई है ।”

इसके पात्र हैं कलाकार, वैज्ञानिक और विद्रोही । जनकवि और वैज्ञानिक के वार्तालाप से मानव-समस्या को सुलझाने का इस प्रकार प्रयास किया गया है :

फिर से बहिरंतर संयोजित होगा मानव,
पुनः ज्ञान-विज्ञान समन्वित होगा जीवन !
व्यक्ति-समाज परस्पर अन्योन्याश्रित होकर
बढ़ते जाएंगे विकास के स्वर्णिम पथ पर !
बहिर्जगत् के शिखर ज्वार पर आरोहण कर
नव्य चेतना उतरेगी किरणों से मंडित,
सत्य अहिंसा होंगे भावी के पथदर्शक,
विचरेगी मानवता फूलों के प्रदेश में
नव संस्कृति की श्री-शोभा सौरभ से घोषित ।

उत्तर शती में सन् १९५१ पात्र बनकर आता है और १९००-१९५० तक विश्व में होनेवाली क्रान्तियों का इस प्रकार उल्लेख करता है :

जिस युग ने हैं दिए मार्क्स-से भौतिक चिन्तक,
श्री अरविन्द सदृश द्रष्टा, भू स्वर्ग विधाता

लेनिन-गांधी-से जन अधिनायक, जो निश्चय
भिन्न परिस्थिति, भिन्न प्रकृति मानव पदार्थ पा
निज क्षेत्रों के रहे विधायक, जन-उन्नायक ।

अन्त में भरतवाक्य के रूप में आशा प्रकट की गई है :

नारी-नर हों समान
कर्म-निरत लोक-प्राण;
जग को दे आत्मदान
जनहित जनश्रम फल हो !

‘शुभ्र पुरुष’ में गांधीजी के व्यक्तित्व का और ‘विद्युत्-वसना’ में स्वाधीनता की चेतना का रूपक है। स्वाधीनता ध्येय नहीं साधन-मात्र है, ध्येय हैं आत्मनर्भरता तथा एकता। इस रूपक का सन्देश है—“स्वतन्त्रता की उपयोगिता लोक-एकता तथा विश्व-मानवता के निर्माण ही में चरितार्थ हो सकती है।”

‘शरद् चेतना’ में हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएं शरद्ऋतु का अभिवादन करती हैं। धरती के चराचर—पुष्प, मुकुल आदि—आनन्द-उत्सव मनाते हैं। अन्त में वन्दना-गीत इस प्रकार है :

बरसाओ हे नव श्री शोभा
हो स्वप्नों से स्मित भू प्रांगण,
लहरों में झलके रजत ज्वाल
फूलों की पलकों में हिमकण ।

× × ×

बरसो भू मानस के प्रतीक,
चेतना सिक्त हो सब भूजन ।

‘शिल्पी’ को पन्तजी ने काव्य-रूपक और नाटक दोनों नामों से अभिहित किया है। रजत शिखर आदि नाटकों से इसमें यह अन्तर है कि इसमें तीन दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में वृद्ध शिल्पी एक नवीन प्रतिमा के निर्माण में तल्लीन है। छेनी पर हथौड़ी चलाने से जो ध्वनि निकलती है उसीसे स्वर मिलाता हुआ वह बीच में गुनगुनाता रहता है। दूसरे दृश्य में मुरलीधर की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा होती है और मन्दिर में कीर्तन चलता है। दर्शकों की भीड़ लगी है। एक भावुक दर्शक मुरलीमनोहर के दर्शन से भावावेश में आकर गाने लगता है :

काम क्रोध से कुंठित, भवतृष्णा से लुठित
आत्मा को कर मोहमुक्त मुरली की मधु ध्वनि
जो नित अंतरत्तम में निःस्वर गुंजित रहती ।
निज गोपन आकर्षण से मानव आत्मा को

सतत उठाती रहती स्वर्गिक सोपानों पर
सूक्ष्म भावना के नभ में सच्चिदानन्दमय !

मुरलीमनोहर के दर्शन से उसकी वृत्तियां शान्त हो जाती हैं, अन्तःकरण मलिन वासना से मुक्त हो उठता है और संचित कर्मों का फल ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाता है।

राम-कृष्ण आदि की मूर्तियां बनाने पर शिल्पी मंदिरों में पूजोपचार करनेवाले दर्शकों को देखकर कहने लगता है :

यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को :
बहिरंतर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य संतुलित !

इसी समय एक दर्शक उसे सान्त्वना देता है और कहता है कि :

व्यर्थ मनुज बाहर के मरु में उसे खोजता
अंतरतम में स्रोत छिपा जो अमृत सत्य का।

इस दृश्य के अन्त में एक गीत है जिसके द्वारा नव प्रकाश का आह्वान है।

तृतीय दृश्य शिल्पी का कला-कक्ष है। शिल्पी एक नवीन प्रतिमा का निर्माण कर रहा है। उसकी शिष्या हथियारों पर धार चढ़ा रही है। शिल्पी अन्धविश्वासों का विनाश देख रहा है। चिन्तन करते-करते उसके सम्मुख 'नव भावों की स्वर्ण शुभ्र शोभा में वेष्टित एक मनोरम दिव्य मूर्ति प्रस्फुटित' होती है। उस नव्य चेतना को शिला-फलक पर वह अंकित करना चाहता है। किन्तु हतप्रभ होकर पुकार उठता है :

किंतु हाय, भू-जीवन की निर्मम वास्तवता
बांध नहीं पा रही मनुज आत्मा का वैभव,
मिट्टी की जड़ता विरोध करती प्रति पग पर
नव प्रकाश के शोभा स्पर्शों के प्रति निष्क्रिय !
कुंठित हो उठती फिर-फिर उद्भात कल्पना !

शिल्पी को उसकी शिष्या समझाती है कि आप जो प्रतिमा निर्मित कर रहे हैं, उसमें आपकी इच्छानुसार सभी भाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। आप इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं ? शिल्पी अपनी नवीन प्रतिमा को ध्यानपूर्वक देखकर पुकार उठता है :

अवयव की रेखाओं में साकार हो उठा
मानव आत्मा का अवाक् सौन्दर्य अकलुषित !

× × ×

भू-जन का उज्ज्वल भविष्य आंखों के सम्मुख
उदय हो उठा चौर युगों का अन्ध आवरण !

शिल्पी के कलाकक्ष में कृषकों एवं श्रमिकों का दल आता है। वे लोग भी अपनी रुचि के अनुकूल प्रतिमाएं देखकर सन्तुष्ट हो गान करते हैं। एक मूर्ति को ध्यानपूर्वक

देखकर दर्शकों का एक दल विस्मय-विभोर होकर गाता है :

सामूहिक चेतना हो उठी मूर्तित इसमें,
शक्ति स्फूर्ति विश्वास भरेगी यह जन-मन में !
हम इसके हित प्राणों का बलिदान करेंगे !

उस मातृमूर्ति की वन्दना होती है :

नव युग जीवन प्रभात
निखरी तुम ज्योति-स्नात,
स्वर्ण रश्मि स्फुरित गात,
भास्वर वदने !
जयति जयति मातृ-मूर्ति,
शान्ति चेतने !

अप्सरा

पन्तजी ने शिल्पी के सदृश ही संगीतज्ञ अभिनेताओं को लक्ष्य करके यह नाटक लिखा है। इस नाटक द्वारा संगीत एवं नृत्यकला में नवजीवन लाने का प्रयास किया गया है। इसमें कलाकार और अप्सरा का वार्तालाप है। स्वर्ग से उतरती हुई अप्सरा के स्वप्न-वाहक संगीत से मुग्ध कलाकार अपनी मनोगति का इस प्रकार वर्णन करता है :

चंचल हो उठता फिर-फिर मन ! यह क्या केवल
प्राणों का उद्वेलन है ? या मन का भ्रम है ?
अथवा बदल रहा युग करवट ? मन के भीतर
नया सत्य या जन्म ले रहा ? ...महारात्रि है !

×

×

×

धुंधला पड़ता जाता मन का पिछला संचय
उपचेतन के गहरे गतों की विस्मृति में,
एक नया सौन्दर्य ज्वार उठता अन्तर से
धरणी के जड़ पुलिनों को प्रक्षालित करने !

अप्सरा को सम्मुख देखकर कलाकार उससे कहता है कि तुम छाया के सदृश हृदय में छिपकर व्याकुलता उत्पन्न करती हो। हे रंगमयी, तुम मेरे अन्तःकरण को शोभा ज्वारों में नहला देती हो।

दूसरे दृश्य में कलाकार के मानसिक संघर्ष का दृश्य है। नैराश्यसूचक वाद्य-संगीत सुनाई पड़ता है। कभी कोमल प्रतिध्वनियां और कभी परुष ध्वनियां श्रवण कर कलाकार अपने कर्तव्य-पथ को सोचता है :

आज घोर अधिविश्व क्रान्ति छाई जन भू पर
निगल रहा जीवन तूष्णा का अवचेतन तम

मानव आत्मा के मूल्यों के ध्रुव प्रकाश को !

× × ×

मनुष्यत्व की नव प्रतिभा कल्पित कर उसको

प्राण प्रतिष्ठित करना है जन मन मन्दिर में !

तीसरे दृश्य में “सूक्ष्म वाष्पों का स्वणिम छाया-सेतु जो इन्द्रधनुष की तरह धरती-आकाश के बीच टंगा है, जिसके ऊपर खड़ा कलाकार ऊपर को देख रहा है।” अप्सरा गीत गाती है कि जो व्यक्ति युग-प्रबुद्ध, श्रद्धा-रत एवं संवेदनशील हैं मैं उनके अन्तर-शिखरों को स्पर्श करती हूँ, किन्तु अहंवादी एवं मूर्खों को तिरस्कृत करती हूँ।

जगत् में सत्य का अनुसन्धान करते-करते कलाकार उपनिषद् के मंत्र ‘ईशावास्य-मिदं सर्वं’ का गान करता है। मनुज-नियति के गीत के साथ यह दृश्य समाप्त होता है।

चतुर्थ दृश्य में नवप्रभात की शोभा को देख और अप्सरा का गीत सुनकर कलाकार के हृदय में एक प्रकार का स्फुरण होता है और वह गुनगुनाने लगता है :

भेद भाव मिट रहे, छंट रहा संशय का तम,

उदय हो रही अन्तर्मुख भावना साम्य की !

× × ×

संयोजित हो रहा मनुज मन नव प्रकाश में,

जन्म ले रही नव मनुष्यता हृदय क्षितिज में !

कवि के मन में मानव-कल्याण की एक नई आशा जगती है और वह फिर कहता है :

अन्तर्भन का विभव उतर प्राणों के स्तर पर

शोभा मंडित कर पाएगा कब जीवन को ?

अन्त में प्राण-चेतना मानव-कल्याण का मार्ग बताती हुई गाती है :

दुर्दम इच्छा के अश्वों को संयत स्ववश करो !

जब मानव को इच्छा-अश्वों को संयत करने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी तो वह अमृत स्पर्श से पुलकित हो उठेगा और दिव्य शिक्षा लेकर ‘गुह्य तमस के गह्वर’ में प्रवेश पा सकेगा। मानव-कल्याण का यही मार्ग है।

पन्तजी के प्रारम्भिक छः नाटकों में एक-एक दृश्य है। प्रत्येक नाटक के प्रारम्भ में वे उसका मूल उद्देश्य समझा देते हैं। स्थान-स्थान पर वाद्य-संगीत के संकेत दिए हुए हैं। कहीं संगीत आत्मोन्नयनसूचक है, कहीं मनोमोहक ; कहीं तानपूरे का स्वर भी सुनाई पड़ता है, तो कहीं द्विविधसूचक वाद्य-संगीत, कहीं स्वप्नवाहक संगीत, कहीं विविध प्रभावपूर्ण संगीत।

रजतशिखर के नाटकों का उद्देश्य “मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न” है। इनमें कथावस्तु लघु, अति सरल एवं एक प्रकार की है। सभी रूपक

प्रतीकात्मक हैं।

इनमें वार्तालाप की अपेक्षा संगीत, नाटक की अपेक्षा काव्य का महत्त्व विशेष है।

पन्तजी के काव्यरूपकों में 'ध्वंसशेष' सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। इसमें कवि को हम आधुनिक जीवन के सबसे अधिक निकट पाते हैं। इस नाटक में एक युवती बीसवीं शताब्दी की नई सभ्यता के रूप में प्रदर्शित की गई है। इस सभ्यता का नग्न रूप देखिए :

टूटे फूटे, दीमक के खाए खानों का,
धूल भरे गन्दे कागज पत्रों में लिपटा
कटे छटे अखबारों के पन्नों सा बिखरा,
बड़े बड़े खातों, भारी भरकम पोथों से
भरा ठसाठस, युग का मन है ; रीढ़ झुकाए
जीर्ण पुलिन्दों के बोझों से !!

इस फाइल और यन्त्र के युग में गुप्त रीति से अणु-दानव का पालन-पोषण किया जा रहा है। दूसरे दृश्य में वह असुर बाहर प्रकट हो जाता है। नेपथ्य में अणु-विस्फोटकों के फटने की भयानक ध्वनि होती है। प्रकृति-पुरुष का परस्पर संवाद है। प्रकृति अणु-विस्फोट का परिणाम बता रही है :

धू धू करता ताम्र व्योम, धू धू जलती भू,
धू धू बलतीं दिशा, उबलता धू धू सागर,
भभक रही भू की रज, दहक रहे गल प्रस्तर,
सुलग रहे वन विटपी, धधक रहा समस्त जग।

सम्पूर्ण द्वितीय दृश्य में अणु-विस्फोट के द्वारा होनेवाला विध्वंस दिखाया गया है। उस सर्वसंहार में एक स्थान पर आशा की क्षीण स्वर-लहरी सुनाई पड़ती है कि :

फिर से मानव शिशु खेलेंगे भू श्मशान में,
पुनः बहेगी जग के मरु में जीवन-धारा।

सामाजिक को स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि इस विनाशकारी दानव—विस्फोटक—से मुक्ति का क्या मार्ग निकलेगा !

तृतीय दृश्य में प्रस्तर-युग से पूंजीवादी युग तक का इतिहास-चिह्न खंडहरों से खोद-खोदकर निकाला जाता है। प्रत्येक युग की मूर्ति से उस युग का इतिहास स्पष्ट होता है। अणु-युग को आमंत्रित करनेवाली है राजनीति और अर्थनीति की दुरभिसंधि। इन दोनों नीतियों के विरुद्ध जनता में रोष फैलता है। कुछ दूरी पर एक हंस उतरता दिखाई पड़ता है :

स्वर्ण हंस सी उतर रही निःस्वर जन भू पर
ज्योतिर्मयी नवल आध्यात्मिकता नव चेतन !

नवसंस्कृति की इस प्रतिमा से मानवता प्रसन्न हो उठी। “आशा-आनन्द-उत्साह-

द्योतक संगीत" धरा पर गूंजने लगा ।

इस नव संस्कृति के आगमन से मानव-जीवन के मन-व्यापारों को दिव्य चेतना संचालित करने लगी । कोरा तर्कवाद, बौद्धिकता का ग्रंथकार, इच्छाओं का संघर्षण मिटने लगा । आत्मऐक्य के कारण अहंभाव तिरोहित हो गया । श्रद्धा-ईड़ा सहज-समन्वित हो गई । अणु-शक्ति से धरती उर्वर बनी । कृत्रिम धनों से समयानुकूल वर्षा होने लगी । अन्त-मन की सुप्त शक्तियां जागरित हो जाती हैं । मानव के अन्तःशिखरों पर नव्य चेतना उतरती है ।

इस नाटक में विश्व-मंगल का हेतु भगवत्-कृपा मानी गई है । अन्त में भगवान की वन्दना की जाती है ।

पन्तजी के सभी नाट्यों का उद्देश्य एक, शैली एक, तंत्र एक है । सर्वत्र अध्यात्मवाद का पुट और नवमानवतावाद का सन्देश है । पन्तजी का मत है कि भारत का अध्यात्म-वाद ही अणु-विस्फोटकों से विश्व की रक्षा करने में समर्थ होगा । सभी नाटकों में मानव के 'नवजीवन-निर्माण का स्वप्न' है । जिन नाटकों में तीन दृश्य हैं, उनमें प्रथम में मुख, द्वितीय में प्रतिमुख और तृतीय में निर्वहण सन्धि मानी जा सकती है, क्योंकि कार्यावस्था में आरंभ, प्रयत्न और फलागम ही को इनमें स्थान है ।

'ध्वंसशेष' और 'अप्सरा' में चार दृश्य हैं । प्रथम दृश्य में आरम्भ और द्वितीय-तृतीय में प्रयत्न है । चतुर्थ में फलागम स्पष्ट झलकता है । जहां तक प्रयत्न का प्रश्न है, नायक में कोई बाह्य संघर्ष नहीं दृष्टिगोचर होता । अन्तःकरण का मंथन करने से विश्व-व्याधि का उपचार झलकने लगता है और एक प्रतिमा नभमंडल से अवतरित होकर आवश्यक ओषधि समर्पित कर देती है ।

पंतजी अपने काव्यरूपकों का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं—

“युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्यरूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । 'फूलों का देश' में मैंने संस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है । 'ध्वंसशेष' में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है । 'विद्युत् वसना' में मैंने मानव-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है । 'शिल्पी' में कला-मूल्यों तथा 'रजत शिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन-मान्यताओं के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । 'ध्वंसशेष' के तृतीय दृश्य में मैंने वर्तमान सम्यता के विविध तत्त्वों का मूल्यांकन किया है । और उसके अन्तिम दृश्य में नवीन मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित लोकतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित कर ध्वंस के बाद नवीन मानव संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया है । अपने 'सौवर्ण' नामक काव्य-रूपक में मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है ।

“ देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
मानव का चेतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय नीरस, जीवन-मृत, सब बरफ बन गया !

× × ×

ग्राह, उसे प्राणों का स्पन्दित ताप चाहिए,
जीने को जन-मन का भावोच्छ्वास चाहिए ।

“सौवर्ण के व्यक्तित्व में, जिसका बाह्य रूप वर्तमान जनयुग के संघर्ष की भ्रंशा का द्योतक है। सौवर्ण भ्रंशा के रथ पर चढ़कर आता है—मैंने जीवनोपयोगी धन आध्यात्मिकता का मानवीकरण कर भावी मानवता का स्वरूप उपस्थित किया है। अपने काव्य रूपकों को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन-प्रधान श्रव्य-काव्य ही की संज्ञा दूंगा ।”

भगवतीचरण वर्मा के तीन गीतिनाट्य हैं—(१) कर्ण, (२) महाकाल, (३) द्रौपदी। वर्माजी ने ‘कर्ण’ में एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयत्न किया है और महाभारत में उपलब्ध अलौकिक घटनाओं का बौद्धिक विवेचन किया है। कृष्ण और शल्य के वार्तालाप द्वारा कृष्ण के जघन्य प्रतीत होनेवाले कृत्य का इस प्रकार समर्थन किया गया है :

प्रत्येक रोम में लिए हुए प्रतिहिंसा
अस्तित्व घृणा का वह विकराल भयंकर;
कल्याण विश्व का था उसके मरने में
वह जन जीवन में था समर्थ प्रलयंकर !
उस दानवीर के दुखद निधन का मुझको
है दुख महान ! पर मेरी निपट विवशता !
यह धरा न उसका भार वहन कर पाती,
यह गगन न उसका तेज सहन कर सकता !

कर्ण की दानप्रियता का अनुपम उदाहरण अन्त में दिखाया गया है। वह मृत्यु से पूर्व अपने घनुष से अपने स्वर्ण-दन्त तोड़कर भिखारी को प्रदान करता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक प्रभावशाली है। ‘महाकाल’ में चेतन मानव का प्रकृति के साथ संघर्ष प्रदर्शित करने का प्रयास है। इसमें पंचतत्त्व, प्रकृति, चेतना और मानव पात्र हैं। मानव प्रकृति से ही शक्ति प्राप्त कर उसीके विनाश के लिए प्रयत्नशील है। इसका परिणाम यह होता है कि गोलों का विस्फोट होता है। चेतना पराजित होती है और महाकाल विजयी होता है। वह मानव को चुनौती देता हुआ कहता है :

चेतने, पराजित हो और अति थकित हो तुम
मुझमें लय हो जाओ, बस यह मेरा विधान ।

× × ×

एकोहम्—एकोहम्—एकोहम्—महाकाल ।

पन्तजी के नाटकों में जहां हमें युद्ध-ज्वाला से त्राण पाने की आशा की झलक मिलती है, वहां बर्माजी का यह नाटक हमें नैराश्य के अन्धकार में छोड़ देता है।

बर्माजी का अन्तिम गीतिनाट्य है 'द्रौपदी'। इसमें स्वयंवर से महाभारत के युद्ध तक का द्रौपदी-सम्बन्धी कथानक दस लघु दृश्यों में वर्णित है। केवल एक समवेत मान में महाभारत युद्ध की व्याख्या और दसवें दृश्य में द्रौपदी-चरित का वास्तविक मूल्यांकन किया गया है। इस नाटक में महाभारत-युग की हिंसा-प्रतिहिंसा, घृणा-अहम्मन्यता, मान-अपमान का चित्र उतारा गया है। विजयिनी द्रौपदी हिंससाधि के समय अपने गत जीवन पर सिंहावलोकन करते हुए कहती है :

सच, वह था मेरा अभिमान दर्प-भरा अहम्
जोकि ग्लानि से कह-कह उठता था त्राहिमाम
साधन थी नियति की, समर्पित मैं उसको हूं
नत हूं, श्री चरणों पर मेरे शत-शत प्रणाम !

द्रौपदी के चरित्र का विकास उसकी जीवन-साधना और अनुभूति के बल पर दिखाकर नाट्यकार ने काव्यतत्त्व और नाटकतत्त्व का सामंजस्य किया है।

मूलतः रंगमंच को दृष्टि में रखकर धर्मवीर भारती ने एक नया नाटक 'अन्धा युग' विरचित किया है। इसमें मुक्त छन्दों का ही प्राधान्य है। केवल दृश्य-परिवर्तन के समय कथागायन के गीत मुक्त छन्द से मुक्त हैं। सम्पूर्ण नाटक पांच अंकों में विभाजित है। अंकों का नामकरण क्रमशः कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्धसत्य, गान्धारी का शाप, विजय; एक क्रमिक आत्महत्या के शीर्षक से किया गया है।

इस नाटक की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। महाभारत के भीषण युद्ध के समाप्त होने पर धृतराष्ट्र और गान्धारी परिणाम जानने को व्यग्र हैं। जब गान्धारी अपने सभी पुत्रों की मृत्यु का दुःसंवाद सुनती है तो कृष्ण को शाप देती है :

तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग
यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धर्म है
तो सुनो कृष्ण
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खाएगा।
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे।

पंचाङ्गी गीतिनाट्यों में यह नाटक एक विशेष स्थान रखता है।

गिरिजाकुमार^१ माथुर का 'इन्दुमती' शृंगाररस-प्रधान गीतिनाट्य है। इसके कई गीत संगीत की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक हैं। उनके अन्य नाटक हैं 'धरादीप', 'भेष की छाया', 'ऋतुसंहार', 'राम की अग्नि-परीक्षा', 'नींद के देश में' इत्यादि।

सिद्धनाथ कुमार के कतिपय गीतिनाट्य लोकप्रिय बन गए हैं। 'कवि' में वास्तविकता और यथार्थवाद का सामंजस्य दिखाया गया है। 'सृष्टि की सांझ' में विश्वयुद्ध की समस्या पर विचार किया गया है। इसी प्रकार 'संघर्ष', 'विकलांगों का देश', 'बादलों की शाम' में काव्यतत्त्व और नाट्यतत्त्व का सम्मिलन दिखाई पड़ता है। बेनीपुरीजी ने इनके नाटकों को सफल काव्य-नाटकों में परिगणित किया है।

सृष्टि की सांझ

'सृष्टि की सांझ' में हिंसा की समस्या उठाई गई है। अणुबम के विस्फोट से विनाश का जो स्वरूप विश्व के सामने आ रहा है, उसीका अनुमान लगाया गया है। इस नाटक में पात्र भावात्मक हैं। सैन्यशक्ति (सेनानायक), मन, विचार-शक्ति (महामात्य), कामना, अजय, रेखा पात्रों के नाम हैं—सैन्यशक्ति और विचार-शक्ति में रेखा के लिए संघर्ष होता है। रेखा विश्व का संहार देखकर व्याकुल होती है। अजय रेखा से प्रणय की भिक्षा मांगता है और उसके सहयोग से नई सृष्टि रचना चाहता है। रेखा की ओर अजय के इस आकर्षण से सेनानायक विधुब्ध होता है और अजय का वध करके रेखा से पाणिग्रहण करना चाहता है। वह इसके लिए प्रयत्नशील बनता है, किन्तु महामात्य रेखा पर सेनानायक के एकाधिकार को सहन नहीं कर पाता और उसपर आक्रमण करता है। दोनों में युद्ध होता है और दोनों एक-दूसरे को आहत करते हैं। आहत अजय सप्राण हो उठता है। रेखा को देखकर कहता है :

यह मेरा चरण हुआ है क्षत-विक्षत !

लेकिन हैं मेरे प्राण शेष !

रेखा अजय की वाणी सुनकर प्रकृति की ओर उसका ध्यान आकर्षित करती हुई कहती है :

क्या कहूँ अजय !

तुम देख रहे, परिधान श्याम गिर रहा, गिर रहा अंबर से !

ढंक रही धरा ! धिर रही सांझ ! सृष्टि की सांझ ! आह !

अजय रेखा की बात स्वीकार करता है किन्तु चन्द्रमा की ओर संकेत करता हुआ कहता है :

सृष्टि की सांझ !

किन्तु देखो रेखा,

१. गिरिजाकुमार माथुर के गीतिनाट्यों का विस्तृत विवेचन हमारे आधुनिक नाटक में देखिए।

उग रहा क्षितिज पर नया चांद ।
 यह नई चांदनी उतर रही ।
 यह नई चांदनी !
 जगती की मधुमय आशा ।

इस नाटक का पर्यवसान मधुमय आशा के साथ दिखाया गया है, किन्तु वह मधुमय आशा है क्या ? इसकी ओर कहीं भी संकेत नहीं मिलता । दिनकरजी ने हिमालय में एक दिव्य सन्देश मानवतावाद का स्पष्ट कर दिया है । युद्ध के कारणों का विश्लेषण और उनका परिहार दिखाकर दिनकरजी ने नाटक को प्रभावशाली बना दिया है । पर 'सृष्टि की सांझ' में युद्ध-समस्या का दुष्परिणाम तो दिखाया गया है किन्तु उसका समाधान इसमें नहीं मिलता । नाटक सुनने के उपरान्त यह जिज्ञासा बनी रह जाती है कि अणुबम के विस्फोट से सृष्टि की सांझ होने जा रही है, किन्तु इसमें आशा का चन्द्रमा कहां से आ गया, इसका कहीं संकेत नहीं मिलता ।

लौहयुग

घरती पर भूख से तड़पनेवाले व्यक्तियों की पुकार सुनाई पड़ती है । श्रमजल का अर्घ्य चढ़ाने, बीजों का अक्षत देने तथा हल-कुदाल, हंसिया-खुरपी से सेवा में निरत रहने पर भी क्षुधार्त व्यक्तियों का हाथ से पेट दबाए तड़प-तड़पकर मरना दिखाया गया है । इस नाटक का नायक लौहदेवता है । जो देश उसके पावन चरणों पर स्वर्ण-खंड अर्पित करता है उसपर यह प्रसन्न होता है । इसके प्रसन्न होते ही खेतों में ट्रैक्टर चलने लगे, नहरों से सिंचाई होने लगी, मोटर-वायुयान पर जनता यात्रा करने लगी । एक ओर तो बड़ा वैभव है किन्तु दूसरी ओर क्षुधार्त जनता कोलाहल मचाती है । वह लौहदेवता की प्रतिमा को खंडित करना चाहती है । लौहदेवता उन्हें युक्ति देते हुए कहता है :

युक्तिवान हे !
 अपनी युक्ति स्वयं तुम सोचो ।
 देखो, ढूँढो,
 क्षुधा-तृषा, अगणित क्लेशों का
 मूल कहां है ।
 वह यन्त्रों में नहीं,
 तुम्हारे ही समाज में ।
 मत आघात करो तुम मेरे वरदान, पर
 शक्ति-साधना करो युक्ति से,
 युग-युग तक तुम सुखी रहोगे ।

लौहदेवता की उपपत्ति से विद्रोही जनता शांत हो जाती है और पुरुष वचन-बद्ध होता है :

देखेंगे हम,
क्षुधा-तृषा, पीड़ा-क्लेशों का
मूल कहां है,
हम उसका ही नाश करेंगे ।

इस नाटक में लौहदेवता का अर्चन सार्थक और समाज की आर्थिक विषमता सदीर्घ सिद्ध की गई है। इस प्रकार देश में भुखमरी का कारण लौह-यंत्र नहीं समाज की दुर्व्यवस्था बताई गई है।

संघर्ष

पंकज नामक कलाकार एक पाषाण-प्रतिमा के निर्माण में इतना दत्तचित्त है कि अपने हर्ष पुत्र मोहन की भी सुध-बुध भूल जाता है। सहसा उनके मन में विद्रोह उठता है और विद्रोही मन ही पात्र बनकर कलाकार के जीवन-पथ की आलोचना करता है। मन पंकज को वास्तविक स्थिति का परिचय कराते हुए कहता है कि तुम अपनी प्राण-प्यारी बेला को भूले बैठे हो। तुम्हें पता है उसकी क्या स्थिति है। पंकज को चेतावनी देते हुए मन कहता है :

तुमने थे जो आश्वासन दिए कभी उसको,
वे पाषाणों से टकराकर क्या धूल हुए ?
क्या सचमुच ही
तुम देख नहीं पाते उसकी इच्छाओं को ? —
जो सिसक-सिसककर रोती हैं,
जो घुट-घुटकर मिट जाती हैं !

पंकज अपनी साधना के सम्मुख सांसारिक सुखों को हेय समझता हुआ कहता है :

इस दुनिया की यह चमक-दमक,
यह रंगीनी,
सब नश्वर हैं, हैं क्षणिक, तुरत मिट जाएंगी
मैं नश्वरता के लिए
अमरता को न कभी भी खो सकता !

× × ×

सब मिट जाएंगे ,
वर्तमान के प्राणी हैं,
लेकिन यह मेरा कलाकार
है तोड़ रहा इस वर्तमान की सीमाएं

× × ×

आनेवाली सदियों में भी
यह कभी न मिटनेवाला है ।

नाट्यकार मूर्तिकार के भविष्य का दृश्य उपस्थित करता है। वह विसलाता है कि कालान्तर में ऐसा युग आता है कि मूर्तिकार की अनेक प्रस्तर-प्रतिमाएं भूगर्भ से खोद-खोदकर निकाली जा रही हैं। उन प्रतिमाओं पर मूर्तिकार का परिचय अंकित है। एक स्थान पर उन्नीस सौ पचास लिखा है। दर्शकों को विस्मय होता है कि अनेक शताब्दियों के उपरान्त भी पंकज की कला में मन को गुदगुदाने की शक्ति पाई जाती है। वे मूर्तियां संग्रहालय में रखी जाती हैं।

पंकज यह स्वप्न देख रहा था। जागरित होने पर विद्रोही मन पुनः उसकी हंसी उड़ाने लगा। कारण पृथ्वी पर मन पंकज को सावधान करते हुए कहता है :

घरती पर सब कुछ नश्वर है,

क्षणभंगुर है,

× × ×

संभव है,

जग के भले आदमी,

शांति चाहनेवाले नर

कुछ एटम बम भी बरसा दें !

तब कलाकार पंकज की

ये मूर्तियां कहीं बच पाएंगी ?

अमरत्व चाहनेवाले भावुक कलाकार !

अब पंकज मन के सिद्धान्तों को सहज ही स्वीकार कर लेता है और पुकार उठता है :

अमरत्व नहीं इस घरती पर !

भ्रम है सब मिथ्या है।

× × ×

मेरी मूर्तियां सभी

खंडित हो जाएंगी !

इतना कहते-कहते वह ऐसे जोर से हथौड़ा मारता है कि उसकी अर्धनिर्मित प्रस्तर-प्रतिमा नष्ट हो जाती है। वह पश्चात्ताप करता है, किन्तु धैर्य संकलित कर फिर दूसरी प्रतिमा के निर्माण की योजना बनाते हुए कहता है :

मुझे आत्मसुख मिलता था,

संतोष हृदय को होता था !

मैं फिर से कोई मूर्ति रचूंगा मनमोहक,

पत्थर में ज्योति जगाऊंगा।

इस काव्यरूपक में निर्धन कलाकार की मनःस्थिति का परिचय 'मन' को पात्र बनाकर कराया गया है। पर यह समझ में नहीं आता कि जब मन स्वयं एक पात्र बना

सम्मुख खड़ा है तो पंकज नई योजना बनाने में किस प्रकार सफल होता है। मन के अलग पात्र होते पर संकल्प-विकल्प की शक्ति कहां से आ जाती है। इस नाटक में यह एक बड़ा दोष है। यदि मन के स्थान पर किसी यथातथ्यवादी मित्र को पात्र बनाया गया होता तो इस दोष का परिहार हो जाता और नाटक की प्रभविष्णुता में भी किसी प्रकार की त्रुटि न दिखाई पड़ती।

विकलांगों का देश

कवि भारतीय समाज के उस वर्ग को विकलांगों (खंडित अंग वालों) का देश मानता है जिसको पूर्ण विकास का अवकाश नहीं मिलता। शिक्षा और स्वास्थ्य का अवसर न मिलने से जिनके नेत्र ज्योतिहीन और श्रवण बधिर हो गए हैं; पौष्टिक भोजन के अभाव में जिनके हाथ-पैर निर्बल रह गए हैं उनका रोदन सुनाई पड़ता है। अन्धे, लंगड़े, लूले, बाने जहां कराह रहे हैं वह दुनिया विकलांगों की दुनिया है।

इस दुनिया के बसने का कारण बताने के लिए कवि ने गिरधर और भोला दो पात्रों की सृष्टि की है। गिरधर के पूछने पर भोला स्वयं अशिक्षित रहने का कारण बताते हुए कहता है :

मां कहती थी—

‘पढ़-लिखकर लाट बनेगा तू ?

इससे कोई फायदा नहीं

जा,

गलियों-सड़कों से चुनकर

कोयले उठा,

बाजारों में जाकर

फिर उसको कहीं बेच ।’

मैं करता क्या ?

उस समय कोयले चुनता था,

मशीन साफ अब करता हूं !

भोला के कई मित्र थे जो चित्रकार और कवि होना चाहते थे। किन्तु विकलांगों के देश में कहीं शिक्षा का प्रकाश नहीं फैलने पाया। क्षुद्र सीमाओं से परिवेष्टित उस निर्धन समाज का विकास अवरोध रहा। दुर्दशाग्रस्त उन विकलांगों की एक ही लालसा है :

सीमाओं से हीन जगत् में

हमको मुक्त विकास चाहिए !

हमें चाहिए मुक्त धरा औ’

हमें मुक्त आकाश चाहिए।

इस प्रकार जीवन की सुखद अभिलाषा की अभिव्यक्ति के साथ नाटक समाप्त

होता है। इस नाटक में दुःख-निवारण का मार्ग नहीं बताया गया है। केवल मंगल-कामना प्रकट की गई है।

बादलों का शाप

देश में अकाल पड़ा है। जल के अभाव में अनेक मनुष्य तड़प-तड़पकर मर रहे हैं। धरित्री नीरस बन गई है, अतः वनस्पतियों का लोप हो गया है। काले-काले बादल आकाश में उमड़-धुमड़कर आते हैं, पर वर्षा की एक बूंद नहीं। वे जल बिना बरसाए चले जाते हैं। इस अकाल के कारणों पर विविध प्रकार से लोग तर्क कर रहे हैं। एक स्त्री कहती है :

उस पार क्षितिज के

बैठा कोई मनुज

शाप का स्रष्टा है !

उसने ही बंदी कर रक्खा है मेघों को।

वह नहीं बरसने देता है

दूसरी स्त्री कहती है—है प्रकृति रुष्ट हम लोगों से !

तीसरा व्यक्ति कहता है—हमने है कोई पाप किया !

चौथा व्यक्ति कहता है—हम भोग रहे हैं कर्मों का फल !

पांचवां व्यक्ति कहता है—उस ओर मेघ बरसें,

हरियाली लहराए,

इस ओर धरा,

जल की कुछ बूंदों को तरसें !

इन कारणों पर विचार करते-करते अन्त में यह निष्कर्ष निकलता है कि :

वैषम्य - कलुषताएं जब

सब मिट जाएंगी,

उस क्षितिज पार ही जैसी

होगी धरती यह !

बादल स्वच्छंद हो घूम-घूम

रस की बूंदें बरसाएंगे,

धरती की प्यास बुझाएंगे !

उत्साही युवकों का एक वर्ग अभिशाप देनेवाले व्यक्ति को दूढ़ने निकलता है और अभिशाप के कारणों के परिहार का संकल्प करता है।

इस प्रकार ओर निराशा में आशा का मार्ग दिखाई पड़ जाता है और दुःखी जीवन में नवीन उत्साह का संचार होता है।

हिमालय का सन्देश

रामधारीसिंह दिनकर का यह दूसरा काव्य-रूपक है। इस रूपक में हिमालय को

पात्र बनाकर उसके मुख से विश्व को एक नया सन्देश सुनाया गया है। नाटक के अन्य पात्र हैं—कवि, जनता (सात व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार के स्वर के रूप में), बुद्ध-देवता। सर्वप्रथम कवि रंगशाला में प्रविष्ट होता है और संसार की दशा देखकर और विज्ञान का दुष्परिणाम सोचकर चिन्तित होकर कहता है :

बुद्ध तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान,
चेतता तब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान ?

तदुपरान्त सात व्यक्तियों के स्वर सुनाई पड़ते हैं। एक का विश्वास है कि संसार में शांति-दूत आनेवाला है, जिसकी तैयारी विश्व कर रहा है। दूसरे स्वर से देश में घोर विषमता के कारण अशान्ति का आभास मिलता है। उसका कथन है कि “इस समाज की एक दवा है—आग और उत्क्रांति।”

तीसरा वर्ग उन व्यक्तियों का है जो हिंसा और प्रतिहिंसा की भावना का विरोध करते हैं। उनका कथन है :

करके दलन नर में जगाओ बन्धु, प्रतिहिंसा नहीं।

हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।

चौथे वर्ग में वे लोग हैं जो हिंसा को अनिवार्य दूषण मानकर अहिंसा के उपदेश को व्यर्थ समझते हैं। उनका कथन है कि जब विनय हार मान लेती है और प्रस्तर-हृदय को प्रेम-पुकार भेद नहीं पाती, तब हिंसा आवश्यक बन जाती है। वे हिंसा की उपयोगिता तब तक स्वीकार करते हैं जब तक ‘नर में पशुत्व’ शेष है।

इसी समय एक समवेत स्वर सुनाई पड़ता है, जिसकी पुकार है “हम भूखों को सिर्फ चाहिए एक वसन, दो भात। भूख लगी है, रोटी दो।”

इस प्रकार का समर्थन करनेवाला पांचवां विचारक-दल है जो दर्शनशास्त्र और ललित कलाओं को व्यर्थ समझता है। उसका मत है कि :

सच तो है, रोटियां नहीं तो क्या ये कविता लाएंगे ?

थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबाएंगे ?

छठे वर्ग में वे विचारक हैं जो केवल रोटियों से सन्तुष्ट नहीं होते। उनका कथन है कि मनुष्य का लक्ष्य केवल क्षुधा-निवारण ही नहीं है। उसे ‘मन के ऊपर पड़े शिलामय प्राचीरो को चूर’ करना पड़ेगा। यहीं विवाद प्रारम्भ होता है। सातवां वर्ग जीवन का एक नया सिद्धान्त रखता है। वह पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक को ढकोसला समझता है। उसका कथन है कि “इस मनुष्य का धर्म स्वेद है, ईश्वर अविश्रान्त श्रम है। समझ नहीं पाता इसको तो चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।”

छठे वर्ग के स्वर में इसका विरोध सुनाई पड़ता है। इस वर्ग के लोग घरा और आकाश, लाक और परलोक दोनों का चिन्तन आवश्यक मानते हैं। वे तन और मन दोनों का आहार प्रस्तुत करना चाहते हैं। उनका मत है कि “तन मन दोनों बढ़ें अगर तो चमक उठे, सचमुच, संसार।” केवल रोटी को पर्याप्त न समझकर वे कहते हैं “रोटी और अभय

भी दो।”

इतने में ही युद्ध-देवता अट्टहास करता हुआ आता है। वह अपने जीवन का उद्देश्य बताते हुए कहता है :

नर के मन को विद्वेष, घृणा, तूष्णा से भरने आया हूँ।

विश्व में अशान्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए युद्ध-देवता कहता है कि अपने धर्म, अपनी जाति, अपने राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ मानकर एक राष्ट्र दूसरे के साथ युद्ध में तत्पर होता है। उसका कथन है कि जब तक राष्ट्रीयता की महत्ता मानवता से ऊपर मानी जाएगी तब तक देशों में अलग-अलग अंडे फहराएंगे और विश्व-मानव को कहीं स्थान नहीं मिल सकेगा। वह कहता है :

मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन ?

युद्ध-देवता के अट्टहास से पृथ्वी कराहने लगती है। पृथ्वीमाता के क्रन्दन से कवि-हृदय विकम्पित हो उठता है। वह अपने भारत देश को सम्बोधित करके कहता है :

तूष्णा की पंकिल तरंग में तू भी खो जाएगा ?

या तेरा शुभ कलश कमल-सा ऊपर लहराएगा ?

कवि का विश्वास है कि भारत देश ही संसार की अशान्ति को मिटा सकेगा। क्योंकि “सब कहते हैं, लाया है कोई नवीन संदेश।”

कवि योगेश्वर हिमालय की अभ्यर्थना करता है कि वह कोई नया सन्देश विश्व को सुनाए। वह पूछता है :

योगेश्वर ! क्यों मची हुई इतनी अशान्ति भारी है ?

इतने में हिमालय से विस्फोट होता है। मानो हिमालय विश्व की अशान्ति के कारणों का विश्लेषण करते हुए कहता है—

आज जो लगी हुई है आग, ज्ञान के घर से आई है,

जगत् की आंखों पर रोशनी, अन्धता बँनकर छाई है।

हिमालय कहता है कि युद्ध के विविध कारणों का मूल वैज्ञानिक अनुसन्धान की अभिवृद्धि के साथ मन की कोमलता का विनाश है। हिमालय भारत देश की व्याख्या करता हुआ कहता है कि यह देश भौतिकता को महत्त्व न देकर स्वर्ग का भूतल पर उतारनेवाले विचारों को गौरव प्रदान करता है। हिमालय की दृष्टि में भारत वहाँ बिद्यमान है “जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम। सभरस हो कामना, वहीं भारत का करो प्रणाम।”

हिमालय का अन्तिम सन्देश है :

धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

निरी बुद्धि के लिए भावना का मत दलन करो रे।

जो अदृश्य प्रहरी है, उससे भी तो कभी डरो रे !

शान्ति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से मांगो,
नवयुग के प्राणियो ! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो !

धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो ।

उर्वशी

‘दिनकर’ का अन्य गीतिनाट्य है उर्वशी (१९६१ ई०)। इसका ढांचा पद्य-नाटिका का है। इसमें पांच अंक हैं। प्रथम दो अंकों में प्रचलित ललित छन्द अन्त्यानुप्रास के सहित प्रयुक्त हुआ है। बाकी तीन अंकों में छन्द तो वही है, किन्तु वह अन्त्यानुप्रास से मुक्त है। जहाँ छन्दों में अन्त्यानुप्रास हैं, वहाँ कवित्व की गरिमा परम्परा की याद दिलाती है। जहाँ अन्त्यानुप्रास नहीं हैं, वहाँ पद्यों में कवित्व के साथ-साथ चितन की स्वाभाविक प्रक्रिया गंभीर हो उठी है, जिससे नाट्यशैली को भी निखरने का अवसर मिला है।

पुरूरवा और उर्वशी की कथा ऋग्वेद से लेकर कथा-सरित्सागर तक अनेक रूपों में मिलती है। कवि ने जो कथानक रखा है, उसका प्रथम अंकवाला अंश कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् के अनुसार है। किन्तु बाकी चार अंकों का कथानक बिलकुल नवीन है, यद्यपि नवीन होने पर भी वह परम्परा में कहीं न कहीं अपना आधार रखे हुए है। प्रत्येक अंक के आरम्भ में प्राचीन साहित्य से एक-दो उद्धरण देकर कवि ने संकेत देना चाहा है कि उस अंक के अन्तर्गत कथा अथवा कल्पना का जो रूप है, उसका मूल उत्स कहां मिलता है। इससे सारा काव्य परम्परा की डाल से फूटकर निकला हुआ अत्यन्त मनोरम एवं नवीन पुष्प-सा दिखाई देता है।

प्रथम अंक का आरम्भ नटी और सूत्रधार के वार्तालाप से होता है। नटी और सूत्रधार चांदनी रात में प्रकृति की शोभा का पान कर रहे हैं। स्थान पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप है। इतने में आकाश से कई परियां एकसाथ पृथ्वी पर उतरती हैं। उनके अवतीर्ण होते ही नटी और सूत्रधार छाया में छिप जाते हैं और नाटक का वास्तविक आरम्भ हो जाता है। अप्सराएं बातों के क्रम में स्वर्ग और पृथ्वी की तुलना करती हैं, देवताओं और मनुष्यों का मिलान करती हैं। इतने में उर्वशी का प्रसंग आ जाता है और अप्सराओं की बातचीत से पाठक को पुरूरवा और उर्वशी का पूर्वराग मालूम हो जाता है। फिर चित्ररेखा उड़ती हुई आती है। वही यह संवाद सुनाती है कि उर्वशी पुरूरवा के उद्यान में पहुंच गई है और अब उसके विरह का अन्त होने ही वाला है। इस अंक में दो-तीन गीत भी हैं। इस अंक की भाषा भी नाटक के अत्यन्त अनुकूल है।

दूसरे अंक में कवि ने यह दिखलाया है कि उर्वशी को साथ लेकर जब पुरूरवा बिहार के निमित्त गन्धमादन पर्वत पर चला गया तब इसकी प्रतिक्रिया अन्तःपुर अर्थात् उसकी परिणीता महारानी औशीनरी पर क्या हुई। इस अंक का कथोपकथन औशीनरी और उसकी दो सखियों के बीच चलता है। औशीनरी को इस काण्ड से जो व्यथा हुई उसका वर्णन तो इस अंक में है ही, आकर्षण का मुख्य केन्द्र यह विवेचन बन जाता है कि पुरुष का नारी-विषयक अनुराग कैसा होता है।

पुरुष सदा आक्रान्त विचरता मादक प्रणय-शुषा से,
जय से उसको तृप्ति नहीं, सन्तोष न कीर्ति-सुषा से ।
असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है,
संकट में युवती का शय्या-कक्ष याद आता है ।

तृतीय अंक में पुरुरवा-उर्वशी का गन्धमादन-विहार वर्णित है। यह अंक आकार और ऊँचाई अथवा गाम्भीर्य की दृष्टि से सभी अंकों से विशाल और श्रेष्ठ है। इसे हम इस काव्य का शिखर कह सकते हैं। किन्तु पात्र उसमें दो ही हैं, पुरुरवा और उर्वशी तथा घटनाएं भी इस अंक में नहीं घटती हैं। वास्तव में यह अंक कुछ कवित्व और गहन दार्शनिक चिन्तन का स्थान है, जिससे यह अनुमान होता है कि कवि का लक्ष्य नाट्य-विधान नहीं, काव्य का सृजन रहा है और काव्य की दृष्टि से इस अंक में दो-एक ऐसे शिखर भी दिखाई देते हैं जो हिन्दी में पहले कहीं भी दिखाई नहीं पड़े थे। अवश्य ही कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी के रचयिता ने अपनी पहले की सीमा लांघकर एक ऐसे शिखर पर चरण रखा है जो दिनकर-काव्य के शिखरों से ही उन्नत नहीं, बल्कि समस्त आधुनिक काव्य के भीतर नई ऊँचाई का मान स्थिर करता है।

उदाहरणार्थ, पुरुरवा और उर्वशी प्रेम करते-करते जब समाधि में पहुंच जाते हैं तब उनका प्रेम देहिक प्रेम नहीं रह जाता, वह देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का साधन बन जाता है। यह कल्पना तंत्रमार्ग का आधार बनी थी, इसी आदर्श पर सहजिया संप्रदाय के साधक भी चले थे। किन्तु उस कल्पना को उर्वशी में आकर विज्ञान-सम्मत भाषा की उपलब्धि हो गई है और वह अत्यन्त प्रभावशालिनी दिखाई देती है। देश और काल के अतिक्रमण की अनुभूति पहले उर्वशी को होती है और वह कहती है :

प्रिय ! उस पत्रक को समेट लो जिसमें समयसनातन,
क्षण, मुहूर्त, संवत्, शताब्दि की बूंदों में अंकित है ।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा में,
देश-काल से परे, छूटकर अपने भी हाथों में
किस समाधि का शिखर, चेतना जिसपर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ शिखर अम्बर में स्थिर-समान लगता है ।

उत्तर में पुरुरवा जो कुछ कहता है, उससे प्रेमियों की समाधि की गम्भीरता और भी अमेय हो जाती है :

सिंधु, विष्णु, हिमवान खड़े हैं दिगायाम में जैसे
एकसाथ, त्यों काल-देवता के महान प्रांगण में
भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सब साथ-साथ ठहरे हैं,
बातें करते हुए परस्पर गिरामुक्त भाषा में ।
कहां देश, हम नहीं व्योम में जिसके गूंज रहे हैं,
कौन कल्प, हम नहीं तैरते हैं जिसके सागर में

महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है
कहती है चेतना काल के आदि-मूल को छूकर ।

इस प्रसंग में पुरुरवा और उर्वशी के संवाद देश के धरातल से बहुत ऊपर उठ जाते हैं और उनके उद्गारों से प्रेम विभासित पुण्य का रूप ले लेता है । प्रेम को धर्म के आसन पर अवस्थित करने का प्रयास आधुनिक साहित्य में शायद इसी काव्य में हुआ है । नर-नारी प्रेम करते हुए भी परम चेतना के स्वरूप होते हैं और उनकी प्रणय-चेष्टाएं अदृश्य के चरणों का उपहार हैं, यह भाव उर्वशी में अत्यन्त सूक्ष्मता से व्यक्त हुआ है :

और चूमते हम अचेत हो जब असंभ्र अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ़ जाता है ।
देह मृत्ति, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं हैं;
अधर नष्ट होते, मिटती झंकार नहीं चुम्बन की ।
यह अरूप आभा तरंग अप्रित उसके चरणों पर
निराकार हो जाग रहा है सारे आकारों में ।

चतुर्थ अंक में उर्वशी का मातृत्व दिखलाया गया है । कालिदास का अनुसरण करते हुए दिनकरजी ने भी उर्वशी के पुत्र का जन्म च्यवनाश्रम में ही दिखलाया है, किन्तु विशेषता यह है कि इस अंक में सुकन्या और महर्षि च्यवन का चरित्र बड़े ही उदात्त ढंग से अंकित किया गया है । भरत-श्राप के कारण उर्वशी के भीतर मातृत्व और पत्नीत्व के बीच विरोध उत्पन्न हुआ । इस विरोध का चित्रण बड़े ही कौशल से और हृदयग्राही ढंग से किया गया है । सुकन्या और उर्वशी की उक्तियों में कविता भी अत्यन्त सरस हो उठी है । कथानक की दृष्टि से यह अंक इस बात की सूचना देता है कि उर्वशी अपने नव-जात पुत्र को सुकन्या की गोद में छोड़कर स्वयं पुरुरवा के राजमहल में लौट गई ।

शुद्ध नाटक की दृष्टि से पांचवां अंक अत्यन्त सफल रचना है । इस अंक का आरंभ पुरुरवा के स्वप्न-वर्णन से होता है । इसके पश्चात् आयु को लेकर स्वयं सुकन्या राजभवन आती है और उर्वशी सहसा विलुप्त हो जाती है । उर्वशी के मुख से इस अंक में दो-तीन ही उद्गार कहलाए गए हैं । किन्तु उतने से ही अभिशाप की विकरालता पाठकों के हृदय को हिला डालती है । उर्वशी के विलुप्त होने पर नेपथ्य से एक ध्वनि आती है, जो पुरुरवा की ही आत्मा की ध्वनि है । इसी ध्वनि से प्रभावित होकर पुरुरवा संन्यास लेता है, किन्तु काव्य यहां समाप्त नहीं होता । वह समाप्त होता है सुकन्या और श्रीशान्ति के संवाद में, जो अत्यन्त हृदयग्राही और विचारपूर्ण है । पुरुरवा के संन्यास को कदाचित् कवि ने स्वस्थ कृत्य नहीं माना, इसीलिए उसने नाटक की समाप्ति दो सती नारियों के संवाद में की । सती नारियों का चरित्र आधुनिक साहित्य से प्रायः बिदा हो चुका है । प्रसन्नता का विषय है कि उसकी छोटी किन्तु प्रबल भांकी उर्वशी काव्य में आ गई है ।

लीला

'लीला' (जनवरी, सन् १९६१) मैथिलीशरण गुप्तजी का नव प्रकाशित गीति-

नाट्य है। यद्यपि यह भ्राज से चालीस वर्ष पूर्व लिखा गया था, परन्तु भ्राज भी उसे तद्वत् प्रकाशित करना ही गुप्तजी ने उचित समझा है। वे स्वयं लिखते हैं “मनुष्यत्व के प्रति मेरी तब जो आस्था थी, वह अब भी है।” इसके प्रथम दृश्य में सोलह पदों की वस्तु-निर्देशात्मक षोडशपदा नान्दी है, जिसमें पृथ्वीदेवी रत्न-सिंहासन पर बैठकर रामा-वतार की आशा से प्रसन्न हो रही हैं। वे भारत-भाग्य के परिवर्तन की आशा प्रकट करती हैं तथा संसार को भारत के माध्यम से पूर्ण आदर्श चरित्र की शिक्षा देने का संकल्प करती हैं।

‘लीला’ के द्वितीय दृश्य में बन के प्रान्तभाग में राजा दशरथ के राजकुमार राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अपने बालसखा धीर और गम्भीर के साथ मृगया की योजना बनाते हैं। इतने में ‘वीर’ नामक पात्र प्रस्तुत होकर विश्वामित्र नामक मुनि के आगमन की सूचना देता है। वे सब प्रस्थान करते हैं। दृश्य यहीं समाप्त होता है। तृतीय दृश्य में कुशल-प्रश्नों के पश्चात् अयोध्या के राजभवन में विश्वामित्रजी राजा दशरथ से यज्ञ-रक्षा के निमित्त राजकुमारों की याचना करते हैं। परन्तु दशरथजी प्रथमतः अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रों को देने में मीन-मेल करते हैं किन्तु राम-लक्ष्मण के ही विनय करने पर उन्हें कहना ही पड़ता है, “मेरे दोनों हाथ राम-लक्ष्मण प्रस्तुत हैं। लीजिए अब से पिता आप हैं ये दो सुत हैं।” चतुर्थ दृश्य में राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ प्रस्थानोपरान्त खिन्नमना कौशल्या को सुमित्रा समझाती हैं। पंचम दृश्य का प्रारम्भ अराल-कराल नामक राक्षसों के वार्तालाप से होता है और अन्त ताड़का के बध से। षष्ठ दृश्य में धीर, गम्भीर, भरत और शत्रुघ्न के वार्तालाप से राम-लक्ष्मण की कुशलता और जनकपुर के धनुष-यज्ञ की सूचना मिलती है। सप्तम दृश्य सीता-उर्मिला आदि से राम-लक्ष्मण के प्रथम साक्षात्कार का है। अष्टम में दो राजाओं का आपस में धनुष तोड़ने के विषय में वार्तालाप दिखाया गया है तथा नवम दृश्य के साथ जनकपुर धनुःशाला में धनुष-भंग, पर-शुराम-लक्ष्मण-संवाद और सबसे बाद में सीता-राम-विवाह समारोह में जयमाल डालकर नाटक समाप्त किया जाता है।

इसमें वार्तालाप में कहीं छन्दों की अर्द्धाली और कहीं अर्द्धाली की भी अर्द्धाली पाई जाती है। राम के बालसखाओं तथा सीता की सखियों को क्रियाशीलता में योग दिलाकर नूतन प्रयास किया गया है जो अन्यत्र नहीं मिलता। सम्भवतः नाटकीयता के मोह ने सौन्दर्य को निखरने नहीं दिया है। परन्तु नाटकीयता भी स्पृहणीय नहीं बन पाई है। गुप्तजी का यह नाटक उनकी अन्य रचनाओं से सुन्दरतर नहीं बन पाया है।

गीतिनाट्यों की धारा नई दिशा में मुड़ रही है। अब केवल एकांकी नहीं अपितु पूर्ण नाटक विरचित होने लगे हैं। विविध नाट्यकार विविध रूपों में प्रयोग कर रहे हैं। नवीन गीतिनाट्यों का विशेष विवरण हमारी पुस्तक ‘आधुनिक नाटक’ में देखिए।

केदारनाथ मिश्र ‘प्रभात’ के कतिपय गीतिनाट्य प्रकाशित हुए हैं, जिनमें ‘स्वर्णोदय’, ‘अंगुलिमाल’, ‘मानव निश्चय ही लौटेगा’, ‘संवत्त’ प्रसिद्ध हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री

के गीति-नाट्य काव्यकला एवं नाट्यकला दोनों दृष्टियों से उच्च कोटि के प्रतीत होते हैं। वे सफल कवि और शास्त्रविद् नाट्यकार हैं। 'पंचाली', 'तमसा', 'मदन-दहन', 'उर्वशी-मानभंग', 'गोपा', 'इरावती-शाप-मुक्ति' और 'आदमी' (१९६०) नामक प्रसिद्ध गीतिनाट्यों की उन्होंने रचना की है। इनका विशेष विवरण हमारे 'आधुनिक नाटक' में देखिए। गीति-नाट्यधारा का विकास नाट्य-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहा है। इस शैली की विशेषता है कि इसमें मनोभावों का संघर्ष बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अधिक मुखरित हुआ है। इस शैली में मनोवृत्तियों का द्वन्द्व रमणीय शैली में दिखाना अभीष्ट होता है।

गीतिनाट्यों की संख्या शताधिक पहुँच चुकी है। पुस्तक के अन्त में उनकी सूची दी जा रही है। अद्यावधि विरचित गीतिनाट्यों में 'दिनकर' का 'उर्वशी' नाटक सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है।

नवीन प्रतीक-नाटक

लक्ष्मीनारायणलाल-कृत 'मादा कैकटस' एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसकी प्रतीक-व्यंजना अत्यन्त सघन, गम्भीर एवं मार्मिक है। इसमें क्रमबद्ध घटनाओं का अभाव है। केवल कैकटस को केन्द्र में रखकर इसके परिपोषक अरविन्द के चतुर्दिक् एक अल्पी-यसी घटना इस प्रकार घटित होती है—अरविन्द अपनी धर्मपत्नी सुजाता को छोड़ देता है और सहधर्मा आनन्दा के साथ रहकर अपनी कलाकृति का निर्माण करता है। वह विवाह को बच्चों का वह धरोहरा समझता है जो अतिजीर्ण हो चुका है। वैवाहिक जीवन को गतिरोध का कारण घोषित करता हुआ कहता है, "मैं तो उसे बिलकुल ही मिटाना चाहता हूँ। मैं उस रास्ते पर चलकर देख आया हूँ। उसमें गति नहीं है, प्रेरणा नहीं है। सबसे बड़ी चीज है आपस की अण्डरस्टैंडिंग—सम्प्रेथी।" वह दहा का उपहास करते हुए कहता है कि आप अपनी स्त्री को हण्टरों से मारते थे और आपने एक के मरते दूसरा और दूसरी के रहते तीसरा विवाह कर लिया। वह पुराने 'मॉरल वेल्यूज' को ठीकरा समझता है और प्राचीन 'सोशल स्ट्रक्चर' का आमूल परिवर्तन चाहता है। वह परम्परा को अन्धविश्वास कहता है। नवयुग की प्रतीक आनन्दा यूनिवर्सिटी में लेक्चरर तथा चित्रकला एवं संगीतकला की पुजारिन है, किन्तु है स्वभाव से बड़ी मनस्विनी। चार साल रुग्णावस्था में अरविन्द के साथ रहने के कारण कृशकाय हो गई है। उसका लक्ष्य है अरविन्द के साथ विवाह से ऊपर उठकर सच्चे दोस्त के समान रहना। कालान्तर में घटनाचक्र से मादा कैकटस सूख जाती है।

प्राचीन प्रतीक-नाटकों के विषय में हम पूर्व चर्चा कर आए हैं। आज के प्रतीक-नाटक समस्यापरक बनते जा रहे हैं। उनका विस्तृत विश्लेषण यहाँ आवश्यक है। आज के समस्या-नाट्यकार प्रतीक का अवलम्ब ले रहे हैं। इस प्रतीक-योजना में अरविन्द केवल उपयोगिता-मात्र को चाहनेवाला नये युग का प्रतीक है। सुजाता पहले तो सौन्दर्य की प्रतीक है पर बाद में परित्यक्ता हो जाने पर (अर्थात् केवल उपयोगिता-मात्र के अन्धधर्मी, आधुनिकता के प्रतीक अरविन्द से उपयोगिता के अभाव

में परित्यक्ता बनने पर अध्ययन करके वह ज्ञान-समन्वित सौन्दर्य की प्रतीक बन जाती है। मादा कैक्टस नये युग का मूल्य कही जा सकती है और आनन्दा नये मूल्यानुसार जीवन बिताने की इच्छा रखनेवाली, सन्तान को अपने मार्ग में बाधक समझनेवाली नवयुग की प्रतिछाया है। दहा पुराने युग के प्रतिरूप हैं। सुधीर अलहड़पन और मस्ती का ही प्रतिरूप है। उसका विवाह मिस खान से होता है जो सांसारिक सुख या आदर्श-रहित भौतिक सुख-मात्र की आकांक्षिणी है।

सुजाता प्रतीक है कला की सुन्दरता का। जब अरविन्द अर्थात् नया युग आनन्दा अर्थात् उपयोगिता के वश में होकर पारिवारिक स्नेह, दया, माया, ममता आदि को त्याग देता है तो सुजाता अर्थात् कलागत सुन्दरता साधना के द्वारा दिवाकर अर्थात् शक्ति से नाता जोड़ लेती है। उस दशा में मादा कैक्टस—नवयुग का मूल्य—सुख जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। आनन्दा के दोनों फेफड़ों का एकसरे करना मानो उपयोगिता के दोनों पक्षों की अन्तर्परीक्षा है। अरविन्द का आनन्दा को पुकारते हुए गिरना, नये मूल्यों पर आधारित कलाकृति का मूर्छित होना है। सुधीर का मुर्गाबी आदि कोमल पक्षियों को मारनेवाली बन्दूक को फेंक देना अपने भौतिक सुख-मात्र में केन्द्रित प्रवृत्ति का परि-त्याग कर उदात्त वृत्ति धारण करना है।

इसमें तीन कोटि के जीवन की अभिव्यक्ति है। एक कोटि में सुधीर और मिस खान हैं, जिनका लक्ष्य एकमात्र सुख-विहार है, जिन्हें किसी कलाकृति से कोई नाता नहीं, जो अलहड़मय जीवन बिताते हुए निश्चिततापूर्वक जीवन-यापन कर लेने के पक्ष में हैं। वे इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि कोमल वृत्तियों को जीवित रखकर परिपुष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि उनके हृदन से हम भौतिक जीवन को सुखी बना सकते हैं तो उनकी हत्या में कोई दोष नहीं। ये उनके प्रारम्भिक विचार थे। जब ये पुष्ट होने लगते हैं तो हत्याकारी बन्दूक फेंक देते हैं। अर्थात् विचारों की परिपुष्टता के बाद भौतिकवादी को भी क्रूरता, निर्दयता का त्याग करना पड़ता है।

दूसरा वर्ग जीवन के भौतिक सुख के साथ-साथ कलाकृति के निर्माण के भी पक्ष में है। अरविन्द और आनन्दा का सहधर्मा होना इस बात का सूचक है कि कलाकृति-कार अपनी कला में सहायता करनेवाली उपयोगिता को ही अपनी चिरसंगिनी बनाना चाहता है। वह वैवाहिक जीवन को बन्धन समझकर उन्मुक्त प्रेम का अभिलाषी है। वह परम्परागत सुन्दरता के साथ गठबन्धन करने को तैयार नहीं। अतः अपनी धर्म-पत्नी सुजाता का परित्याग करता है। किन्तु अन्त में अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए मूर्छित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परम्परागत सुन्दरता का परित्याग कर तात्कालिक उपयोगिता के साथ विचरण करनेवाला चिरकाल तक सशक्त नहीं रह सकता, उसकी कृतियां शाश्वत एवं चिरस्थायी नहीं बन सकतीं।

परित्यक्ता सुजाता की अध्येता-रूप में तपस्या और दिवाकर से पुनः गठबन्धन इस तथ्य का प्रतीक है कि स्थायी कला-सृष्टि, परम्परागत सुन्दरता का गठबन्धन दिव्य

शक्ति-समन्वित होने पर ही सम्भव है।

डा० लक्ष्मीनारायणलाल का दूसरा प्रतीकात्मक अनेकांकी है 'सुन्दर रस'। इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार आज का मानव सौन्दर्य की मिथ्या भ्रान्ति में पड़कर अपनी नैसर्गिक सौन्दर्य-गरिमा को दूर छोड़ देता है। एक पण्डितजी 'सुन्दर रस' का आविष्कार करते हैं जिसका प्रयोग करके उनकी पत्नी अपने सौन्दर्य-दम्भ में व्यर्थ ही अपना मानसिक सन्तुलन खो देती है तथा वह स्वतः अपने ही लिए सौन्दर्य प्रसाधन की एक नई समस्या खड़ी कर लेती है। पण्डितजी भी स्वयं उस 'सुन्दर रस' की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि यह रस वस्तुतः किसीको सुन्दर नहीं बनाता, लेकिन मेरे शरीर में तो अवश्य सौन्दर्य आ रहा है। इस प्रकार उनको भी एक मानसिक भ्रान्ति-सी हो जाती है, क्योंकि वे सदा 'सुन्दर रस' का ही चिन्तन किया करते हैं।

प्रस्तुत नाटक डाक्टर लाल के पूर्वनाटक 'मादा कैक्टस' के सदृश प्रतीक-व्यंजना में सफल नहीं हो सका है।

डा० लाल का 'अन्धा कुआँ' नाटक भी आधुनिक समाज की समस्याओं से भ्रान्त मानव की मानसिक द्विविधा, अस्थिरता आदि के स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण की नवीन चेतना से प्रभावित एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है।

'डूबते तारे' अभयकुमार-कृत तीन अंकों का नाटक है। इसमें मंगल कवि के स्वाभिमान और धनी लड़की चन्द्रा की यौन-विकृतियों का संघर्ष दिखाया गया है। चन्द्रा अपनी एक सहेली रश्मि से मंगल का विवाह करा देती है। उन दोनों में आपस में विचार-साम्य न होने से हार्दिक प्रणय पनप नहीं पाता और रश्मि चरित्रभ्रष्ट पतितों के चंगुल में पड़कर पतनोन्मुख हो जाती है। केवल चन्द्रा का ही चरित्र आकर्षक बन सका है। पात्रों के हृद्गत मनोभावों तक पहुँचकर चित्रण करने में नाटककार कम ही सफल हो सका है।

'सब चलता है' सुदर्शन बब्बर-कृत त्रिअंकीय नाटक है। इसमें हास्य की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। साथ ही स्वच्छ प्रेम-विवाह का भी प्रतिपादन किया गया है।

'सूखा सरोवर' लक्ष्मीनारायण लाल का तीन अंकों का एक प्रतीक-नाटक है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है :

एक राज्य में एक सरोवर है। उस राज्य की प्रजा की प्यास बुझाने का वही एक-मात्र आश्रय है, जिसके कारण उस सरोवर की बहुत बड़ी महत्ता है और वह पूज्य माना जाता है। उस देश का राजा अपने अनुज की राज्यलोलुपता का शिकार होकर पदच्युत किया जाता है तथा अनुज स्वयं राजा बन बैठता है। उसकी कन्या एक सामान्य युवक से प्रणय कर लेती है। परन्तु पिता के विरोध से अपने प्रेमी से न मिल पाने के कारण वह उसी पूज्य सरोवर में निमग्न होकर आत्महत्या कर लेती है। इस जघन्य कृत्य से सरोवर की मर्यादा भंग हो जाती है और उसका जल सूख जाता है। फलतः समस्त प्रजा तृषार्त होकर व्याकुल हो जाती है। राज्य में त्राहि-त्राहि मच जाती है। इसी समय पदच्युत राजा, जो पदभ्रष्ट किए जाने के पश्चात् ही संन्यासी हो गया था, प्रजा से सरोवर-

देवता की आराधना करने का अनुरोध करता है। अर्त प्रजा की करुण पुकार से सरोवर का अधिष्ठातृ देवता प्रकट होकर राजकुमारी की आत्महत्या का कारण बताता है। वह एक मनुष्य की बलि मांगता है जिसकी आत्मा सरोवर में पुनः उस प्रकार के जघन्य कार्य होने से बचाएगी और सदैव एक प्रहरी का कार्य किया करेगी। प्रजा ने राज्य के समस्त जनसमूह के प्रतिनिधि राजा को ही इस बलि के उपयुक्त ठहराया, परन्तु वह समय पाकर भाग निकला। अतः पदच्युत संन्यासी राजा ही आत्मबलिदान को प्रस्तुत होता है। इसके पूर्व ही उस राजकुमारी का प्रमत्त-प्रेमास्पद युवक अचानक सरोवर में कूदकर आत्मबलि कर देता है। सब सोच रहे थे कि पागल व्यक्ति की बलि सरोवर-देवता न स्वीकार करेंगे अतः संन्यासी राजा अपनी बलि देने चलता है उसी समय जलाशय में पानी उठता हुआ दिखाई पड़ा। अवश्य ही उस प्रमत्त प्रणयी की बलि को सरोवर-देवता ने सहर्ष स्वीकार किया होगा।

इस नाटक में सरोवर जीवन है, और सरोवर का जल जीवन के स्वास्थ्य का प्रतीक है। आधुनिक आडम्बरपूर्ण प्रणयादि की निस्सारता का प्रतीक है राजकुमारी की आत्महत्या, जिसके कारण जीवन की वास्तविक रसमयता समाप्त हो जाती है।

अंग्रेजी में गीति-नाट्य

अंग्रेजी में भी काव्य-नाटक को नई प्रेरणा मिली है। उनके यहां काव्य-नाटक विकास के तृतीय स्तर पर पहुंच गया है। स्टिफेन फिलिप्स, डेविडसन, जी. वाटमले, मेस-फील्ड, ड्रिक्वाटर, एवरक्राम्बी, गिब्सन, गीतिनाट्यों के प्रारम्भकर्ता थे। ईट्स और सीजे आदि आइरिश नाट्यकारों की प्रतिभा से इनका विकास हुआ। इलियट, इसर-बुड, डनकन, विलियम्स आदि नाट्यकार नये प्रयोगों द्वारा काव्य-नाट्य-साहित्य को इतना समृद्ध और उत्कृष्ट बना रहे हैं कि सम्भवतः गद्य-नाटकों से काव्य-नाटक कहीं अधिक मान्य एवं लोकप्रिय बन गए हैं।

यूरोप में काव्य-नाटक लिखनेवाले विद्वानों ने शेक्सपियर की पूर्ववर्ती नाट्य-शैलियों को नवजीवन प्रदान किया है। शेक्सपियर से पूर्व रिलिजस (धार्मिक), मिराकल (चमत्कारी) नाटक कविता में विरचित होते थे। शेक्सपियर ने उक्त शैली में परिवर्तन किया और गद्य-पद्यमय चरित्र-प्रधान नाटकों में ऐतिहासिक कथानक का आधार लिया।

डब्सन और शॉ के प्रभाव से बुद्धिप्रधान नाटकों की रचना-शैली शेक्सपियर और उसके परवर्ती नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में स्थापित हुई और नाटकों से कविता को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया।

बीसवीं शताब्दी में नाटकों में कविता के सर्वथा बहिष्कार के विरुद्ध एक नवीन आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और नाटकों से गद्य को पूर्णतया निष्कासित किया गया।

कवि-नाट्यकार काव्य-नाटक के विश्लेषण के उपरान्त जिस परिणाम पर पहुंचे उसका सारांश यह है कि काव्य में कवि स्वतः अपने को ही अपनी वाणी सुनाना चाहता है। यदि उसे अपनी वाणी प्रिय प्रतीत होती है तो उसे विश्वास हो जाता है कि पाठकों को

यह क्रमशः प्रिय बनती जाएगी। काव्यरूपक में कवि पात्रों की वाणी सामाजिक को सुनाने का अभिलाषी होता है। उसे ज्ञात नहीं कि उसकी रचना का परीक्षण किन अज्ञात अभिनेताओं द्वारा किन अज्ञात दर्शकों के सम्मुख होनेवाला है। कवि को केवल अपनी अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करना होता है, किन्तु नाट्यकार को एक-एक पंक्ति के नाट्य-प्रौचित्य के बल पर सामाजिक को आनन्द-विभोर बनाना पड़ता है।

पद्य-नाट्य का विषय-चयन

साधारणतः लोगों की यह धारणा रही है कि पद्य-रूपक का विषय कोई पौराणिक गाथा (Mythology) अथवा अतिप्राचीन ऐतिहासिक घटनाएं हो सकती हैं। इसके पात्र प्रागैतिहासिक काल के प्राणी होने चाहिए जिनको कविता में सम्भाषण करते देख-कर सामाजिक को लेशमात्र भी आश्चर्य न हो। धार्मिक नाटक की यह विशेषता है कि उसके दर्शक पुण्य-प्राप्ति की आशा में घटना और अभिनय-क्रम को अभिरुचि के प्रतिकूल देखकर भी अभिनयशाला से उठकर चले नहीं जाते।

तीर्थस्थानों एवं पुण्य पर्वों के अवसर पर जनता इन धार्मिक नाटकों को देखने से पुण्य-लाभ समझती है। अतएव ऐसे नाटकों का अभिनय पुण्य-बल पर जीवित रह सकता है।

हिन्दी में धार्मिक नाटक पद्यबद्ध हैं। किन्तु वे कविताएं आज रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होंगी। कारण यह है कि आज गद्य के युग में कविता में वार्तालाप को न सुनना चाहेगा। अतः नाट्यकारों ने मध्य का मार्ग निकाला है। कविता में छन्द का ध्यान अनिवार्य समझा जाता था, किन्तु आधुनिक नाटककारों ने इस बन्धन को अस्वीकार किया और मुक्त छन्द में रचना प्रारम्भ की जिसे हम गद्य और पद्य के मध्य की कड़ी कह सकते हैं। कोरस में छन्दबद्ध रचना अधिक सरस और स्वाभाविक समझी गई और छन्द-विधान को ऐसे ही अवसरों के उपयुक्त माना गया।

प्रतीक-नाट्य-शैली का क्रमिक विकास

हम पूर्व कह आए हैं कि संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' प्रतीक नाटकों का आदर्श रहा है। कुछ काल तक हिन्दी में भी उसी परम्परा का अनुसरण किया गया, किन्तु आधुनिककाल में हिन्दीतर भाषाओं के प्रचुर अनूदित नाटकों से इस शैली का उत्तरोत्तर विकास होता गया। एक ओर तो भारतीय नाट्यकारों मेटर्लिक, बर्नार्ड शॉ आदि की कृतियों का अनुवाद हुआ; दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'राजा', 'अचलायतन', 'डाक-घर', 'रक्त करबी' के हिन्दी अनुवाद से हिन्दी में प्रतीक-नाटकों की शैली पर प्रभाव पड़ा।

पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में पिराण्डेलो के नाटकों से एक नवीन विचारधारा उत्पन्न हुई। उसने इस तथ्य पर बल दिया कि जीवित चरित्रों की अपेक्षा प्रतीकात्मक पात्र नाटकीय तथ्यों का उद्घाटन करने में अधिक समर्थ होते हैं। पिराण्डेलो ने अपने नाटकों में प्रतीकों का प्रयोग किया पर वह पूर्ण रूप से सफल न हो सका। उसके उप-

रान्त दो रूसी नाट्यकार—लियोनिड निकोलेविच ऐण्डीब और निकोलाई निकोलाइ-विज एबरेनो ने प्रतीक नाटकों की शैली को और भी पुष्ट बनाया। ऐण्डीब ने अपनी पुस्तक 'लेटर ग्रान दिथियेटर' (१९१३) में मेटर्लिक के समान स्पष्ट घोषित किया कि "रंगमंच पर शारीरिक क्रियाशीलता का निवारण करके नाट्यकारों को आत्मा की क्रियात्मकता पर बल देना चाहिए।"^१ उसने अपने चार नाटकों—'सितारों को', 'मानव का जीवन', 'सम्राट-क्षुध', 'सच्चा' में सामयिक समस्याओं को प्रतीकों के रूप में दर्शकों के सम्मुख रखा।

'सम्राट क्षुध' नामक नाटक में क्षुध सम्राट दीन एवं पीड़ित व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित होता है और उसके शिर पर सभी धन-सम्पन्न व्यक्ति आनन्दोल्लास में निरन्तर नृत्य करते हुए दिखाई देते हैं।

रूसी नाट्यकारों के अतिरिक्त स्वीडन के हजालमर बर्गमैन ने गीतिनाट्यों में प्रतीक शैली का प्रयोग किया। उसने अपने नाटकों—'छाया', 'मिस्टर स्लीमैन आ रहे हैं' में इसी शैली को व्यवहृत किया। इसी प्रकार इटली और स्कैंडिनेविया आदि देशों में भी यथार्थवाद और प्रतीकवाद का सम्मिश्रण पाया जाता है।

इस क्षेत्र में हिन्दी-नाट्यकारों पर सबसे अधिक प्रभाव रवीन्द्रनाथ टैगोर का पड़ा। उनका प्रथम प्रतीक नाटक 'राजा' (दि किंग आफ डार्क चैम्बर, १९१० में) प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में रवि बाबू ने स्वतः नाटक की प्रतीकात्मकता का विशेषण किया है। आधुनिक शैली के प्रतीक नाटकों में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके अंग्रेजी रूपान्तर से प्रायः सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं का नाट्य-साहित्य प्रभावित हुआ है।

राजा

इस नाटक में ऋतुराज प्रतीक है उस राजा का जिसका बाह्य वैभव वसन्त के समान चतुर्दिक् फैला हुआ है किन्तु जिसके अन्तर में उसी प्रकार वैराग्य है जिस प्रकार ऋतुराज के अन्तःकरण में ऋतुराज अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्य को जगती के कल्याण में अर्पित करके वैशाख में चुपचाप अन्तरिक्ष में विलीन होने चला जाता है। रानी सुदर्शना राजा के बाह्य वैभव पर ही मुग्ध है उसके आन्तरिक सौन्दर्य तक उसकी दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती। किन्तु दासी सुरङ्गमा की गम्भीरतर दृष्टि है। वह राजा के ऐश्वर्य के अतिरिक्त उसके अन्तःकरण में विराग देखकर उल्लसित होती है। प्रारम्भिक काल में राजा की शक्ति से अनभिज्ञ होने के कारण सुरङ्गमा राजा से द्वेष करती है किन्तु राजा को पहचान लेने पर वह इतनी श्रद्धा करने लगती है कि उनके चरण-रज को देखकर ही कृतकृत्य हो जाती है।

नाट्यकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दासी की दृष्टि भी सम्यक् नहीं है।

उसमें राजा के प्रति प्रेम दृष्टि नहीं; अतः वह राजा के यथार्थतम भाव को परख नहीं पाती। इस नाटक में केवल ठाकुरदा राजा के सत्यभाव को समझ पाता है। वह राजा को अपना बन्धु समझता है। वह गाता रहता है—

ये जे वसन्तराज ऐसेछे आज
बाहेर बाहार उज्जल साज
ओरे अन्तरे तार बैरागी गाय
ताइरे नाइरे नाइरे ना।

इस नाटक का मूल आशय आगे चलकर स्पष्ट होता है। प्रकृति की लीला के सादृश्य से मानवलीला का रहस्योद्घाटन नाट्यकार को अभीष्ट है।

उनका दूसरा प्रसिद्ध प्रतीक-नाटक 'अचलायतन' है। इस नाटक में समाज के बौद्धिक और आत्मिक ह्रास का परिचय है। इसमें वज्रयान का प्रचार करनेवाले बौद्ध विहारों की ह्रासोन्मुख दशा का वर्णन मिलता है। उस काल में मंत्र-तंत्र में अत्यधिक विश्वास और गुह्य साधनाओं का प्रचार करने के कारण देश में विकराल स्थिति पैदा हो गई तथा जन-समाज अकर्मण्य बन गया।

उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक 'डाकघर' है। इसके पात्र हैं—माधव, अमल, प्रहरी, बाबा फकीर, वैद्य, चौधरी, राजदूत। वैद्य के कथनानुसार माधव अमल को एक कक्ष में बंद रखता है। अमल खुले मैदान में विचरण करनेवाले लोगों का स्वर सुनकर बाहर घूमने के लिए तरसता है। उसका प्रहरी घण्टा बजाते हुए अमल को समझाता है कि समय बराबर चलता ही रहता है; और प्रत्येक मनुष्य को उस देश में जाना पड़ता है, जो अज्ञात है। उसके घर के सामने एक नया डाकघर बना है। प्रहरी और अमल से डाकघर के सम्बन्ध में इस प्रकार वार्तालाप होता है—

अमल—राजा के डाकघर में कहां से चिट्ठी आती है; राजा के यहां से ?

प्रहरी—हां हां, आती क्यों नहीं। देखना किसी दिन तुम्हारे नाम से भी चिट्ठी आएगी।

अमल—मेरे नाम से चिट्ठी आएगी ? मैं तो अभी बच्चा हूं।

प्रहरी—बच्चों को राजा बहुत प्यार करते हैं। उनके लिए वे इतनी-इतनी सी छोटी-छोटी चिट्ठियां लिखते हैं।

अमल—तब तो बड़ा मजा होगा। मुझे कब चिट्ठी मिलेगी ? अच्छा, राजा मुझे भी चिट्ठी लिखेंगे; तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?

प्रहरी—नहीं तो वे तुम्हारी इस खुली खिड़की के सामने ही इतना बड़ा मुनहरा झण्डा फहराकर डाकघर क्यों खुलवाते ? (अपने मन में) बच्चा बड़ा प्यारा मालूम होता है।

अमल—अच्छा, राजा के यहां से जो चिट्ठी आएगी, उसे देने कौन आएगा मुझे ?

प्रहरी—राजा के यहां बहुत-से डाकिया रहते हैं न ! देखा नहीं तुमने, गोल-

गोल सोने का तमगा लगाए वे घूमा करते हैं ?

इतने में एक चौधरी का प्रवेश होता है। चौधरी और अमल में वार्तालाप चलता है। वह क्रुद्ध होकर कहता है, “ठहर जा छोकरे ! जल्दी ही इन्तज़ाम करता हूँ जिससे राजा की चिट्ठी तेरे घर आए।” चौधरी के प्रस्थान के उपरान्त लड़के और लड़कियों का दल आता है। उनमें से एक अमल को डाकघर के डाकियों की पहचान कराते हुए कहता है, उनका नाम है बादल, शरद् आदि। इतने में एक फकीर के वेश में बाबा का प्रवेश होता है। बाबा और अमल की बातें बड़ी ही रहस्यमयी होती हैं। थोड़ी देर के बाद चौधरी और माधव भी आ जाते हैं। बाबा राजा की चिट्ठी दिखाता है जो अमल के नाम आई है। पत्र में लिखा है “मैं आज या कल तुम्हारे घर पर आऊंगा। मेरे लिए तुम लोग चूना-चड़ा का भोग तैयार रखना।” केवल अमल को राजा के आगमन-काल की वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ती है। चौधरी कहता है “इस लड़के में सचमुच ही भक्ति-अज्ञा है, बुद्धि नहीं है, पर मन साफ है।” इसी समय चौथे पहर का घण्टा बजता है और कोई द्वार खटखटाता है। राजदूत और राजवैद्य का प्रवेश होता है। वह बन्द दरवाजे और खिड़कियों को खुलवा देता है। अमल को आकाश-मण्डल दिखलाई पड़ता है। अब वह आनन्द-विभोर होकर चिरनिद्रा ले रहा है। राजवैद्य कहता है, “आ रही है, आ रही है नींद, आ रही है बच्चे को। मैं इसके सिरहाने बैठूंगा। दिया बुझा दो। अब सिर्फ आकाश के तारों का ही प्रकाश आने दो। बच्चे को नींद आ गई, सो गया बेचारा।”

इस नाटक का तात्पर्य है कि परमात्मा का मिलन अज्ञा-भक्ति-सम्पन्न निर्मल हृदयवाले व्यक्ति को ही होता है। अमल निर्मल हृदय बालक है। उसके सिर पर ज्ञान का बोझा नहीं लदा है। राजा ईश्वर है। डाकघर उसके संदेश के वितरण का केन्द्र है जिससे चिट्ठियां उन्हीं व्यक्तियों को मिलती हैं जिनका हृदय निर्मल है। राजा का दर्शन (परमात्म-मिलन) तभी सम्भव है जब संकीर्णता के बन्द द्वार का उद्घाटन होता है।

रवीन्द्र बाबू के अन्य प्रतीक-नाटक हैं ‘मुक्ति धारा’ और ‘रक्त करबी’ (१९२४)। ये दोनों नाटक उनके श्रेष्ठ प्रतीक-नाटक हैं। ‘रक्त करबी’ में अधिकार और जन का प्रलोभन आज के सम्य मानव-समाज पर स्वच्छन्द शासन कर रहा है, जिससे जन-समाज अपमानित, पीड़ित होकर पशुवत् बन रहा है। इस दुःख-दैत्य से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय यह बताया गया है कि ज्ञान और अधिकार का उपयोग सादगी के साथ प्रकृति और मानव-जीवन का ऐक्य स्थापित होने पर ही सम्भव है।

रवीन्द्रनाथ की इस प्रतीकात्मक शैली का प्रभाव पन्त के अतिरिक्त आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पर पड़ा है। वे ‘बासन्ती’ के सम्बन्ध में लिखते हैं, “बासन्ती प्रतीकात्मक गीतिनाट्य की दिशा में मेरा प्रथम प्रयोग है। उसके चरित्रों को गति देने के लिए मैंने शास्त्रीय और लोकसंगीत को समान रूप से प्रश्रय दिया है।” लोकसंगीत रवि बाबू को अति प्रिय रहा है।

रवीन्द्रनाथ ने अनेक गीतिनाट्य, काव्यनाट्य, नृत्यनाट्य और श्रुतुनाट्यों का

सूचन किया। हिन्दी में भी इन शैलियों पर विविध प्रयोग होते रहे। आज संगीत और नृत्य से नाट्यकला का पुनः गठबन्धन हो रहा है और रंगमंच पर यही शैली सर्वाधिक जनप्रिय बन रही है। हिन्दी के मेधावी नाट्यकार भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य-शैलियों के सम्मिश्रण से नित्य नये प्रयोग कर रहे हैं।

आधुनिक ऐतिहासिक नाटक

सन् सत्तावन की क्रान्ति के इतिहास की स्मृति दिलाने के लिए और न्यूनाधिक सौ वर्ष तक चलनेवाले स्वतन्त्रता के यज्ञ की पूर्णाहुति के फलस्वरूप अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें '१८५७ की दिल्ली', 'पीरअली', 'आमाइश', 'कुंवरसिंह की टेक', 'तात्या टोपे' आदि ध्यान देने योग्य रचनाएँ हैं। इनसे सत्तावन की क्रान्ति की असफलता के कारणों पर प्रकाश पड़ता है। आश्चर्य है कि इस विषय पर कोई भी ऐसा नाटक नहीं विरचित हो पाया जो स्थायी साहित्य में परिगणित हो सके।

भारतीय इतिहास के ग्रन्थकार एवं स्वर्णिम कालों को लेकर अनेक ऐतिहासिक नाटक विरचित हुए। भगवान बुद्ध, अशोक, विक्रमादित्य, शंकराचार्य, रहीम, शिवाजी, हुस्मीरदेव, सिराजुद्दौला, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तथा महात्मा गांधी की जीवनी को आधार बनाकर ऐतिहासिक नाटक लिखे गए। बुद्ध की जीवनी पर आधारित सन् पचपन में चार अंकों में 'सिद्धार्थ बुद्ध' नामक नाटक लिखा गया। इसमें मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' के आधार पर नारी जीवन की कोमल भावनाओं का प्रदर्शन पाया जाता है। यह नाटक न तो रंगमंच की दृष्टि से सफल है और न साहित्यिकता की ही दृष्टि से पाठ्य बन सका है। सम्राट अशोक का जीवन बीसवीं शताब्दी के नाट्यकारों को (विशेषतः गान्धी-युग में) आकर्षित करता रहा है। आचार्य चतुरसेन ने सन् ५६ में अशोक के जीवन की व्याख्या करते हुए 'धर्मराज' नामक नाटक प्रस्तुत किया। इसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "इस नाटक में अशोक के जीवन का इतिवृत्त नहीं है, उसके जीवन की व्याख्या है। अशोक की निष्ठा, धर्माचार और त्याग-भावना यथावत् वैसी ही रहे, जैसी उसके ज्ञात इतिहास-आधारों में व्यक्त है, इसकी सम्भव चेष्टा की गई है। यह नाटक रंगमंच के लिए नहीं विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है।"

गोमती बिहार के स्थापक कुमारायन नामक प्रकाण्ड पण्डित की जीवनी के आधार पर सेठ गोविन्ददास ने 'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु' नामक नाटक लिखा। इसमें कुमारायन और जीवा के विवाह, पुत्र कुमारजीव की शिक्षा-दीक्षा तथा उसका सन् ३८३ ई० में भारत के सौगात रूप में चीन देश जाने का वृत्तान्त मिलता है। कुमारजीव संस्कृत और चीनी दोनों भाषाओं का विद्वान था। उसने महायान के दार्शनिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। पांच अंकों में विरचित इस नाटक में अन्त-ईन्द्र का अभाव है तथा छः-छः पृष्ठों के लम्बे भाषण पाए जाते हैं। नाटकीयता से अधिक भारत और चीन के सम्बन्ध की दृढ़ता पर बल दिया गया है। न तो संवादों में आकर्षण है और न भाषा नाटकोपयोगी।

विक्रमादित्य और भर्तृहरि की कथाओं के आधार पर हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'संवत् प्रवर्तन' नामक एक नाटक लिखा। इस नाटक के अनुसार विक्रम सम्वत् के प्रवर्तन का कारण शकों का मालव प्रदेश से उच्छेद और विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने का उल्लास प्रदर्शन-मात्र है। इसमें विक्रमादित्य को गर्दभिल्लदर्पण का पुत्र और भर्तृहरि को उसका अनुज दिखाया गया है। नहपाण और भूमक नामक शक क्षत्रियों और आचार्य कालक जैन साधु का उल्लेख पाया जाता है। प्रेमी के इस नाटक में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है।

शंकराचार्य के जीवन के आधार पर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'जगद्गुरु' नामक एक महत्त्वपूर्ण नाटक लिखा है। इसकी भाषा सजीव एवं कथानक हृदयग्राही है।

रहीम की जीवनी के आधार पर लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्दास ने दो नाटक लिखे। नाटकीयता की दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाटक अधिक सफल है।

तुलसीदास की जीवनी पर आधृत 'संत तुलसी दास' नामक एक गीतिनाट्य उदयशंकर भट्ट ने लिखा है। इस नाटक की भाषा गीतिनाट्य के सर्वथा उपयुक्त है।

'कवि भारतेन्दु' (१९५५) और 'भारतेन्दु' नामक दो नाटक आधुनिककाल में उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'कवि भारतेन्दु' एक सजीव नाटक है। इस नाटक में भारतेन्दुकालीन साहित्यकारों का उल्लेख मिलता है और भारतेन्दु के फक्कड़ जीवन की झांकी पाई जाती है। भाषा और संवाद की दृष्टि से यह सजीव नाटक है।

गांधीजी के त्याग और बलिदान को आधार बनाकर दो नाटक—'पगध्वनि' (१९५२) तथा 'मृत्युञ्जय' (१९५६) प्रस्तुत किए गए। ये दोनों नाटक गान्धीजी की महत्ता के अनुरूप नहीं बन पाए हैं। सम्भव है कि अभी इस महात्मा के महत्त्व के परखने में कुछ समय लगे और कालान्तर में कोई नाट्यकार उच्च कोटि का नाटक विरचित कर सके।

इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में जनता को सदाचारी, कर्मठ, देश के गौरव के अनुरूप बनाने का प्रयास पाया जाता है। नाट्यकारों का ध्यान देश को विश्व में गौरवशाली बनाने की ओर अधिक रहा है। स्वतन्त्रता से पूर्व विरचित ऐतिहासिक नाटकों में जहां पराधीनता से मुक्ति पाने का प्रयास था वहां इन नाटकों में देश को कर्मनिष्ठ, सदाचारी, उद्योगी, भारतीय संस्कृति के द्वारा विश्व-कल्याण की ओर अग्रसर करने का लक्ष्य पाया जाता है। आश्चर्य है कि प्रसाद के चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के समान प्रभावशाली एक भी नाटक इस अवधि में क्यों न बन पाया। पर इधर रंगमंच की ओर नाट्यकारों का ध्यान अधिक रहा है। यह एक शुभ लक्षण है।

रंगमंच की कला से पूर्ण परिचित और अंग्रेजी तथा भारतीय नाटकों में अभिरुचि रखनेवाले जगदीशचन्द्र माथुर के दो ऐतिहासिक नाटक उल्लेखनीय हैं। 'कोणार्क' में स्थापत्यकला-प्रेमी कलाकर विश्व के नाटकीय चरित्र पर प्रकाश डाला गया है और 'शारदीया' में एक राजनीतिपटु सैनिक तन्तुबाय की प्रेम-कहानी पाई जाती है।

‘कोणाक’ आधुनिककाल के ऐतिहासिक नाटकों में एक नवीन नाट्यशिल्प को लेकर आया है। माथुर के दूसरे नाटक ‘शारदीया’ में उसी शिल्प का विकास पाया जाता है।

(शारदीया (१९६० ई०))

इस नाटक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना से धवलित महाराष्ट्र के कागल नामक ग्राम में नर-सिंह और उसकी प्रेमिका बायजाबाई का दो बार वियोग हुआ, जिसकी स्मृति दोनों को चिरस्मरणीय बन गई है। बायजाबाई की माता ने अपनी बेटी का विवाह नरसिंह के साथ एक शर्त पर करने का वचन दिया था। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त शर्त पूर्ण होने पर भी बायजा के पिता शर्जेराव घाटगे पुत्री का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध दौलतराव सिंधिया के साथ करके अपना भाग्योदय चाहते हैं। बायजाबाई और नरसिंह-देव के हृदय में एक-दूसरे के प्रति हार्दिक प्रेम स्थान पा चुका है। निजाम और मराठों के युद्ध में नरसिंहदेव गुप्तचर का काम करता है तथा निजाम और मराठे दोनों में धार्मिक एवं राजनीतिक शान्ति स्थापित करने का पक्षपाती है। वह निजाम की युद्ध योजनाओं को विफल बनाने में सफल होता है। किन्तु शर्जेराव घाटगे दौलतराव सिंधिया को मछादि दुर्व्यसनों में फंसाकर नरसिंहराव जैसे योग्य सैनिक को मृत्युदण्ड की आज्ञा दिलाता है। पर जिन्सेवाले के प्रयास से राव ग्वालियर के कारागार में बन्द कर दिया जाता है, जहाँ ज्योत्स्ना-दर्शन के लिए तरसता हुआ निजामी कागीगरों से सीखी हुई वस्त्र निर्माण की कला का अभ्यास करता है, और अपनी प्रेयसी की स्मृति के प्रकाश में उस अन्धगुफा में हाथ से पांच गज की ऐसी साड़ी बुनता है जिसका केवल पांच तोले भार होता है।

घाटगे के षड्यंत्र से बायजाबाई दौलतराव सिंधिया के अन्तःपुर में पहुँच जाती है। घाटगे को भी नरसिंहराव के मृत्युदण्ड में परिवर्तन की घटना अज्ञात थी। उसने युद्ध में नरसिंहराव की मृत्यु का मिथ्या संवाद देकर बायजाबाई का विवाह दौलतराव सिंधिया के साथ कर दिया था। किन्तु जिस दिन बायजाबाई को नरसिंहदेव के कारावास की कहानी ज्ञात होती है वह सिंधिया से उसकी मुक्ति का आदेश प्राप्त करती है। उस आदेश-पत्र को लेकर शारदीया नरसिंहराव से उस अन्धगुफा में मिलती है और उससे कारा-बास से बाहर निकलने का अनुरोध करती है। किन्तु वह अपने हाथ से बुनी साड़ी बायजाबाई को प्रदान कर वहीं रहने का आग्रह करता है। इसमें राजकर्मचारियों की परस्पर ईर्ष्या-भावना घाटगे की कुटिलता के माध्यम से दिखाई गई है। इस नाटक में नाटकीय कौतूहल के अनेक स्थल हैं। प्रमाण के लिए देखिए नरसिंहराव जिस दिन फाँसी पर लटकने के क्षण की प्रतीक्षा करता है उसी दिन उसका मित्र जिन्सेराव उसे आजीवन कारा-गार की सूचना देता है। उस अप्रत्याशित सन्देश से उसके मन में विलक्षण अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। वह कहता है, “सरदार, मैं मौत की उम्मीद का सहारा ले रहा था। आपने उसे तोड़ दिया। और अब यह जिन्दगी, यह गुफा की घिरी-घिरी जिन्दगी, किसके लिए ?”

×

×

×

ठहरिए सरदार ! मैं अंधेरे की चिन्मयी में उजाले का ताना-बाना बुनूँगा। शारदीया के लिए !—जब तक चिन्मा हूँ तब तक बुनता रहूँगा, स्पष्टले और सुगहले पल्ले हवा-सी हलकी, कुसुम-सी कोमल, चांदनी-सी भीनी चांदनी ! शारदीया—वही तो प्रसली चांदनी है। मेरी कालकोठरी में उसीकी ज्योति बसेगी, शारदीया की ज्योति !”

इस नाटक की चरम परिणति (Climax) तृतीय अंक के दूसरे दृश्य में है। जिन्से-वाले से नरसिंहराव की जीवितावस्था का कुम समाचार पाते ही महारानी बायजाबाई के मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। वह सिंधिया से नरसिंहराव की मुक्ति की अनुमति प्राप्त करके कारावास में पहुंचती है।

गढ़पति को यह रहस्य ज्ञात नहीं कि महारानी बायजाबाई और नरसिंहराव में परिचय है। वह नरसिंहराव से निवेदन करता है कि अपने हाथ की बुनी हुई अद्वितीय साड़ी महारानी को उपहार-स्वरूप देकर उनसे मुक्ति की प्रार्थना करे। नरसिंहराव अपनी प्रेयसी के लिए निमित्त साड़ी देना अस्वीकार कर देता है। उसके मन में द्वन्द्व उठता है। वह कम्पित स्वर में पुकार उठता है :

“यह कपड़ा, यह तुम्हारी स्मृतियों का ताना-बाना। यह महारानी को बूँ ? असम्भव ! × × चलो, तुम मुझे यहाँ से ले चलो, अपने चांदी से जगमगाते अम्बर में। राजाओं और महारानी की चमक-दमक से परे, युद्ध और हलचल से दूर, बहुत दूर, जहाँ तारे गाते हैं। ऐ ! तुम कहाँ जा रही हो, शारदीये ?”

नरसिंहराव को जिस समय जिन्सेवाले से ज्ञात होता है कि महारानी स्वयं उनकी शारदीया बायजाबाई है तो उसकी मनोदशा में कैसा विलक्षण कौतूहल उत्पन्न होता है। दोनों का वातालाप बड़ा ही मार्मिक है। उपहार में प्राप्त साड़ी देखकर बायजाबाई स्तम्भित रह जाती है। डरकी का काम देनेवाले नरसिंहराव की उंगली के छिद्र को देखकर कहती है :

“बायजा—उफ ! नरसिंह, तुमने अपनी उंगली में सुराख कर लिया !

नरसिंह—याद है, उस शरद् पूजिमा को चलते समय तुमने अपनी उंगली के खून से मुझे टीका दिया था !

बायजा—एक बूंद खून, लेकिन यह तो...

नरसिंह—मैं उस रक्त की बूंद को धूँसा नहीं था, बायजाबाई। आब तुम्हें बिदा दे रहा हूँ। (बायजाबाई सिसकती है) रोती क्यों हो ! तुम्हारे टीके ने मुझे बचाया। यह साड़ी..... यह मेरा रक्तदान—यह अंचल... यह तुम्हारे नये जीवन में तुम्हारी रक्षा करे।

बायजा—नया जीवन ! साँसों की जंजीरें ! और तुम... तुम चलो नरसिंह ! आत्मपथ मेरे पास है।

नरसिंह—मैं यहीं रहूँगा, तुम जाओ महारानी !

बायजा—नरसिंह !

नरसिंह—मैं यही रहूंगा, क्योंकि तुम यहीं हो ! महारानी, नहीं बायजाबाई, नहीं, लेकिन तुम ! तुम मेरी शारदीया ! जो मेरी हो, हमेशा थीं, हमेशा रहोगी ।”

ऐतिहासिक नाटकों में शुद्ध मानवीय प्रेम की ऐसी दिव्य झलक ‘प्रसाद’ के उपरान्त ग्रहीं देखने को मिलती है। यह नाटक रंगमंच, नाटकीय भाषा, चरित्र-चित्रण, अंत-द्वंद्व, रस, नाटकीय कौतूहल, संवादों की तीव्रता और क्षिप्रता की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट नाटक प्रतीत होता है। हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक सहिष्णुता इसका सन्देश है जो आज भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

घाटगे जैसे स्वार्थान्ध राजकर्मचारियों की दुरभिसन्धि से किस प्रकार निरपराध व्यक्ति दंड पाते हैं और राजव्यवस्था भ्रष्ट हो जाती है इसका सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है।

इसमें बायजाबाई, शर्जेराव घाटगे, दीलतराव सिंधिया, नाना फड़नवीस, भाऊ, फड़के आदि ऐतिहासिक पात्र हैं। घटनाएं मूलतः ऐतिहासिक हैं, जो कल्पना के सौरभ से सुवासित हैं। नाट्यकार का कथन है कि “तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में इन सभी ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख हुआ है और दीलतराव सिंधिया और शर्जेराव घाटगे के चरित्रों का इतिहास के अनुसार ही विकास किया गया है।”

नरसिंहराव कल्पित पात्र है पर उसका चरित्र तत्कालीन दुरभिसन्धियों का इतिहास-सम्मत प्रदर्शन है। अतएव निस्सन्देह इसमें ऐतिहासिकता का पूर्ण निर्वाह पाया जाता है। इसकी घटनाएं सरदेसाई और बाउटन नामक इतिहासवेत्ताओं के मत से समर्थित हैं।

‘कोणार्क’ और ‘शारदीया’ नाटक आधुनिक ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में एक नये शिल्प का संकेत कर रहे हैं।

हिन्दी-नाटक का भविष्य

हिन्दी-नाट्यकला शताब्दियों से विभिन्न परिस्थितियों में विविध रूप धारण करती हुई समयानुसार उन्नति की ओर अग्रसर होती चली आ रही है। इसने अतीत में विविध शैलियों का प्रयोग किया है और आज भी कई शैलियों का परीक्षण कर रही है। निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि किस शैली को सबसे अधिक सफलता मिलेगी। शैली कोई भी हो, नवीन होने के कारण कुछ काल तक जन-रुचि को आकर्षित करनेवाली बन जाती है, किन्तु नाटक के महत्त्व पर उसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। शैली नाटक का बाह्य रूप है, जो सदा परिवर्तनशील होने के कारण अस्थायी है। स्थायी होनेवाला तो आन्तरिक तत्त्व है, जो नाटक को चिरस्थायी बनाता है। वह शाश्वत तत्त्व है, जीवन की परख। जो नाट्यकार बाह्याडम्बर के आवरणों को भेद अन्तर्निहित जीवन-सत्य का सन्धान करने में समर्थ होता है, उसीकी कृतियां अमर रह जाती हैं। जिस कृति में जिसकी दृष्टि जितनी ही व्यापक और तीक्ष्ण होगी, वह नाटक उतना ही चिरजीवी

बनेगा। नाटकों में दृष्टि की व्यापकता और तीक्ष्णता घटनाओं के घात-प्रतिघात पर भी अभिहित रहती है। अतः जिस नाटक की घटनाएं नियति के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर मानव-जीवन के पथ का निर्देश करती हुई समाज के भविष्य पर प्रकाश-रश्मियां विकीर्ण करेंगी, वही नाटक कल्पनातीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को प्रस्फुटित करके हमारे मस्तिष्क को प्रोद्भासित और हृदय को ऋकृत करेंगे। ऐसे नाटकों के पठन और प्रेक्षण से मानव की भावनाएं उदात्त होंगी और दृष्टि व्यापक बनती रहेगी।

एक समय भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद की उपाधि देकर भार्य-अनार्य, ब्राह्मण और क्षत्र तथा धनी-निर्धन को एक सूत्र में बांध जीवन के आह्लाद का मार्ग दिखाया और वह आज भी किसी न किसी रूप में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। उस काल में नाटक जनता के समीप था। आज भी नाट्यकला जन-जीवन से सम्बद्ध होती जा रही है। ऐसे समय में यदि हमारा नाट्य-साहित्य जन-जीवन के गहन अध्ययन द्वारा विभिन्न संस्कृतियों के पृथक्-पृथक् स्रोतों के सम्मिलन से एक ऐसा वेगवान प्रवाह बनाने में समर्थ हुआ, जो संकीर्णता की प्राचीरों को चीरता हुआ निरन्तर प्रवहमान होता रहा तो निश्चय ही नाट्य-निर्माण द्वारा देश तथा जाति के साथ-साथ मानवता का कल्याण होगा। उस दशा में हमारा यह साहित्य भरत मुनि के निम्नलिखित विचारों के अनुसार वास्तविक रूप से नाटक कहलाने का अधिकारी होगा :

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

नाट्यशास्त्रम्, प्रथम अध्याय—११४, ११५ ।

परिक्षिष्ट १

वैशिष्ट्य 'उपदेश रसायन रास' और 'सभासार नाटक' में साम्य है।
'उपदेश रसायन' में शिष्य गुरु से पूछता है—

बन्धु तु धरन् कु सक्कइ कायइ ?
तहि गुणु कवणु बडावइ सायइ ?
तत्तु सुहत्तु निब्बानु कि संबइ ?
मुक्क कि करइ राह कि बुबिबइ ?

संस्कृत अनुवाद :

धर्म स धर्तुं कि शक्नोति कातरः ?
तत्र गुणं क आरोपयति साधरम् ?
तस्य बुद्धार्थं निर्वानं कि सन्वेत्ते ?
मोक्षं कि करोति रागां कि स विष्यति ? ॥ १२ ॥

गुरु उत्तर देता है :

दुल्लहउ मणुयजम्मो जो प उ,
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ ।
सुहगुरु वंसण विणु सो सहलउ,
कहोइ न कीवइ बहलउ बहलउ ॥ ३ ॥

संस्कृत अनुवाद :

दुर्लभं मनुजजन्म यत् प्राप्तं
सफलं कुरुत यूयं सुनिरुक्तम् ।
शुभं गुरु दर्शनं विना तत् सफलं
भवति न कथमपि शीघ्रं शीघ्रम् ॥ ३ ॥

'उपदेश रसायन रास' के सदृश गुरु-शिष्य-संवाद 'सभासार' में इस प्रकार मिलता

है—

शिष्य वचन :

जो सब संगति जानिए प्रभु सो कहो पुकार ।
सकल सभा बरनन करहु, नृपति आदि निरधार ॥

गुरु वचन :

करि रैयत राजी कटक, सद् प्रधान करि सोंप ।
सर भस्तर सब साधि नृप, चतुर राज की सोंप ॥
नेत्र लवन पाताल पति, लवन नेत्र महिपाल ।
चारि नेत्र बहिए चतुर, सुर उर भाल बिसाल ॥
पंच नेत्र ये नृपति के, घुर सुगंध सों ब्योय ।
राजनीति अंजन करै, तो मद अंध न होय ॥

‘उपदेश रत्नावली रास’ में राजा का वर्णन इस प्रकार है :

जइ किर नरवइ कि बि दूसमवस
ताहि बि अप्पहि बिहिचेइय दस ।
तह बि न धम्मिय बिहि बिणु ऋगडहि
जइ ते सज्जि बि उठ्ठहि लगुडिहि ॥ २४ ॥

संस्कृत अनुवाद :

यदि किल नरपतयः केऽपि दुःषभावशात्,
तेषामप्यर्पयन्ति विधिचैत्यानिदश ।
तथापि न धार्मिका विधिं विना कलहायन्ते
यदि ते सर्वेऽप्युत्तिष्ठन्ते लगुढैः ॥ २४ ॥
निचु बि सुगुरु देवपयमत्तह
पणपरमिट्ठि सरंतह संतह
सासनसुर पसन्न ते भव्वइ
धम्मिय कज्ज पसाहुहि सव्वइ ॥ २५ ॥

संस्कृत अनुवाद :

नित्यमपि सुगुरु—देवपदभक्तानां
पञ्चपरमेष्ठिनः स्मरतां सताम् ।
शासनसुराः प्रसन्नास्ते भव्यानि
धार्मिककार्याणि प्रसाधयन्ति सर्वाणि ॥ २५ ॥

इसी प्रकार का वर्णन ‘सभासार’ में देखिए :

पुन्यसीलि प्रजापाल न्याउ प्रतिपद्धि न कोई,
कर सोंपे अधिकार आप सम जाने सोई ।
रस भाषा रस निपुनि, सन्नु उर में नित साले,
जो जिहि लायक होइ, ताहि तैसी बिधि पाले ।
सुख करन भयह सागर सरिस, रत्न ग्राह लीये रहे ।
लखिन अनंत महिपाल के, सुबुद्धि प्रमान कबिबर कहे ॥ १३४ ॥

सभा समुद्र अपार गुन पय औगुन नीर जिम ।

राजा हंस विचारि, करे सु देखे काढ़ि के ॥ १४ ॥

हम पूर्व विवेचन कर आए हैं कि 'सभासार' को नाटक ही कहना चाहिए। नाट्य-कार स्वयं अपनी कृति को नाटक^१ कहता है। उसके सम्मुख 'उपदेश रसायन रास' नाटक के रूप में विद्यमान था। नाट्यकार ने उसी शैली पर इस नैतिकता-प्रधान नाटक की रचना की।

जिन्होंने इस ग्रन्थ की गणना नाट्य-साहित्य में करना स्वीकार नहीं किया है, उनके सम्मुख केवल संस्कृत नाट्य-शैली ही थी। अपभ्रंश नाटकों की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण वे लोग नाट्यकार की कृति को नाटक कहने में संकोच करते हैं।

परिशिष्ट २

काशीनाथ-कृत 'विद्याविलाप नाटक'

श्री नृत्यनाथाय नमः

सानन्दं हिमकुन्दकैरवसुधाकर्पूर-पुञ्ज-प्रभ-
श्चन्द्राढीकितशेखरोगिरिसुतादेहाढंभाक् कामदः ।
गीर्वाणौघ-सुपूजिताभिन्निमलो गंगाधरः शूलभृत्-
देवः पद्मगहारकंकणकरो नृत्येश्वरः पातु वः ॥

नान्दिमाल : जति बाधा :

जय-जय शंकर देवे नटेशर

वह शिर सुरसरिधार ।

चांद ललाट शोभित अच्छ

निरमल उरवर फणिपतिहार ॥

हे नटेशर ।

गौरीकलित तनु अपने दिगम्बर

तीनि नयन सुविराजे ।

असन धतूर फल वसन बघम्बर

पूरथि सुरगण (न) काजे ।

असम लेपित अंग हर करुणामय

शूल डमरुकर ईश ।

शंख-तुहिन-तुल देह-वरण तुम

गल रह कालिम वीस ।^२

१. 'अथ सभासार नाटक लिख्यते'—सभासार की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत ।

२. वीस = बिच

रघुकुल कुलमणि भूपतीन्द्र नृप
वरणित एहन अनुपे ।
चारि पदारथ दायक ईशर
मुनिगण भावित रूपे ॥ मेपु १ ॥

सूत्र प्रवेश—

तीडि । जति ॥

तीनि नयन हर अनुपम वेश ।
दरशने दुर होम जयत कलेश ॥
रजत-धवल तनु उर फणिहार ।
वसन कयलभ बाघलिच्छाल ॥
छदारे छपवावल अपनुक देह ।
तेजि रजताचल पितुवन गेह ॥
भूपतीन्द्र कह अपुरुष वाणी ।
पूरह मनोरथ सहित भवानी ॥

पुष्पाञ्जलि श्लोक

गाच्छेपि ॥ कल्याण ॥ अ, र, प, ॥
नाचय शंकर गौरी अरधांगा २ ॥ घु ॥
विभूति-भूषित-तनु नर-शिर-हार ।
शिरहि विराजित गांग सुधार ॥ मेपु २ ॥

राजवर्णना

(श्री गौरी) ॥ चो० ॥

रघुकुल कमल प्रकाशन भूपे ।
अवतर दिनमणिरूपे ॥
नृप भूपतीन्द्र मल्ल मदन-सुसाज ।
महिमण्डल सुरराज ॥
दानधरभगुण करण समान ।
एहन नृपतिवर न देखल आन ॥
द्विज काशीनाथ बखाने ॥ मेपु ३ ॥

वेशवर्णना

(कोनेहु, भा ॥ बराडि ॥ खए ॥)

सुरपुरतह भल तुहिनगिरिक लग,
अच्छ भगतापुरि नामे ।
ओतहि नीति-नाटक रस-भाव ॥ घु ॥
वेषपुराणधुनि करय पण्डितजन,

देखयिते बहु अभिरामे ।
 मनयि काशीनाथ, ततहि वसधि देखि,
 सुललित कय निज बाने ॥ मेपु ४ ॥

गुणगती निस्तार ॥

(चलोरे चलोरे कालामा)

(पहड़िया)

चलुरे चलुरे प्रिया अपने विचार हिया ॥ ध्रु ॥
 निदेश कयल नूपे भूपतीन्द्रराजे
 विद्याकुमार भय नाथव सुसाजरे ॥ मेपु ५ ॥

गुणसागरावि प्रवेश ॥

(कन्हूर । एकताल ॥)

सागरतुलगुण गुणक निबान ।
 विदित भुवनतर केओ नहि भान ॥
 कलावति प्रियासंगे करव प्रवेश ।
 अनुपम अञ्छ मोर रत्नापुरि देश ॥
 नूप भूपतीन्द्रमल्ल कयल बखान ।
 नीतिविनयगुण एहे भूप जान ॥ मेपु ६ ॥

गुणसागरावि निस्तार :

(अवलिनहोमा ॥ मारु, घनात्री, चो ॥)
 भानन्दे जायव चलु कलावति ॥ ध्रु ॥
 अपन नगरि रहि करिव समाज ।
 मिलव सुजनगण ओहे मोर काज ॥ मेपु ७ ॥
 ॥ शिवसामोक्ति—यज्ञमे ॥

॥ राजविजय ॥

याग करव हमे दूत मधु भानि ।
 परसनि होएति एखने भवानि ॥ मेपु ८ ॥

चंडिका प्रत्यक्ष ॥

(हयंचटि, मा ॥)

सारंगे ॥ चो ॥

परकट भय हमें पुराओव कामे
 पूजावलि लेव मोय जाय ओहि बाने ॥ मेपु ९ ॥

चंडिका अन्तर्धान कोटान ॥

(मे ॥ पहड़िया ॥ कुर्जमान ॥)

परकट (गत) भय हमे पुराओल कामे ।

पूजाबलि लेल मोय जाय ओहि धामे ॥

हाहा—

एहि सने जायब अपन निबासे ।

ततय करब हरबे बिलासे ॥ मेपु १० ॥

बीरसिंहराजाबि प्रवेश ॥

(नाट ॥ अ ॥)

प्रबल नराधिप उजयिनी भूपे ।

प्रवेश कयल हमे (से) से (म) सरूपे ॥

मोर प्रिया शिलावति रति-अनुसारी ।

साजनि सेहे मोरि हृदय अघारी ॥

बीरसिंह सन नृप न देखल आने ।

नृप भूपतीन्द्र कह रसिक सुजाने ॥ मेपु ११ ॥

बीरसिंहराजाबि निस्तार ॥

(आसावरि प्र ॥)

शशिमुखि चलु बनि जायब हरबे ॥ ध्रु ॥

उजायनि सुनगर करब बिलासे ।

होएत मनक उलासे ॥ मेपु १२ ॥

गुणसागरोक्ति—भृंगार ॥

(कमल्यावे, मा ॥ सारंगी ॥ चो ॥)

सुनु आवे सुवदनि वाणी,

मने अवधारि ॥ ध्रु ॥

कामव्याकुल मानस मोरा ।

बदन-सुधाकर देखिअ तोरा ।

पहु संगे सुन्दरी अनुचित मान ।

नृपतिशिरोमणि भूपतीन्द्र मान ॥ मेपु १३ ॥

कलाबल्युक्ति—भृंगार ॥

(नामनु, मा ॥ याजयन्ती ॥ चो ॥)

भाव न जानो मोय क्षमह परान ॥ ध्रु ॥

कमवधू (ध्रु) हमे नहि चतुरायि ।

तुअ गुणमहिमा वरणि न जायि ॥

भूपतीन्द्र मल्ल ई रस (श) मान ।

पहु सन सुन्दर नहि जग मान ॥ मेपु १४ ॥

बीरसिंहाविति पंहु :

इति प्रथमोऽङ्कः

अथ द्वितीय विवसे

सुगन्धिमालिनी प्रवेश ॥

॥ नाट ॥

(दुयि एकताल)

सुगन्धि मालि जाति कयल प्रवेश ॥

लोक नागर जन मोहिय सुवेश ॥

गथयिच्छ भले भाति कुसुम सयानि ।

महितले केओ नहि भूपतीन्द्र बाणी ॥ मेपु १५ ॥

सुगन्धिमालिनी निस्सार ॥

(मालकौशिक ए)

कुसुम तोड़व हमें उपवन जाय ।

अनुपम हार गाथव मन लाय ॥

सुनव कोकिल बाणि ॥ मेपु १६ ॥

जोसिडिडि निस्सार ॥

(मालव ॥ खचो)

चलह निज गेह, राजा—देल जत,

तुहहि एहि खने लेह ।

आहे डगरिनि कुच तुर परसय देह ॥

सुनह विनति मो रसिक रतन जन,

दैव मिलावल आज ।

आहे, तोहे मोर पुरवल मनोरथ काज ॥ मेपु १७ ॥

शिबशर्मा सुन्दर पैसार ॥

(निज गृह, मा ॥ काफि धनाश्री ॥ ख)

मन मोर हरषित भेल वड़ आज ॥ ध्रु ॥

अभिमत जत अन्छ पुराओव सेहे ।

विविध शिखि गुण जायव गेहे ॥

भेलवड़ आज ॥ मेपु १८ ॥

शस्त्रबिद्यासेमेमे ॥

(तोड़ि ॥ रघु ॥)

गुरुक पादपद्म सेवि शस्त्र-अस्त्र ।

शिख (ष) ह आज ।

बाण जोरि रक्ष ताकि (डाकि ?) मारि वेध

करह काज ॥ मेपु १९ ॥

विद्या दिक्काधिसा प्रवेश ॥

(नटलयं, भा ॥ इमन् कल्याण ॥)

उजयिनी नरपति तन्हिक तनया,
विदित विद्या नाम हमारि ।
सुवादनि अञ्जमोर साजनि जशोमति,
हम सनि नहि जग नारि हो हो ॥
रूप गुण आगरि, रतितह सुन्दरि
प्रवेश कयल नटघामे ।
केलिकलारस करव सखि मिलि
कह बीर भूपतीन्द्र नामे हो हो ॥ मेपु २० ॥

विद्यादि निस्सार

(तोड़ि ॥ चो ॥)

रसे-रसे-रसे रूपमति जायव आज रे ॥ ध्रु ॥
खेलायव सखि मिलि निज गृह जाय
एहिलने सजनी नेहर गाय ॥ मेपु २१ ॥

विद्यादि पैसार ॥

(एमं कल्याण ॥ प्र)

नहु-नहु जाजव आज, साजनि ॥ ध्रु ॥
पूजव शंकर ओतय जाय ।
निज मन लागल साय ॥ मेपु २२ ॥

मालिनी, निस्सार ॥

(वसन्त ॥ ए ॥)

उपवन जाय सुनव पिकवाणी ।
गांथव फुल मोय ओतय आनि ॥
करव आनन्द विलासे ॥ ध्रु ॥ मेपु २३ ॥

विद्यान महादेव पूजा जाय ॥

(श्री राग ॥ ख, ए ॥)

हे हर शंकर परसनि होउ-होउ ॥ ध्रु ॥
आक धुयुर^१ फुले पूजव देव ।
अभिमत पावन जे जन सेव ॥ मेपु २४ ॥

अवधूत पैसार ॥

(मारुघनाश्री ॥ प, रघु ॥)

आज बड़ रंग ।

भसम भंग सायल भंग ॥ ध्रु ॥

भवभूत रूप लय जायब ताहा ।

जतय भजन मोर भण्ड जाहा ॥ मेपु २५ ॥

वचसागरादि पैसार ॥

(गौरी ॥ चो ॥)

जायब बलु भावे सशिमुखि संगे ।

मिलब नागर जन होयत बड़ रंगे ॥ मेपु २६ ॥

विद्यादि पैसार ॥

(तोड़ी ॥ चो ॥)

रस रस उमेन ॥ मेपु २७ ॥

(विद्योक्ति दण्डक ॥)

सपन सुन्दर मा ॥

(बेहांगरा ॥ ख ॥)

सुन सखि केहेन मिलत पति मोहि ॥ ध्रु ॥

जै जन विद्या जित से पहु मोरा ।

एहन मनोरथ कहैच्छिभ तोरा ॥

विचारि कहिनि तोहे साजनि आज ।

जनक (६ क) जननि लग कहु गय काज ॥ मेपु २८ ॥

सखि उक्ति दण्डक

(रागतालउ नं)

सुनहे सुनह विद्या समुचित बाणी ॥ ध्रुव ॥

घेरज करह तोहे राजकुमारि ।

कहव सखि मिलि बुझ अवधारि ॥

नृप भूपतीन्द्र कह होयत उपाय ।

तोहर जननि लग कहव जाय ॥ मेपु २९ ॥

माधबादि भाट (त) पैसार ॥

(॥ मादुरूप, मा ॥ मालव ॥ चो ॥)

एखने देखव गय भूपसमाज ।

चल दुहु मिलि त्वरितहि आज ॥

देखल नागर जन अनेक सुदेश ॥ ध्रु ॥ मेपु ३० ॥

भास पनिसेन तेबाहभाय राजायके ॥

इति द्वितीयोऽङ्कः

इसी प्रकार सात अंकों में यह नाटक समाप्त किया गया है । प्रत्येक अंक के प्रारंभ में “अथ दिवसे” तथा अन्त में “इति विद्याविलाप नाटक सप्तमंक समाप्त” लिखा मिलता

है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक सैसीस पृष्ठों और ११३ श्लोकों में समाप्त हुआ है। अन्त में आशीर्वाद श्लोक (भरत-वाक्य) मिलता है।

परिशिष्ट ३

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (हिन्दी)

संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद हिन्दी में सत्रहवीं सताब्दी से बीसवीं सताब्दी तक होता आया है। इसका जो अनुवाद संवत् १७०० वि० में महाराज बल-वन्तसिंह ने किया, वह बच-पचात्मक रूप में है और संस्कृत नाटक की ही शैली पर है, किन्तु उसके उपरान्त अनामदास, जन आनन्द, सुरति मिश्र तथा ब्रजवासीदास के अनुवाद उस शैली पर नहीं मिलते।

अमूर्त को मूर्त बिधान करनेवाली शैली पर सर्वप्रथम सिद्धिपि कवि ने 'उपनिधि भव प्रपञ्च कथा' नामक काव्य लिखा। तदुपरांत हरिमंथ सुरि ने 'मूर्तोत्थान' तथा अभि-गति ने 'धर्म-परीक्षा' नामक काव्य रचे। अपभ्रंश में इस शैली पर 'मगण पराजय चरित्र' नामक काव्य मिलता है। इस शैली पर 'मोहराज पराजय' 'संकल्प सूर्योदय' आदि नाटक भी हैं। राजस्थानी के कई रास ऐसे नाटक हैं :

देखना यह है कि ब्रजवासीदास का अनुवाद किस शैली पर है। नाटककार ने ग्रंथ में तत्कालीन प्रचलित नाट्य-शैली की ओर इस प्रकार संकेत किया है :

बहुरि सभा के मखि नट, कीन्हों निरत सुवेश,

भयी प्रसन्न चरित्र लखि कीरति ब्रह्म नरेख।

ब्रह्म राजा के सामने नट जो चरित्र दिखाता है, उसमें नृत्य को प्रधानता है। अभिनयकर्ता नट नृत्य के द्वारा दर्शक को प्रसन्न करता है। ब्रजवासीदासजी का सम्पूर्ण नाटक छन्दबद्ध रास-शैली पर लिखा मिलता है। रास के समान ही बन्दना से इसका प्रारम्भ होता है। अन्त में ग्रंथ की महिमा का वर्णन रास की तरह है। रास के अन्त में प्रायः सर्वत्र यही मिलता है—“पढ़ै गुनै जो सांभलै।” इस प्रकार ब्रजवासीदास के अनुवाद के अंत में मिलता है—“पढ़ै सुनै समकै गुनै, जो कोऊ यह ग्रन्थ।”

रास के सद्युक्त इसमें भी रंगमंच के निर्देश कविता के रूप में बिद्यमान हैं। जैसे—
“छमा विवेक चरसा सिर नायो। नृप कहि कुशल बहुरि बैठायो। खमा कही केहि काज बुलायो। नृप कहि जोबहि मूढ़ उठायो।” इत्यादि। (प्रबोधचन्द्रोदय, ब्रजवासीदास, पृष्ठ २६)

नृत्य के आधार पर सम्पूर्ण नाटक के अभिनय का उल्लेख हमें 'समयसार' से लेकर ब्रजवासीदास तक प्रायः सभी नाटककारों में उपलब्ध होता है। 'समयसार' में नट का कार्य नृत्य द्वारा अभिनय करना इस प्रकार दिखाया गया है—

या चटै मैं.....

प्रहस्य नृत्य करै अति भारी।

फेरत भेल दिखावत कौतुक
 सौंजि लिए बरनादि पसारी ।
 मोह सो भिन्न जुरो जड़ सो,
 चिन मूरति नाटक देखन हारौ ॥”

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से नाटककर्ता नट नृत्य के आधार पर नाटक का प्रदर्शन करता है। सम्पूर्ण नाटक रास-शैली के सदृश नृत्य पर आधारित है। रास-शैली पर रंग-मंच का निर्देश तथा घटना का प्रसार मिलता है। इसमें रास-शैली पर ही प्रारम्भ और अन्त भाग उपलब्ध है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संस्कृत से अनूदित नाटकों की रचना भी रास की परम्परा पर ही की गई।

परिशिष्ट ४

वर्तमान रास-मंडलियां

१. करहला की मंडलियां :
 - (क) चौथा स्वामी का लड़का हरद्वारी
 - (ख) जगो घोली
२. हवेली वालों की मंडली : मुरलीधर प्यारे का पुत्र ।
३. कमहू की मंडलियां :
 - (क) मेघश्याम की मंडली
 - (ख) कुंजबिहारी की मंडली
४. छाते की तीन मंडलियां
 - (क) कुंवरपाल
 - (ख) धर्मसिंह
 - (ग) लछमन
५. महम्मदपुर की मंडलियां :
 - (क) गनेसी
 - (ख) हरगोविन्द (भरतपुर)
६. हबिया गांव की मंडली :
 - (१) किशनलाल
७. खेरिया गांव (जिला अलीगढ़) की मंडलियां :
 - (१) दामोदर (बंसीवट पर)
 - (२) वनश्याम (बृन्दावन में)
८. मुरलीधर : बृन्दावनलाल बहुरे का लड़का फौजवा (अलीगढ़) निवास बृन्दावन में ।
९. खेताराम 'नौहो भील' गांव का, अब बृन्दावन में ।
१०. फतेराम 'नौहो भील'

११. फत्ते राम चिकसौली (बरसाने के पास)
१२. कुंजबिहारी छोडो
१३. रामबत्स (बृम्हावन में रहनेवाला) — जमुनापार ।
सबसे प्राचीन रास-मंडली की परम्परा
स्वामी राधे रूपा

बारहवीं
पीढ़ी

स्वामी दीलतराम

स्वामी जयश्रीराम

↓
स्वामी लक्ष्मीनारायण

स्वामी लाडली सदन जन्म संवत् १९४८ वि०

उपर्युक्त वंशावली इस तथ्य का प्रमाण है कि कई रास-मंडलियां वंश-परम्परा से यही व्यवसाय करती चली आ रही हैं ।

परिशिष्ट ५

स्वांग-सम्बन्धी आधुनिक नाटक

‘स्वांग’ नाटक के दो केन्द्र हैं, रोहतक और हाथरस । रोहतक के नाटकों का वर्णन हो चुका है । हाथरस के हिन्दी भूषण पंडित नथाराम गौड़-रचित स्वांग-नाटकों की सूची इस प्रकार है :

वीररस-प्रधान नाटक

- (१) अमरसिंह राठौर, (२) यशवन्तसिंह, (३) नल-चरित्र, (४) बहादुर

सल्लसिंह, (५) डोलामारु, (६) निहालदे का झूला, (४ भाग) (७) सुलताना डाकू, (८) श्रीमती मंजरी, (९) माधुरी, (१०) सुन्दरबाई, (११) बीरमती (२ भाग), (१२) रेशमी कमल, (१३) चंडाल चाकड़ी, (१४) छत्रपति बीरसिपाही, (१५) बड़ी जोर, (१६) तेज मिर्जाज, (१७) पापियों का परवा, (१८) वृष्णीराज पीहान, (१९) महाराजा प्रताप, (२०) दयाराम गुजर, (२१) लम्बाणी दुर्गावती, (२२) बहन-बैरा, (२३) गरीब हिंदुस्तान ।

गोविन्द चमन तोताराम-कृत बीररस-प्रधान स्वांग

नाटकों की सूची

(१) देवा का ब्याह, (२) बहोरन का ब्याह, (३) रु-मफजा बहराम, (४) ऊदल हल्ल, (५) बांधू का ब्याह, (६) मल्लान का ब्याह, (७) ब्रह्मा का ब्याह, (८) सुर-कावली का झूला ।

पं० नथाराम-कृत शृंगाररस-प्रधान नाटकों की सूची

(१) सख्यपरी गुलफाम, (२) स्याहपोश, (३) विचित्र कुमारी, (४) लैला-मजनू, (५) पद्मावती, (६) बेकसूर बेटी, (७) राजबाला, (८) तरुपती जोगिन, (९) हीर-रांझा, (१०) नकली शाहजादा, (११) हुस्न की पिटारी, (१२) माहीगीरी, (१३) जहरे झक, (१४) नकली डाकू (१५) महारानी तारा (पांच भाग), (१६) बहराम बादशाह फारिस (३ भाग), (१७) चाचा-भतीजा, (१८) बे-नजीर बंदरे जुनीर, (१९) पन्नाबाई, (२०) लाखा बंजारा, (२१) सोने का पेड़, (२२) शायरे मार गुलबदन, (२३) छलिया मचोरी, (२४) गुलरू-अरीना, (२५) विचित्र घोड़ेबाज, (२६) देहली दरबार, (२७) कल्ल जान आलम (३ भाग), (२८) कामकन्दला, (२९) बिद्या-विनोद, (३०) गुलसनोबर, (३१) पूरन भगत (३ भाग), (३२) त्रिया चरित्र, (३३) रूप-वसन्त, (३४) नौटंकी, (३५) जबानी का नशा, (३६) माली का बेडा, (३७) मदनसेन, (३८) चम्पा पोश, (३९) गुंजपरी ।

महाभारत पर आधारित पं० नथाराम-कृत संगीत-नाटकों की सूची

(१) कीरव-पांडव-उत्पत्ति, (२) द्रौपदी-स्वयंवर, (३) जरासंध-सिंघुपाल बध, (४) चौसर की बाजी, (५) द्रौपदी बीरहरण, (६) उर्वशी वरदान, (७) नकली द्रौपदी कीचक बध, (८) भयंकर भूत, (९) अभिमन्यु विवाह, (१०) पैगामे-जंग, (११) कृष्ण मिमन्त्रण, (१२) भवानी वरदान, (१३) ब्रह्मचर्य का प्रभाव (३ भाग), (१४) अभि-मन्यु समर, (१५) अभिमन्यु बध, (१६) अर्जुन प्रतिज्ञा, (१७) जयद्रथ रक्षा बचन, (१८) जयद्रथ बध, (१९) द्रोण स्वर्गवास, (२०) कर्ण बध, (२१) शल्य बध, (२२) दुर्योधन बध, (२३) द्रौपदी पुत्र मरण, (२४) कौलादी भीष्म, (२५) भीष्म शरीर त्याग, (२६) चौड़े की चोरी, (२७) सुधन्वा संग्राम, (२८) अर्जुन का काल, (२९) जहरीला क्षत चन्द्रहास, (३०) मोरघ्वज, (३१) बीर शर्मा, (३२) विदुर तपस्वा, (३३) कृष्ण गोलोक गमन, (३४) पांडव सुरपुर गमन ।

पं० नथाराम-कृत रास-सम्बन्धी नाटकों की सूची

(१) दक्षयज्ञ विष्वंस, (२) शंकर-पार्वती विवाह, (३) नारद मोह, (४) राक्षण जन्म व विग्विजय, (५) राम जन्मोत्सव, (६) जानकी जन्म, (७) धनुष यज्ञ, (८) परशुराम संवाद, राम-विवाह, (९) राम वनगमन, (१०) चित्रकूट निवास चरित्र, (११) जानकी हरण, (१२) बालि वध, (१३) सीता सन्देश, (१४) रावण-अंगद संवाद, (१५) शक्ति संताप, (१६) सुलोचना सती, (१७) अहिरावण वध, (१८) नारान्तक आगमन, (१९) नारान्तक वध, (२०) रावण वध, (२१) भरत मिलाप, (२२) राजगद्दी, (२३) सीता वनवास, (२४) लवणासुर वध, (२५) सीता हरण पुराणा ।

पं० नथाराम-कृत आल्हा-ऊदल-सम्बन्धी नाटकों की सूची

(१) आल्हा का विवाह, (२) ऊदल का विवाह, (३) जगन का विवाह, (४) शंकल द्वीप, (५) लाखन का गौना, (६) इन्दल हरण, (७) शंकरगढ़ संग्राम, (८) सम्मर का पाठ, (९) चन्द्रावलि का भूला, (१०) मांडों की लड़ाई, (११) मलखान संग्राम (१२) बांदों संग्राम, (१३) आल्हा निकासी, (१४) बंगम गढ़ संग्राम ।

उपर्युक्त नाटकों से यह प्रमाणित होता है कि सामान्य जन-समुदाय में भी नाट्य-रचना की बहुमुखी प्रतिभा आज भी विद्यमान है, जो ग्रामीण जनता के मनोरंजन और उन्नयन का कार्य कर रही है। उपर्युक्त नाटकों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें अधिकांश नाटक दुःखान्त हैं। जनसाधारण में दुःखान्त नाटक चिरकाल से अभिनीत होते आ रहे हैं। जन-नाटकों का प्रभाव सामान्य जनता पर शताब्दियों से पड़ रहा है। 'सती लज्जावती' का स्वांग आज भी सहस्रों नारियों को पातिव्रत का महत्त्व सिखाता हुआ मनोरंजन का साधन बन रहा है। रामायण और महाभारत की विविध कथाएं ग्रामीण जनता को इन स्वांग-नाटकों के बल पर आज भी विस्मृत नहीं हुई हैं। स्वांग के नाट्यकार साधारण जनता का अध्ययन करते हुए अपनी रचना को देश-कालानुकूल बनाते रहे हैं, इसी कारण स्वांग की दीर्घकालीन परम्परा हमारी संस्कृति को सुरक्षित रखने में सहायक होती रही है। भारतीय संस्कृति के अध्ययन में सामान्य जनता की इन विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं :

“इस विशाल महादेश की समूची संस्कृति का अध्ययन करते समय इन जीवन्त विशेषताओं की उपेक्षा न की जाए। इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रस्स, पूजा-उपासना, व्रत-उपवास और शास्त्रीय मान्यता भी समूचे जनसमूह के अध्ययन के लिए नितान्त आवश्यक उपादान हैं।” (संस्कृति संगम, पृष्ठ ११, आचार्य क्षितिमोहन सेन)

परिशिष्ट ६

रास की अभिनेयता के प्रमाण

हम रासप्र करण में कई उद्धरणों द्वारा रास-ग्रन्थों को दृश्य-काव्य प्रमाणित कर

आए हैं। यहां दो-चार प्रमाणों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। प्राचीन गुर्जन काव्य-संग्रह में 'सप्तक्षेत्र रास' का उद्धरण इस प्रकार मिलता है :

- (१) बइसइ सहइ श्रमण संध, सावय गुणवंता ।
जोयइ उच्छवु जिनह, भवणि सवि हरष धरंता ।
तीछे ताला रास पड़ए, बहु भाट पढ़ंता ।
अवइ लकुटा रास जोइस खेला नाचंता ।
सविह सरीखा सिणगार सवि ते बड़ ते बड़ा ।
नाचइ घामीय रंग भरे, तऊ भावए रुड़ा ।
सुललित वाणी मधुरि, सादि जिण गुण गायंता ।
ताल भानु छन्द गीत, मेलु बाजिन् बाजंता ॥४६॥

(सप्तक्षेत्र रास, रचना-काल सं० १३२७ वि०)

उपर्युक्त उद्धरण में नाटक के प्रायः सभी अवयव विद्यमान हैं। श्रमण संध के सम्मुख यह नाटक हो रहा है। सभी श्रमण हर्ष धारण करके इस उत्सव को 'जोयइ' अर्थात् देख रहे हैं। बहुत-से भाट ताला रास को पढ़ रहे हैं। श्रमण गण लकुटा रास को देख रहे हैं। इस लकुटा रास का खेल नृत्य पर आधारित है। रास खेलनेवाले सभी पात्रों का शृंगार एक से एक बढ़कर है। पात्रों का नृत्य अत्यन्त मनोहारी है। उनकी वाणी ललित और मधुर है। वे पात्र जिन महाराज का गुण गा रहे हैं। गान के साथ-साथ विविध वाद्य बज रहे हैं। तात्पर्य यह है कि बहुधारी पात्र नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय के द्वारा रास का प्रदर्शन करके श्रमण संध को आनन्दित कर रहे हैं।

- (२) अभय तिलक-रचित महावीर रास में एक उद्धरण इस प्रकार है :

पभणिसु वीरह रासुलउ, खेलिहि मिलवि कराविउ रासुल उमवि दियहु ।

- (३) संधपति समरा रास में एक उद्धरण इस प्रकार है :

एह रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिण हरि देई ।

अर्थात् जैन मन्दिरों में इन रासों का ताल एवं नृत्य के साथ अभिनय किया जाता था ।

(४) हेमचन्द्र सूरि रास को गेय दृश्य-काव्य मानते हैं। वे लिखते हैं, "डोम्बिका भाण प्रस्थान भाणिका शिगक रामाक्रीड हल्लीसक श्री गदित रासक गोष्ठी प्रभृतीनी गेयानि ।" इसकी वृत्ति में वे लिखते हैं :

"पादार्थाभिनय स्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानिरूपकारिणचिरंतनैश्कृतानि ।"

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रास-ग्रन्थ दृश्य-काव्य भी थे। अगरचन्द नाहटा और डा० दशरथ शर्मा का कथन है कि आज भी राजस्थान में तालियों के ताल और डांडियों के खेल तथा अभिनय के साथ कई रास गाए जाते हैं ।

परिशिष्ट ७ (क)

- चन्द्रशरण—उषा-हरण (सं० १६४४ वि०)
 श्रीनिवासदास—प्रह्लाद-चरित्र (सं० १६४५ वि०)
 विश्वेश्वरप्रसाद त्रिपाठी—मिथिलेशकुमारी (सं० १६४६ वि०)
 शालिग्राम वैश्य—मोरध्वज—(सं० १६४७ वि०),
 अभिमन्यु (सं० १६५३ वि०)
 कार्तिकप्रसाद वर्मा—उषा-हरण (सं० १६४८ वि०)
 अयोध्यासिंह उपाध्याय—प्रद्युम्न विजय (सं० १६५० वि०)
 बालकृष्ण भट्ट—दमयन्ती स्वयंवर (सं० १६५२ वि०)
 जगन्नाथशरण—प्रह्लाद चरितामृत (सं० १६५७ वि०)
 देवराज—सावित्री (सं० १६५७ वि०)
 अनूप—लंकाविजय (सं० १६५७ वि०)
 रामनाथ—सावित्री सत्यवान (सं० १६५७ वि०)

परिशिष्ट ७ (ख)

- दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—(सं० १६३७ वि०)
 रणधीर प्रेममोहिनी—लाला श्रीनिवासदास—(सं० १६४० वि०)
 तप्तासंवरण—लाला श्रीनिवासदास—(सं० १६४० वि०)
 ललिता—अम्बिकादत्त व्यास—(सं० १६२१ वि०)
 मदनमंजरी—अयनसिंह गोतिया—(सं० १६४१ वि०)
 लवंगलता—विसेसरनाथ पाठक—(सं० १६४२ वि०)
 माधुरी—कृष्णदेवसिंह—(सं० १६४५ वि०)
 मदनलेखा—दामोदरसिंह—(सं० १६४७ वि०)
 मयंकमंजरी—किशोरीलाल गोस्वामी—(सं० १६४८ वि०)
 शालिग्राम वैश्य—लावण्यवती सुदर्शन—(सं० १६४९ वि०)
 ब्रजप्रसाद—मालतीवसन्त—(सं० १६४६ वि०)

परिशिष्ट ७ (ग)

It was quite unnecessary to fill the entire story with blood and torture, suffering and death, even though it was intended to be a genuine tragedy. Temperamentally the dramatist was so much moved by inhuman cruelties of indigo industry which he quite conceivably had seen enacted before his eyes, that it was impossible for him to bring a sense of detachment to bear upon his writing of the drama. Putting aside the question of the laws of higher drama, *Nildarpan*

abounds in verse written in a very ornate and artificial style and also much pedantic prose. The descriptions, though quite touching in places, miss their mark on account of elaboration and exaggeration.

परिशिष्ट ७ (घ)

१. "वर्तमानकाल के भारतीय कवियों में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध है।"
—ग्रियर्सन।
२. "दूसरों में अपना उत्साह प्रतिष्ठित करने की इनकी शक्ति अद्भुत थी।"
—एडविन ग्रीस।
३. "हरिश्चन्द्र ही वास्तव में भारत के वर्तमान नाटक के संस्थापक थे।"
—एफ० ई० की।
४. "सत्यतः उत्तरी भारत में अब तक यह सर्वश्रेष्ठ समालोचक हो गए हैं।"
—बकलेट।

परिशिष्ट ७ (च)

मधुसूदन ने एक पत्र महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर को लिखा, जिसमें उन्होंने ब्लैंक वर्स में लिखे अपने बंगला नाटक का अभिनय वेलगछिया थियेटर में करने को कहा। महाराजा साहब ने निम्नलिखित उत्तर दिया :

"I should very much like to see blank-verse gradually introduced in our dramatic literature. I am inclined to believe that at first it should be done with great caution and judgment. I am sorry to say, however, that I cannot hold out much hope as to your seeing soon such plays acted on the stage."

—Life of Michael Madhu Sudan Datta by Y. N. Basu, Pages 263-264

परिशिष्ट ८

नवीन शोध-प्रबन्ध
नाटकों में यथार्थवाद

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी में पी-एच० डी० के लिए कमलनी मेहता द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (अप्रकाशित)

प्रतिपाद्य विषय तेरह अध्यायों में विभक्त है जो इस प्रकार हैं :

ग्रामुख, यथार्थवाद के प्रवर्तक, इम्सनादि द्वारा प्रतिपादित यथार्थवाद, भारतेतर अन्य देशों में यथार्थवाद, व्यंगवादी जाज बनर्डी शा, सोवियत यथार्थवाद, नाट्यशास्त्र में यथार्थवादी प्रवृत्ति एवं उसका संस्कृत नाटकों में व्यवहार, हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद, हिन्दी एकांकी में यथार्थवाद, अन्य लोकभाषी नाटकों में यथार्थवाद, भारतीय यथार्थवादी

नाटकों की विशिष्टता, उपसंहार और पुस्तकानुक्रमणिका ।

प्रसाद के पश्चात् हिन्दी नाटकों का विकास

सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए श्रीमती सावित्री खरे एम० ए० द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (अप्रकाशित) ।

सम्पूर्ण प्रबन्ध सोलह अध्यायों में विभक्त है जो इस प्रकार हैं :

आलोच्य युग की पृष्ठभूमि, जयशंकरप्रसाद के नाटक, आलोच्य युग और उसकी नाट्यसम्पत्ति का विवेचन, ऐतिहासिक नाट्य साहित्य, सामाजिक नाट्य साहित्य, समस्या-नाटक, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक, प्रतीक-नाट्य-साहित्य, रोमाण्टिक नाटक, गीतिनाट्य, हास्य, व्यंग्य, विनोद, पौराणिक नाट्य-साहित्य, हिन्दी रंगमंच, आलोच्ययुगीन नाट्य-साहित्य का कलात्मक विकास, उपसंहार और सहायक ग्रन्थों की सूची ।

हिन्दी नाटकों का रूप-विधान और वस्तु-विकास

सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए चन्द्रलाल दुबे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध (अप्रकाशित) ।

अध्याय क्रम आरम्भ करने के पूर्व लेखक ने प्रबन्ध का आमुख और नाटक-साहित्य का काल-विभाजन देकर ग्रन्थ को तीन खण्डों में बांटा है । प्रथम खण्ड के पूर्व भी एक अध्याय रखा गया है जिसका वर्ण्य विषय है—शास्त्रीय शैली-युग की पृष्ठभूमि, पुनः प्रथम खण्ड में शास्त्रीय शैली के युग में शास्त्रीय शैली के गद्यनाटक, शास्त्रीय शैली के पद्यनाटक, शास्त्रीय शैली के एकांकी और प्रहसनों का सामान्य विवेचन तथा मूल्यांकन ।

द्वितीय खण्ड में स्वच्छन्दतावादी युग के गद्यनाटक, पद्यनाटक और एकांकी तथा प्रहसनों पर विचार किया गया है । इसी प्रकार तृतीय खण्ड में भी, जिसको यथार्थवादी शैली का युग कहा गया है—गद्यनाटक, पद्यनाटक, एकांकी, प्रहसन, हिन्दी नाटकों का भविष्य एवं भविष्य की योजना का विश्लेषण, निर्देश तथा उपसंहार । अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची दी गई है ।

इनके अतिरिक्त गत वर्ष हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक पर लखनऊ विश्व-विद्यालय में शोधकार्य हुआ है जिसपर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है । यह प्रबन्ध भी अप्रकाशित है ।

हिन्दी के लोकनाट्य

डा० सुरेश अवस्थी का महत्त्वपूर्ण शोध प्रबन्ध है, जिसपर उन्हें लखनऊ विश्व-विद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली है । यह शोध प्रबन्ध भी अप्रकाशित है । नाट्य-संबंधी शेष शोध प्रबन्ध प्रकाशित हैं ।

पुस्तकानुक्रमणिक

अ
अंगुलिमाल—४३०
अंगूर की बेटी—३५०
अंजनासुन्दरी—१९९
अंजनीकुमार—३५४
अंजो दीदी—३९१
अंधा कुआँ—४३२
अंधा युग—४१७
अंधेरनगरी—१८१, २०८, २०९
अकसौरे आज्ञम—२८९
अचलायतन—२९६, ४३४, ४३६
अजातशत्रु—२२५, २३२, २५८, २७३
अजामिल उपाख्यान—३७०
अत्याचार—२९४
अति अन्धेरनगरी—२०१
अर्डजिस्ट—३८६
अर्धनारीश्वर—३३८
अधिकार का रक्षक—३४०
अनघ—२९६
अप्सरा—४१२
अपूर्व रहस्य—२००
अपूर्व संन्यासी—३२९
अभिनव भारती—३२, २८७
अभिमन्यु-वध—२९९
अमरसिंह राठौर—८५, १९७, १९९, २०७
अमृतमंथन—३८
अमृतोदय—१२८

अलबेला—३३१
अलग-अलग रास्ते—३९२
अलीबाबा—२८९
असीरे हिंस—२९०
असुर पराजय—३७
अश्रुमती—२०५
अशोक—२०६, ३१५
आ
आंख का नशा—२९०
आचारविडम्बन—१९६
आज्ञाभाइश—४३८
आदमी—४३०
आधी रात—३४७
आनन्द-रघुनन्दन नाटक—५८, १३२, १३९, १४३, १४५, १५०, ३८०
आनन्द रामायण—१४०
आनन्द सुन्दरी—६२
आन दि आर्ट आफ पोइट्री—३४
आबूहुसैन—५५
आंसू—२४२
आहुति—२९३, ३०३, ३०४
इ
इंट्रोडक्शन टु ड्रामेटिक थ्युरी—१८७
इंडियन ऐण्टेक्विटी—५१
इन्द्र सभा—२०५, २८९, ३०१
इन्दु—३७२
इन्दुमती—४१८

इन्साफ महमूदशाह—२८६

इरावती शापमुक्त—४३०

इशरत सभा—२८६

ई

ईसा—३०६

ईश्वरभक्ति—२६१

उ

उद्धान—३६०

उत्तररामचरित—१३६, १७३, २०४

उत्तररामचरित्रच्छाया—३५१

उत्तर-शती—४०६

उत्सर्ग—३४२

उद्धार—३०५, ३४२, ३४३

उद्धवबशीठ नाटिका—१६६

उन्मत्त राघव—३२५

उन्मुक्त—२६६, २६७

उन्मुक्ति का बन्धन—३५६

उपकेशगच्छ पद्यावली—६६, ७६

उपचेतना का छल—३३७

उपदेश रसायन रास—३५८, ३६०, ३७६

उर्मिला—३५१

उरुभंग—३२५

उर्वशी—४२६

उर्वशी-मानभंग—४३०

उषा-हरण—६०, १६६, ३६६

ए

एक-एक के तीन-तीन—२००, २०१

एक घूट—२४२, ३२१, ३२६

एक वैवाहिक विडम्बना—३२६

एक साम्यहीन साम्यवादी—३२६

एकादशी—३३०

एकीकी बोले सभ्यता—२०५

एन्हेन्सके—३८६

ऐ

ऐतिहासिक रास संग्रह—८३

ऐन एनिमी आफ दि पीपुल—३८७

क

कण्ठी-जनेऊ का विवाह—३२६

कंसवध नाटक—४६

कंस-विध्वंस—३५३

कर्त्तव्य—३५१

कबीर वचनावली—५०

कमलमोहिनी-भंवरसिंह—२००

कमला—३४६

कर्ण—४१६

कर्णभार—३२४

कर्पूरचरित—३२४

कर्पूरमंजरी—१६५, २६०

करुणालय—२१६, २५७, २७३, २६५,

२६८, ३०१

करुणाभरण नाटक—१३१, ३७८

करुणा कल्पलता भक्ति—२६३

कलश—१२४

कन्हन दे प्रबन्ध—७६, ८३, ३५६

कलिकौतुक—१६२, २००, २०८, ३२६

कलि प्रभाव—१६२

कवि भारतेन्दु—४३६

कलियुग—२६४

कलियुगी जनेऊ—२०१, २०८

कलियुगी विवाह—२०८

कलिराज की सभा—३२६

काग्रेसमैन बनो—३४०

कामना—१६०, २२८, २७५

कात्यायन श्रौतसूत्र—४०

काल मृगया—२७२

कालिदास (रेडियोरूपक) — २६८,

३३६

कालिय कथनोपाख्यान—६०
कालियदमन (यात्रा)—५४, ६७
कालिराज की सभा—३२६
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—४०,
४५

कास्ट—३८६
क्या इसीको सम्यता कहते हैं ?—२०५
क्या वह दोषी था ?—३३०, ३३७
कृष्णयात्रा—५४,
कृष्णकुमारी—२०५
कृष्णपाण्डे का कलियुग—५२
कृष्ण-सुदामा—२६०
कृष्णावतार—२६१
कृष्णार्जुनयुद्ध—३५३
कृष्णाम्युद्ध—३२५
किरातार्जुनीय—१६६, ३२५
कीचक-वध—२१०
कुमारपाल रास—३६१
कुमारसम्भव—३३६
कुमारिल भट्ट—३५१
कुंवरसिंह की टेक—४३८
कुरुदहन—३५३
कुलीनकुल सर्वस्व—२१०
क्रूरवेणु—३५३
केटोवृत्तान्त—२०६
केलिंगोपाल—६७, २७०, ३७१
कैटालामस कैटलगोस—३६३
कैद—३४६, ३६०
कोणार्क—४३६
कीटिल्य ग्रंथशास्त्र—४५
कौतुक सर्वस्व—३२४
कौवेर रम्भाभिसार नाटक—४४

ख

खरतरगच्छ पद्यावली—७०

खावे हस्ती—२६०
खिलौने की खोज—३४६
खुदपरस्त—२६०
खुदादोस्त—२८६
खुदादाद—२८६
खूबसूरत बला—२६०
खेला भूमरा—३७०
ग
गंगावतरण—२६०
गंधिन लीला—१०२
गद्दार—२६३
गरुडध्वज—३०७, ३११
गय सुकुमार रास—८३, ८४, ८५, ११८
३२८

गान्धारी—३५५
गवाल पहेली लीला—१०३
गीतगोविन्द—५४, ६०, ३६३
गुनमाला—३७०
गुलनार फिरोज—२६०
गुल सनोवर—२८६
गुल बकावली—२८६
गोपा—४३०
गोपीचन्द नाटक—६०
गोपीचन्द और हरिश्चन्द्र—२६०
गोरक्षधंधा—२६०
गोरक्ष विजय नाटक—३६७
गोरक्षा—२६३
गोसंकट नाटक—२२६
गीतमनंद—३१६
गीनेवारी लीला—६६, १०२, १०३

घ

घोस्ट्स—३४४, ३८७

च

चङ्कीशिक—६०

चंडी चरित्र—१२४, ३७८
 चन्द्रकला भानुकुमार—२००
 चंद्रगुप्त ('प्रसाद')—२३२, २३५, २४७,
 २५१, २७५, ३४४
 चंद्रगुप्त (पं० ब्रदीनाथ भट्ट)—३४२
 चंद्रगुप्त मौर्य (उदयशंकर भट्ट)—३४२
 चंद्रसेन—१६६
 चंद्रावली—११२, १६६, २०७, २६०,
 ३०१
 चतुष्पथ—३३१
 चतुर्थ जोगीलीला—१०२
 चलता पुर्जा—२६०
 चारुमित्रा—३३०
 चित्रा—२७२
 चित्तेरी लीला चित्रा—१०२
 चुनौती—३८६
 चैतन्य चन्द्रोदय—११८, १७६
 चौपट-चपेट—२००
 चौहत्तर लीलाएं—३२६
 छ
 छठा बेटा—३४६
 छद्मयोगिनी लीला—६७, ११२, ३५३
 छद्म लीलाएं—३२६
 ज
 जनमेजय का नागयज्ञ—२३१, २३२, २७५
 जना—५५
 जन्मवाचा—३७०
 जम्बूस्वामी चरित्र—३६०
 जयपराजय—३६०
 जय नारसिंह की—२०१, २०८
 जहरी सांप—२६०
 जस्टिस—३८७
 जानकी रामचरित नाटक—१३२
 जानकी मंगल—२६३

जायसी ग्रंथावली—५०
 जीवनानन्द—१२८
 जुझारी खुझारी—१६२
 जैन गुर्जर कवियों—६३
 जैमिनीय भरत नाटकम्—६०
 जैसा काम वैसा परिणाम—१६५, २००,
 २०२
 जोगीश्वर लीला—१०२
 ज्योत्स्ना—१६०
 ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया—१६०
 झ
 झांसी-पतन—३४२
 ठ
 ठंडी आग—२६०
 ठगी की चपेट—२००
 ड
 डाक्टर—३८६
 डॉल्स हाउस—३४४, ३८५, ३८७
 डूबते तारे—४३२
 ढ
 ढाढिन लीला—१०२
 त
 तन मन धन गोसाईजी का अर्पण—१६७,
 २००
 तप्तासंवरण—१६०, २००, २०७
 तमसा—४३०
 तमासे अलाउद्दीन—२८६
 तस्वीरे वफा—२६०
 तमोलिन लीला—१०२
 ताल रास—८४, ८५
 ताला रास—३६०
 तुम्हें खपया खा गया—३६२
 तुर्की हूर—२६०
 तोहफा दिलकुशा—२८६

तृतीय जोगीलीला—१०२

ब

दमयन्ती स्वयंवर—१६५, १६६, १६६

दस हज़ार—३४०

दशावधमेध—३०७, ३११

दश यज्ञ—५५

दादा और मैं—२०१

दान लीला—६७, १०३, १०५

दाहर—३४२

दि इण्डियन थियेटर—५३

दि इम्पाटन्स आफ बीइंग अनैस्ट—३८७

दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर—४६

दि डेवलपमेण्ट आफ ड्रामेटिक आर्ट—४०

दि यूजलेस डिलिक्वेन्स—३५६

दिलफरोश—२६०

दिलेर-दिलशेर—२६०

द्वितीय योगी लीला—१०२

दीवार—२६२

दीप निर्वाण—२०५

दुःखिनी बाला—१६३, २००, २०७, ३२६

दुर्गावती—३४२

दुर्लभबन्धु—१७४

दूत घटोत्कच—३२४

दूतवाक्य—३२४

देवमायाप्रपञ्च—१३६, २३८, ३७८, ३७६

देवी भागवत—३१०

देवी चन्द्रगुप्त—२५५

देशी कुत्ता विलायती बोल—२०१

द्रौपदी—४१६

द्रौपदी स्वयंवर—२६१

द्रौपदी वस्त्रहरण—१६६

ध

धनं जयविजय—१६०, २०७, ३२५, ३२७

३५४

धर्मालाप—१६३, ३५३

धरादीप—४१८

ध्वंसशेष—४१४

धीरे-धीरे—३४६

ध्रुव चरित्र—५५

ध्रुव तपस्या—१६६

ध्रुवस्वामिनी—२३२, २५२, २६७, २७५,

२८६

धूर्तनर्तक—३२४

धूर्तसमागम—३२४

न

नाइन लीला—१०२

नई रोशनी का विष—१६६

नकशए सुलेमान—२८६

नटी-बन लीला—१०२

नल-दमयन्ती—५५, १६६, ३८१

नल-दमयन्ती रास—८६, ३६०

नलीय नाटकम्—६०, ३६६

नरसिंह लीला—१०३, ३२८

नवदुर्ग नाटकम्—६०

नहुष नाटक—१३२, १५०

नागनौर की लीला—१०३

नागानन्द—७८, २०४

नाट्यदर्पण—७३, १६५

नाट्यशास्त्र (भरत मुनि)—३३, ५४,

३५, ३६, ३८, ६२

नाटक—१३६

नातन—३४३

नारद की वीणा—३०७, ३१०, ३११

नारद लीला—१०२

नारद पंचरात्र—८७

नारा-ए-तौहीद—२६०

निर्भय भीम—३२५, ३५३

निहालदे—३३३
नींद के देश में—४१८
नीलवर्ण—२०६
नीलदेवी—१८३, ३२७
नेमिरास—८४, ८५
नेही सांवरीलीला—१०२
नेत्रदान—३३०

प

पंच—३३०
पंचम जोगीलीला—१०२
पांचाली—४३०
पंचायत राज (रेडियोरूपक)—३३८
पंजाब केशरी—३४२
पगध्वनि—३१६
पठान—२६२
पद्मावती—५६, १६५, १६६, १६६, २०५
पत्नी प्रताप—२६०
पत्नी प्रसाद—६७, ३७१
पद्मिनी (किशनचन्द्र जेवा)—३४२
पद्मिनी (रूपनारायण पाण्डेय)—३२४
पटविन लीला—१०२
पत्र-लेख—२५५
परसिया प्रसून—५६
परशुराम—६५
परशुराम विजय—६५
परिवर्तन—२६१
पाक्ष्ण्डमूर्ति—३२६
पाक्ष्ण्ड विडम्बन—१५८, १६०, २३८
पाप का परिणाम—२६४
पार्श्व पराक्रम—३२५
फूरिजात हरण—६०, ३६१, ३६३, ३६६,
३७७
फिरोजखान—३८७
पीरमाली—४३८

पृथ्वीराज की आँखें—३३०
पुण्य पंथ—३०७
पुरातन प्रबन्ध संग्रह—६३
पुराण यात्रा—५६
पुरुष परीक्षा—३६८
पूर्व की ओर—३१७
पूर्व भारत—३५२, ३५३
पेंतरे—३६०
पैसा परमेश्वर—३६२
पैसा तमाशा—२०६
प्ले ब्वाय आफ दि वैंस्टर्न वर्ल्ड—३८७
प्रताप-प्रतिज्ञा—३१६, ३४२
प्रतिशोध—३०३, ३०४
प्रतिज्ञा योगन्धरायण—३०८, ३०९
प्रभावती—५७, १३६
प्रभावती हरण—६०, ३६६
प्रयाग रामागमन—१६६
प्रवास—२०६
प्रलय और सृष्टि—३३१
प्रह्लाद चरित्र—५५, १६०, १६१, ३२७,
३२८
प्रह्लाद लीला—१०३, ३२७, ३२८
प्रतिष्ठा विवेक—३६३
प्रतिभा का विवाह—३२६
प्रद्युम्न विजय—१६६
प्रद्युम्न विजय (व्यायोग)—३५३, ३५४
प्रद्युम्न विजय नाटक—१२३
प्रबुद्ध यामुन—३५१, ३५२
प्रबोध चन्द्रोदय—५७, १०५, १२४, १३६,
१३७, १४७, १७६, ३७८, ३७९
प्रथम जोगी लीला—१०२
प्रायश्चित्त—२१५, २१६, २५७, ३५६
प्राचीन भारत का कला विकास—४६, ४७
प्रेम सुन्दर—२००

प्रेम लीला—२०५

प्रेम जोधिनी—१६१, १७०, ३५०

फ

फरेबे मुहब्बत—२६०

फूलों का देश—४०६

ब

बन्दर सभा—२०६

बकाबली—२६०

बनजारी लीला—१०२

बलदेव रासमाला—१०३

बदरे मुमीर—२८६

बयालीस छद्म लीला—१७१

बादलों की शाम—४१८

बालचरित्र—७६

बाल विवाह नाटक—२००, ३२६

बांस की फांस—३४८

बासन्ती—४३७

बाल रामायण—१४३, ३२५

बिह्व संगल—१६७, २००, २०८

बिसातिन लीला—१०२

बीमार (रेडियो रूपक)—३३८

बृहन्नला—१६६, २०२

ब्रह्मचारी—१०२

ब्रह्मालीला—१०२

बुद्ध चरित्र—३५१

बुन्देलखण्ड केशरी—३४२

बूढ़े मुंह मुहांसे—१६७, २००, २०८

बैल छः टके को—२०१

भ

भंगतरंग—१६७, २००

भंवर—३६०

भक्त तुलसीदास—३५१

भक्त प्रह्लाद—२६२

भक्त बुरदास—३५१

भक्ति प्रदीप—३७०

भक्ति रत्नाकर—३७०

भगवान शंकराचार्य—३५१

भर्तृहरि निर्वेद—३६८

भागीरथ लीला—१०३

भारत भारत—१६६

भारत की लोक-नाट्य परम्परा—५६

भारत छोड़ो—३४२

भारत जननी—१८६

भारत दुदिन—१८६

भारत दुर्दशा नाटक—१७५, १८०, १६६,
२०६, २६३, ३२६

भारतेश्वर बाहुबलि रास—८५, ३५८,
८४, ३२८

भारत दुर्दशा रूपक—१६२

भारत नाटक—६०

भारत सौभाग्य—१६६, २०६, ३२६

भारतेन्दु—४३६

भारतोद्धार—१६६

भारत ललना—२०६

भारत हरण—१६६

भावप्रकाशनम्—३६, ७४, ७५, १६५,
१६८

भाषा नाटक—६०, ६८

भास नाटक चक्रम—७६

भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु—
४३८

भीम विक्रम (व्यायोग)—३२५

भीष्मपितामह—२६४

भूलभूलैया—२६०

भोरलीला—१०३

म

मणिगोस्वामी—३५०

मत्स्यगन्धा—२६८

मतवाली मीरा—३५१
 मदन चरित्र—६०, ३६६
 मदन-दहन—४३०
 मदन मंजरी—२००, २६०
 मदन खेला—२०८
 मवाकसाहरण—२६०
 मध्यम व्यायोग—३२५
 मनिहारिन लीला—१०२
 मयंक मंजरी—२००, २०८
 मलय गंधिनी—६०, ३६६
 मधारिकी हूर—२६१
 महाकाल—४१६
 महात्मा कबीरदास—३५१
 महादेव लीला—१०२
 महाभागवत—३७०
 महाभारत—४२, २६०, २६४
 महाभाया—३४२
 महाराणा प्रतापसिंह—१६३, १६६, २०७,
 २६४, ३४२
 महारानी पद्मावती—१६३, ३४२
 महारासोत्सव—११३
 माधव मुरली—२६०
 माधुरी—२०७, ३६५
 मान लीला—६७, ३२८
 मानव का जीवन—४३५
 मानव निश्चय ही लौटेगा—४३०
 मायार खेला—२७२
 मारवाड़ी गौरव—३४२
 मारीच वध—२१६
 मालती बसन्त—२०८
 मालतीमाधव—२०४
 मालविकाग्निमित्र—३६, २०४
 मालिन लीला—१०२
 मिना—३४३

मिस्टर स्लीमैन आ रहे हैं—४३५
 मिसेज वारेन्स प्रोफेशन—३८७
 मीठी छुरी—२६०
 मुक्ति का रहस्य—३१५, ३४६
 मुक्तिधारा—४३७
 मुकुन्दानन्द—३२४
 मुद्राराक्षस—१७२, २०७, २४८
 मुदित कुवलयस्व—५६, ३६६
 मुरीदे शक—२६०
 मृत्युञ्जय—४३६
 मेघ की छाया—४१७
 मेघदूत—३३७
 मेन एण्ड सुपरमेन—३४४, ३८७
 मैनावरी लीला—१०२
 मोहराज पराजय—१२७, १४७, ३७६
 मोनी जोगीलीला—१०२

य

यज्ञलीला—१०३, १०४
 यतिराज विजय—१२६
 यमयमी—४०
 ययाति—३५५
 यशोधरा—४३८

र

रंगरेजिनलीला—१०२
 रंभा मंजरी—६२
 रक्त करवी—२०१, ३०३
 रक्षाबन्धन—२०१, ३०३
 रघुवंश—३३६
 रजत शिखर—४१३
 रत्नावली—५२, ५६, १८८
 रहस लावनी—१०४, १०५
 रहस्यलीला—१०४
 रहीम—४३६
 राइडर्स टु द सी—३८८

राक्षस का मन्दिर—३४६
 राक्षी—३३७
 राघव विजय—२१६
 राजतरंगिणी—२२२
 राज्यश्री—२१६, २३२, २५८, २६७,
 २७५
 राजमुकुट—३४२
 राजयोग—३४६
 राजशेखर—३२, ६३
 राजा—४३४
 राधा—२६८, २३७, ३६६
 राधाकृष्ण—३३३
 राधादासी सांझीलीला—१०२
 राधा वंशीधर विलास—३७०
 रानी भवानी—३४२
 राम की अग्निपरीक्षा—४१८
 राम यात्रा—५४
 रामलीला—१६६
 रामलीला विहार नाटक—१३२
 रामलीला विजय—१६६
 रामायण—२६०, ३७०
 रामायण नाटक—४४, १३२
 रामायण महानाटक—१२२
 राम एवं रासान्वयी काव्य—१२०
 रास यात्रा—६७
 रास पञ्चाध्यायी—६७, १०४, १०५
 रास विजय—३७०
 रक्मिणी परिणय—१६६
 रक्मिणी मंगल—२६१
 रक्मिणीहरण—६७, १६६, ३७०, ३७३
 ३७४
 रेल का विकट खेल—३२६
 रेवा—३०६
 रेशमी टाई—३३०

रोमांस—३२६
 रोहिणिया चोरना रास—३२८, ३६०
 ल
 लक्ष्मीपुराण स्वांग—५१
 लकुट रास—८४, ८५, ३६०
 लटक मलक—३०४
 ललिता—१६६, २०७
 लवंगलता—२०८
 लव्स कामेडी—३८३, ३८४
 लावण्यवती-सुदर्शन—२००, २०८
 लीला—४२८, ४२७
 लेटर भान दि थियेटर—४३५
 ले थियेटर इण्डिया—४२
 लौह युग—४१६
 व
 वत्सराज—३०७, ३०८, ३११
 वनदेवी—२६०
 वरगीत—३७०
 वर्तमान दशा—१६६, २०६
 वारिदनाद (व्यायोग)—१६६
 वाल्मीकि रामायण—४३
 विकलांगों का देश—४१८, ४२२
 विक्रमोर्वशीय—६५, ३६६, ३३७
 विचित्रनाटक—३७८
 विजयतिलक सूरिरास—३६०, ३६१
 वितस्ता की लहरें—३०७, ३१३
 विदग्धमाधव—३७०, ३७१
 विद्या परिणय—१२८
 विद्याविनोद—२००
 विद्या विलाप—५८, ३६६
 विद्या सुन्दर—५५, ५६, ५८, १५३, १६०,
 २०७
 विद्युत् वसना—४१०
 विद्याविलासिनी—२००

विद्रोहिणी शम्बा—३४६
 विधवा विवाह—२००, २१०
 विलासवती—७५
 विवाह बिडम्बन—२००
 विवाहित विलाप—२००
 विश्वामित्र—२६८, २६९, ३३८
 विशाल—२१६, २३२, २७३
 विश्वस्य विश्वमीषधम्—१६७, २०८, ३३१
 बीणावारी लीला—१०२
 वीर छत्रसाल—३४२
 वीर नारी—२०५
 वीरबालक अभिमन्यु—२६१, २६४
 वृद्धावस्था विवाह—२००
 वृन्दावन लीला—१६६
 वेणी संहार—७७, १८८
 वेणु संहार—१६५, २०५
 वेनिस नगर का व्यापारी—२०५
 वस्या नाटक—२०१
 वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—१६१,
 २०८, २६३, ३२७
 वैद्यन लीला—१०२
 व्याहलो—१०४

झ

झंकर विजय—३५१
 झक विजय—३०७, ३१६
 झक्ति यात्रा—५४
 झकुन्तला—५७, १३०, १३२, १४०, १५२,
 १८८, ३३६, ३३७, ३७८
 झत्रुंजय रास—३२६, ३६१
 झपथ—३१८
 झम्मये जबानी—२६०
 झमिष्ठा—१६५, १६६
 झरद और सरोजिनी—२०५
 झरद चेतना—४१०

झलम और ज्योति—३३८
 झहीदए नाज—२६०
 झाप और वर—३३१
 झारदीवा—४४०
 शिक्षादान—१६६
 झिल्पी—३३८, ४१०
 झिवयात्रा—५४
 झिवयोगी लीला—१०२
 झिवाजी—३४२
 झिवासाधना—३०३
 झिशुपाल वध—१६६
 झुझ पुख—३३८, ४१०
 झृंगार प्रकाश—२५५
 झृंगार भूषण—३२४
 झैतान—३२६
 झ्याम सहचरी सांझी लीला—१०२
 श्री कुमारपाल रास—३२६
 श्रीदामा—१६७
 श्रीदामा चरित—१२६
 श्रीपाल रास—६६
 श्री प्रियाजी की रूप मुराई लीला—१०२
 श्री प्रिय रूप गर्व लीला—१०२
 श्रीराम—३५१
 श्री रामानन्द—३५१
 श्री रास छत्रविनोद—६६
 श्री हर्ष—१६६
 झ्यामा—३२६
 झवणकुमार—२६०

ष

षष्ठ जोनी लीला—१०२

स

संकल्प सर्वोदय—१२६
 सांगीत साकुंतल—१६२
 संघर्ष—४१८, ४२०

संघपति समरारास—८६
 संत तुलसीदास—४३६
 संदेश रासक—८०, ८१, ८२, ३५६
 संस्कृत ग्रामा (कीब)—४६, ५४, ७५,
 १६७
 संन्यासी—३१६, ३४५
 संवत् प्रवर्तन—४३६
 संवर्त—४३०
 संयोगिता स्वयंवर—१६०, १६६, २०७
 संसार स्वप्न—२६४
 सिद्धर की होली—३४७, ३८४
 सिधल विजय—२०७
 सुंदर और श्याम लीला—१०२
 सुंदर रस—४३२
 सेंट जान—३५२
 स्कंदगुप्त—२३२, २३५, २४२, २५१,
 २५८, ३४४
 सगर विजय—३५३, ३५५
 सगारथ लीला—१०३
 सच्चा जीवन—३३१, ३३२
 सज्जन—१४८, २१४, २१५, २५७
 सज्जाद सब्बुल—२०५, २०७
 सड़क (रेडियो रूपक)—२०५, २०७
 सती नाटक—२०५, ३५३
 सती चन्द्राबली—१६७
 सती प्रताप—१६४
 सती पार्वती—२६२
 सप्त राक्षस—३३०
 समय पाउड्र—३७८
 समयसार नाटक—१२३, १३७, ३७८
 सभा-सार नाटक—१३०, १४७, १४८,
 ३७८, ३७९
 समर्पण—३१६
 सनेह लीला—१०३

सफेद खून—२६०
 सब चलता है—४३२
 सम्राट् प्रशोक—२६४
 सावित्री—१६६
 सावित्री-सत्यवान—५६
 साहसेन्द्र साहब—२०५
 सांवरी साधिन लीला—१०३
 साहित्यदर्पण—७५, १६५
 सितारों को—४३५
 सिलबर किंग—२६०
 सिस्टर बिट्रिस—३५६
 सिद्धार्थ बुद्ध—४३८
 सीता का मां—३३२, ३३३, ३५१
 सीताराम—३३७, ३५१
 सीताराम—१६६, ३५३
 सीता वनवास—१६६, २६०
 सुनारिन लीला—६६
 सुरसुंदरी रास—३६१
 सूखा सरोवर—४३२
 सृष्टि की सांझ—४१८, ४१९
 स्त्री चरित्र—२०१
 ह
 हंसमयूर—३६०, ३१७
 हठी हमीर—१६२
 हनुमन्नाटक—५७, १२२, १३२, १३७,
 १४६, ३७८
 हरगोरी विवाह—६०, ३६६
 हरमणि—२०६
 हवाई मजलिस—२८६
 हरिश्चन्द्र (रेडियो-रूपक)—३३७
 हरिश्चन्द्र उपाख्यान—३७०
 हरिश्चन्द्र रास—८६
 हरिश्चन्द्र नृत्यम्—२७०
 हर्ष (सेठ गोविन्ददास)—३०६

हर्षचरित (महाकाव्य)—७६, २५५

जैन बी डेड प्रवेकन—३८७

हातिमताई—२८६

हास्य बूझामणि—३२४

हास्याणव—२००, २२४

हिन्दुस्तान—२६०

हित सन्धि सांभी लीला—१०२

हिमालय—४१६

हिमालय का संदेश—४२३

हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर—४२, ४३,

११६

हीरारफूल ५६

हैदरघली—३४२

हैमलेट—२६०

होरीलीला—१०२, १०४

त्र

त्रिसट्टि महाकाव्य—८५

त्रिपुरदाह (डिम)—३८

ऋ

ऋग्वेद—४०

ऋतुराज—४१८

ऋषभ रास—३७६

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मुसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०

Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस
कर दें ।

Please return this book on or before the date last stamped
below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 891.432
OJH



124246
LBSNAA

4
891.432
ओझा

अवाप्ति सं०

ACC. No. 14861

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No. Book No.

लेखक ओझा, दशरथ

Author.

शीर्षक

Title. हिन्दी नाटक : उद्भव और
विकास ।

891.432

LIBRARY

14861

ओझा

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 124246

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving